हुएनसांग का भारत-भ्रमण

अनुवादक

श्रीयुत ठाकुरप्रसाद शर्म्मा (सुरेश)

सीतापुर (अवध)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२९

प्रथम संस्करण

मूल्य ४)

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.
Allahabad

अध्याय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

निवेदन

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनसांग का भारत-भ्रमण अनेक दृष्टियों से एक प्रसिद्ध भारतीय घटना है। ह्युएनसांग विदेशी था और यहाँ केवल ज्ञानार्जन के विचार से आया था। इस कारण उसके लिखे हुए विवरण में बहुत कुछ पक्षपात-रहित बातें पाई जायँगी, जो ऐतिहासिक सामग्री के रूप में बहुमूल्य होंगी। दूसरी बात यह कि स्वयं भारतीयों के लिखे हुए ऐसे इतिहासों का सर्वथा अभाव है जिनसे भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को तत्कालीन तथ्यों का ज्ञान हो सके।

इस भ्रमण को आप आदि से अन्त तक पढ़िए। भारत-वर्ष में बौद्ध-मत का कितना प्रचार हो गया था, बुद्ध भगवान् के प्रति जनता के हृदय में कितनी श्रद्धा थी, जनता के आचार-विचार पर बौद्ध-मत की कितनी गहरी छाप लग गई थी, यह सब जानना हो तो इस ग्रन्थ से अवश्य ही बहुत सहायता मिलेगी। आशा है, हिन्दी के प्रेमी पाठक इस पुस्तक का समुचित आदर करेंगे और इस प्रकार हिन्दी में ऐतिहासिक साहित्य की पूर्त्ति करने की ओर हमें अधिकाधिक अग्रसर होने के लिए उत्साह प्रदान करेंगे।

प्रकाशक

———

वर्णानुक्रमणिका

नाम	पृष्ठ संख्या
नीराञ्जना	४११
नैरञ्जना (नदी)	३३०
नंद	२८३
न्यायानुसार शास्त्र	२००
पश्रोलनीस्सी (वाराणसी)	३१६
पश्रोलोहिह मो पुलो (ब्रह्मपुर)	२०३
पाणिनि	१०६
पार्श्व महात्मा	८५
पिशेम्लिो	६४६
पिफल भवन	४७१
पिमा	७०४
पिलोमालो	६३३
पिलोशनन	२०६
पीतनद	३८,१७४
पीलुसार	४६
पीसोकिया	२६०,२६१
पुनफटश्न (पुण्ड्रवर्द्धन)	५२५
पुन्नुमा	१६२
पुष्पकलावती	६७
पूजा सुमिर आयुष्मत	३५८
पूर्णवर्म्मा	४१६
पूहो	२१
पोकियाई	६६२
पोत्रिपश्रो	५२७

नाम	पृष्ठ-संख्या
पोटो चक्कन (वदख्शाँ)	६६२
पोटो चक्कना	२६
पोतलक	५७६
पोनी	२१८
पोफ़ाटो (पहाड़)	६४०
पोमीलो	६३०
पोल्कइ चोपो (चरुकल्ल)	६१८
पोलस्से (फ़ारस)	६४४
पोलिहो	६६०
पोर्लो	३०
पोलीयेटोलो	१८०
पोलीस्सी	२३
पोलोहो	२६
पोलुन्लो	१०६
पोलुश	१०२
पोलुशपूलो	८५
पोलूलो	१२६
पोलोर्याकिया (प्रयाग)	१
पोलोलो	६७२
पोहलुहकिया	१२
पोहो	२७
प्रजापती भिक्षुणी	२६३
प्रभाकर वर्द्धन	२१७
प्रभापाल बोधिसत्त्व	३२३
प्रभामित्र	४६४

नाम	पृष्ठ संख्या
मुद्गलपुत्र	२६८
मुलोसनपडलू (मूलस्थानपुर)	६७६
मैत्रीबल	१२०
मैत्रेय भगवान्	१५४
मैत्रेय बोधिसत्व	१२८
मैलिन संघाराम	१६३
मोलपो (मालवा)	६११
मोलोक्यूच अ (मालकूट)	५७४
मोरू संघाराम	११७
मोही शीफालो पुलो (महेश्वरपुर)	६२५
मोहो	४४१
मोहोलोअच	६१२
मंगलिन	२६
मातीपोलो (मतिपुर)	१६३
मायापुर	२०३
मिमोहो	७०
मोद्गलो	१८१
मोलोस्मो	१७८
मंजुश्री बोधिसत्त्व	५६१
मृगदाव	३२०
मृगवन	३२८
मृगवाटिका	३०
यमनद्वीप	५३२
यशद आयुष्मत	३५८

नाम	पृष्ठ संख्या

हुएन सांग का भ्रमण-वृत्तान्त

प्रथम भाग

पहला अध्याय

प्रसिद्ध यात्री हुएन सांग का जन्म सन् ६०३ ईसवी में सूबे 'हानान' के मुख्य नगर के निकट 'चिनल्यू' स्थान में हुआ था। यह व्यक्ति अपने चारों भाइयों में सबसे छोटा था। बहुत थोड़ी ही अवस्था में यह अपने द्वितीय भाई चेङ्गसी के साथ पूर्वीय राजधानी 'लोयङ्ग' को चला गया। वहाँ पर इसका भाई 'सिङ्गतू' मन्दिर का महन्त था। इस स्थान पर हुएन सांग तेरह वर्ष की अवस्था तक रह कर विद्योपार्जन करता रहा। इन दिनों 'सूई' राज्य के नष्ट होने के कारण देश में अशान्ति फैली हुई थी जिस से 'हुएन सांग' को अपने भाई समेत 'च्यूयेन' सूबे की राजधानी 'शिङ्गटू' नगर में भाग जाना पड़ा। वहाँ पर वह बीस वर्ष की अवस्था तक भिक्षु या पुरोहित का काम करता रहा। इसके कुछ दिनों बाद अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करने के लिए वह इधर उधर देशाटन करता हुआ 'चङ्गन' प्रदेश को आया। यही स्थान है जहाँ पर फ़ाहियान और चियेन यात्रियों का स्मरण होने से उसके हृदय में, पश्चिमी देशों में जाकर और वहाँ के योग्य महात्माओं का सत्सङ्ग करके अपनी उन शंकाओं को जिनके कारण वह सदा बेचैन रहा करता था—निवारण करने

की प्रबल इच्छा हुई। जिस समय उसकी अवस्था २६ साल की थी वह 'कनसू' के पुरोहित 'सिङ्गचू' के साथ 'चङ्गन' से चल दिया और उसके शहर में जाकर ठहरा। कुछ दिनों बाद वहाँ से 'लानचौ' होता हुआ 'लियाङ्गचौ' स्थान में पहुँचा। यह वह स्थान है जहाँ पर तिब्बत तथा 'सङ्गलिङ्ग' पहाड़ के पूर्वी स्थानों के सौदागर इकट्ठा होते थे और गवर्नर से आज्ञा लेकर व्यापार करने के लिए दूसरे देशों को जाते थे। यहाँ पर उसने सौदागरों को अपनी यात्रा का कारण—ब्राह्मणों के देश में धर्म की शिक्षा प्राप्त करने की उत्कंठा—बतलाया। सौदागरों ने उसकी यात्रा के लिए आवश्यक सहायता देकर उसका बहुत सम्मान किया। परन्तु अब बड़ी भारी कठिनता यह पड़ी कि गवर्नर ने उसको यात्रा के लिए आज्ञा नहीं दी, जिसके कारण उसको छिपकर भागना पड़ा, तथा वह दो पुरोहितों के साथ छिपता छिपाता किसी प्रकार 'हुलू' नदी के दक्षिण 'क्वाचो' कस्बे तक, जो कि दस मील था, पहुँच गया। इस स्थान से कुछ दूर उत्तर दिशा में जाकर वह एक मनुष्य के साथ रात्रि में नदी के पार हुआ। परन्तु यहाँ पर उसके साथी ने उसके साथ दग़ाबाज़ी करना चाहा। यह बात ह्नुएन सांग समझ गया तथा उसका साथ छोड़ कर अकेला ही चल पड़ा। अभी उसको चीनराज्य के पाँच दुर्ग और पार करने बाक़ी थे जिन से छिपकर निकल जाना सहज न था, परन्तु यह ह्नुएन सांग सरीखे साहसी धर्मवीर ही का काम था कि वह इन सब दुर्गरक्षकों की आँख बचाकर और प्राणों पर खेल कर निकल गया तथा रेगिस्तान का भीषण कष्ट सहन करता हुआ किसी न किसी प्रकार 'ईगू' स्थान तक पहुँच गया। जिस समय वह 'ईगू' स्थान में ठहरा हुआ था उसकी ख़बर

'कावचक्क'[1] के बादशाह के पास पहुँचा। बादशाह ने बड़े आदर से उसको अपने नगर में बुला भेजा तथा बहुत कुछ इस बात का प्रयत्न किया कि वह उसके यहाँ निवास करे; परन्तु 'हुएन सांग' को भारत की पवित्र भूमि का दर्शन किये बिना कब चैन हो सकता था? इस कारण बादशाह की आज्ञा को नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए 'कावचक्क' से रवाना होकर 'ओकीनी'[2] प्रदेश में पहुँचा। यहाँ से उसकी यात्रा का वर्णन, उसी के शब्दों में, दिया जाता है।

ओकीनी

यह राज्य लगभग ५०० ली[3] पूर्व से पश्चिम और ४०० ली उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत है। इसकी राजधानी का घेरा लगभग छः या सात ली है जो कि चारों ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इसकी सड़कें ढालू और सुरक्षित हैं। नदी और नाले बहुतायत से हैं जिनसे खेतों की सिंचाई का काम होता है। ज्वार, गेहूँ, मुनक्का, अंगूर, नासपाती, बेर तथा अन्यान्य फलों की उत्पत्ति के लिए भूमि भी बहुत उपयुक्त है। वायु मन्द और सुखदायक तथा मनुष्यों के व्यवहार सच्चे और ईमानदारी के हैं।

[1] यह स्थान बहुत समय तक तुर्कों के अधिकार में रहा है।

[2] 'ओकीनी' यह शब्द दूसरे प्रकार से 'वूकी' भी माना जा सकता है। कुनिंघम साहब 'येनूकी' लिखते हैं, क्योंकि कभी कभी 'वू' का उच्चारण 'येन' भी होता है। यह स्थान वर्तमानकाल में 'करशार' अथवा 'करशाहर' माना जाता है जो सक्केज झील के निकट है।

[3] 'ली' यह कोई पैमाना है जिसका निर्दिष्ट विवरण असल पुस्तक में नहीं है, अनुमान से पाँच ली एक मील के बराबर होते हैं।

यहाँ की लिखावट में और हिन्दुस्तान की लिखावट में कुछ थोड़ा ही अन्तर है। पोशाक रुई अथवा ऊन की पहनी जाती है। शिरोवस्त्र का बिलकुल चलन नहीं है तथा लोगों के शिर के बाल भी कटे हुए रहते हैं। वाणिज्य-व्यवसाय में ये लोग सोने और चाँदी के सिक्के तथा ताँबे के छोटे छोटे सिक्के काम में लाते हैं। बादशाह स्वदेशी और बहादुर है। यद्यपि अपने विजय की उसको सदा आकांक्षा रहती है परन्तु सेना-सम्बन्धी नियमों की ओर कम ध्यान देता है। इस देश का कोई इतिहास नहीं है और न कोई नियत कानून ही है। इस देश में लगभग दस 'संघाराम' बने हुए हैं जिनमें 'हीनयान' धर्म के अनुयायी दो हज़ार बौद्ध संन्यासी निवास करते हैं, जिनका सम्बन्ध 'सर्वास्तिवाद'[1] संस्था से है। सूत्र और विनय भारतवर्ष के समान हैं और पुस्तकें भी वही हैं जो भारतवर्ष में प्रचलित हैं। यहाँ के धर्मोपदेशक अपनी पुस्तकों को पढ़कर उनमें के लिखे हुए नियमों का बहुत पवित्रता और दृढ़तापूर्वक मनन करते हैं। ये लोग केवल तीन[2] पुनीत भक्ष्य वस्तुओं का भोजन करते हैं, और सदा 'क्रमशः वृद्धिदायक' नियम[3] की ओर लक्ष्य रखते हैं।

[1] 'सर्वास्तिवाद संस्था' बौद्धों की बहुत प्राचीन संस्था है इसके दो भेद है—'हीनयान' और 'महायान'। हीनयान सामाजिक या सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की शिक्षा देता है, और महायान जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होने की शिक्षा देता है।

[2] शाक, अन्न, और फल।

[3] वह नियम जिसके द्वारा बौद्ध लोग 'लघुयान' से बढ़ कर 'महायान' सम्प्रदाय तक पहुँचते हैं।

इस देश से लगभग २०० ली दक्षिण पश्चिम की ओर एक छोटा पहाड़ और दो बड़ी नदियाँ पार करके, तथा एक हमवार घाटी नाँघ कर ७०० ली चलने के उपरान्त हम उस देश में आये जिसका नाम 'किउची' है।

किउची राज्य

किउची प्रदेश पूर्व से पश्चिम तक लगभग १००० ली लम्बा और उत्तर से दक्षिण तक लगभग ६०० ली चौड़ा है। राजधानी १७-१८ ली के घेरे में है। यहाँ की भूमि की पैदावार चावल तथा अन्यान्य प्रकार के अन्न हैं। एक विशेष प्रकार का चावल भी होता है जिसको 'केङ्गाघ' कहते हैं। अङ्गूर, अनार, कई प्रकार के बेर, नास्पाती, आड़ू, बादाम इत्यादि भी इस देश में पैदा होते हैं। यहाँ की भूमि में सोना, ताँबा, लोहा, सीसा और टीन की भी खानें हैं। वायु मन्द और मनुष्यों के व्यवहार सच्चे हैं। यहाँ की लिखावट का ढंग स्वल्प परिवर्तित स्वरूप में हिन्दुस्तानी ही है। वीणा और बाँसुरी बजाने में कोई भी देश इस देश की समता नहीं कर सकता। यहाँ के लोगों के वस्त्र, रेशमी और चिकन के, बहुत सुन्दर होते हैं तथा शिर के बाल कटे हुए रहते हैं, ये लोग शिरों पर उठी हुई टोपी धारण करते हैं। सोना, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का प्रचार है। यहाँ का राजा 'किउची' जाति का है। यद्यपि राजा विशेष बुद्धिमान् नहीं है परन्तु उसका मंत्री बहुत ही दक्ष है। जन-साधारण के बच्चों के शिर एक प्रकार की लकड़ी में दबा कर चपटे कर दिये जाते हैं[1]।

[1] शिर चपटा करने की चाल अब भी उत्तरी अमेरिका की कुछ जातियों में है।

लगभग १०० संघाराम इस देश में हैं जिनमें पाँच हज़ार से अधिक शिष्य निवास करते हैं। इनका सम्बन्ध सर्वास्तिवाद संस्था के हीनयान सम्प्रदाय से है। उनकी (सूत्र पढ़ाने की) योग्यता और उनके शिष्यों के वास्ते नियम (विनय के सिद्धान्त) वही हैं जो हिन्दुस्तान में प्रचलित हैं, और वे लोग वहाँ की पुस्तकें भी पढ़ते हैं। इन लोगों में क्रमिक शिक्षा विशेष प्रचलित है और भोजन में तीन पुनीत वस्तुएं ग्रहण की जाती हैं। इन लोगों के जीवन पवित्र हैं और दूसरे लोगों को धार्मिक जीवन और धार्मिक आचार बनाये रखने के लिए ये लोग सदा उत्तेजना देते रहते हैं।

देश की पूर्वी हद पर एक नगर है जिसके उत्तर ओर एक देवालय बना हुआ है। इस देवालय के सामने ही एक विस्तृत अजगर झील है। इस झील के रहनेवाले अजगर, अपनी सूरत बदलकर, घोड़ियों के साथ जोड़ा लगाते हैं[1]। इस प्रकार जो बच्चे पैदा होते हैं वह जङ्गली किस्म के घोड़े होते हैं जिनका स्वभाव बड़ा भयानक होता है और जिनको पालतू बनाना बड़ा कठिन है। परन्तु इन अजगर-घोड़ों की सन्तति पालने और सिखाने के योग्य हो गई है इस कारण यह देश उत्तम उत्तम

[1] मि० किङ्गस्मिल ने इस जोड़ा लगाने के सम्बन्ध को लेकर चीनी और तुर्किस्तानवालों के सम्मेलन पर अच्छा लेख लिखा है, देखो J. R. A. S. N. S., Vol. XIV. P. 99 N. मार्कोपोलो की पुस्तक का भाग १ अ० २ भी देखने योग्य है जिसमें लिखा है "तुर्कान ही उत्तम घोड़े हैं"। सफ़ेद घोड़ियों से क्या तात्पर्य है? इसके लिए यूल साहब का नोट नम्बर २ भी उल्लेखनीय है। Yulis Marco Polo. Vol. I. Chap. 61. Pp. 45, 46, 291.

घोड़ों के लिए बहुत प्रसिद्ध हो गया है। इस देश की प्राचीन पुस्तकों में लिखा है कि 'पुराने ज़माने में एक 'स्वर्णपुष्प' नामक राजा अद्भुत प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था, वह अपनी बुद्धिमत्ता से इन अजगरों को रथ में जोतता था। जब राजा की इच्छा स्वयं अदृश्य हो जाने की होती थी तब वह अपने चाबुक से अजगरों के कान छू देता था जिससे कि फिर कोई भी मनुष्य उसको नहीं देख सकता था।'

प्राचीन काल से लेकर अब तक कोई भी कुँवा इस नगर में नहीं बनाया गया है। यहाँ के रहनेवाले उसी अजगर झील से पानी लाकर पीते हैं। जिस समय स्त्रियाँ पानी भरने झील को जाती थीं उस समय ये अजगर मनुष्य का स्वरूप धारण करके उन स्त्रियों के साथ सहवास करते थे। उनके बच्चे जो इस प्रकार पैदा हुए वह घोड़ों के समान चंचल, साहसी और बलिष्ठ हुए। धीरे धीरे संपूर्ण जन-समुदाय अजगरों के वंश का होकर सभ्यता से रहित हो गया और अपने राजा का सत्कार विद्रोह और उपद्रव से करने लगा। तब राजा ने 'तुहक्यूह'[1] की सहायता से नगर के, बूढ़े बच्चों समेत, सब मनुष्यों का ऐसा संहार किया कि एक भी जीता न बचा। नगर इस समय बिलकुल उजाड़ और सुनसान है।

इस उजड़े नगर के उत्तर की ओर कोई ४० ली के अन्तर पर एक पहाड़ की ढाल पर दो संघाराम पास पास बने हुए हैं जिनके बीच में एक जल की धारा प्रवाहित है। ये दोनों संघाराम एक दूसरे के पूर्व-पश्चिम की ओर हैं जिसके कारण इनका

[1] तुर्क।

नाम 'चौहूली'[1] पड़ गया है। यहाँ पर बहुमूल्य वस्तुओं से आभूषित महात्मा बुद्ध की एक मूर्त्ति है जिसकी कारीगरी मानुषी समता से परे है। संघाराम के निवासी पवित्र, सत्पात्र, और अपने धर्म में कट्टर हैं। पूर्वी संघाराम बुद्ध-गुम्बज़ के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें एक चमकीला पत्थर है जिसका ऊपरी भाग लगभग दो फ़ीट है और रंग कुछ पीलापन लिये हुए सफ़ेद है। इसकी सूरत समुद्री घोंघे की सी है। इस पत्थर पर महात्मा बुद्ध का चरणचिह्न एक फुट आठ इंच लम्बा और आठ इंच चौड़ा बना हुआ है। प्रत्येक व्रतोत्सव की समाप्ति पर इस चरणचिह्न में से चमक और प्रकाश निकलने लगता है।

मुख्य नगर के पश्चिमी फाटक के बाहरी स्थान पर सड़क के दाहनी और बाईं दोनों ओर करीब ९० फ़ीट ऊँची महात्मा बुद्ध की दो मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इन मूर्तियों के आगे मैदान में बहुत सा स्थान पञ्चवार्षिक[2] महोत्सव किये जाने के लिए नियत है। प्रत्येक वर्ष शरद्‌ऋतु में, जिस दिन रातदिन का प्रमाण बराबर होता है, दश दिन तक इस स्थान पर बड़ा मेला होता है, जिसमें सब मुल्कों के साधु इकट्ठे होते हैं। राजा

[1] अर्थात् पूर्वी चौहूली और पश्चिमी चौहूली। चौहूली शब्द का ठीक ठीक और एक शब्द में अनुवाद होना कठिन है। 'ली' का अर्थ है दो, अथवा जोड़ा; और 'चौहू' का अर्थ है सूर्य के प्रकाश का आश्रित अर्थात् प्रकाशाश्रित युग्म। कदाचित् इन दोनों में बारी बारी से सूर्य के उदय और अस्त का प्रकाश पहुँचता था इसी लिए ऐसा नामकरण किया गया है।

[2] यह पंचवार्षिकोत्सव अशोक ने कायम किया था।

अपने कर्मचारियों तथा छोटे और बड़े, धनी और दरिद्र, सभी प्रजाजनों समेत इस अवसर पर सम्पूर्ण राज-सम्बन्धी कार्यों को परित्याग करके धार्मिक व्रत करता है और सब लोगों को बहुत शान्ति के साथ पवित्र धर्म के उपदेश सुनवाता है।

यहाँ के सब संघारामों में महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ बहुमूल्य वस्तुओं से आभूषित और रेशमी वस्त्रों से आच्छादित और सुन्दर सुसज्जित हैं। इन मूर्तियों को लोग एक सुन्दर रथ पर रख कर बड़ी धूमधाम से निकालते हैं जिसका नाम 'रथयात्रा' है। इन अवसरों पर भी बहुत बड़ी भीड़ इन स्थानों पर होती है।

प्रत्येक मास की अमावास्या और पूर्णिमा को राजा अपने सम्पूर्ण मन्त्रियों से राज्य-सम्बन्धी कार्यों की सलाह करता है और तत्पश्चात् पुरोहितों की सभा करके सर्वसाधारण में प्रकाशित करता है।

जिस स्थान पर यह सभा होती है इसके उत्तर-पश्चिम में एक नदी पार करके हम लोग ओशीलीनी (असाधारण) नामक संघाराम में आये। इस मन्दिर का सभामंडप बहुत लम्बा-चौड़ा और खुला हुआ है, और महात्मा बुद्ध की मूर्ति बहुत सुन्दर है। इस स्थान के साधु बहुत शान्त, योग्य और अपने धर्म के कट्टर हैं। जिस तरह पर असभ्य और नीच प्रकृति के पुरुष अपने पापों से मुक्त होने के लिए इस स्थान पर आते हैं उसी प्रकार बूढ़े, विद्वान और बुद्धिमान साधु भी, जिनको सन्मार्ग पाने की जिज्ञासा होती है, यहाँ आकर निवास करते हैं। राजा, उसके मन्त्री, और राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्ति इन साधुओं को भोजन इत्यादि से सब प्रकार की सहायता पहुँचाते हैं जिससे इन लोगों की प्रसिद्धि दूर दूर तक फैलती जाती है।

प्राचीन पुस्तकों में लिखा है कि 'किसी समय में यहाँ एक राजा था जो कि तीनों बहुमूल्य वस्तुओं[१] का पूजनेवाला था। उसको एक समय संसार के सम्पूर्ण पुनीत बौद्धावशेष के दर्शनों की इच्छा हुई इस कारण उसने राज्य का भार अपने विमात्र छोटे भाई के सुपुर्द कर दिया। छोटे भाई ने राजा की इस आज्ञा को मान तो लिया परन्तु उसको भय हुआ कि कहीं कोई व्यक्ति उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की अनुचित शङ्का न करे। इस कारण उसने अपने गुप्त-भाग को काट डाला और उसको एक सोने के डिब्बे में बन्द करके राजा के निकट ले गया। राजा ने पूछा—'इसमें क्या है?' उसने उत्तर में निवेदन किया कि जब श्रीमान् अपनी यात्रा समाप्त करके मकान पर वापस आवें तब इस डिब्बे को खोलकर देखें कि इसमें क्या है। राजा ने उस डिब्बे को अपने राज्य के मैनेजर को दे दिया और मैनेजर ने राजा के शरीर-रक्षकों के सुपुर्द कर दिया। यात्रा समाप्त होने पर जब राजा अपने देश को लौट आया उस समय कुछ पापियों ने उससे कहा कि 'जिस समय आप विदेश में थे आपके भाई ने रनवास को भ्रष्ट किया'। राजा इस बात को सुन कर बहुत क्रुद्ध हुआ और बड़ी निर्दयता के साथ अपने भाई को दंड देने पर उद्यत हो गया। उसके भाई ने निवेदन किया कि 'महाराज! मैं दंड से भागूँगा नहीं, परन्तु मेरी प्रार्थना है कि आप सोने के डिब्बे को खोलें।' राजा ने उसी समय सोने के डिब्बे को खोलकर देखा तो उसमें उस कटे हुए भाग को पाया। राजा को बहुत आश्चर्य हुआ और

[१] बुध, धर्म और संघ।

उसने पूछा कि यह क्या वस्तु है ? भाई ने उत्तर दिया, "जिस समय महाराज ने यात्रा का विचार किया था और राज्य मेरे सिपुर्द हुआ था उसी समय मुझको पापियों से भय हो गया था, और इस कारण मैंने स्वयं अपने गुप्तभाग को काट डाला था। अब महाराज को मेरी दूरदर्शिता का पता लग गया, इस कारण मेरी प्रार्थना है कि मैं निर्दोष हूँ, महाराज मेरे ऊपर कृपा करें।" राजा पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने भाई की बहुत प्रतिष्ठा करके यह आज्ञा दे दी कि 'तू महल के प्रत्येक स्थान पर बिना रोक-टोक आ जा सकता है।' इसके बाद ऐसा हुआ कि एक दिन भाई विदेश को जा रहा था, रास्ते में उसने एक ग्वाले को देखा कि वह ५०० बैलों को बधिया (नपुंसक) करने की तदबीर कर रहा है। इस बात को देखकर, उसको अपनी दशा का ध्यान हुआ और अपने कष्टों के अनुभव से उसको विदित हो गया कि कितना बड़ा कष्ट इन पशुओं को बधिया हो जाने से मिलेगा। उसके चित्त में करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा। उसने मन में सोचा कि 'क्या अपने पूर्वजन्म के पापों के कारण ही मैंने यह कष्ट पाया ?' ऐसा विचार करके उसने द्रव्य और बहुमूल्य रत्न देकर उन बैलों को खरीदना चाहा। इस दया के कार्य का यह प्रभाव हुआ कि उसका वह कटा हुआ अंग कुछ दिनों में ज्यों का त्यों हो गया और इस कारण उसने रनवास का आना जाना बन्द कर दिया। राजा को उसके वहाँ आना जाना बन्द कर देने से बहुत आश्चर्य हुआ और उसने उससे इसका कारण पूछा। तब, आद्योपान्त सब कथा सुनकर और अपने भाई को 'असाधारण' व्यक्ति जानकर राजा ने उसकी प्रतिष्ठा और उसका नाम अमर करने के लिए इस संघाराम

को बनवाया। यही कारण है कि यह असाधारण (संघाराम) कहलाता है।

इस देश को छोड़कर और लगभग ६०० ली पश्चिम जाकर तथा एक छोटे से रेगिस्तान को पार करके हम 'पोहलुह-किया' प्रदेश को पहुँचे।

पोहलुहकिया (बालुका या अक्सू[1])

पोहलुहकिया राज्य लगभग ६०० ली पूर्व से पश्चिम, और ३०० ली उत्तर से दक्षिण तक फैला है। मुख्य नगर ५ या ६ ली के घेरे में है। यहाँ की भूमि, जलवायु, मनुष्यों का चालचलन, रीति रवाज और साहित्य इत्यादि वही हैं जो 'किउची' प्रदेश का है, केवल भाषा में कुछ भेद है। इस देश में महीन मेल के रुई और ऊन के कपड़े बनते हैं जिनकी कि निकटवर्ती प्रदेशों में बहुत खपत है। यहाँ पर कोई दस संघाराम हैं जिनमें एक सहस्र के लगभग साधु निवास करते

[1] प्राचीनकाल में इसका नाम 'चेमेह' अथवा 'किहमेह' भी था। जुलियन साहब का 'कोमे' निश्चयरूप से 'किहमेह' ही है। देखो (Memoire Analytique by V. St. Martin Mem S. L. Contr. Occid Tom II. P. 265) प्राचीन काल में यह अक्सू राज्य का पूर्वी भाग था। पोहलुकिया अथवा बालुका व नामकरण का कारण तुर्क लोग हैं जो चौथी शताब्दी में कसगू के उत्तरी-पश्चिमी भाग के अधिकारी थे Ibid. P. 266 वर्तमान काल में अक्सू नगर 'उशतरफन' से पूर्व ५६ मील और 'कूचा' से दक्षिण-पश्चिम १२६ मील है। (Col. Walker's map)

हैं। इन लोगों का सम्बन्ध सर्वास्तिवाद संस्था के हीनयान सम्प्रदाय से है[1]।

इस देश से कोई ३०० ली उत्तर-पश्चिम जाकर और पहाड़ी मैदान पार करके हम 'लिङ्गशन' नामक बरफ़ीले पहाड़ तक पहुँचे। यह वास्तव में 'मङ्गलिङ्ग' पहाड़ का उत्तरी भाग है और इस स्थान से नदियाँ अधिकतर पूर्वाभिमुखी बहती हैं। यहाँ की पहाड़ियाँ और घाटियाँ बर्फ़ से भरी हुई हैं जहाँ पर क्या गर्मी और क्या जाड़ा—प्रत्येक ऋतु में बर्फ़ जमा करती है। यदि किसी समय यह बर्फ़ पिघल भी जाती है तो तुरन्त फिर जम जाती है। सड़कें ढालू और भयानक हैं और शीतल वायु अत्यन्त दुखदायक है। यहाँ पर भयानक अजदहे सदा बाधक रहते हैं और यात्रियों को अपने आघातों से बहुत कष्ट देते हैं। जो लोग इस राह से भ्रमण करना चाहें उनको चाहिए कि न तो लाल वस्त्र धारण करें और न कोई वस्तु जिससे शब्द उत्पन्न हो अपने साथ ले जावें। इसमें थोड़ी सी भी भूल होने से बड़ी विपद् का सामना करना पड़ता है। इन वस्तुओं को देखकर ये राक्षसरूपी अजदहे क्रोधित हो जाते हैं जिससे एक बहुत

[1] सर्वास्तिवाद संस्था बौद्धों की बहुत प्राचीन संस्था है जिसका सम्बन्ध हीनयान सम्प्रदाय से है। चीनी लोगों के अनुसार हीनयान सम्प्रदाय संसार के एक भाग अर्थात् संघ या समाज से मुक्त होने की शिक्षा देता है, और महायान सम्प्राय सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों से मुक्त करता है। सर्वास्तिवादी लोग वस्तु की नित्यता स्वीकार करते हैं Burnouf Introd. (2nd edit.) P. 397; Vassilief (Bouddh Pp. 57,78,113,243,245)

बड़ा तूफ़ान उठ खड़ा होता है और बालू और कंकड़ों की वृष्टि होने लगती है। जिन लोगों का ऐसे तूफ़ानों से सामना हो जाता है उनके बचाव की कोई तदबीर नहीं रहती और वे अवश्य ही अपनी जान खोते हैं।

लगभग ४०० ली जाने पर हम लोग 'सिङ्ग'[1] नामी एक बड़ी झील पर पहुँचे। इस झील का क्षेत्रफल क़रीब १००० ली है। पूर्व से पश्चिम तक इसका फैलाव अधिक है परन्तु उत्तर से दक्षिण तक कम है। यह सब तरफ़ पहाड़ों से घिरी हुई है तथा बहुत से सोते इस झील में आकर मिल जाते हैं। पानी का रंग कुछ नीला-काला है और स्वाद तीखा तथा नमकीन है। इसकी लहरें बड़े वेग से किनारे पर आकर टकराती हैं। अजदहे और मछलियाँ दोनों साथ साथ इस झील में निवास करते हैं। किसी किसी समय में दुष्ट राक्षस भी पानी पर दिखाई पड़ते हैं। उस समय यात्रियों को, जो झील के किनारे किनारे जाते होते हैं, बड़े कष्ट का सामना करना पड़ता है, और उनकी

[1] सिङ्ग (Tsing) झील इस्सिककुल (Issyk-kul) या टेमुर्टू (Temurtu) भी कहलाती है। यह समुद्रीय तल से ५२०० फ़ीट ऊँची है। इसका नाम 'जोहई' गरम समुद्र भी है। यह नाम इस सबब से नहीं दिया गया है कि इसका जल गरम है, बल्कि इस कारण से कि बर्फ़ीले पहाड़ के मुक़ाबिले में ठंढा जल भी गरम जँचता है। यह झील किस दिशा में थी इसका वर्णन नहीं है, परन्तु अक्सू से इस्सिक्कू उत्तर-पूर्व में लगभग ११० मील है। (Conf. Bretschneider Med. Geog. note 57, P. 37; Jour. R. Geog. Soc., Vol. XXXIX, pp. 318 Ff., Vol. XI, pp. 250, 344, 375-399, 499)

रक्षा का अवलंब केवल ईश्वर ही होता है। यद्यपि जलजन्तु इसमें बहुत हैं परन्तु उनके पकड़ने की हिम्मत किसी को नहीं हो सकती।

'सिङ्क' झील से ५०० ली उत्तर पश्चिम चलकर हम सुयेह नदी के कस्बे[1] में आये। इस कस्बे का क्षेत्रफल ६ या ७ ली है। यहाँ पर निकटवर्ती देशों के सौदागर जमा होते हैं और निवास करते हैं। यहाँ की भूमि में बाजरा और अंगूर अच्छे होते हैं। जंगल घने नहीं हैं और वायु तेज़ तथा ठंडी है। इस देश के लोग ऊनी कपड़े पहनते हैं। सुयेह कस्बे के पश्चिम ओर जाने से बहुत से उजड़े हुए कस्बों के खँडहर मिलते हैं। प्रत्येक कस्बे का अलग अलग सरदार है। ये सब एक दूसरे के अधीन नहीं हैं वरंच सबके सब 'टूहकियो' के मातहत हैं। 'सुयेह' कस्बे से 'किश्वङ्गना' देश तक की समस्त भूमि 'सूली' कहलाती है और यही नाम यहाँ के निवासियों का भी है। यहाँ के साहित्य और भाषा का भी यही नाम है। अक्षरों की संख्या बहुत थोड़ी है। आदि में अक्षरों की—जिनको मिलाकर

[1] अर्थात् 'सुयेह' नगर 'चू' या 'चुइ' नदी के किनारे पर था। डुइली साहब ने भी इस नगर को सुयेह के नाम से लिखा है। यह नगर किस स्थान पर था उसका निश्चय अब तक नहीं हो सका है। Vid. V de St. Martin, ut Sup., p. 271) अनुमान है कि 'चू' नदी के किनारेवाले करखीतई की राजधानी बेलसगुन या कान्सटैंटीनोवोस्क नामक नगर उस समय में सुयेह हों तो हो सकते हैं। (Conf. Bretschneider Med. Geog. note 37, p. 36; Chin. Med. Tran., pp. 50, 114; Trans. Russ. Geog. Soc., 1871, Vol. II., p. 365)

शब्द बनाये गये हैं—संख्या ३० थी। इन शब्दों के कारण विविध प्रकार के वृहत्कोष बन गये हैं। इस प्रकार का साहित्य यहाँ बहुत थोड़ा है जिससे सर्वसाधारण को लाभ पहुँच सके। यहाँ की लिपि, गुरु से शिष्य को बिना किसी प्रकार के हस्तक्षेप के प्राप्त होने के कारण सुरक्षित है। निवासियों के भीतरी वस्त्र महीन बालों के होते हैं और बाहिरी, जामे खाल के बनते हैं। ये लोग दुहरे तथा चुस्त पायजामे पहनते हैं। इनके बालों की बनावट ऐसी होती है कि शिर का ऊपरी भाग खुला रहता है (अर्थात् शिर का ऊपरी भाग मुँड़ा रहता है।) कभी कभी ये लोग अपने समस्त बाल बनवा डालते हैं। ये लोग अपने मस्तक पर रेशमी वस्त्र बाँधे रहते हैं। यहाँ के मनुष्यों के डील डौल लम्बे होते हैं परन्तु इनकी इच्छाएँ क्षुद्र और साहसहीन होती हैं। ये लोग धूर्त, लालची और दगाबाज़ हैं। बूढ़े और बच्चे सबके सब द्रव्य ही की फ़िक्र में रहते हैं और जो जितना अधिक प्राप्त करता है उसकी उतनी ही प्रतिष्ठा होती है। जब तक अच्छी तरह दौलतमन्द न हों—अमीर और ग़रीब की कोई पहचान नहीं है, क्योंकि इनका भोजन और वस्त्र बिलकुल मामूली होता है। बलवान लोग खेती करते हैं और बाक़ी वाणिज्य।

'सुयेह' से ४०० ली पश्चिम को चलकर हम लोग 'सहस्र-धारा' पर पहुँचे। इस भूमि का क्षेत्रफल लगभग २०० वर्ग ली है। इसके दक्षिण में बरफ़ीले पहाड़ और शेष तीन ओर हमवार और कुछ ऊँची भूमि है। भूमि में जल की कमी नहीं है, वृक्ष सघन छायादार हैं और बसन्त-ऋतु में विविध प्रकार के फूलों से लदे रहते हैं। यहाँ पर पानी के हज़ार सोते या झीलें हैं, जिनके कारण कि इसका नाम 'सहस्रधारा'

है। टोहकियो का खाँ प्रत्येक वर्ष इस स्थान पर गर्मी से बचने के लिए आता है। यहाँ पर हरिण भी बहुत हैं जिनमें से अनेक घंटी और छल्लों से आभूषित हैं। ये पालतू हैं और मनुष्यों को देखकर न तो डरते हैं और न भागते हैं। खाँ इन मृगों को बहुत प्यार करता है और इस बात की उसने कठोर आज्ञा दे रक्खी है कि मरणासन्न होने पर भी बिना आज्ञा के कोई भी मृग न मारा जाय और इस कारण ये पशु सुरक्षित रहकर जीवन व्यतीत करते हैं।

सहस्रधारा से पश्चिम १४०-१५० ली जाने पर हम 'टालोसी' (टारस) कसबे में पहुँचे। इस कसबे का घेरा ८ या ९ ली है। समस्त देशों के सौदागर यहाँ आते हैं और यहाँ के निवासियों के साथ बसते हैं। यहाँ की पैदावार और जल-वायु 'सूयेह' की भाँति है।

दस ली दक्षिण जाने पर एक छोटा सा कसबा मिलता है। किसी समय में यहाँ पर ३०० घर चीनियों के थे। कुछ समय हुआ जब टोहकियो के लोग इनको ज़बर्दस्ती पकड़ लाये थे। कुछ दिनों में इनकी अच्छी संख्या हो गई और ये लोग यहीं पर बस गये। उनका पहनावा यद्यपि तुर्की तरीक़े का है परन्तु उनकी भाषा और रीति-रस्म चीनी ही है।

यहाँ से २०० ली दक्षिण-पश्चिम जाने पर हम 'येहश्वई' (श्वेतजल) नामक कसबे में आये। यह कसबा ६ या ७ ली के घेरे में है। यहाँ की पैदावार और जल-वायु 'टालोसी' से उत्तम है।

लगभग २०० ली दक्षिण-पश्चिम जाने पर हम 'काङ्ग्यू' कसबे में पहुँचे जिसका क्षेत्रफल ५ या ६ ली है। जहाँ पर यह कसबा बसा हुआ है वहाँ भूमि बहुत उपजाऊ है। यहाँ

के हरे हरे वृक्ष बहुत सुहावने और फल-फूल-सम्पन्न हैं। यहाँ से चालीस पचास ली जाने पर हम 'निउचीकिन' प्रदेश को आये।

निउचीकिन (नुजकन्द)

निउचीकिन प्रदेश का क्षेत्रफल १००० ली है। भूमि उपजाऊ है, फसलें उत्तम होती हैं, पौधों और वृक्षों में फल-फूल अधिक और बहुत सुन्दर होते हैं। यह देश अङ्गूरों के लिए प्रसिद्ध है। लगभग १०० कसबे हैं जिनके अलग अलग शासक हैं। ये शासक लोग अपने कार्य्यों में स्वतन्त्र हैं। यद्यपि ये कसबे एक दूसरे से बिलकुल अलग हैं परन्तु इनका सम्मिलित नाम 'निउचीकिन' है।

यहाँ से २०० ली पश्चिम जाने पर हम 'चेशी' प्रदेश में आये।

'चेशी' (चाज)

चेशी प्रदेश का क्षेत्रफल १००० ली के लगभग है। इसकी पश्चिमी हद पर 'येह' नदी बहती है। यह पूर्व से पश्चिम तक अधिक चौड़ा नहीं है परन्तु उत्तर से दक्षिण तक अधिक विस्तृत है। पैदावार और जलवायु इत्यादि 'निउचीकिन' की भाँति है। इस देश में दस कसबे हैं जिनके शासक अलग अलग हैं। इन सबका कोई एक मालिक नहीं है। ये सबके सब 'टोहकियो' राज्य के अधीन हैं। यहाँ से दक्षिण-पूर्व ओर कोई १००० ली के फासले पर 'फीहान' प्रदेश है।

फीहान (फरगान)

यह राज्य लगभग ४००० ली के घेरे में है। इसके चारों ओर पहाड़ हैं। भूमि उत्तम और उपजाऊ है। इसमें बहुत सी फसलें और नाना प्रकार के फल-फूल बहुतायत से होते हैं।

इस देश में भेड़ और घोड़े बहुत अच्छे होते हैं। वायु सर्द और तेज़ है। मनुष्य वीर और साहसी हैं। इनकी भाषा निकटवर्ती प्रदेशों की अपेक्षा भिन्न है तथा इनकी सूरत से दरिद्रता और नीचता प्रकट होती है। दस बारह वर्ष से यहाँ का कोई शासक नहीं है। जो बलवान् हैं वही बलपूर्वक शासन करते हैं और किसी की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इन लोगों ने अपनी अधिकृत भूमि को घाटियों और पहाड़ों की सीमानुसार विभक्त कर लिया है। यहाँ से पश्चिम की ओर १००० ली जाने पर हम 'सुटूलिस्सेना' राज्य में आये।

सुटूलिस्सेना (सुट्रिश्ना)

यह देश १४०० -१५०० ली के घेरे में है। इसकी पूर्वी हद पर एक नदी बहती है। यह नदी 'सङ्कलिङ्ग' पहाड़ के उत्तरी भाग से निकली है और उत्तर पश्चिमाभिमुख बहती है। कभी कभी इसका मैला पानी शान्तिपूर्वक बहता है और कभी कभी बहुत वेग से। पैदावार और रीति रवाज लोगों की 'चेशी' की भाँति है। जब से यह राज्य स्थापित हुआ है तभी से तुर्कों के अधीन रहा है। यहाँ से उत्तर-पश्चिम की ओर जाकर हम एक बहुत बड़े रेतीले रेगिस्तान में पहुँचे जहाँ पर न जल ही मिलता है और न घास ही उगती है। इस मैदान में रास्ते का कहीं पता नहीं, केवल बड़े बड़े पहाड़ों को देखकर और इधर-उधर फैली हुई हड्डियों को आधार मानकर रास्ते का पता लगता है कि किधर जाना चाहिए।

'सामोकेन' (समरकंद)

'सामोकेन' प्रदेश क़रीब १६ या १७ सौ ली के घेरे में है। यह देश पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बा है और उत्तर से

दक्षिण को चौड़ा है। राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। इसके चारों ओर की भूमि बहुत ऊँची नीची है और भली-भाँति आबाद है। सौदागरी की सब प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ बहुत से देशों की यहाँ पर एकत्रित रहती हैं। भूमि उत्तम और उपजाऊ है, तथा सब फ़सलें उत्तम होती हैं। जङ्गलों की पैदावार बहुत अच्छी है और फूल तथा फल अधिकता से होते हैं। यहाँ पर शेन-जाति के घोड़े पैदा होते हैं। अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ के लोग कारीगरी और वाणिज्य में चतुर हैं। जलवायु उत्तम और अनुकूल है। मनुष्य वीर और साहसी हैं। यह देश 'हू' लोगों के मध्य में है। इस देश की सी सहृदयता और योग्यता को धारण करने के लिए सब निकटवर्ती प्रदेश उत्कंठित रहते हैं। राजा साहसी है। सब निकटवर्ती प्रदेश उसकी आज्ञा को पूर्णतया मानते हैं। फ़ौज के सवार और घोड़े मज़बूत और संख्या में बहुत हैं, विशेषकर 'चिहकिया' प्रदेश में। 'चिहकिया' प्रदेश के लोग स्वभावतः वीर और बलवान होते हैं तथा संग्राम में लड़ते हुए प्राण विसर्जन करना मुक्ति का साधन समझते हैं। ये लोग जिस समय चढ़ाई करते हैं उस समय कोई भी शत्रु इनका सामना नहीं कर सकता। यहाँ से दक्षिण-पूर्व जाने पर 'मिमोहो' नामक देश मिलता है।

'मिमोहो' (मघियान)

मिमोहो प्रदेश का क्षेत्रफल ४०० या ५०० ली है। यह प्रदेश एक घाटी के अन्तर्गत पूर्व से पश्चिम की ओर चौड़ा और उत्तर से दक्षिण की ओर लम्बा है। यहाँ की पैदावार और रीतिरस्म 'सामोकी' प्रदेश की भाँति है। यहाँ से उत्तर को जाकर हम 'कीपोटाना' प्रदेश में पहुँचे।

'कीपोटाना' (केबद)

'कीपोटाना' प्रदेश १४०० या १५०० ली के घेरे में है। यह पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बा और उत्तर से दक्षिण की ओर चौड़ा है। यहाँ की भी पैदावार और रीति-रवाज 'सामोकेन' की भाँति है। लगभग ३०० ली पश्चिम जाकर हम 'क्युश्वङ्ग-निकिया' प्रदेश में पहुँचे।

क्युश्वङ्गनिकिया (काशनिया)

इस राज्य का क्षेत्रफल १४०० या १५०० ली है। पूर्व से पश्चिम की ओर चौड़ा और उत्तर से दक्षिण की ओर लम्बा है। इस देश की भी पैदावार और व्यवहार सामोकेन प्रदेश की भाँति है। लगभग २०० ली पश्चिम की ओर जाने पर हम 'होहान' प्रदेश में पहुँचे।

'होहान' (क्रन)

इस देश का क्षेत्रफल १००० ली है। रीति-रवाज इत्यादि सामोकेन प्रदेश की भाँति है। यहाँ से पश्चिम में ४०० ली जाने पर हम 'पूहो' प्रदेश में पहुँचे।

पूहो (बोखारा)

पूहो प्रदेश का क्षेत्रफल १६०० या १७०० ली है। यह पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बा और उत्तर से दक्षिण की ओर चौड़ा है। यहाँ का जलवायु और पैदावार इत्यादि 'सामोकेन' प्रदेश के तुल्य है। यहाँ से ४०० ली पश्चिम जाकर हम 'फाटी' प्रदेश में पहुँचे।

'फाटी' (बेटिक)

इस देश का क्षेत्रफल ४०० ली के लगभग है। यहाँ का आचार और पैदावार 'सामोकेन' प्रदेश के सदृश हैं। यहाँ से ५०० ली दक्षिण-पश्चिम में जाने पर हम लोग 'होलीसी-मीकिया' प्रदेश में पहुँचे।

'होलीसीमीकिया' (ख्वारज़म)

यह प्रदेश पाटसू नदी के बराबर बराबर चला गया है। इसकी चौड़ाई पूर्व से पश्चिम की ओर २० या ३० ली है और लम्बाई उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग ५०० ली है। यहाँ का आचार-व्यवहार और पैदावार 'फाटी' प्रदेश की भाँति है परन्तु भाषा किसी क़दर भिन्न है। 'सामोकेन'[1] प्रदेश से दक्षिण-पश्चिम ३०० ली जाने पर हम 'किशवङ्गना' प्रदेश में पहुँचे।

'किशवङ्गना' (केश)

यह राज्य लगभग १४०० या १५०० ली के घेरे में है। यहाँ का आचार-व्यवहार और अन्नादि सामोकेन की भाँति है। यहाँ से २०० ली दक्षिण-पश्चिम की ओर जाने पर हम पहाड़ों में पहुँचे। पहाड़ी सड़कें बड़ी ढालू हैं। रास्ते की तंगी के कारण इधर से निकलना कठिन और भयप्रद है। आबादी और गाँव बिल्कुल नहीं तथा फल और पानी भी कम है। पहाड़ ही पहाड़ कोई ३०० ली दक्षिण-पूर्व की ओर जाने पर हम 'लौह फाटक'[2] में घुसे। इस दर्रे के दोनों ओर

[1] इस स्थान पर कुछ भ्रम है।

[2] यह एक दर्रे का नाम है।

बहुत ऊँचे ऊँचे पहाड़ हैं। रास्ता सकरा है और कठिनाई तथा भय का स्वरूप है। दोनों ओर पथरीली दीवार है जिसका रंग लोहे के सदृश है। यहाँ पर लकड़ी के, लोह-जड़ित दुहरे द्वार लगे हैं, और बहुत से घंटे लटके हुए हैं। जिस समय ये दरवाज़े बन्द कर दिये जाते हैं उस समय इसमें से कोई भी मनुष्य आ जा नहीं सकता, यही कारण है कि इसका नाम 'लौहफाटक' है।

लौह फाटक पार करके हम 'टुहोलो' प्रदेश में आये। यह देश उत्तर से दक्षिण की ओर १००० ली और पूर्व से पश्चिम की ओर ३००० ली है। इसके पूर्व में सङ्गलिङ्ग पहाड़ और पश्चिम की ओर 'पोर्लास्सी' (परशिया) की हद है। दक्षिण की ओर बड़े बड़े बरफ़ीले पहाड़ और उत्तर की ओर लौह फाटक है। आक्सस् नदी इस देश के बीचोंबीच पश्चिमाभि-मुख बहती है। इस देश के शाही खान्दान को मिटे सैकड़ों वर्ष होगये। कुछ राजा लोग अपने बाहुबल से इधर-उधर दख़ल जमाये स्वतंत्रतापूर्वक राज्य करते हैं। इन सबका राज्य प्राकृतिक विभागों से विभक्त है। इस प्रकार प्राकृतिक सीमाओं से विभक्त सत्ताईस राज्य इस देश में हैं और सबके सब तुर्कों के अधीन हैं। यहाँ का जलवायु गर्म और नम है जिसके कारण बीमारियाँ अधिक सताती हैं। शीत ऋतु के अन्त और वसन्त ऋतु के आदि में यहाँ लगातार वृष्टि होती रहती है। इस कारण इस देश के दक्षिण से लेकर लंघान के उत्तर तक बीमारी की भी अधिकता हो जाती है। साधु लोग भी इन दिनों अपनी यात्रा बन्द करके एक स्थान पर स्थित रहते हैं। ये लोग बारहवें मास की सोलहवीं तिथि से यात्रा बन्द कर देते हैं, और दूसरे वर्ष के तीसरे मास की पन्द्रहवीं

तिथि से फिर आरम्भ करते हैं। इन लोगों को यह स्नान वृष्टि के कारण करनी पड़ती है। इन दिनों ये लोग अपने ज्ञानोपार्जन में दत्तचित्त होते हैं। यहाँ के निवासियों का चाल-चलन खराब है और ये साहसहीन हैं। इनकी सूरतें भी बुरी और देहाती हैं। इन लोगों को धर्म और सचाई का उतना ही ज्ञान है जितना उनको परस्पर व्यवहार के लिए आवश्यक है। इन लोगों की भाषा दूसरे देशों से कुछ भिन्न है। इनकी भाषा के अक्षर पच्चीस हैं जिनके संयोग से ये लोग अपने भाव को आपस में प्रकट करते हैं। इन लोगों की लिखावट आड़ी होती है और ये लोग बाईं ओर से दाहिनी ओर को पढ़ते हैं। इनका साहित्य धीरे धीरे बढ़ता जाता है, और सो भी 'सूली' लोगों के साहित्य के द्वारा। अधिकतर लोग महीन रुई के वस्त्र धारण करते हैं और कुछ लोग ऊनी वस्त्र भी पहनते हैं। वाणिज्य-व्यवसाय में सोना और चाँदी समान रूप से काम में आता है। यहाँ का सिक्का दूसरे देशों से भिन्न है। आक्सस् नदी के किनारे किनारे उत्तराभिमुख गमन करने से 'तामी' नाम का प्रदेश मिलता है।

'तामी' (तरमद)

यह देश ६०० ली पूर्व से पश्चिम और ४०० ली उत्तर से दक्षिण की ओर है। राजधानी लगभग २० ली के घेरे में है। यह नगर पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बा और उत्तर से दक्षिण की ओर चौड़ा है। यहाँ १० संघाराम हैं जिनमें एक हजार संन्यासी निवास करते हैं। स्तूप और महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ नाना प्रकार के चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध हैं। यहाँ से पूर्व की ओर जाकर हम 'चइ गोहयना' पहुँचे।

यह गोहयन्ना (चघानियाँ)

यह देश पूर्व से पश्चिम की ओर ४०० ली और उत्तर से दक्षिण की ओर ५०० ली है। है। राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। यहाँ पर पाँच संघाराम हैं जिनमें कुछ संन्यासी रहते हैं। यहाँ से पूर्व की ओर जाकर हम 'हूहलोमो' में पहुँचे।

'हूहलोमो' (गर्मा)

यह देश १०० ली पूर्व से पश्चिम की ओर और ३०० ली उत्तर से दक्षिण की ओर है। राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। राजा हिमू जाति का तुर्क है। यहाँ दो संघाराम और लगभग १०० संन्यासी हैं, यहाँ से पूर्व की ओर जाकर हम 'सुमन' प्रदेश पहुँचे।

'सुमन' (सुमान और कुलाब)

यह देश ४०० ली पूर्व से पश्चिम की ओर और १०० ली उत्तर से दक्षिण की ओर है। राजधानी का क्षेत्रफल १६ या १७ ली है। इसका राजा हिमू तुर्क है। दो संघाराम और थोड़े से संन्यासी यहाँ निवास करते हैं। इस देश की दक्षिण-पश्चिमी सीमा आक्सस् नदी है; उसके आगे 'क्योहोयेना' प्रदेश है।

'क्योहोयेना' (कुवादियान)

यह देश पूर्व से पश्चिम की ओर २०० ली और उत्तर से दक्षिण की ओर ३०० ली है। राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। तीन संघाराम और लगभग सौ संन्यासी यहाँ रहते हैं। इसके पूर्व 'हुशा' प्रदेश है।

'हूश्रा' (वरश्र)

यह देश ३०० ली पूर्व से पश्चिम की ओर और ५०० ली उत्तर से दक्षिण की ओर है। राजधानी का क्षेत्रफल १६ या १७ ली है। पूर्व की ओर चल कर हम 'खोटोलो' पहुँचे।

'खोटोलो' (खोटल)

यह राज्य लगभग १००० ली पूर्व से पश्चिम तक और इतना ही उत्तर से दक्षिण तक है। राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। इसके पूर्व की ओर सङ्गलिङ्ग पहाड़ और फिर 'क्यूमीटो' है।

'क्यूमीटो' (कुमिधा अथवा दरवाज़ और रोशान)

यह देश २००० ली पूर्व से पश्चिम की ओर और २०० ली उत्तर से दक्षिण की ओर है। यह स्थान सङ्गलिङ्ग पहाड़ के मध्य में है। राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। इसके दक्षिण-पश्चिम में आक्सस् नदी और दक्षिण की ओर 'शीकीनी' प्रदेश है। आक्सस् नदी को पार करके दक्षिण की ओर टामो-सिहटेहटी राज्य, पोटोचङ्गना राज्य (बदख्शां) इनपोकिन (यमगान) राज्य, किउलङ्गना (कुरान) राज्य, हिमोटोलो राज्य (हिमतल), पोलीहो राज्य, खिलीसहमो (कृश्मा) राज्य, होलोहू राज्य, ओलीनी राज्य मङ्गकिन राज्य में, और 'हो' (कुन्दज़) राज्य के पूर्व-दक्षिण की ओर जाकर हम

[1] अरबवालों का तर्मिस्तान। Jour. R. Geog. Soc., Vol. XLII P. 508 n. Wood's Oxus 260; and Gardiner's Memoir in Jour. As. Soc. Bengal. Vol. XXII.

'चेनसेहटो' और 'अन्टालापो' राज्यों में गये। इन सबका वर्णन लौटते समय किया जायगा। 'ह्वो' प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में जाकर हम 'फोकियालङ्क' राज्य में गये।

फोकियालङ्क (ग्घलान)

इस प्रदेश का विस्तार पूर्व से पश्चिम की ओर ५० ली और उत्तर से दक्षिण की ओर २०० ली है। राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। यहाँ से दक्षिण जाकर हम 'हिलूसिमिनकिन' राज्य में आये।

'हिलूसिमिनकिन' (रुई समनगन)

इस राज्य का क्षेत्रफल १०० मिली और राजधानी का क्षेत्रफल १४ या १५ ली है। इसके उत्तर-पश्चिम में 'होलिन' राज्य की सीमा है।

'होलिन' (खुल्म)

इस राज्य का क्षेत्रफल ८०० ली और राजधानी का क्षेत्रफल ५ या ६ ली है। यहाँ १० संघाराम और ५०० संन्यासी हैं। यहाँ से पश्चिमाभिमुख चलकर हम 'पोहो' प्रदेश में पहुँचे।

पोहो (बलख़)

यह प्रदेश ८०० ली पूर्व से पश्चिम, और ४०० ली उत्तर से दक्षिण है। इसकी उत्तरी हद पर आक्सस् नदी है। राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। यह बहुधा लघुराजगृह के नाम से पुकारी जाती है। यह नगर भलीभाँति सुरक्षित होने पर भी आबाद कम है। यहाँ की भूमि की पैदावार अनेक प्रकार की है और जल तथा थल के पुष्प अनगिनती हैं।

लगभग १०० संघाराम हैं जिनमें ३००० संन्यासी निवास करते हैं। इन सबका धार्मिक सम्बन्ध 'हीनयान' सम्प्रदाय से है।

नगर के बाहर दक्षिण-पश्चिम दिशा में 'नवसंघाराम' नाम का एक स्थान है। जिसको पहले यहाँ के किसी नरेश ने निर्माण कराया था। बड़े बड़े बौद्धाचार्य, जो कि हिमालय की उत्तर दिशा में निवास करते हैं और बड़े बड़े शास्त्रों के रचयिता हैं, इसी संघाराम से सम्बन्ध रखते हैं और इसी स्थान पर अपने बहुमूल्य कार्य का सम्पादन करते हैं। इस स्थान पर महात्मा बुद्ध की एक सुन्दर रत्नजटित मूर्ति है। और मन्दिर भी जिसमें यह मूर्ति स्थापित है नाना प्रकार की बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित है। इस सबब से निकटवर्ती प्रदेशों के लालची नरेशों ने इस मन्दिर को कई बार लूट भी लिया है।

इस संघाराम में 'वैश्रावणदेव' की भी एक मूर्ति है। इस मूर्ति ने अपने अद्भुत प्रभाव से मन्दिर की ऐसी अच्छी तरह रक्षा की है जिसकी कि कोई आशा न थी। थोड़े दिन हुए 'येह्व खाँ' नामक एक तुर्क विद्रोही हो गया था। उसने अपनी सेना को लेकर मन्दिर पर आक्रमण करना चाहा। और उसकी सम्पूर्ण बहुमूल्य वस्तुओं और रत्नों को हस्तगत करना चाहा। येह्व खाँ मन्दिर के निकट पहुँचकर मैदान में डेरा डाले हुए पड़ा हुआ था कि रात में उसको स्वप्न हुआ। स्वप्न में उसने वैश्रावणदेव को देखा जिन्होंने उससे इस प्रकार सम्बोधन करते हुए कहा कि 'ए खान! कितनी सामर्थ्य के बल से तूने मन्दिर के विनाश करने का साहस किया है?' और फिर अपनी बर्छी को उठाकर इस ज़ोर से मारा कि आर पार हो

गई। खान घबड़ाकर जग पड़ा और मारे रंज के उसका हृदय धड़कने लगा। फिर अपने साथियों को बुलाकर और स्वप्न का हाल कहकर अपने अपराध की शान्ति के लिए मन्दिर की ओर रवाना हुआ। उसने पुरोहितों को सूचना दी कि मुझको आज्ञा दी जावे तो मैं उपस्थित होकर अपने अपराध की क्षमा माँगूँ परन्तु पुरोहितों के पास से उत्तर आने के पहले ही उसका अन्त हो गया। संघाराम के भीतर बुद्ध-मन्दिर के दक्षिणी भाग में महात्मा बुद्ध के हाथ धोने का पात्र रक्खा हुआ है। इसमें लगभग एक घड़ा जल अमाता है। यह पात्र कई रङ्ग का है जिसकी चमक से आँखें चौंधिया जाती हैं। यह बताना कठिन है कि यह पात्र सोने का बना है अथवा पत्थर का। यहाँ पर लगभग एक इंच लम्बा और पौन इंच चौड़ा एक दाँत भी महात्मा बुद्ध का है। इसका रङ्ग कुछ पीलापन लिये हुए सफ़ेद और चमकदार है। इसके अतिरिक्त एक झाड़ू भी महात्मा बुद्ध की रक्खी हुई है। यह 'कास' की बनी हुई है और लगभग दो फ़ीट लम्बी और सात इंच गोल है। इसकी मूठ में अनेक रत्न जड़े हुए हैं। प्रत्येक षष्ठीव्रत के दिन इन तीनों पवित्र पदार्थों की पूजा होती है और बहुत से शिष्यवर्ग अपनी अपनी भेंट अर्पण करते हैं। जिन लोगों को विशेष विश्वास होता है उन लोगों को इनमें से एक प्रकार की ज्योति सी निकलती हुई दिखाई देती है।

संघाराम के उत्तर में एक स्तूप २०० फ़ीट ऊँचा है। इसके ऊपर की अस्तरकारी ऐसी कठोर है कि हीरे की बनी हुई मालूम होती है। तथा अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित है। इसके भीतर कोई पुनीत बौद्धावशेष बन्द है।

समय समय पर इसमें से भी अद्भुत दैवी चमत्कार प्रदर्शित हो जाता है।

सङ्घाराम के दक्षिण-पश्चिम में एक 'विहार' बना हुआ है। इसको बने हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। यह स्थान बड़े बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् महात्माओं के कारण दूर दूर तक प्रसिद्ध है, इस कारण दूर दूर से अनेक यात्री यहाँ आया करते हैं।

कितने ही ऐसे महात्मा हो गये हैं जिनको चारों पुनीत पदार्थ प्राप्त होने पर भी अपने चमत्कार के प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त न हो सका। उन अरहटों ने अपनी सिद्धता को अन्तिम समय प्रदर्शित किया; और जिन लोगों ने उनकी इस प्रकार की योग्यता को अनुभव किया उन लोगों ने उनकी प्रतिष्ठा के लिए स्तूप बनवा दिये। इस प्रकार के कई सौ स्तूप यहाँ पास पास बने हुए हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ कितने ही महात्मा ऐसे भी हो गये हैं जो कि सिद्धावस्था को पहुँच चुके थे परन्तु अन्त समय में भी उन्होंने कोई चमत्कार नहीं दिखाया, इस कारण उनका कोई स्मारक नहीं बना। इस समय लगभग १०० संन्यासी इस विहार में निवास करते हैं। ये लोग अपने अहोरात्रि कर्मों में इतने उच्छृङ्खल हो रहे हैं कि साधु असाधु की पहचान करना कठिन है।

राजधानी से उत्तर-पश्चिम लगभग ५० ली जाने पर हम 'ट्रेवई' कसबे को गये। इस कसबे से ४० ली उत्तर 'पोली' कसबा है। इन दोनों कसबों में तीस फ़ुट ऊँचा एक एक स्तूप है। प्राचीन समय में जब भगवान् बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे पहले-पहल सिद्धावस्था प्राप्त करके मृगवाटिका[1]

[1] यह वाटिका बनारस में थी।

को गमन किया था उस समय उनको दो सौदागर मिले थे। इन सौदागरों ने महात्मा बुद्ध के तेजस्वी रूप को देख कर बड़ी भक्ति के साथ अपनी यात्रा की सामग्री में से कुछ रोटियाँ और शहद भगवान् के अर्पण किया। उस समय भगवान् बुद्ध ने, इन लोगों को, मनुष्य और देवताओं के सुखों के सम्बन्ध में व्याख्यान देकर सदाचार के पाँच नियम और ज्ञान के दस नियम बताये। सबसे पहले यही दो व्यक्ति भगवान् बुद्ध के शिष्य हुए थे। शिक्षा के समाप्त होने पर इन लोगों ने प्रार्थना की कि कोई ऐसा प्रसाद मिलना चाहिए जिसकी हम पूजा करें। इस पर 'तथागत भगवान' ने अपने कुछ बाल और नाख़ून काट दिये। इन दोनों पुनीत वस्तुओं को लेकर वे सौदागर चलना ही चाहते थे कि उन्होंने फिर भगवान से प्रार्थना की कि इन पदार्थों की प्रतिष्ठा करने का ठीक ठीक तरीक़ा बता दीजिए। इस पर 'तथागत भगवान्' ने अपनी 'संघाती' को चौकोर रूमाल की भाँति बिछाकर 'उत्तरासङ्ग' को रक्खा और फिर संकाक्षिका को। इनके ऊपर अपने भिक्षापात्र को औंधा कर अपने हाथ की लाठी को खड़ा कर दिया। इस तरह पर सब वस्तुओं को रखकर उन लोगों को स्तूप बनाने का तरीक़ा बतलाया। दोनों आदमियों ने, अपने अपने देश को जाकर, आज्ञानुसार वैसाही स्तूप निर्माण कराया जैसा कि भगवान् ने उनको बतलाया था। बौद्ध-धर्म के जो सबसे प्रथम स्तूप बने थे वह यही हैं।

इस क़सबे से ७० ली पश्चिम में एक स्तूप २० फ़ीट ऊँचा है। यह काश्यप बुद्ध के समय में बना था। राजधानी को परित्याग करके और दक्षिण-पश्चिमाभिमुख गमन करते हुए,

हिमालय पहाड़ की तराई में 'जुई मोटो' प्रदेश में पहुँचना होता है।

जुइमोटो (जुमध ?)

यह देश ५० या ६० ली पूर्व से पश्चिम की ओर और लगभग १०० ली उत्तर से दक्षिण की ओर है। राजधानी १० ली के घेरे मे है। इसके दक्षिण-पश्चिम मे 'हूशी कइन' प्रदेश है।

'हूशी कइन' (जुज़गान)

यह देश ५०० ली पूर्व से पश्चिम की ओर और १००० ली उत्तर से दक्षिण तक है। राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। इस प्रदेश में बहुत से पहाड़ और नदियाँ हैं। यहाँ के घोड़े बहुत अच्छे होते हैं। यहाँ से उत्तर-पश्चिम 'टाला-कइन' है।

'टालाकइन' (ताली कान)

यह देश ५०० ली पूर्व से पश्चिम की ओर और ५० या ६० ली उत्तर से दक्षिण की ओर है। राजधानी १० ली के घेरे में है। पश्चिम दिशा में परशिया की हद है। पोहो (बलख) राजधानी से १०० ली दक्षिण जाने पर हम 'कइची' पहुँचे।

कइची (गची या गज़)

यह देश पूर्व से पश्चिम ५०० ली और उत्तर से दक्षिण तक ३०० ली है। राजधानी का क्षेत्रफल ४ या ५ ली है। पहाड़ी देश होने के कारण भूमि पथरीली है। फूल और फल बहुत कम हैं परन्तु सेम और अन्न बहुतायत से होता है। जल-वायु सर्द और मनुष्यों के स्वभाव कठोर और असहनशील हैं।

यहाँ पर लगभग १० संघाराम और २०० साधु निवास करते हैं। सबके सब सर्वास्तिवाद-संस्था के हीनयान-सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं। दक्षिण-पश्चिम ओर से हम हिमालय पहाड़ में दाखिल हुए। ये पहाड़ ऊँचे और घाटियाँ गहरी हैं। ऊँची नीची भूमि और नदियों के किनारे बहुत भयानक हैं। आँधियों और बर्फ़ की वृष्टि बिना रोकटोक होती है। बर्फ़ के ढेर घाटियों में गिर कर मार्ग को बन्द कर देते हैं। और ग्रीष्मऋतु में भी बराबर बने रहते हैं। पहाड़ी देवता और राक्षस जिस समय क्रोधित हो जाते हैं उस समय अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न हो जाते हैं। डाकू लोग मुसाफ़िरों को राह चलते वध कर डालते हैं। बड़ी बड़ी कठिनाइयों को झेलते हुए कोई ६०० ली चल कर 'तुषार' प्रदेश से हमारा पीछा छूटा और हम 'फनयना' राज्य में पहुँचे।

फनयना (बामियान)

यह राज्य २००० ली पूर्व से पश्चिम तक और ३०० ली उत्तर से दक्षिण तक है। यह बरफ़ीले पहाड़ों के मध्य में स्थित है। लोगों के बसने के गांव या तो पहाड़ों में हैं या घाटियों में। राजधानी एक ढालू पहाड़ी पर है जिसकी हद पर ६ या ७ ली लम्बी एक घाटी है। इसके उत्तर तरफ़ एक ऊँचा कगार है। यहाँ पर गेहूँ और थोड़े फल-फूल होते हैं। यह स्थान पशुओं के बहुत उपयुक्त है। भेड़ और घोड़ों के लिए चारे की बहुतायत है। प्रकृति सर्द और मनुष्यों के आचरण कठोर और असभ्य हैं। वस्त्र अधिकतर खाल और ऊन के बनाये जाते हैं जो कि देशानुसार बहुत उचित हैं। साहित्य, रीतिरवाज और सिक्का इत्यादि वैसे ही हैं जैसे तुषार-प्रदेश में हैं। इन दोनों की भाषा

कुछ भिन्न है परन्तु सूरत-शकल से कुछ भी फ़र्क़ एक दूसरे में नहीं मालूम होता। अपने कुल पड़ोसियों की अपेक्षा इन लोगों में धार्मिक कट्टरपन विशेष है। जिस प्रकार ये 'रत्नत्रयी'[१] की सबसे बड़ी पूजा में लगते हैं उसी प्रकार सैकड़ों छोटे छोटे देवी-देवताओं के पूजन का भी समारोह करते हैं। सब प्रकार के पूजन में इनके हृदय की सच्ची भक्ति प्रकट होती है। किसी स्थान पर प्रेम में रंचमात्र भी कमी नहीं दिखाई पड़ती। सौदागर लोग जो व्यापार के लिए आते जाते हैं देवताओं से शकुन पूछ कर अपनी वस्तुओं के मूल्य को निर्धारित करते हैं। शकुन शुभ होता है तब वे उसके अनुसार चलते हैं, और अशुभ होने पर देवताओं के सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इस देश में १० संघाराम और १००० संन्यासी हैं। इनका सम्बन्ध 'लोकोत्तर-वादि-संस्था' और हीनयान-सम्प्रदाय से है।

राजधानी के पूर्वोत्तर में एक पहाड़ है, इस पहाड़ की ढाल पर महात्मा बुद्ध की एक पत्थर की मूर्ति १४० या १५० फ़ीट ऊँची है। इसके सब ओर सुनहरा रंग झलकता है और इसके मूल्यवान आभूषण अपनी चमक से नेत्रों को चौंधिया देते हैं।

इस स्थान के पूर्व ओर एक संघाराम, इस देश के किसी प्राचीन नरेश का बनवाया हुआ है। इस संघाराम के पूर्व में महात्मा शाक्य बुद्ध की एक खड़ी मूर्ति १०० फ़ीट ऊँची किसी धातु की बनी हुई है। इसके अवयव अलग अलग ढाल कर फिर जोड़े गये हैं। इस तरह यह सम्पूर्ण मूर्ति बना कर खड़ी की गई है।

नगर के पूर्व १२ या १३ ली पर एक संघाराम है जिसमें

[१] बुद्ध, धर्म और संघ।

महात्मा बुद्ध की एक लेटी हुई मूर्ति उसी प्रकार की है जिस प्रकार उन्होंने निर्वाण लिया था। मूर्ति की लम्बाई लगभग १००० फीट है। इस देश का राजा यहाँ सदैव 'मोक्ष महापरिषद' का प्रबंध करता है और अपने राज्य, कोष, स्त्री, बच्चे तथा अपने शरीर तक को दान कर देता है। तदुपरान्त राजा के मंत्री और कुल छोटे छोटे अफ़सर संन्यासियों से राज्य के फेर देने की प्रार्थना करते हैं। इन सब कामों में बहुत समय व्यतीत हो जाता है। इस लेटी हुई मूर्ति के संघाराम से दक्षिण-पश्चिम २०० ली के लगभग जाने पर और पूर्व दिशा में बड़े बड़े बरफ़ीले पहाड़ों को पार करने पर एक छोटा सा झरना मिलता है। जिसमें काँच के समान उज्ज्वल जल बहा करता है। इस स्थान के छोटे छोटे वृक्ष हरे भरे हैं, यहाँ पर एक संघाराम है जिसमें एक दाँत महात्मा बुद्ध का है। और एक दाँत 'प्रत्येक बुद्ध' का भी है जो कि कल्प के आदि में जीवित था। यह दाँत पाँच इंच लम्बा और चौड़ाई में चार इंच से कुछ ही कम है। यहाँ पर एक दाँत तीन इंच लम्बा और दो इंच चौड़ा किसी चक्रवर्ती नरेश का भी रक्खा हुआ है। 'सनकवास' नामक एक बड़ा अरहट था। उसका लोहे का भिक्षापात्र भी यहाँ रक्खा है जिसमें ५-६ सेर वस्तु आ सकती है। ये तीनों पुनीत वस्तुएँ, उपरोक्त महात्माओं की, एक सुनहरे सन्दूक में बन्द हैं। 'सनकवास' अरहट का एक संघाती वस्त्र, जिसके नौ टुकड़े हैं, यहाँ रक्खा हुआ है। यह वस्त्र सन का बना हुआ है और इसका रंग गहरा लाल है। 'सनकवास' आनन्द का शिष्य था। अपने किसी पूर्वजन्म में बरसात के अन्त होने पर, संन्यासियों को सन के बने हुए वस्त्र दान किया करता था। इस उत्तम कार्य के बल से लगातार ५०० जन्मों तक इसने

केवल यही वस्त्र धारण किया और अन्तिम जन्म में इसी वस्त्र को पहने हुए उत्पन्न हुआ। ज्यों ज्यों इसका शरीर बढ़ता रहा त्यों त्यों वस्त्र भी बढ़ता रहा, अन्त में यह आनन्द का शिष्य हुआ और घर द्वार छोड़ कर संन्यासी हो गया। उस समय इसका वस्त्र भी धार्मिक वस्त्र की भाँति हो गया। सिद्धावस्था प्राप्त करने पर वह वस्त्र भी नौ टुकड़ों का बना हुआ 'संघाती' के स्वरूप का हो गया। जिस समय वह निर्वाण प्राप्त करने को था और समाधि में मग्न होकर अन्तर्धान होने के निकट था उस समय उसको ज्ञान के बल से विदित हुआ कि यह कषायवस्त्र उस समय तक रहेगा जब तक महात्मा शाक्य का धर्म संसार में है। इस धर्म के नष्ट होने पर यह वस्त्र भी विनष्ट हो जायगा। इस समय इस वस्त्र की दशा बिगड़ चली है क्योंकि आज-कल धर्म भी घट रहा है। यहाँ से पूर्वाभिमुख गमन करके हम बरफ़ीले पहाड़ के तंग रास्ते में पहुँचे और 'स्याहकोह' को पार करके 'कियापीशी' देश में आये।

कियापीशी (कपिसा)

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ४००० ली है। उत्तर की ओर यह बर्फ़ीले पहाड़ों से मिला हुआ है और शेष तीन ओर 'हिन्दूकुश' हैं। राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। यहाँ पर अन्न और फलदार वृक्ष सब प्रकार के होते हैं। 'शेन' जाति के घोड़े और सुगंधित वस्तु 'यूकिन' भी यहाँ होती है। सौदागरी की भी सब प्रकार की वस्तुएँ यहाँ मिल जाती हैं। प्रकृति ठंडी और आँधियों का ज़ोर रहता है। मनुष्य निर्दय और दुष्ट हैं। इनकी भाषा असभ्य और देहाती है। विवाह कार्य में जाति इत्यादि का विचार नहीं है, एक

जाति का दूसरी जाति से विवाह-सम्बन्ध बराबर हो जाता है। इनका साहित्य तुषार प्रदेश की भाँति है, परन्तु रीति-रवाज, भाषा और चालचलन कुछ विपरीत है। इनके वस्त्र बालों से बनाये जाते हैं जो संबूर के होते हैं। वाणिज्य में सोने और चाँदी के सिक्के तथा छोटे छोटे ताँबे के सिक्के प्रचलित हैं। इनकी बनावट दूसरे देशों की अपेक्षा भिन्न है। राजा क्षत्रिय जाति का है। यह बड़ा धूर्त है। अपने वीरत्व और साहस के बल से निकटवर्ती दस प्रदेशों पर इसने अधिकार कर रक्खा है। यह अपनी प्रजा का पालन बहुत प्यार से करता है और 'रत्नत्रयी' का माननेवाला है। प्रत्येक वर्ष यह राजा एक चाँदी की मूर्ति १८ फ़ीट ऊँची महात्मा बुद्ध की बनवाता है और मोक्ष-महापरिषद् नाम का बड़ा भारी मेला इकट्ठा करके दरिद्रों और दुखियों को भोजन देता है। और विधवा तथा अनाथ बालकों के कष्टों को निवारण करता है।

लगभग १०० संघाराम और ६००० संन्यासी इस राज्य में हैं। ये सब लोग 'महायान' सम्प्रदाय के सेवक हैं। ऊँचे ऊँचे स्तूप और संघाराम बहुत ऊँचे स्थान पर बनाये जाते हैं जिससे उनका प्रताप बहुत दूर से और सब ओर से प्रदर्शित होता है। यहाँ पर दस मन्दिर देवताओं के हैं, और लगभग १००० मनुष्य भिन्न-धर्मावलम्बी हैं। कुछ तपस्वी (निर्ग्रंथ या दिगम्बर जैन) नग्न रहते हैं। कुछ (पाशुपत) अपने को भस्म में लपेटे रहते हैं और कुछ (कपालधारी) हड्डियों की माला बनाकर शिर पर धारण किये रहते हैं।

राजधानी के पूर्व ३ या ४ ली पर पहाड़ के नीचे उत्तर तरफ़ एक बड़ा संघाराम लगभग ३०० संन्यासियों समेत है। इनका सम्बन्ध 'हीनयान' सम्प्रदाय से है और

उसी की शिक्षा पाते हैं। इस संघाराम की पुरानी कथा इस प्रकार है। प्राचीनकाल में[१] गंधार देशाधिपति महाराज कनिष्क ने अपने निकटवर्ती सम्पूर्ण देशों को अधिकृत करके दूर दूर के भी देशों को जीत लिया था। और अपनी सेना के बल से बहुत दूर की भूमि—यहाँ तक कि सङ्गलिङ्ग पहाड़ के पूर्व ओर तक के भी वे स्वामी हो गये थे। उस समय 'पीतनद' के पश्चिमीय देश-निवासी लोगों ने उनकी सेना के भय से, कुछ लोगों को बंधक की भाँति उसके पास भेजा[२]। कनिष्क

[१]कनिष्क कब हुए इसका ठीक ठीक निश्चय अब तक नहीं हुआ। लैसन साहब सन् १० और ४० ई० के मध्य में मानते हैं, परन्तु चीनी पुस्तकों में ईसा से प्रथम एक शताब्दी के अन्तर्गत माना है। उत्तर-देश-निवासी बौद्ध बुद्ध-निर्वाण से ४०० वर्ष उपरान्त कनिष्क का होना मानते हैं, और वर्तमान काल के कुछ इतिहासज्ञ उसका होना प्रथम शताब्दी में मान कर यह भी अनुमान करते हैं कि शक-संवत् (जो ईसा से ७८ वर्ष पीछे का है) उसी का चलाया हुआ है।

[२]हुइली के वृत्तान्त से विदित होता है कि केवल एक पुरुष बंधक में आया था और वह चीन-नरेश का पुत्र था। अश्वघोष के श्लोकों से, जो कनिष्क का सहयोगी था, यह सूचित होता है कि चीननरेश का एक पुत्र अंधा हो गया था, वह अपना अंधापन दूर करने के लिए इस देश में आया था, वह एक भवन में आकर रहने लगा। उस भवन में एक महात्मा उपदेशक भी रहता था। उस महात्मा ने एक दिन ऐसा सारगर्भित धर्मोपदेश दिया जिससे सम्पूर्ण श्रोतासमाज के अश्रु बह निकले। उन आँसुओं के कुछ बिन्दु राजकुमार के नेत्रों में लगाये गये जिससे उसका अंधापन जाता रहा था।

राजा ने उन बंधक लोगों के साथ बहुत उत्तम बर्ताव करके आज्ञा दी कि इन सब लोगों के निवास के लिए, गर्मी और जाड़े के योग्य, अलग अलग मकान बनाये जायँ। जाड़े के दिनों में ये लोग भारतवर्ष के कई प्रदेशों में, ग्रीष्म में कपिसा में, और शरद् तथा वसन्त में गंधार देश में निवास करते थे। इस कारण उन बंधक पुरुषों के लिए तीनों ऋतुओं के योग्य अलग अलग संघाराम बनाये गये थे। यह संघाराम, जिसका कि वर्णन इस समय किया जाता है, उन लोगों के लिए ग्रीष्म-काल के लिए बनाया गया था। बंधक पुरुषों के चित्र यहाँ की दीवारों पर बने हुए हैं; जिनकी सूरतों, कपड़ों और भूषण आदि से विदित होता है कि ये लोग चीन के निवासी थे। अंत में जब इन लोगों को अपने देश को लौटने की आज्ञा मिली और ये चले गये तब भी, बराबर उनका स्मरण उनकी इस अस्थायी निवास-भूमि में होता रहा। और यद्यपि बहुत से पहाड़ तथा नदियाँ रास्ते में बाधक थीं फिर भी बड़े प्रेम के साथ उन लोगों को भेंट भेजी जाती रही तथा उनका आदर किया जाता रहा। उस समय से लेकर अब तक प्रत्येक वर्षा-ऋतु में संन्यासियों का जमाव इस स्थान पर होता है और व्रतोत्सव के समाप्त होने पर सब लोग मिल कर उन बंधक पुरुषों की हितकामना के लिए प्रार्थना करते हैं। इन दिनों भी यह रीति सजीव है। इस संघाराम में महात्मा बुद्ध के मन्दिर के पूर्वी द्वार के दक्षिण की ओर महाकालेश्वर (वैश्रवण) राजा की मूर्ति है, जिसके दाहिने पैर के नीचे तहखाना है जिसमें बहुत सी दौलत भरी है। यह द्रव्य-स्थान बंधक पुरुषों का है। यहाँ पर लिखा हुआ है कि "जब संघा-राम नष्ट हो जावे तो इस द्रव्य को निकाल कर उसे फिर से

बनवा दिया जावे।" बहुत थोड़े दिन हुए एक छोटा राजा बहुत लालची और दुष्ट तथा निर्दय प्रकृति का था। उसने, इस संघाराम में छिपे हुए द्रव्य और रत्नों का पता पाकर संन्यासियों को खदेड़ दिया और धन को खुदवाने लगा। महाकालेश्वर राजा की मूर्ति के सिर पर एक तोते की मूर्ति थी। उस तोते ने अपने पंख फड़फड़ाना और ज़ोर ज़ोर से चिल्लाना प्रारम्भ किया, यहाँ तक कि भूमि काँपने तथा हिलने लगी। राजा और उसकी फ़ौज के लोग भूमि पर गिर पड़े। थोड़ी देर के बाद सब लोग उठकर और अपने अपराधों की क्षमा माँग कर लौट गये।

इस संघाराम के उत्तर में एक पहाड़ी दर्रे के ऊपर कई एक पत्थर की कोठरियाँ हैं। इन स्थानों में वे बंधक पुरुष बैठकर ध्यान-समाधि का अभ्यास किया करते थे। इन गुफाओं में बहुत से जवाहिरात छिपाये हुए रक्खे हैं और पास ही एक स्थान पर लिखा है कि 'इस धन की रक्षा यक्ष लोग करते हैं।' यदि कोई व्यक्ति इनमें जाकर द्रव्य को चुराना चाहता है तो यक्ष लोग अपने आध्यात्मिक बल से भाँति भाँति के स्वरूप (सिंह, सर्प, इत्यादि) धारण करके अपने क्रोध को प्रकट करते हैं। इस कारण किसी को भी इस गुप्तधन के लेने का साहस नहीं होता। इन गुफाओं के पश्चिम में दो तीन ली के फ़ासिले पर एक पहाड़ी दर्रे के ऊपर 'अवलोकितेश्वर' बुद्ध की मूर्ति है। जिनको दृढ़ विश्वास से बुद्ध के दर्शन की इच्छा होती है उन लोगों को दिखाई पड़ता है कि भगवान् बुद्ध का बहुत सुन्दर और तेजोमय स्वरूप मूर्ति में से निकलकर बाहर आ रहा है और यात्रियों की धारणा को सुदृढ़ और शान्त कर रहा है। राजधानी से ३० ली के लगभग दक्षिण-

पूर्व को 'राहुल' संघाराम में हम पहुँचे। इसके समीप १०० फ़ीट ऊँचा एक स्तूप है। व्रतोत्सव के दिनों में इस स्तूप में से एक ज्योति सी निकलती हुई दिखलाई पड़ती है। 'कुपोल' के ऊपर बीचवाले पत्थर के मध्य से काला काला सुगंधित तेल निकला करता है और सुनसान रात्रि में गाने बजाने का शब्द सुनाई पड़ता है। प्राचीन इतिहासानुसार यह स्तूप राहुल नामी इस देश के प्रधान मंत्री का बनवाया हुआ है। इस धार्मिक कार्य्य के समाप्त होने पर रात्रि को उसने एक आदमी को स्वप्न में देखा जिसने उससे कहा कि 'इस स्तूप में जो तूने बनवाया है, कोई पवित्र वस्तु (बौद्धावशेष) नहीं है। कल जब लोग राजा को भेट देने आवें, तब तुम उस भेट को यहाँ लाकर स्थापित कर दो'। दूसरे दिन सबेरे राजा के दरबार में जाकर उसने राजा से विनय की कि 'महाराज का एक दीन दास कुछ निवेदन किया चाहता है। राजा ने पूछा कि 'मंत्री जी, आपको किस वस्तु की आवश्यकता है ?' उत्तर में उसने निवेदन किया कि 'महाराज की बहुत ही बड़ी कृपा हो यदि आज की भेट, जो सबसे पहले आवे, मुझको मिल जाय।' राजा ने इसको मन्ज़ूर कर लिया। 'राहुला' इसके पश्चात् क़िले के फाटक पर जाकर खड़ा हुआ : और उन लोगों को देखने लगा जो उस तरफ़ आ रहे थे। भाग्य से उसने देखा कि एक आदमी अपने हाथ में बौद्धावशेष का डिब्बा लिये हुए आ रहा है। मंत्री ने उससे पूछा कि 'तुम्हारी क्या इच्छा है ? तुम क्या भेट लाये हो ?' उसने उत्तर दिया—"महात्मा बुद्ध का कुछ अवशेष।" मंत्री ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हारी सहायता करूँगा, और मैं अभी जाकर राजा से प्रथम यही निवेदन करूँगा।" यह कह

कर उसने 'अवशेष' को ले लिया। परन्तु उसको भय हुआ कि कदाचित् इस बहुमूल्य अवशेष को देखकर राजा को पछतावा हो इस कारण वह जल्दी से संघाराम को गया और स्तूप पर चढ़ गया, तथा अपने बड़े भारी धर्मबल से 'कुपोल' पत्थर को स्वयं खोल कर उस पुनीत 'अवशेष' को उसके भीतर रख दिया। यह काम करके जिस समय वह जल्दी से बाहर आरहा था उसके वस्त्र की गोट पत्थर के नीचे दब गई। जब तक वह वस्त्र को छुड़ावे वह खुद ही पत्थर के नीचे ढक गया। राजा ने कुछ लोग उसके पीछे दौड़ाये भी थे परन्तु जब तक वे लोग स्तूप तक पहुँचे, 'रोहिल' पत्थर के भीतर बन्द हो चुका था। यही कारण है कि पत्थर की दरार में से काला तेल चूआ करता है।

नगर से लगभग ४० ली दक्षिण की ओर हम 'श्वेतवार' नगर में आये। चाहे भूडोल हो अथवा पहाड़ की चोटी ही क्यों न फट पड़े परन्तु इस नगर के इर्द-गिर्द कुछ भी गड़बड़ नहीं होती।

श्वेतवार नगर से ३० ली दक्षिण एक पहाड़ आलुना (अरुण) नामक है। इसके कगार और दर्रे बहुत ऊँचे तथा गुफायें और घाटियाँ गहरी और अँधेरी हैं। प्रत्येक वर्ष इसकी चोटी कई सौ फीट ऊँची उठ कर, 'सावकूट' राज्य के 'सुनगिर' पहाड़ की उँचाई तक पहुँचती है। फिर उस चोटी से मिलकर एकाएक गिर जाती है। मैंने इस हाल को निकटवर्ती प्रदेशों में सुना है। प्रथम जब स्वर्गीय देवता 'सुन' बहुत दूर से इस पहाड़ पर विश्राम करने के लिए आया और पहाड़ी आत्मा ने अपने निकट की घाटियों को हिला कर उसको भयभीत कर दिया, तब स्वर्गीय देवता ने

कहा, "तुमको मेरे आतिथ्य की कुछ इच्छा नहीं है, इस वास्ते यह हलचल और बखेड़ा तुमने फैलाया है। यदि तुमने मेरी सेवा थोड़ी देर के लिए भी की होती तो मैंने तुम पर अतुलित धन की वृष्टि कर दी होती।"

परन्तु अब मैं 'सावकूट' राज्य के 'सुनगिर' पहाड़ को जाता हूँ और उसी के दर्शन प्रत्येक वर्ष किया करूँगा। जब मैं वहाँ हूँगा और राजा तथा उसके अधिकारी जिस समय मेरी सेवा करते होंगे उस समय तुम मेरे आमने-सामने खड़े हुआ करोगे। यही कारण है कि अरुण पहाड़ ऊँचा होकर गिर जाता है।

राजधानी से २०० ली पश्चिमोत्तर हम एक बड़े बरफीले पहाड़ पर आये। इसकी चोटी पर एक झील है। इस स्थान पर जो व्यक्ति वृष्टि की इच्छा करता है अथवा स्वच्छ जल के लिए प्रार्थना करता है वह अपनी याचनानुसार अवश्य पाता है। इतिहास में लिखा है कि प्राचीन काल में गंधार-प्रदेश का स्वामी एक अरहट था, जिसको इस झील के नागराज ने भी धार्मिक भेंट दी थी। जिस समय मध्याह्न के भोजन का समय हुआ उस समय वह अरहट अपने आध्यात्मिक बल से उस चटाई के सहित जिस पर वह बैठा था, आकाशगामी हुआ और उस स्थान पर गया जहाँ नागराज रहता था। उसका सेवक 'श्रमणेर' भी, जिस समय अरहट जाने लगा, चुपके से चटाई का कोना पकड़ कर लटक गया और क्षणमात्र में उसके साथ नागराज के स्थान को पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर नागराज ने 'श्रमणेर' को भी देखा। नागराज ने उनसे आतिथ्य स्वीकार करने की प्रार्थना की और अरहट को तो मृत्युनाशक भोजन दिया परन्तु श्रमणेर

को वही भोजन दिया जो मनुष्य भोजन करते हैं। अरहट ने अपना भोजन समाप्त करके नागराज की भलाई के लिए व्याख्यान देना प्रारम्भ किया और श्रमणेर को, जैसा कि उसका नियम था, आज्ञा दी कि भिक्षा-पात्र को मांज कर धो लावे। पात्र में कुछ जूठन उस स्वर्गीय भोजन की लगी हुई थी। इस भोजन की सुगंध से चौंक कर उसके हृदय में क्रोध उत्पन्न हुआ और अपने स्वामी से चिढ़ कर तथा नागराज से खिन्न होकर उसने शाप दिया कि 'जो कुछ आज तक मैंने धर्म की सेवा की है उस सबके बल से यह नागराज आज मर जावे और मैं स्वयं नागों का राजा होऊँ. इस शाप को दिये हुए श्रमणेर को बहुत थोड़ा समय हुआ था कि नागराज के शिर मे वेदना उत्पन्न हुई। अरहट को, व्याख्यान समाप्त करने पर, अपने अपराध का ज्ञान हुआ और वह बहुत पछताया। नागराज ने भी अपने पापों की क्षमा चाही। परन्तु श्रमणेर अपने हृदय में अब भी शत्रुता को धारण करता रहा और उसने उसको क्षमा न किया। अपने धार्मिक बल से जो कुछ उसने सत्यकामना की थी वह संघाराम में लौट आने पर पूरी हुई। उसी रात वह कालग्रसित होकर नाग के शरीर मे उत्पन्न हुआ। इसके उपरान्त उसने क्रोध मे भर कर झील में प्रवेश किया और उस नागराज को मार कर वह उसके स्थान का स्वामी हुआ। फिर उसने अपने सम्पूर्ण बान्धवों को साथ लेकर अपनी वास्तविक इच्छा के पूर्ण करने का उद्योग किया। संघाराम को नाश करने के अभिप्राय से उसने बड़ी भयंकर आँधियाँ और तूफ़ान उत्पन्न कर दिये जिससे सैकड़ों वृक्ष उखड़ कर धराशायी होगये।

जब राजा कनिष्क ने संघाराम के विनाश होने पर

आश्चर्यान्वित होकर, अरहट से इसका कारण पूछा तब उसने सब वृत्तान्त निवेदन किया। इस पर राजा ने नागराज के लिए (जो मर चुका था) बरफ़ीले पहाड़ के नीचे एक संघाराम और एक स्तूप १०० फ़ीट ऊँचा बनवाया। नागराज ने फिर क्रोधित होकर और आँधी तूफ़ान उठाकर उनको नाश कर दिया। राजा ने अपने औदार्य्य से इन स्थानों को फिर से बनवाया परन्तु नागराज दूने क्रोध से विशेष भयंकर हो गया। इस प्रकार छः बार वह संघाराम और स्तूप नाश किया गया। सातवीं बार कनिष्क अपने कार्य की असफलता से पीड़ित होकर विशेष क्रुद्ध हुआ और उसने इरादा किया कि नागों की झील को पटवा दिया जावे और उसके घर को धराशायी करा दिया जावे। इस विचार से राजा अपनी सेना-सहित पहाड़ के नीचे आया। उस समय नागराज भयातुर होकर और अपने पकड़े जाने से घबड़ा कर एक बूढ़े ब्राह्मण का स्वरूप धारण करके राजा के हाथी के सम्मुख दण्डवत् करने लगा, और राजा से विनती करते हुए इस प्रकार बोला कि "महाराज! आप अपने पूर्वजन्मों के अगणित पुण्यों के प्रताप से इस समय नृपति हुए हैं, आपकी कोई भी इच्छा परिपूर्ण होने से शेष नहीं है। फिर क्यों आप आज नाग-राज से युद्ध करने के लिए तैयार हुए हैं? नागराज केवल पशु है तो भी नीच जाति के पशुओं में विशेष बलशाली है। इसके बल का सामना कोई भी नहीं कर सकता। यह मेघों पर चढ़ सकता है, आँधियाँ चला सकता है, अदृश्य हो सकता है और पानी पर चल सकता है। कोई भी मानव-शक्ति उससे विजय नहीं लाभ कर सकती। फिर क्यों श्रीमान् इस प्रकार क्रुद्ध हैं कि आपने अपनी सेना के साथ लड़ाई के

लिए एक नाग पर चढ़ाई की है ? यदि आप जीत लेंगे तो आपकी विशेष बड़ाई न होगी। और यदि आप पराजित हो जायँगे तो फिर आपको अपनी अप्रतिष्ठा के कारण आन्तरिक वेदना होगी। इस कारण मेरी सलाह मानिए और अपनी सेना को लौटा ले जाइए।" परन्तु राजा अपने संकल्प पर दृढ़ था इसलिए अपने कार्य में लीन हो गया, और नागराज को लौट जाना पड़ा। नागराज ने वज्रवत् चिंघाड़ करते हुए पृथ्वी को हिला दिया और आँधियों को चला कर वृक्षों को तोड़ डाला। पत्थर और धूल की वृष्टि होने लगी तथा काले काले बादलों के कारण सर्वत्र अंधकार हो गया, जिससे राजा की सेना घोड़ों-सहित भयभीत हो गई। उस समय राजा ने अपनी रत्नत्रयी की पूजा की और इस प्रकार निवेदन करते हुए उनकी सहायता का प्रार्थी हुआ। "अपने पूर्वजन्मों के अगणित पुण्यों के प्रभाव से मैं नृपति हुआ हूँ तथा बड़े बड़े बलवानों को जीत कर जम्बूद्वीप का अधिपति हुआ हूँ, परन्तु इस नाग के विजय करने में मेरा कुछ बल नहीं चलता है जिससे विदित होता है कि कदाचित् अब मेरा पुण्य घट चला है। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि जो कुछ मेरा पुण्य हो वह इस समय मेरे काम आवे।"

इस समय राजा के दोनों कंधों से अग्नि की चिनगारियाँ उठने लगीं और बड़ा धुआँ होने लगा। राजा के प्रभाव से नागराज भाग गया, आँधियाँ थम गईं, अंधकार का नाश होगया और मेघ छितरा गये। उस समय राजा ने अपनी सेना के प्रत्येक आदमी को आज्ञा दी कि एक एक पत्थर लेकर नागों की झील को पाट दो।

इस समय नागराज ने फिर ब्राह्मण का रूप धारण

किया और राजा से दुबारा प्रार्थी हुआ कि मैं ही इस झील का नागराज हूँ; मैं आपके बल से भयभीत होकर आपकी शरण आया हूँ। क्या महाराज कृपा करके मेरे पहले अपराधों को क्षमा कर देंगे? महाराज वास्तव में सबके रक्षक हैं, और सब प्राणधारियों का पालन करते हैं, फिर केवल मेरे ही ऊपर इतने अधिक क्रुद्ध क्यों हैं? यदि महाराज मुझको मारेंगे तो हम दोनों को नरक होगा। महाराज को तो मेरे मारने के लिए और मुझको क्रोध के वशीभूत होने के लिए कर्मों के फल उस समय अवश्य प्रकट होंगे जब पाप और पुण्य के विचार का समय होगा।"

राजा ने नागराज की प्रार्थना स्वीकार करके आज्ञा दी कि अगर अब की बार कभी तुम फिर विद्रोही होगे तो कदापि क्षमा न किये जाओगे। नाग ने कहा कि मैंने अपने पापों से नाग का शरीर पाया है। नागों का स्वभाव भयानक और नीच है, इस कारण वे अपने स्वभाव को वश नहीं कर सकते। यदि संयोग से मेरे हृदय में फिर अग्नि की ज्वाला उठे तो वह मेरे अपनी प्रतिज्ञा भूल जाने के कारण ही होगी। महाराज फिर संघाराम को एक बार बनवावें, मैं इसके विनाश का साहस नहीं करूँगा। और, महाराज एक मनुष्य को नियत कर दें कि जो प्रति दिन पहाड़ की चोटी को देख लिया करे; जिस दिन उसको चोटी बादलों से काली दिखाई पड़े उसी दिन तुरन्त बड़े निनाद के साथ घंटा बजा देवे। जैसे ही मैं उसके शब्द को सुनूँगा शान्त होकर अपना असद्विचार परित्याग कर दूँगा।"

राजा ने इस बात से सहमत होकर फिर से नया संघाराम और स्तूप बनवाया। अब भी लोग पहाड़ की

चोटी पर के मेघ और कुहरे को देखा करते हैं। इस स्तूप की बाबत प्रसिद्ध है कि इसके भीतर तथागत भगवान् का बहुत सा 'शरीरावशेष' (हड्डी, मांस आदि) रक्खा हुआ है। और इस 'अवशेष' के ऐसे ऐसे अद्भुत चमत्कार दिखलाई पड़ते हैं कि जिनका अलग अलग वर्णन करना कठिन ह। एक समय इस स्तूप में से एक बारगी धुआँ निकलने लगा और फिर तुरन्त ही बड़ी भारी ज्वाला प्रकट होगई। लोगों को निश्चय हुआ कि स्तूप का अब नाश हुआ चाहता है। वे लोग बहुत समय तक स्तूप की ओर एकटक दृष्टि से देखते रहे, यहाँ तक कि वह ज्वाला समाप्त होगई और धुआँ जाता रहा। फिर उन्होंने देखा कि मोती के समान श्वेत एक शरीर प्रकट हुआ, और उसने स्तूप के कलश की प्रदक्षिणा की। तदुपरान्त वह वहाँ से हट कर ऊपर चढ़ने लगा और मेघों के प्रदेश तक चला गया। थोड़ी देर उस स्थान पर चमक कर वह शरीर परिक्रमा करता हुआ नीचे उतर आया। राजधानी के पश्चिमोत्तर में एक बड़ी नदी है जिसके दक्षिणी किनारे पर किसी प्राचीन राजा के संघाराम में, महात्मा शाक्यबुद्ध का दूध का दाँत है। यह लगभग एक इंच लम्बा है। इस संघाराम के पूर्व-दक्षिण में एक दूसरा संघाराम किसी प्राचीन नरेश का है जिसमें तथागत भगवान के सिर की अस्थि रक्खी हुई है। इसका ऊपरी भाग एक इंच चौड़ा और रंग कुछ पीलापन लिये हुए श्वेत है। इसके ऊपरी भाग में छोटे छोटे रोमकूप स्पष्ट प्रदर्शित होते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ तथागत भगवान् की एक चोटी भी रक्खी हुई है जिसका रंग काला गदुमी है। इसके बाल दाहिनी ओर फिरे हुए हैं। खींचने से यह एक फ़ुट लम्बी हो

जाती है पर मामूली दशा में क़रीब आधे इंच के रहती है। छुहों पुनीत दिनों को राजा और उसके मंत्री बड़ी भक्ति से इन तीनों वस्तुओं की पूजा करते हैं।

शिर की अस्थिवाले संघाराम के दक्षिण-पश्चिम में एक और संघाराम किसी प्राचीन राजा की रानी का बनवाया हुआ है। इसमें सोने का मुलम्मा किया हुआ एक स्तूप लगभग १०० फ़ीट ऊँचा है। इस स्तूप की बाबत प्रसिद्ध है कि इसमें बुद्ध भगवान् का 'शरीरावशेष' लगभग १ सेर रक्खा हुआ है। प्रत्येक मास की पन्द्रहवीं तिथि को शाम के समय इस स्तूप की ऊपरी थाली मंडलाकार स्वरूप में चमकने लगती है और प्रातःकाल तक चमकती रहती है। फिर धीरे धीरे विलीन होकर स्तूप में चली जाती है।

नगर के पश्चिम-दक्षिण में एक पहाड़ 'पीलुसार' है। पहाड़ी आत्मा हाथी का स्वरूप धारण किया करता है इस कारण इस पहाड़ का यह नाम पड़ा है। प्राचीन काल में जब तथागत भगवान् जीवित थे पहाड़ी आत्मा 'पीलुसार' ने भगवान् और उनके १२०० अरहटों को आतिथ्य स्वीकार करने के लिए निमंत्रित किया था। पहाड़ के ऊपर एक ठोस चट्टान का टीला है जिस पर तथागत भगवान् ने आत्मा की भेंट को स्वीकार किया था। बाद को अशोक राजा ने उस चट्टान पर लगभग १०० फ़ीट ऊँचा एक स्तूप बनवाया। यह स्तूप 'पीलुसार स्तूप' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्तूप की बाबत भी कहा जाता है कि इसमें 'तथागत भगवान' का लगभग एक सेर 'शरीरावशेष' रक्खा हुआ है।

पीलुसार स्तूप के उत्तर में एक पहाड़ी गुफा है जिसके नीचे 'नागजलप्रपात' है। इस स्थान पर तथागत भगवान्

ने अरहटों समेत देवता से भोजन प्राप्त किया था और मुँह धोया था, तथा खदिर वृक्ष की दातुन से दाँतों को साफ किया था। फिर उस दातून को पृथ्वी में गाड़ दिया, जो जम आई और अब एक घने जंगल के रूप में हो गई है। लोगों ने इस स्थान पर एक संघाराम बनवा दिया है जो 'खदिर संघाराम' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान से ६०० ली पूर्व दिशा में जाकर और पहाड़ों तथा घाटियों के समूह को. जिनकी चोटियाँ बेतरह ऊची हैं, पार करके, काले पहाड़ के किनारे किनारे हम उत्तरी भारत में पहुँचे और सीमा-प्रान्त में होते हुए 'लँनपो' देश में आये।

दूसरा अध्याय

(१) भारत का नामकरण

अनुसंधान से विदित होता है कि भारत का नामकरण भारतीय लोगों के सिद्धान्तानुसार असम्बद्ध और अनेक प्रकार का है। प्राचीन काल में इसका नाम 'शिन्टू' और 'हीनताव' था, परन्तु अब शुद्ध उच्चारण 'इन्तु' है।

'इन्तु' देश के लोग अपने को प्रान्तानुसार विविध नामों से पुकारते हैं। प्रत्येक प्रान्त की अनेक रीतियाँ हैं। मुख्य नाम हम 'इन्तु' ही कहेंगे। इसका उच्चारण सुनने में सुन्दर है। चीनी भाषा में इस नाम का अर्थ चन्द्रमा होता है। चन्द्रमा के बहुत नाम हैं उन्हीं में से एक यह भी है। यह बात प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण प्राणी अज्ञान की रात्रि में संसार-चक्र के (आवागमन) द्वारा अविश्रान्त चक्कर लगा रहे हैं, एक नक्षत्र

तक का भी उनको सहारा नहीं है। इनकी यही दशा है कि सूर्य अस्ताचल को प्रस्थानित हो गया है, मशाल की रोशनी फैल रही है, और यद्यपि नक्षत्र भी प्रकाशित हैं परन्तु चन्द्रमा के प्रकाश से वे मिलान नहा खा सकते। ठीक ऐसा ही प्रकाश पवित्र और विद्वान् महात्माओं का है जो कि चन्द्रमा के प्रकाश के समान संसार को रास्ता दिखाते हैं और इस देश को प्रभावशाली बनाये हुए हैं। इसी कारण इस देश का नाम 'इन्तु' है। भारतवर्ष के निवासी जाति-भेद के अनुसार विभक्त हैं। ब्राह्मण अपनी पवित्रता और कुलीनता के कारण विशेष (प्रतिष्ठित) हैं। इतिहासों में इस जाति का नाम ऐसा पूजनीय है कि लोग आम तौर पर भारतवर्ष को ब्राह्मणों का देश कहते हैं।

(२) भारत का क्षेत्रफल तथा जलवायु

प्रदेश जो भारतवर्ष में सम्मिलित हैं प्रायः पंच भारत (Five Indies) कहलाते हैं। क्षेत्रफल इस देश का लगभग ९०,००० ली है। इसके तीन तरफ़ समुद्र है और उत्तर में हिमालय पहाड़ है। उत्तरी विभाग चौड़ा है और दक्षिणी भाग पतला। इसकी शकल अर्द्धचन्द्र के समान है। सम्पूर्ण भूमि लगभग सत्तर प्रान्तों में विभक्त है। ऋतुयें विशेषतः गर्म हैं। नदियों की बहुतायत से भूमि में तरी है। उत्तर में पहाड़ और पहाड़ियों का समूह है, भूमि सूखी और नमकीन है। पूर्व में घाटियाँ और मैदान हैं, जिनमें पानी की अधिकता है और अच्छी खेती होने के कारण, फल-फूल और अन्नादि की अच्छी उपज होती है। दक्षिणी प्रान्त जङ्गलों और जड़ी

बूटियों से भरा है। पश्चिमी भाग पथरीला और ऊसर है। यही इस देश का साधारण हाल है।

(३) माप

संक्षेप में इसका विवरण यह है। पैमाइश में सबसे पहले 'योजन' है जो प्राचीन काल के पवित्र राजाओं के समय से सेना के एक दिन की चाल के बराबर माना गया है। प्राचीन लेखानुसार यह चालीस ली के बराबर है और भारतवासियों की साधारण गणना के अनुसार ३० ली के बराबर। परन्तु बौद्धों की पवित्र पुस्तकों में योजन केवल १६ ली का माना गया है। योजन आठ कोस का होता है। कोस उतनी दूरी का नाम है जहाँ तक गऊ का शब्द सुन पड़े। एक कोस ५०० धनुष का होता है; एक धनुष चार हाथ का होता है; एक हाथ २४ अंगुल का; और एक अंगुल सात यव का होता है। इसी प्रकार जूँ लीख, रेणुकणिका, गऊ का बाल, भेड़ का बाल, चौगड़े का बाल, ताम्रजल[१] इत्यादि सात विभाग हैं यहाँ तक कि बालू के छोटे कण तक पहुँचना होता है। इस कण के सात बार विभाजित हो जाने पर हम बालू के नितान्त छोटे से छोटे भाग (अणु) तक पहुँचते हैं। इसके अधिक विभाग नहीं हो सकते जब तक कि हम शून्य तक न पहुँचें, और इसी कारण इसका नाम परमाणु है।

[१]ताम्रजल (copper-water) से कदाचित् ताँबे की उस छिद्रदार कटोरी से तात्पर्य है जो पानी में पड़ी रहती है और समय का निश्चय कराती है।

(४) ज्योतिष, पत्रा इत्यादि

यद्यपि थिन और यज्ञ-सिद्धान्त का चक्र और सूर्य-चन्द्र के अनुक्रमिक स्थान आदि का नाम हमारे यहाँ से भिन्न है तो भी ऋतुएँ समान ही हैं। महीनों के नाम ग्रहों की गति के अनुसार निश्चित किये गये हैं।

समय का लघुतम विभाग क्षण है; १२० क्षण का एक तत्क्षण होता है; ६० तत्क्षण का एक लव होता है; ३० लव का एक मुहूर्त होता है; पाँच मुहूर्त का एक काल होता है; और छः काल का एक दिन-रात होता है। परन्तु बहुधा एक दिन-रात में आठ काल होते हैं। नवीन चन्द्रमा से लेकर पूर्ण चन्द्र तक का समय शुक्लपक्ष, और पूर्णचन्द्र की तिथि से चन्द्रमा के अदृश्य होने तक को कृष्णपक्ष कहते हैं। कृष्णपक्ष चौदह या पन्द्रह दिन का होता है क्योंकि महीना कभी कमती होता है और कभी बढ़ती। पहला कृष्णपक्ष और उसके बाद का शुक्लपक्ष दोनों मिल कर एक मास होता है। छः मास का अयन होता है। सूर्य की गति जब भूमध्यरेखा से उत्तर में होती है तब उत्तरायण होता है और जब इसकी गति भूमध्य-रेखा से दक्षिण में होती है तब दक्षिणायन होता है।

प्रत्येक वर्ष का विभाग छः ऋतुओं में भी किया गया है। प्रथम मास की १६ वीं तिथि से तृतीय मास की १५ वीं तिथि तक का समय वसन्त, तीसरे मास की १६ वीं तिथि से पाँचवें मास की १५ वीं तिथि तक ग्रीष्म, पाँचवें मास की १६ वीं तिथि से सातवें मास की १५ वीं तिथि तक वर्षा, सातवें मास की १६ वीं तिथि से नवें मास की १५ वीं तिथि तक शरद् नवें मास की १६ वीं से ११ वें मास की १५ वीं तिथि तक हेमन्त,

११ वें मास की १६ वीं तिथि से पहले मास की १५ वीं तक शिशिर ऋतु कहलाती है।

तथागत भगवान् के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक वर्ष तीन ऋतुओं में विभाजित है। पहले महीने की १६ वीं तिथि से पाँचवें महीने की १५ वीं तिथि तक ग्रीष्मऋतु होती है, पाँचवें महीने की १६ वीं तिथि से नवें मास की १५ वीं तिथि तक वर्षाऋतु होती है, और नवें महीने की १६ वीं तिथि से प्रथम मास की १५ वीं तिथि तक जाड़ा रहता है। कोई कोई चार ऋतु मानते हैं; वसन्त, ग्रीष्म, शरद् और शीत। वसन्त के तीन मास चैत, वैशाख, ज्येष्ठ जो कि पहले मास की १६ वीं तिथि से चौथे मास की १५ वीं तक होते हैं, ग्रीष्म के तीनों महीने आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, चौथे मास की १६ वीं तिथि से सातवें मास की १५ वीं तिथि तक होते हैं, शरद् के तीन महीने आश्विन, कार्तिक और मार्गशीर्ष सातवें महीने की १६ वीं तिथि से १० वें मास की १५ वीं तिथि तक होते हैं और शीत-ऋतु के तीन महीने पौष, माघ और फाल्गुन दसवें मास की १६ वीं तिथि से पहले मास की १५ वीं तिथि तक होते हैं। प्राचीन काल में भारतीय संन्यासियों की संस्था ने महात्मा बुद्ध के शिक्षानुसार विश्राम के लिए दो काल नियत कर रक्खे थे। अर्थात्, या तो पहले तीन मास, अथवा पिछले तीन मास। यह समय पाँचवें मास की १६ वीं तिथि से आठवें मास की १५ वीं तिथि तक, अथवा छठे मास की १६ वीं तिथि से नवें मास की १५ वीं तिथि तक माना गया था। हमारे देश के प्राचीन काल के सूत्र और विनय के भाष्यकारों ने वर्षा-ऋतु के विश्राम को सूचित करने के लिए 'सोहिया', और 'सोलाहिया' शब्दों

का प्रयोग किया है। परन्तु या तो ये दूर देश निवासी लोग भारतीय भाषा का शुद्धोच्चारण नहीं जानते थे और या देशी शब्दों को अच्छी तरह समझने से पहले ही तर्जुमा कर बैठे, जिसके कारण यह भूल हो गई। और यही कारण है कि भगवान् तथागत के गर्भवास, जन्म, गृहत्याग, सिद्धि और निर्वाण के समय को निश्चित करने में भूल कर गये हैं जिनको हम अन्यान्य पुस्तकों में सूचित करेंगे।

(५) नगर और इमारतें

नगरों और ग्रामों में भीतरी द्वार होते हैं, दीवारें चौड़ी और ऊँची हैं, रास्ते और गली, भूलभुलैयाँ और बड़ी बड़ी सड़कें हवादार हैं। सफाई नहीं है परन्तु रास्तों के दोनों ओर स्तम्भ लगे हुए हैं जिनसे उचित सूचना मिल जाती है। कसाई, मछली पकड़नेवाले, नाचनेवाले, जल्लाद और मेहतर इत्यादि नगर से बाहर अपने मकान बनाते हैं। इन लोगों को सड़क के बाईं ओर चलने की आज्ञा है। इनके मकान फूस के बने होते हैं, और दीवारें छोटी छोटी होती हैं। नगर की दीवारें प्रायः ईंटों की बनती हैं। और उन पर के मीनार लकड़ी या बाँस के बनाये जाते हैं। मकानों के बरामदे लकड़ी के बनते हैं जिन पर चूना या गारा देकर खपरों से छा देते हैं। अन्य प्रकार के मकानात चीनी मकानों के सदृश, सूखी डालें, खपरों अथवा तख्ते से पाट दिये जाते हैं। दीवारें चूना या मिट्टी से, जिसमें पवित्रता के लिए गोबर मिला दिया जाता है, लेसी होती हैं। और किसी किसी ऋतु में इनके निकट फूल डाले जाते हैं। अपनी अपनी रीति होती है। संघाराम विलक्षण बुद्धिमानी से बनाये जाते हैं। चारों कोनों पर

तिमंज़िले टीले बनाये जाते हैं, कड़ियाँ और निकले हुए अग्रभाग अनेक रूपों तथा बड़ी योग्यतापूर्वक नक़्क़ाशी किये हुए होते हैं। द्वार और खिड़कियाँ तथा निचली दीवारें बहुत लागत से रँगी जाती हैं, महन्तों की कोठरियाँ भीतर से जैसी सुसज्जित होती हैं वैसी बाहर से नहीं होतीं, परन्तु साफ खूब होती हैं। इमारत के बीच में ऊँचा और चौड़ा मंडप होता है। कोठरियाँ कई कई मंज़िली होती हैं और कँगूरे विविध रूप तथा उँचाई के होते हैं जिनका कोई विशेष नियम नहीं है। द्वारों का मुख पूर्व दिशा की ओर होता है और राज्यसिंहासन भी पूर्वाभिमुख रक्खा जाता है।

(६) आसन और वस्त्र

जब लोग बैठते या सोते हैं तब आसन या चटाइयों का प्रयोग करते हैं। राजपरिवार, बड़े बड़े आदमी और राज-कर्मचारी लोग विविध प्रकार से सुसज्जित चटाइयाँ काम में लाते हैं परन्तु इनके आकार में भेद नहीं होता। राजा के बैठने की गद्दी बड़ी और ऊँची बनती है तथा उसमें बहुमूल्य रत्न जड़े होते हैं। इसको सिंहासन कहते हैं। इस पर बहुत सुन्दर कपड़ा मढ़ा होता है और पायों में रत्न जड़े होते हैं। प्रतिष्ठित व्यक्ति अपनी इच्छानुसार बैठने के लिए सुन्दर, चित्रित और बहुमूल्य वस्तुएँ काम में लाते हैं।

(७) पोशाक और आचरण

यहाँ वालों के वस्त्र न तो काटे जाते हैं और न सुधारे जाते हैं। विशेषकर लोग श्वेत वस्त्र अधिक पसन्द करते हैं; रंग-बिरंगे अथवा बने चुने कपड़ों का कम आदर है। पुरुष वस्त्र

को मध्य शरीर में लपेट कर और बगल के नीचे से इकट्ठा करके शरीर के इधर-उधर निकाल देते हैं तथा दाहिनी ओर लटका देते हैं। स्त्रियों के वस्त्र भूमि तक लटके रहते हैं। इनके कंधे पूरे तौर पर ढके रहते हैं। सिर पर थोड़े बालों का जूड़ा रहता है। शेष बाल इधर-उधर फैले रहते हैं। बहुत से लोग अपनी मूँछें कटवा कर विचित्र भाँति की कर लेते हैं। सिरों पर टोपी पहनते हैं; गले में फूलों के गजरे और रत्न धारण करते हैं। इन लोगों के वस्त्र 'कौषेय' और रुई के बनते हैं। 'कौषेय' जंगली रेशम के कीड़े से प्राप्त होता है। ये लोग 'क्षौम' वस्त्र भी धारण करते हैं जो एक प्रकार का सन होता है। कम्बल भी बनता है जो बकरी के महीन बालों से बनाया जाता है। 'कराल' से भी वस्त्र बनाया जाता है। यह वस्तु जंगली जीवों के महीन बालों से प्राप्त होती है। यह बहुत कम प्राप्त होनेवाली वस्तु है इस कारण इसका दाम भी बहुत होता है। इसका वस्त्र बहुत सुन्दर होता है। उत्तरी भारत में जहाँ की वायु बहुत ठंढी है लोग छोटे और अच्छी तरह चिपटे हुए वस्त्र 'हू' लोगों की भाँति पहनते हैं। बौद्ध-धर्म से भिन्न मतावलम्बी विविध प्रकार के कपड़े और आभूषण धारण करते हैं। कुछ मोरपंख को पहनते हैं, कुछ लोग भूषण के समान खोपड़ी की हड्डियों की माला गले में धारण करते हैं, कुछ लोग कुछ भी वस्त्र नहीं पहनते हैं और नंगे रहते हैं, कुछ लोग छाल और पत्तों के वस्त्र धारण करते हैं, कुछ लोग बालों को बनवा डालते हैं और मूँछें कटा डालते हैं, और कुछ लोग दाढ़ी मूँछ को अच्छी तरह बढ़ा लेते हैं और सिर के बालों को बट लेते हैं। पोशाक एक समान नहीं है और रंग लाल हो या सफ़ेद, कोई नियत नहीं है।

श्रमण लोगों के वस्त्र तीन प्रकार के होते हैं—'सेङ्ग कियाची' (संघाती), 'साङ्ग कियोकी' (संकाक्षिका), 'निफोसिन' (निवासन)। इन तीनों की बनावट एक समान नहीं है बल्कि सम्प्रदाय के अनुसार होती है। कुछ के चौड़े या पतले किनारे होते हैं और कुछ के छोटे या बड़े होते हैं। 'साङ्ग कियोकी' (संकाक्षिका) वाम कंधे को ढके रहता है और दोनों बगलों को बन्द कर लेता है। यह बाईं ओर खुला और दाहिनी ओर बन्द पहना जाता है और कमर से नीचे तक बना हुआ होता है। 'निफोसेन' (निवासन) में न कमरपट्टी होती है और न फलरा। इसमें चुनाव पड़ा होता है और कमर में डोरी से बाँध लिया जाता है। सम्प्रदाय के अनुसार वस्त्रों का रंग भिन्न होता है। लाल और पीला दोनों रंग काम में आते हैं।

क्षत्रियों और ब्राह्मणों के वस्त्र स्वच्छ और आरोग्यवर्द्धक होते हैं। ये गृहस्थों के योग्य और किफायती होते हैं। राजा और उसके प्रधान मंत्रियों के वस्त्रों और भूषणों में भेद होता है। ये लोग फूलों से बालों को सँवारते हैं और रत्नजटित टोपी पहनते हैं तथा कंकण और हारों से भी अपने को आभूषित करते हैं।

जो बड़े बड़े सौदागर हैं वे सोने की अँगूठी इत्यादि पहनते हैं। ये लोग प्रायः नंगे पैर रहते हैं, बहुत कम खड़ाऊ पहनते हैं, अपने दाँतों को लाल और काले रंगते हैं, बालों को ऊपर बाँधते हैं, और कानों को छेद लेते हैं। इन लोगों की नाक बहुत सुन्दर और आँख बड़ी बड़ी होती हैं। यही इनका स्वरूप है।

(८) पवित्रता और स्नान आदि

यहाँ के लोग अपनी दैहिक शुद्धता में बहुत दृढ़ हैं; इस विषय में रत्तीमात्र भी कसर नहीं होने देते। सब लोग भोजन

से प्रथम स्नान करते हैं। जो भोजन एक समय कर लिया जाता है उसका शेष भाग जूठा हो जाता है। उसको ये लोग फिर नहीं ग्रहण करते। मिट्टी के बर्तनों (रकाबियों) को भी काम में नहीं लाते, और लकड़ी तथा पत्थर के पात्र एक बार काम में आ चुकने के पश्चात् तोड़ डाले जाते हैं। सोना, चाँदी, ताँबा और लोहे के पात्र प्रत्येक भोजन के पश्चात् धोये और माँजे जाते हैं। भोजन के पश्चात् ये लोग खरिका करके अपने दाँतों को शुद्ध करते हैं तथा अपने हाथ और मुह को धोते हैं। जब तक शौचकर्म समाप्त नहीं हो जाता ये लोग परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। प्रत्येक दीर्घ और लघुशंका के उपरान्त ये लोग स्नान करते हैं और सुगंधित वस्तुओं—जैसे चन्दन अथवा केसर—का लेपन करते हैं। राजा के स्नान के समय पर लोग नगाड़े बजाते हैं; और वाद्य-यंत्रों के साथ भजन गाते हैं। धार्मिक पूजन और प्रार्थना के पहले भी लोग शौच स्नान कर लेते हैं।

(८) लिपि, भाषा, पुस्तकें, वेद और विद्याध्ययन

इनकी वर्णमाला के अक्षर ब्रह्मा देवता के बनाये हुए हैं; और वही अक्षर तब से लेकर अब तक प्रचलित हैं। इनकी संख्या ४७ है। तथा ऐसे प्रकार से सुसम्बद्ध हैं कि इच्छा और आवश्यकतानुसार सब प्रकार के शब्द बनाये जा सकते हैं। दूसरे प्रकार के स्वरूप (विभक्तियाँ) भी काम में आते हैं। यह वर्णमाला भिन्न भिन्न प्रदेशों में फैल गई है और आवश्यकतानुसार इसकी अनेक शाखा-प्रशाखायें होगई हैं। इस कारण शब्दों के उच्चारण में कुछ परिवर्त्तन भी हो गया

है परन्तु अक्षरों के स्वरूप कुछ भी नहीं बदले हैं। मध्य-भारत में पवित्रता के विचार से भाषा का मूल स्वरूप प्रचलित है। यहाँ का उच्चारण, देवताओं की भाषा के समान, मधुर और ग्राह्य है; उच्चारण बहुत शुद्ध और स्पष्ट होता है तथा सब मनुष्यों के लिए उपयुक्त है। सीमान्त प्रदेश के लोगों ने, लम्पट स्वभाववश, उच्चारण में फेर-फार करके कुछ अशुद्धियों को स्थान दे दिया है जिससे उनकी भाषा का स्वरूप बिगड़ जानेवाला है।

घटनाओं को साक्ष्य करने के लिए प्रत्येक प्रान्त में अलग अलग विभाग हैं जहाँ पर घटनायें लिखी जाती हैं। इस प्रकार जो पूर्ण इतिहास विरचित होता है उसको 'निलोपिचा' (नीलपित) कहते हैं। इन पुस्तकों में अच्छी और बुरी घटनायें, आपत्ति और आकस्मिक संयोगों का विवरण रहता है।

बच्चों को बढ़ावा और शिक्षा देने के लिए पहले द्वादश अध्यायवाली (सिद्धवस्तु) पुस्तक पढ़ाई जाती है। सात वर्ष अथवा इससे अधिक अवस्था होने पर 'पंचविद्याओं' की शिक्षा होती है। पहली विद्या 'शब्दविद्या' कहलाती है। इसकी पुस्तकों में शब्दों के मेल (बनावट) का विवरण है और धातुओं की सूची रहती है। दूसरी विद्या 'शिल्पस्थानविद्या' है। इसकी पुस्तकों में कारीगरी और यंत्र बनाने की विद्या और शिन तथा यङ्ग-सिद्धान्तों (ज्योतिष) और तिथिपत्र का वृत्तान्त है। तीसरी वैद्यक (चिकित्साविद्या) है। इसमें शरीररक्षा, गुप्त मंत्र, औषधि-सम्बन्धी धातुएँ, शस्त्रचिकित्सा और जड़ी-बूटियों का निदर्शन है। चौथी विद्या 'हेतुविद्या' कहलाती है। इसका नाम कर्मानुसार रक्खा गया है। सत्य

और असत्य का ज्ञान, और अन्त में शुद्ध और अशुद्ध का निदान इस विद्या-द्वारा होता है। पाँचवीं विद्या 'अध्यात्म-विद्या' कहलाती है। इसमें पाँचों 'यान'[1] का वर्णन, उनका कारण और फल तथा सूक्ष्म प्रभाव वर्णित है।

ब्राह्मण 'चार वेदों' की शिक्षा पाते हैं जिनमें से पहला 'शाव' (ऋग्वेद) है। इसमें जीवन के स्थिर रखने का वर्णन और प्रकृति के नियमों का निरूपण है। द्वितीय यजुर्वेद है। इसमें यज्ञों और प्रार्थनाओं का विवरण है। तीसरा 'पिङ्ग' (साम) है, इसमें सभ्यता, फलित ज्योतिष, सैनिक व्यवस्था इत्यादि का वर्णन है। चौथा अथर्ववेद है। इसमें विज्ञान के अनेक तत्त्व और जादू टोना तथा ओषधियों का वृत्तान्त है। गुरु लोग स्वयं इनके गूढ़ और गुप्त तत्त्वों को अच्छी तरह अध्ययन करते हैं और उनके कठिन से कठिन अर्थों को जान लेते हैं। फिर वे उनका तात्पर्य प्रकट करते हैं और विद्यार्थियों को कठिन शब्दों के समझने में सहायता देते हैं। अपने शास्त्रार्थ का नियम प्रचलित होने के कारण विद्यार्थियों को कठिन से कठिन विषय भी शीघ्र हृदयङ्गम हो जाता है जिससे उनकी योग्यता बढ़ती है और निराश जनों को उत्तेजना मिलती है। अपने विद्यार्थियों को विद्योपार्जन से संतुष्ट और सांसारिक कार्यों की ओर झुकते हुए देख कर गुरु लोग इस बात का भी प्रयत्न कर देते हैं कि उनके शिष्य सदा प्रभावशाली बने रहें। शिक्षा के समाप्त होने और तीस वर्ष की अवस्था

(१) पंचयान अर्थात् बौद्ध लोगों के धर्मोन्नति की कक्षायें (अ) बुद्धदेव का यान (इ) बोधिसत्व लोगों का यान (उ) प्रत्येक बुद्ध का यान (ऋ) उच्च कोटि के शिष्यों का यान (लृ) गृहस्थ शिष्यों का यान।

होने पर विद्यार्थियों का चरित्र शुद्ध और ज्ञान परिपक्व समझा जाता है। जब वे लोग किसी व्यवसाय में लगते हैं तो सबसे प्रथम अपने गुरु का धन्यवादसहित स्मरण करते हैं। ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं जो प्राचीन सिद्धान्तों में दक्ष होकर, अपने को धार्मिक अध्ययन के भेंट कर देते हैं और साधारण आचरण के साथ संसार से अलग रहते हैं। सांसारिक सुख इनको तुच्छ मालूम होते हैं। जिस प्रकार ये लोग संसार से घृणा करते हैं वैसे ही नामवरी की भी कांक्षा नहीं रखते। तो भी इनका नाम दूर दूर तक फैल जाता है और राजा लोग इनकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा करते हैं, परन्तु किसी में यह सामर्थ्य नहीं होती कि इनको अपने दरबार तक बुला सके। बड़े आदमी इनके ज्ञान के कारण इनका बड़ा भारी सत्कार करते हैं और सर्वसाधारण इनकी प्रसिद्धि को बढ़ाते हुए सब प्रकार की सेवा करके इनको सम्मानित करते हैं। यही कारण है कि ये लोग कष्ट की कुछ भी परवाह न करके बड़ी दृढ़ता और शौक से विद्याभ्यास में अपने को अर्पण कर देते हैं। और तर्क-वितर्क-द्वारा ज्ञान का अनुसंधान करते हैं। यद्यपि इन लोगों के पास अपार द्रव्य होता है तो भी ये लोग अपनी जीविका (ज्ञानोपार्जन) की खोज में इधर-उधर घूमा करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विद्वान् होने पर भी निर्लज्ज होकर द्रव्य को केवल अपनी प्रसन्नता के लिए उड़ाया करते हैं और धर्म से विमुख रहते हैं। उनका द्रव्य उत्तम भोजन और वस्त्र ही में खर्च होता है, कोई भी धार्मिक सिद्धान्त उनका नहीं होता और न विद्यावृद्धि ही की ओर उनका लक्ष्य रहता है। उनकी कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं होती और बदनामी दूर दूर तक फैल जाती है। इस तरह

लोग सम्प्रदायानुसार तथागत भगवान् के सिद्धान्तों को प्राप्त करके ज्ञान-वृद्धि करते हैं; परन्तु तथागत भगवान् को हुए बहुत समय हो गया इस कारण उनके सिद्धान्तों में कुछ विपर्यय हो गया है। अब चाहे सही हों या ग़लत, जो लोग इनका मनन किये हुए हैं उन्हीं की योग्यतानुसार इनकी पढ़ाई होती है।

(१०) बौद्ध-संस्था, पुस्तकें, शास्त्रार्थ, शिष्य-वर्ग

भिन्न भिन्न संस्थाओं में नित्य विरोध रहता है और उनकी विरुद्ध वार्ता क्रोधित समुद्र की लहरों के समान बढ़ती जाती है। भिन्न भिन्न समाज के अलग अलग गुरु होते हैं जिनके भाव तो अलग अलग होते हैं परन्तु फल एक ही होता है। अठारह संस्थायें प्रधान गिनी जाती हैं। हीनयान और महायान-सम्प्रदाय के लोग अलग अलग निवास करते हैं। कुछ ऐसे लोग हैं जो चुपचाप विचार में मग्न रहते हैं और चलते, बैठते, खड़े होते हर समय अध्यात्म और ज्ञान के प्राप्त करने में लगे रहते हैं। विपरीत इसके, कुछ लोग इनसे भिन्न हैं जो अपने धर्म के लिए बखेड़ा उठाया करते हैं। उनकी जाति में बहुत से भेद फैलानेवाले नियम हैं जिनके नाम का निदर्शन करना हम नहीं चाहते।

विनय, उपदेश और सूत्र समानरूप से बौद्ध-पुस्तकों में हैं। जो इन पुस्तकों की एक श्रेणी को पूर्णरूप से बतला सकता है वह 'कर्मदान' के अधिकार से मुक्त हो जाता है। यदि वह दो श्रेणी बतला सकता है तो सुसज्जित ऊपरी बैठक प्राप्त करता है। जो तीन श्रेणी पढ़ा सकता है उसको विविध प्रकार के भृत्य सेवा के लिए मिलते हैं। जो चार श्रेणी पढ़ा

सकता है उसको 'उपासक' सेवा के लिए मिलते हैं। जो पाँच श्रेणी की पुस्तकें पढ़ा सकता है उसको गजरथ सवारी के लिए मिलता है। जो छः श्रेणी की पुस्तकें पढ़ा सकता है उसके लिए रक्षक नियत होते हैं। जब किसी विद्वान् की प्रसिद्धि अधिक फैल जाती है तब वह समय समय पर शास्त्रार्थ के लिए लोगों को एकत्रित करता है और शास्त्रार्थ करनेवालों की बुरी भली बुद्धि की परख करता है तथा उनके भले-बुरे सिद्धान्तों का विवेचन करके योग्य की प्रशंसा और अयोग्य की निन्दा करता है। सभा का यदि कोई व्यक्ति सभ्य भाषा, सूक्ष्मभाव, गूढ़ बुद्धिमत्ता और तर्कशास्त्र में पारङ्गतता प्रदर्शित करता है तो वह बहुमूल्य आभूषणों से भूषित हाथी पर चढ़ाकर बड़े भारी समूह के साथ संघाराम के फाटक तक पहुँचाया जाता है। विपरीत इसके यदि कोई व्यक्ति पराजित हो जाता है, या हीन और भद्दे वाक्यप्रयोग करता है, अथवा यदि वह तर्कशास्त्र के नियम को भंग करता है और उसी मुताबिक वादविवाद करता है, तो लोग उसके मुख को लाल और सफ़ेद रंगों से रँग देते हैं और उसके शरीर में कीचड़ और धूर लेस कर सुनसान स्थान या खंदक में भेज देते हैं। योग्य और अयोग्य तथा बुद्धिमान् और मूर्ख में इस तरह भेद किया जाता है।

सुखों का संपादन करना सांसारिक जीवन से सम्बन्ध रखता है और ज्ञान का साधन करना धार्मिक जीवन से। धार्मिक जीवन से सांसारिक जीवन में लौट आना दोष समझा जाता है। जो शिष्य धर्म को त्याग करता है वह जन-समाज में निन्दित होता है। थोड़े से भी अपराध पर फट-कार होती है अथवा कुछ दिन के लिए निकाल दिया जाता है।

बड़े अपराध के लिए देशनिकाला होता है। जो लोग इस तरह जीवन भर के लिए निकाल दिये जाते हैं वे अन्य स्थानों पर जाकर अपने निवास का प्रबन्ध करते हैं और जब उनको कहीं ठिकाना नहीं मिलता तब सड़कों पर इधर-उधर घूमा करते हैं अथवा कभी कभी अपने प्राचीन व्यवसाय को करने लगते हैं (अर्थात् गृहस्थाश्रम में लौट जाते हैं।)

(५१) जातिविभेद और विवाह

जातियाँ चार हैं—प्रथम—ब्राह्मण, शुद्ध आचरणवाले पुरुष हैं। ये लोग अपनी रक्षा धर्म के बल से करते हैं, पवित्र जीवन रखते हैं और अत्यन्त शुद्ध सिद्धान्तों को मनन करनेवाले हैं। दूसरे—क्षत्री, राजवंशी हैं। सैकड़ों वर्षों से ये राज्याधिकारी चले आये हैं। ये धार्मिक और दयालु हैं। तीसरे—वैश्य, व्यापारी जाति के हैं। ये लोग वाणिज्य में लगे रहते हैं तथा देश और विदेश में व्यापार करके लाभ उठाया करते हैं। चौथे—शूद्र कृषक जाति के हैं। यह जाति भूमि के जोतने खोदने आदि में परिश्रम करती है। इन चारों श्रेणियों के लोगों की जाति-सम्बन्धी उँचाई-निचाई का निश्चय इनके स्थान से होता है। जब ये लोग विवाह-सम्बन्ध करते हैं तब इनकी नवीन नातेदारी के हिसाब से उँचाई और निचाई का निर्णय किया जाता है। ये अपने नातेदारों से इस प्रकार का विवाह-सम्बन्ध नहीं करते जो मूर्खता का ज्ञापक हो। कोई स्त्री जिसका एक बार विवाह हो चुका हो दूसरा पति कदापि नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त बहुत सी दूसरे प्रकार की भी जातियाँ हैं जिनके लोग अपनी आवश्यकतानुसार

असम्बद्ध विवाह भी कर लेते हैं। इनका विस्तृत वर्णन करना कठिन है।

(१२) राज-वंश, सेना और हथियार

राज्याधिकार क्षत्रिय जाति के लिए नियत हैं जिसने कि समय समय पर छीना-झपटी करके और खून बहा के अपने को बलशाली बना लिया है। यह अलग जाति है और प्रतिष्ठित समझी जाती है। वीर पुरुषों में से सेनापति छांटे जाते हैं और वंश-परम्परा से यही व्यवसाय करते रहने के कारण ये लोग बहुत शीघ्र युद्धकार्य में निपुण हो जाते हैं। शान्ति के समय ये लोग महल के चारों ओर किले में रहते हैं, परन्तु जब चढ़ाई पर जाना होता है तब रक्षक की भाँति सेना के आगे आगे चलते हैं। सेना के चार विभाग हैं—पैदल, सवार, रथी और हाथी पुष्ट कवच से ढके और सूँड़ों में तेज़ भाले लिये रहते हैं। रथी आज्ञा देता है उस समय दो सारथि दाहिने और बायें रथ को हाँकते हैं और चार घोड़े छाती का बल देकर रथ को खींचते हैं। सवारों का अधिपति रथ में बैठता है उसके चारों ओर रक्षकों की पंक्ति रथ के पहियों से सटी हुई चलती है और सवार लोग आगे बढ़ कर हमले को रोकते हैं। यदि हार होने का लक्षण मालूम होता है तो इधर-उधर मौक़े से पंक्ति जमा लेते हैं। पैदल सेना शीघ्रता से बढ़कर बचाव का प्रयत्न करती है। ये लोग अपने साहस और बल के लिए छुटे हुए होते हैं, तथा लम्बी लम्बी बरछियाँ और बड़ी बड़ी ढालें लिये रहते हैं। कभी कभी ये खड्ग लेकर बड़ी वीरता से आगे बढ़ते हैं। इनके सम्पूर्ण शस्त्र पैने और नुकीले होते हैं जिनमें से कुछ के ये नाम हैं—भाला,

ढाल, धनुष, तीर, तलवार, खंजर, फरसा, बल्लम, गँड़ासा, लम्बी बरछी और अनेक प्रकार के कमन्द। मुद्दतों से यही शस्त्र काम में लाये जाते हैं।

(१३) चाल-चलन, क़ानून, मुक़द्दमा

साधारण लोग यद्यपि स्वभावतः छोटे दिल के होते हैं परन्तु बहुत ही सच्चे और आदरणीय व्यक्ति हैं। देन-लेन में छलरहित और राज्य-प्रबंध-सम्बन्धी न्याय को ध्यान में रखनेवाले तथा परिणामदर्शी होते हैं। परलोक-सम्बन्धी यंत्रणा का इनको बहुत भय रहता है इस कारण वर्तमान सांसारिक वस्तुओं को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। इनका व्यवहार धोखेबाज़ी और कपट का नहीं है बल्कि ये अपनी शपथ और प्रतिज्ञा के पाबन्द हैं। जिस प्रकार इन लोगों के लिए राज्य-प्रबंध अत्यन्त शुद्ध है वैसे ही इनका व्यवहार भी सुशील और प्रिय है। अपराधी अथवा विद्रोही बहुत थोड़े होते हैं, सो भी विशेष अवसर पर। जब धर्मशास्त्र का उल्लंघन किया जाता है अथवा शासक के अधिकार को भंग करने का प्रयत्न किया जाता है तब मामले की अच्छी तरह छानबीन होती है और अपराधी को कारागार होता है। शारीरिक दंड की व्यवस्था नहीं है, दोषी केवल कारागार में छोड़ दिये जाते हैं फिर चाहे मरें, चाहे जीवित रहें; वे जन-समाज से सम्बन्ध-रहित हो जाते हैं। जिस समय स्वामी अथवा न्याय का स्वत्व भंग किया जाता है, अथवा जब कोई व्यक्ति स्वामिभक्ति अथवा संततिस्नेह को परित्याग करता है, उस समय उसका नाक या कान, अथवा उसका हाथ या पैर काट लिया जाता

है, अथवा देशनिकाला होता है, या वनवास का दंड दिया जाता है। इनके अतिरिक्त दूसरे अपराधों में थोड़े से धन का दंड दिया जाता है। अपराध की जाँच करते समय लाठी या छड़ी से काम नहीं लिया जाता। यदि अपराधी. पूछने पर साफ़ साफ़ बतला देता है तो दंड अपराध के अनुसार दिया जाता है, परन्तु यदि वह अपने अपराध से हठपूर्वक इनकार करता है, अथवा विरोधपूर्वक अपने बचाने का प्रयत्न करता है तो वास्तविक सत्य की जाँच के लिए, यदि दंड देना आवश्यक होता है, चार प्रकार की कठिन परीक्षायें काम में लाई जाती हैं। (१) जल-द्वारा. (२) अग्नि-द्वारा, (३) तुला-द्वारा, और (४) विष-द्वारा।

जल-द्वारा परीक्षा के लिए अपराधी पत्थर-सहित एक बोरे में बंद किया जाता है और गहरे जल में छोड़ दिया जाता है और इस तरह उसके अपराधी और निरपराधी होने की जाँच की जाती है। यदि आदमी डूब जाता है और पत्थर तैरता रहता है तो वह अपराधी समझा जाता है, परन्तु यदि आदमी तैरता है और पत्थर डूबता है तो वह निरपराधी माना जाता है।

दूसरी परीक्षा अग्नि-द्वारा—एक लोहे का तख़्ता गरम किया जाता है और उस पर अपराधी को बैठाया जाता है, या उस पर उसका पाँव रखवाया जाता है, अथवा हाथों पर उठवाया जाता है, यहाँ तक कि, जीभ से भी चटवाया जाता है। यदि छाला पड़ जाता है तो वह अपराधी है, और यदि छाला न पड़े तो निरपराधी समझा जाता है। कमज़ोर और भयभीत पुरुष, जो ऐसी कठिन परीक्षा नहीं सहन कर सकते एक फूल की कली लेकर आग में फेंकते हैं, यदि कली

खिल जावे तो वह निरपराधी और यदि जल उठे तो अपराधी है।

तुला-द्वारा परीक्षा यह है—आदमी और पत्थर एक शुद्ध तराज में चढ़ाये जाते हैं। और फिर हलकेपन और भारीपन से परीक्षा होती है। यदि पुरुष निर्दोष है तो उसका पलड़ा नीचा हो जाता है और पत्थर उठ जाता है, और यदि दोषी है तो पत्थर नीचे होता है और आदमी ऊपर।

विष-द्वारा परीक्षा इस भाँति होती है—एक मेंढ़ा मँगाया जाता है और उसकी दाहिनी जाँघ में घाव किया जाता है; फिर सब प्रकार के विष अपराधी के भोज्य पदार्थ के कुछ भाग में मिला कर (पशु के) जाँघवाले घाव पर लगाते हैं। यदि पुरुष अपराधी है तब तो विष का प्रभाव देख पड़ता है और पशु मर जाता है, अन्यथा विष का कुछ प्रभाव नहीं होता।

इन्हीं चार प्रकार की परीक्षाओं-द्वारा अपराध का निश्चय किया जाता है।

(१४) सभ्यता

बाहरी आदर-सत्कार और आवभगत प्रदर्शित करने के नौ तरीके हैं। (१) उत्तम शब्दों में प्रार्थना करना, (२) मस्तक झुकाना, (३) हाथ उठाकर सिर झुकाना, (४) हाथ जोड़ कर वन्दना करना, (५) घुटनों के बल झुकना, (६) दंडवत् करना, (७) हाथों और घुटनों के द्वारा दंडवत् करना, (८) पंच-परिक्रमा करके भूमि को छूना, (९) शरीर के पाँचों अवयवों को भूमि पर फैला देना।

पृथ्वी पर एक दंडवत् करके फिर घुटनों के बल होना

और उसके बाद प्रशंसा के शब्दों में स्तुति करना ऊपर लिखे नवों प्रकारों से विशेष बढ़ा-चढ़ा सत्कार समझा जाता है। दूर से केवल झुक कर प्रणाम करना काफ़ी है, परन्तु निकट जाने से पैरों को चूमना और घुटनों को सहराना रीति के अनुकूल समझा जाता है।

जब श्रेष्ठ पुरुष किसी को कुछ आज्ञा देता है तो आज्ञापित व्यक्ति अपने कुरते का दामन फैलाकर दंडवत् करता है। वह श्रेष्ठ अथवा महात्मा पुरुष, जिसके प्रति इस प्रकार सन्मान दिखाया जाता है, बहुत मधुर शब्दों में, उसके सिर पर हाथ रखकर या उसकी पीठ ठोंक कर, उत्तम शिक्षादायक वचनों के सहित उसको आशीर्वाद देता है, अथवा अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए मन्द मुसकान के सहित दो चार शब्द कह देता है। जब किसी श्रमण अथवा धार्मिक जीवन व्यतीत करनेवाले पुरुष के प्रति इस प्रकार का आदर प्रकट किया जाता है तो वह केवल आशीर्वाद से उत्तर देता है। सम्मान प्रदर्शित करने के लिए लोग केवल दंडवत् ही नहीं करते बल्कि सम्मानित व्यक्ति की परिक्रमा भी करते हैं—कभी एक परिक्रमा की जाती है और कभी तीन परिक्रमायें। यदि बहुत दिनों की अभिलाषा किसी के हृदय में होती है तो इच्छानुरूप सम्मान भी बढ़िया होता है।

(१५) औषधियाँ और अन्तिम संस्कार आदि

प्रत्येक पुरुष जो रोगग्रसित होता है सात दिन तक उपवास करता है। इस बीच में बहुत से अच्छे हो जाते हैं। परन्तु यदि रोग नहीं जाता है तो औषधि लेते हैं। इन औषधियों के स्वरूप और नाम भिन्न होते हैं। और वैद्य

भी परीक्षा और इलाज के विचार में अलग अलग हैं। किसी रोग में कोई वैद्य विशेषज्ञ होता है और किसी में कोई।

जब कोई पुरुष कालवश होता है तो सम्बन्धी लोग एक साथ ज़ोर ज़ोर से चिल्लाते और रोते हैं; अपने कपड़ों को फाड़ डालते हैं और बाल बनवा डालते हैं, तथा अपने सिर और छाती को पीट डालते हैं। न तो शोकसूचक वस्त्र धारण करने का ही कोई नियम है और न शोक-काल की कोई अवधि ही नियत है। शव का अन्तिम संस्कार तीन प्रकार से होता है, (१) अग्निदाह—लकड़ी से एक चिता बनाई जाती है और शव भस्म कर दिया जाता है, (२) जल-द्वारा-बहते हुए गहरे पानी में मृतक शरीर को डुबा देते हैं, (३) परित्याग—शरीर को घने जङ्गल में छोड़ देते हैं और उसको जङ्गली जीव भक्षण कर जाते हैं। जब राजा मृत्यु को प्राप्त होता है तब उसका उत्तराधिकारी पहले नियत होता है, ताकि वह मृतक-संस्कार और उसके पश्चात् के कार्यों को करे। राजा को जीवित दशा में, उसके कार्यानुरूप, जो कुछ पदवियाँ मिली होती हैं वह उसके मरने पर जाती रहती हैं।

जिस मकान में मृत्यु होती है उसमें भोजन नहीं किया जाता, परन्तु क्रियाकर्म समाप्त हो जाने पर फिर सब काम जैसा का तैसा चलने लगता है। वार्षिक करने का रिवाज नहीं है। जो लोग मृतक के दाह आदि कर्मों में योग देते हैं वे अशुद्ध समझे जाते हैं, और उनको नगर के बाहर स्नान करके अपने मकानों में जाना होता है।

बूढ़े और बलहीन पुरुष जिनका मृत्यु-काल निकट होता है और जो कठिन रोग से ग्रस्त होते हैं। तथा जो अपने अन्तिम

दिनों को अधिक बढ़ाने से डरते हैं और जीवन के कष्टों से बचना चाहते हैं, अथवा जो संसार के जीवन-सम्बन्धी कष्ट-दायक कार्यों से बचने की इच्छा करते हैं, वे लोग अपने मित्रों और सम्बन्धियों के हाथों से उत्तम भोजन ग्रहण करके, गाने बजाने के समारोह-सहित एक नाव में बैठते हैं, और नाव को गंगाजी के बीच धार में ले जाकर डूब मरते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से देवताओं में जन्म होता है। इनमें से मुश्किल से एकाध ही नदी के किनारे जीवित देखा गया है।

मृतक के वास्ते रोने और शोक करने की आज्ञा संन्यासियों को नहीं है। जब किसी संन्यासी के माता-पिता का शरीर-त्याग होता है तब उनके प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए वह प्रार्थना करता है, और उनके प्राचीन उपकारों को स्मरण करके बहुत तत्परता के साथ शुश्रूषा करता है। संन्यासियों का विश्वास है कि ऐसा करने से उनके धार्मिक ज्ञान में गुप्त रूप से वृद्धि होती है।

(१६) मुल्की प्रबंध और मालगुज़ारी आदि

जिस प्रकार राज्य-प्रबंध के नियम इत्यादि कोमल हैं उसी प्रकार प्रबंधकर्ता भी साधु है। न तो मनुष्यों की सूची बनाई जाती है और न लोगों से बलपूर्वक (बेगार) काम लिया जाता है। राज्य की भूमि चार भागों में विभक्त है। पहले भाग से राज्य-सम्बन्धी काम और धार्मिक उत्सव (यज्ञादिक) होते हैं, दूसरे से राज्य-मंत्री तथा अन्य कर्मचारियों की धन-सम्बन्धी आवश्यकतायें पूर्ण होती हैं, तीसरे से गुणी आदमियों को पारितोषिक दिया जाता है, और

चौथे में धार्मिक पुरुषों को दान दिया जाता है जिससे कि ज्ञान की खेती होती है। इन कामों के लिए लोगों से कर भी थोड़ा लिया जाता है और उनसे शारीरिक सेवा भी, यदि आवश्यक हो तो, कम ही ली जाती है। प्रत्येक व्यक्ति की गृहस्थी सब प्रकार से सुरक्षित रहती है, और सब लोग भूमि खोद कर अपना भरणपोषण करते हैं। राज्य के कृषक अपनी पैदावार का छठा भाग सहायता-स्वरूप देते हैं। व्यापारी जो देश-विदेश घूम फिर कर व्यवसाय करते हैं उनके लिए नदियों के घाट और सड़कें थोड़े महसूल पर खुली हुई हैं। जब कोई सर्वसाधारण के उपयोग का काम होता है और उसके लिए आवश्यकता होती है तब मज़दूर बुलाये जाते हैं और मज़दूरी दी जाती है। काम के मुताबिक मज़दूरी बहुत वाजिबी दी जाती है।

सेना सीमा की रक्षा करती है तथा विद्रोही को दंड देने के लिए भेजी जाती है। सेना के लोग रात्रि में किले की भी निगरानी करते हैं। कार्य की आवश्यकतानुसार सैनिक भरती किये जाते हैं। उनका वेतन नियत हो जाता है और गुप्तरीति से नहीं बल्कि प्रकटरूप से नाम लिखा जाता है। शासक, मंत्री, दंडनायक तथा दूसरे कर्मचारी अपने भरण-पोषण के लिए थोड़ी थोड़ी भूमि पाये हुए हैं।

(१७) पौधे और वृक्ष, खेती, खाना-पीना और रसोई

जल-वायु और भूमि का गुण स्थान के अनुसार जुदा जुदा है और पैदावार भी उसी के अनुसार जुदी जुदी है। फूल और पौधे, फल और वृक्ष, अनेक प्रकार के तथा विविध नामोंवाले हैं—जैसे अमल, आम्ल, मधूक,

भद्र, कपित्थ, आमला, तिन्दुक, उदुम्बर, मोच, नारिकेल, पनस इत्यादि। सब प्रकार के फलों की गणना करना कठिन है; हमने थोड़े से उन फलों का नाम लिख दिया जो लोगों को अधिक प्रिय हैं। छुहारा, अखरोट, लुकाट और परसिम्मन (Persimmon) नहीं होते। नासपाती, बेर, शफ़तालू, खुबानी, अंगूर इत्यादि इस देश में कश्मीर से लाये गये हैं और प्रत्येक स्थान पर उत्पन्न होते हैं। अनार और नारंगी भी सब जगह होती हैं। खेती करनेवाले लोग भूमि जोतते और ऋतु के अनुकूल वृक्षारोपण करते हैं, और अपनी मेहनत के बाद कुछ देर विश्राम करते हैं। भूमि-सम्बन्धी उपज में चावल और अन्यान्य अन्न बहुतायत से होते हैं। खाने योग्य जड़ों और पौधों में अदरख, सरसों या राई, खरबूज़ा या तरबूज़, कद्दू, हिअनटू (Heun-to) इत्यादि हैं; लहसुन और पियाज़ थोड़ा होता है और बहुत कम लोग खाते हैं। यदि कोई इनको काम में लावे तो नगर के बाहर निकाल दिया जाता है। सबसे उपयोगी भोज्य पदार्थ दूध, मक्खन और मलाई है। कोमल शक्कर (गुड़ या राब), मिश्री, सरसों के तेल और अन्न से बने हुए अनेक प्रकार के पदार्थ भोजन में काम आते हैं। मछली, भेड़ और हरिण इत्यादि का मांस ताज़ा बनाकर खाया जाता है। बैल, गधा हाथी, घोड़ा, सुअर, कुत्ता, लोमड़ी, भेड़िया, शेर, बन्दर और सब प्रकार के बालवाले जीवों का मांस खाना निषेध किया गया है। जो लोग इन पशुओं को खाते हैं उनसे घृणा की जाती है और देश भर में उनकी अप्रतिष्ठा होती है, वे लोग नगर के बाहर रहते हैं और जनसमुदाय में कम दिखाई पड़ते हैं। मदिरा और

आसव इत्यादि अनेक प्रकार के होते हैं। अंगूर और गन्ने का रस क्षत्रिय लोग पीते हैं; वैश्य लोग तेज़ ज़ायकेदार शराब पीते हैं, ब्राह्मण और श्रमण अंगूर और गन्ने से बना हुआ एक प्रकार का शरबत पीते हैं जो कि शराब की भाँति नहीं होता। साधारण लोगों और वर्णसङ्कर तथा नीच जाति में कोई भेद नहीं होता, केवल बरतन जो काम में आते हैं उनकी कीमत और धातु में फ़र्क होता है। गृहस्थी के काम लायक किसी वस्तु की कमी नहीं है। कढ़ाई और कलछी के होते हुए भी ये लोग वाष्प से चावल पकाना नहीं जानते। इन लोगों के पास बहुत से बरतन मिट्टी के बने हुए होते हैं। ये लोग लाल ताँबे के पात्र बहुत कम काम में लाते हैं और एक ही पात्र में सब प्रकार का खाना एक में मिलाकर, हाथ से उठा उठा कर खाते हैं। इन लोगों के पास चम्मच या प्याले आदि नहीं हैं। परन्तु जब बीमार होते हैं तब ताँबे के प्याले में पानी पीते हैं।

(१८) वाणिज्य

सोना, चाँदी, ताँबा और अम्बर आदि देश की प्राकृतिक उपज हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से बहुमूल्य रत्न तथा अनेक नामों के कीमती पत्थर होते हैं जो समुद्री टापुओं से लाये जाते हैं और जिनको लोग दूसरी वस्तुओं से बदल लेते हैं। वास्तव में उनका व्यापार अदला-बदली का ही है, क्योंकि उनके यहाँ सोने-चाँदी के सिक्कों का प्रचार नहीं है।

भारत की सीमाएँ और निकटवर्त्ती प्रदेशों का पूरे तौर पर वर्णन हो चुका; जल-वायु और भूमि का भी भेद संक्षेप में दिखाया गया। इन सबका वर्णन विस्तृत होने पर भी

थोड़े में दिखाया गया है, तथा अनेक देशों का हाल लिखते समय अनेक प्रकार की रीतियों और राज्य-सम्बंधी इत्यादि का वर्णन किया गया है।

लैनपो (लमग़ान)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग १००० ली है। इसके उत्तर में बरफ़ीला पहाड़ और शेष तीन ओर स्याहकोह पहाड़ हैं। राजधानी का क्षेत्रफल लगभग १० ली है। कई सौ वर्ष से यहाँ का राज्यवंश नष्ट हो चुका है। बड़े बड़े सरदार प्रभावशाली बनने के लिए लड़ते रहते हैं और किसी का बड़प्पन स्वीकार नहीं करते। थोड़े दिनों से यह देश 'कपिसा' के अधीन हुआ है। इस देश में चावल और ईख की पैदावार बहुत उत्तम होती है। वृक्षों में यद्यपि बहुत फल होते हैं परन्तु पकते नहीं। जल-वायु निकृष्ट है, पाला अधिक गिरता है, और बर्फ़ कम। प्रायः सब प्रकार की वस्तुओं की अधिकता होने से लोग सन्तुष्ट हैं। गाने-बजाने की अच्छी चर्चा है परन्तु स्वभावतः लोग अविश्वसनीय और उठाईगीर हैं; इनकी रुचि एक दूसरे से छीना-झपटी करने की रहती है; ये अपने से अधिक किसी को कभी नहीं समझते। डीलडौल तो छोटा होता है परन्तु तेज़ और कामकाजी बड़े होते हैं। ये लोग

(१) लेन-पो वर्तमान काल में लमग़ान निश्चय किया जाता है। यह काबुल नदी के किनारे पर है तथा इसके पश्चिम और पूर्व में अलिंगर और कुनर नदियाँ हैं। (यह कनिंघम साहब की राय है।) इस भाग का संस्कृत नाम लम्पक है; लम्पाक लोग मुरण्ड भी कहलाते हैं। (महाभारत)।

अधिकतर सफ़ेद सन का कपड़ा पहनते हैं जो कि अच्छी तरह पर मिला हुआ होता है। लगभग १० संघाराम और थोड़े से अनुयायी हैं। अधिकतर लोग महायान-सम्प्रदाय के माननेवाले हैं। अनेक देवताओं के भी बहुतेरे मन्दिर हैं। कुछ अन्यमतावलम्बी भी हैं। इस स्थान से दक्षिण-पूर्व १०० ली जाने पर एक पहाड़ और एक बड़ी नदी पार करके 'नाकइलोहो' देश में आये।

नाकइलोहो (नगरहार[1])

यह देश लगभग ६०० ली पूर्व से पश्चिम और २५० या २६० ली उत्तर से दक्षिण तक है। इसके चारों ओर ऊँचे ऊँचे करारे और प्राकृतिक सीमाएँ हैं। राजधानी का क्षेत्रफल लगभग २० ली है। इसका कोई प्रधान राजा नहीं है; शासक और उसके निम्न कर्मचारी कपिसा से आते हैं। फल-फूल और

१ नगरहार नगर के प्राचीन स्थान (जलालाबाद की प्राचीन राजधानी) को सिम्पसन साहब ने भलीभाँति खोज निकाला है (J. R. A. S. N. S. Vol XIII. P. 183) आप लिखते हैं कि सुर्खर और काबुल नदियों के संगम से जहाँ पर कोण बन गया है वहीं पर इन नदियों के दक्षिणी किनारे पर नगरहार नगर था। इस स्थान की दूरी और दिशा इत्यादि लमगान से ठीक ठीक मिलती है। पहाड़ जो यात्री को पार करना पड़ा था वह स्याहकोह होगा, और नदी काबुल नदी होगी। संस्कृत नाम (नगरहार) एक लेख में लिखा हुआ पाया गया है; जिसको मेजर किट्टो ने विहार-प्रान्त के गोसरावा स्थान के डीह से खोज निकाला है (J. A. S. B. Vol XVII. Pt. I. Pp. 492,494, 498f.) जुइली ने इसको दीपाङ्कर नगर लिखा है।

अन्न इत्यादि देश में उत्तम होता है। जल-वायु गर्म-तर है।

लोग सीधे सच्चे हैं, तथा इनका स्वभाव उत्सुकता और साहसपूर्ण है। ये लोग द्रव्य को तुच्छ और विद्या को प्रेम-दृष्टि से देखते हैं। कुछ को छोड़ कर, जो दूसरे सिद्धान्तों पर विश्वास करते हैं, और सब लोग बौद्ध-धर्म के माननेवाले हैं। संघाराम बहुत हैं परन्तु संन्यासी कम हैं। स्तूप भग्न और उजड़ी अवस्था में हैं। पाँच देवमन्दिर हैं जिनमें लगभग १०० पुजारी हैं।

नगर के पूर्व ३ ली की दूरी पर ३०० फीट ऊँचा, अशोक राजा का बनवाया हुआ, एक स्तूप है। इसकी बनावट बड़ी अद्भुत है, और पत्थरों पर उत्तम कारीगरी की गई है। इस स्थान पर बोधिसत्व अवस्था में शाक्य से दीपाङ्कर[1] बुद्ध की भेंट हुई थी और मृगछाला बिछाकर तथा अपने खुले हुए बालों से भूमि को आच्छादित करके उन्होंने भविष्य वाणी को सुना था। यद्यपि कल्पान्तर हो जाने से संसार में उलट-फेर हो गया है परन्तु इस बात का चिह्न अब तक वर्तमान है। धार्मिक दिनों में आकाश से फूलों की वृष्टि होती है, जिससे

[1] दीपाङ्कर बुद्ध और सुमेध बोधिसत्व की भेंट का वर्णन, बौद्ध-पुस्तकों और शिलालेखों में बहुधा आया है। इस वृत्तान्त का एक चित्र लाहोर के अजायबखाने में और दूसरा चित्र कन्हेरी की गुफा में वर्तमान है। (Archæol. Sur. W. Ind. Rep. Vol IV. P. 66) फाहियान ने भी इसका वृत्तान्त लिखा है। इस कथा का विशेष वृत्तान्त जानने के लि एदेखो Ind. Antiq. Vol XI. P. 146 और Conf. Rhys David's Buddh. Birth-Stories P. 3f.

लोगों के हृदय में धर्म की जागृति होती है और लोग धार्म्मिक पूजा इत्यादि का समारोह करते हैं। इस स्थान के पश्चिम में एक संघाराम कुछ पुजारियों सहित है। इसके दक्षिण में छोटा सा एक स्तूप है। यह वही स्थान है जहाँ पर बोधिसत्व ने भूमि को बालों से आच्छादित किया था। अशोक राजा ने इस स्तूप को सड़क से कुछ हटा कर बनवाया है।

नगर के भीतर एक बड़े स्तूप की टूटी फूटी नींव है। कहा जाता है कि यह स्तूप जिसमें महात्मा बुद्ध का दाँत था, वह बहुत सुन्दर और ऊँचा था। परन्तु अब दाँत नहीं है, केवल प्राचीन नींव टूटी फूटी अवस्था में है। इसके निकट ही एक स्तूप ३० फ़ीट ऊँचा है। इसका वास्तविक वृत्तान्त किसी को मालूम नहीं, केवल यह कहा जाता है कि यह स्वर्ग से गिर कर स्वयं यहाँ पर खड़ा हो गया। दैवी विलक्षणता के अतिरिक्त इसमें मनुष्यकृत कारीगरी का पता नहीं लगता। नगर के दक्षिण-पश्चिम १० ली पर एक स्तूप है। इस स्थान पर तथागत भगवान लोगों को शिक्षा देने के लिए, मध्य भारत से वायुद्वारा गमन करते हुए उतरे थे। लोगों ने भक्ति के आवेश में इसको बनवाया है। पूर्व दिशा में थोड़ी दूर पर एक स्तूप है। इस स्थान पर बोधिसत्व दीपांकुर से मिला था और बुद्ध ने फूल खरीदे थे [1]।

[1] बुद्ध ने एक लड़की से फूल खरीदे थे जिसने इस प्रतिज्ञा पर फूल बेचना स्वीकार किया था कि दूसरे जन्म में वह उसकी स्त्री हो। दीपाङ्कुर बुद्ध की कथा में इसका वृत्तान्त देखो (J. R. A. S. N. S. Vol. VI. P. 337& f) इस कथा की सूचक एक मूर्ति लाहोर में है जिसके सिर पर फूलों का छत्र लगा हुआ है। देखो Fergusson, tree and serp. worship P. 1. L

नगर से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग २० ली जाकर हम एक छोटे पहाड़ी टीले पर पहुँचे जहाँ पर एक संघाराम है, जिसमें एक ऊँचा कमरा और एक दुमंज़िला बुर्ज है जो कि पत्थरों के ढोकों से बनाया गया है। इस समय यह सुनसान और उजाड़ है, कोई भी पुरोहित इसमें नहीं है। बीच में २०० फीट ऊँचा, अशोक राजा का बनवाया हुआ एक स्तूप है। इस संघाराम के दक्षिण-पश्चिम में एक ऊँची पहाड़ी से एक गहरी धारा चलती है और अपने जल को उछलते हुए झरनों में फैला देती है। पहाड़ के पार्श्व दीवार के समान हैं। इसकी पूर्व दिशा में एक बड़ी और गहरी गुफा है जिसमें 'नागगोपाल' रहा करता था। गुफा अँधेरी है, और इसमें जाने का द्वार तङ्ग है, तथा ढालू चट्टान होने के कारण पानी के कई नाले इसमें बहते हैं। प्राचीन काल में इस स्थान पर महात्मा बुद्ध की परछाईं ऐसी स्पष्ट दिखाई पड़ती थी मानो यथार्थ ही हो। इधर लोगों ने इसको अधिक नहीं देखा है, जो कुछ दिखलाई भी पड़ता है वह केवल अस्पष्ट स्वरूप है; परन्तु जो विशेष विश्वास से प्रार्थना करता है उसको विचित्रता देख पड़ती है और वह परछाईं को थोड़ी देर के लिए स्पष्ट रूप में देख लेता है। प्राचीन काल में जब भगवान तथागत संसार में थे, यह नाग एक ग्वाला था जो राजा को दूध और मलाई पहुँचाया करता था। एक समय इस काम में इससे भूल हो जाने पर बड़ी डाट-डपट हुई जिससे यह क्रुद्ध होकर भविष्य-वाणीवाले स्तूप के निकट गया और बहुत से फूल चढ़ाकर यह प्रार्थना करने लगा कि 'मैं एक बलवान नाग का तन धारण करके इस राजा को मार डालूँ और उसके देश का सत्यानाश कर दूँ'। फिर वह एक पहाड़ की चट्टान पर से कूद कर मर गया

और एक बली नाग का तन धारण करके इस गुफा में रहने लगा। इसके उपरान्त उसने अपने दुष्ट विचार की पूर्ति की इच्छा की। ज्योंही इसके चित्त में यह धारणा हुई तथागत भगवान् इसके विचार को समझ गये और नाग के निकट पहुँचे हुए देश तथा जनसमुदाय के लिए दयार्द्र होकर, अपने आध्यात्मिक बल से मध्यभारत से चलकर नाग के पास पहुँच गये। भगवान् तथागत का दर्शन करते ही उस दुष्ट नाग का कुत्सित विचार टल गया और सत्यधर्म की वन्दना करते हुए भगवान् की आज्ञा को उसने शिरोधार्य किया। उसने तथागत से यह भी प्रार्थना की कि आप इस गुफा में सदा निवास कीजिए कि जिसमें आपके पुनीत स्वरूप की भेंट-पूजा मैं सदा कर सकूँ। तथागत ने उत्तर दिया कि जब मैं मरने के निकट हूँगा अपनी परछाईं तेरे पास छोड़ दूँगा, और अपने पाँच अरहट तेरी भेंट लेने के लिए सदा भेजा करूँगा। सत्यधर्म के नाश हो जाने पर भी तेरी यह सेवा जारी रहेगी[1]। यदि तेरा हृदय कभी दूषित हो तो तुझको मेरी परछाईं की ओर अवश्य देखना चाहिए क्योंकि इसके प्रेम और साधुता के गुण से तेरी दुष्ट धारणा दूर हो जायगी। इस भद्र कल्प में[2] जितने बुद्ध होंगे वे सब दयावश होकर अपनी अपनी परछाईं तेरे सुपुर्द करेंगे। गुफा के बाहर दो चौकोर पत्थर हैं जिनमें से एक पर महात्मा बुद्ध का चक्र-सहित चरण-चिह्न

[1] सत्यधर्म की अवधि ५०० वर्ष और इसके पश्चात् प्रतिमा-पूजन-धर्म की अवधि १००० वर्ष मानी गई है।

[2] बौद्धों के अनुसार वर्तमान काल भद्रकाल कहा जाता है जिसमें १००० बुद्ध उत्पन्न होंगे।

है, जो समय समय पर चमकने लगता है। गुफा के दोनों ओर कुछ पत्थर की कोठरियाँ हैं जिनमें तथागत के पुनीत शिष्य ध्यान धारणा किया करते थे। गुफा के पश्चिमोत्तर कोने पर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ बुद्धदेव तप करते हुए उठते-बैठते रहे थे। इसके अतिरिक्त एक स्तूप और है जिसमें तथागत भगवान् के बाल और नाखून की कतरन रक्खी हुई है। इसके निकट ही एक और स्तूप है। इस स्थान पर तथागत ने अपने सत्यधर्म के गुप्त सिद्धान्त 'स्कंधधातु आयतन' को प्रकट किया था। गुफा के पश्चिम में एक बड़ी चट्टान है जहाँ पर तथागत ने अपने कषाय[1] वस्त्र को धोकर फैलाया था। अब भी इस स्थान पर उसकी छाप के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं।

नगर के दक्षिण-पूर्व, ३० ली पर, हिलो (हिद्दा)[2] नामक एक कस्बा है। इसका क्षेत्रफल ४ या ५ ली है। यह उँचाई पर बसा हुआ है और ढालू होने के कारण बहुत पुष्ट है। यहाँ फूल, जङ्गल और स्वच्छ शीशे के समान जलवाली झीलें हैं।

[1] कषाय यह रङ्ग का नाम है जो कुछ पीलापन लिये हुए, अथवा ईंट के समान लाल होता है। इस रङ्ग का रँगा हुआ वस्त्र बौद्ध-संन्यासी सबसे ऊपर पहनते थे।

[2] नगरहार नगर से दक्षिण-पूर्व दिशा में हिलो (हिद्दा) नगर लगभग ६ मील पर था। इस स्थान का वृत्तान्त फ़ाहियान ने भी लिखा है, कि सिर की अस्थिवाले विहार के चारों ओर चौकोर चहार-दीवारी बनी हुई है। वह यह भी लिखता है कि चाहे स्वर्ग हिल जाय और भूमि फटकर टुकड़े टुकड़े हो जाय परन्तु यह स्थान सदा अचल बना रहेगा।

मनुष्य सीधे, धार्मिक और सच्चे हैं। यहाँ एक दोमंज़िला बुर्ज है जिसकी कड़ियों में चित्रकारी और खम्भे लाल रँगे हुए हैं। दूसरी मंज़िल में मूल्यवान् सप्तधातुओं से बना हुआ एक स्तूप है। इसमें 'तथागत' के सिर की हड्डी, १ फुट दो इंच गोल, रक्खी हुई है जिसका रंग कुछ सफ़ेदी लिये हुए पीला है, और बालों के कूप सुस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यह स्तूप के मध्य में एक क़ीमती डिब्बे में बन्द रक्खी हुई है। जिनको अपने भाग्य अथवा अभाग्य के चिह्न का हाल जानना होता है वे सुगंधित मिट्टी की टिकिया बनाकर सिर की अस्थि पर छाप देते हैं, तो जैसा होता है वैसा ही चिह्न बन जाता है। बहुमूल्य सप्तधातुओं का एक और भी छोटा स्तूप है जिसमें तथागत भगवान् का 'उष्णीष'[१] रक्खा हुआ है। इसकी सूरत कमलपत्र के समान है और रंग सफ़ेदी लिये हुए पीला है, तथा यह एक बहुमूल्य डिब्बे में सुरक्षित और बन्द है। एक और भी छोटा स्तूप सप्तधातुओं का बना हुआ है जिसमें तथागत भगवान् का आम्रफल के बराबर बड़ा और चमकदार तथा आर पार स्वच्छ नेत्रपुट (दीदा) रक्खा हुआ है। यह भी एक बहुमूल्य डिब्बे में सुरक्षित है। तथागत भगवान् का पीले रंग का और सुन्दर रुई से बना हुआ 'संघाती' वस्त्र भी एक उत्तम सन्दूक़ में बन्द है। बहुत से मास और वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु यह बहुत कम बिगड़ा है। तथागत भगवान् की एक लाठी जिसके छल्ले सफ़ेद लोहे (टीन) के हैं और चन्दन की एक छड़ी एक क़ीमती सन्दूक़ में रक्खी हुई हैं।

[१] बौद्धों का एक चिह्न-विशेष जो सिर पर रहा करता था। यह सिर के बालों ही का होता था।

अच्छी तरह आबाद हैं। राजधानी के भीतर पूर्वोत्तर दिशा में एक पुराना खँडहर है; पहले इस स्थान पर एक बहुत सुन्दर बुर्ज था जिसके भीतर बुद्धदेव का भिक्षापात्र था। निर्वाण के पश्चात् बुद्ध-देव का पात्र[१] इस देश में आया और कई सौ वर्षों तक उसका पूजन होता रहा तथा अब भिन्न भिन्न प्रदेशों में होता हुआ फ़ारस में पहुँचा है।

नगर के बाहर दक्षिण-पूर्व दिशा में ८ या ६ ली की दूरी पर एक पीपल का वृक्ष लगभग १०० फ़ीट ऊँचा है। इसकी डालें बहुत मोटी और छाया इतनी घनी है कि प्रकाश नहीं पहुँचता। विगत चार बुद्ध इस वृक्ष के नीचे बैठ चुके हैं। इस समय भी बुद्ध की चार बैठी हुई मूर्तियों के दर्शन इस स्थान पर किये जाते हैं। भद्रकल्प में शेष ६६६ बुद्ध भी इस वृक्ष के नीचे बैठेंगे। गुप्त दैवी-शक्ति इस वृक्ष की हद की रक्षा करती है और वृक्ष को नाश होने से बचाती है। 'शाक्य तथागत' ने इस वृक्ष के नीचे दक्षिण-मुख बैठकर इस प्रकार 'आनन्द' से संभाषण किया था: —"मेरे संसार त्याग करने के चार सौ वर्ष पश्चात् कनिष्क नामक राजा इस स्थान का स्वामी होगा, वह इस स्थान से निकट ही दक्षिण की ओर एक स्तूप बनवावेगा जिसमें मेरे शरीर के मांस और हड्डी का बहुत अंश होगा"। पीपल वृक्ष के दक्षिण एक स्तूप कनिष्क राजा का बनवाया हुआ है। यह राजा निर्वाण के चार सौ

[१] बुद्धदेव के पात्र के भ्रमण-वृत्तान्त के लिए देखो फ़ाहियान Pp. 36 f, 161 f. Koppen Die Rel. des Buddha, Vol. I P. 526; J. R. A. S Vol. XI. P. 127 तथा यूल साहब की Marco Polo, Vol. II. Pp. 301, 310 f

वर्ष पश्चात् सिंहासन पर बैठा था और सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का स्वामी था। उसको सत्य और असत्य-धर्म पर विश्वास न था और इस कारण बौद्ध धर्म को हीन दृष्टि से देखता था। एक दिन वह एक दलदलवाले जङ्गल में होकर जा रहा था कि एक श्वेत खरगोश उसको देख पड़ा जिसका पीछा करता हुआ वह इस स्थान तक आ पहुँचा। यहाँ आकर वह खर-गोश सहसा अदृष्ट होगया। इस स्थान पर उसने देखा कि एक छोटा सा ग्वाले का बालक कोई तीन फुट ऊँचा स्तूप बड़े श्रम से बना रहा है। राजा ने पूछा, क्या कर रहे हो?' ग्वाल-बालक ने उत्तर दिया कि "प्राचीन काल में शाक्य बुद्ध ने अपने दैवी ज्ञान से यह भविष्यद्वाणी की थी कि 'इस उत्तम भूमि का एक राजा होगा जो एक स्तूप बनावेगा जिसमें बहुत सा भाग मेरे शरीरावशेष का होगा, महाराज! आपके पूर्वजन्म के श्रेष्ठ पुण्य ने यह बहुत उत्तम अवसर दिया है कि दैवी ज्ञानसम्पन्न प्राचीन भविष्यद्वाणी की पूर्ति हो और मनुष्योचित धर्म की प्रतिष्ठा हो तथा आपकी प्रसिद्धि हो। इस समय मैं उसी पुरानी बात की सूचना देने के लिए आया हूँ "। यह कह कर वह अन्तर्धान हो गया। राजा इस बात को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ तथा अपनी प्रशंसा करने लगा कि 'धन्य हूँ मैं, जो इतने बड़े महात्मा ने अपनी भविष्यद्वाणी में मेरा नाम लिया।' उसी समय से उसका विश्वास दृढ़ हो गया और वह बौद्ध-धर्म का भक्त बन गया। उस छोटे से स्तूप को घेरकर उसने एक उससे ऊँचा स्तूप पत्थर का बनवाना चाहा जिसमें उसका धार्मिक विश्वास प्रकट हो जाय, परन्तु ज्यों ज्यों उसका स्तूप बनता गया दूसरा भी उससे तीन फुट अधिक

ऊँचा होता गया, यहाँ तक कि ४०० फ़ीट तक पहुँच गया और उसकी नींव का घेरा डेढ़ ली हो गया। जब पाँच मंज़िलें प्रत्येक १५० फ़ीट की ऊँची बनकर तैयार हुईं उस समय दूसरे स्तूप को आच्छादन करने में यह स्तूप समर्थ हो सका। राजा को बहुत प्रसन्नता हुई और उसने २५ ताँबे के स्वर्णजटित खम्भे स्तूप के ऊपर खड़े किये और स्तूप के मध्य में तथागत भगवान् का शरीर रख के बहुत बड़ा भेंट-पूजा की। यह काम समाप्त भी न होने पाया था कि उसने देखा कि छोटा स्तूप नींव के दक्षिण-पूर्व में वर्तमान है और बिलकुल सटा हुआ लगभग आधी उँचाई तक पहुँचा हुआ है। राजा इससे घबड़ा उठा और उसने आज्ञा दे दी कि स्तूप खोद डाला जाय। जैसे ही दूसरी मंज़िल तक खुदाई पहुँची दूसरा स्तूप अपनी जगह से हट कर फिर इसके भीतर से निकल आया और राजा के स्तूप से ऊँचा हो गया। राजा ने विवश होकर कहा कि मनुष्य के काम में भूल हो जाना सहज है परन्तु जब दैवी शक्ति अपना काम कर रही है तब उससे सामना करना कठिन है। जो काम दैवी आज्ञा से हो रहा है उस पर मानुषी क्रोध का क्या प्रभाव पड़ सकता है? यह कह कर और अपने अपराधों की क्षमा माँग कर वह शान्त हो गया। यह दोनों स्तूप अब भी हैं। बीमारी की असाध्य अवस्था में, आरोग्याकांक्षी लोग धूप जलाते हैं और फूल चढ़ाते हैं तथा बड़े विश्वास के साथ अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं। उस समय बहुत से रोगियों को दवा मिल भी जाती है।

कनिष्कवाले बड़े स्तूप के पूर्व की ओर सीढ़ियों के दक्षिण में दो और स्तूप चित्रकारी किये हुए हैं—एक तीन फ़ीट ऊँचा और दूसरा पाँच फ़ीट। इन दोनों की बनावट और उँचाई

बड़े स्तूप के समान है। महात्मा बुद्ध की दो मूर्तियाँ भी हैं। एक ४ फ़ीट ऊँची और दूसरी ६ फ़ीट ऊँची है। बुद्ध-देव जिस प्रकार पद्मासन होकर बोधिवृक्ष के नीचे बैठे थे उसी भाव को यह मूर्ति प्रदर्शित करती है। जिस समय सूर्य अपनी सम्पूर्ण किरणों से प्रकाशित होता है और वह प्रकाश मूर्त्तियों पर पड़ता है तब उनका रङ्ग सुवर्ण के समान चमकने लगता है परन्तु ज्यों ज्यों प्रकाश घटता जाता है पत्थर का भी रङ्ग ललाई लिये हुए नीले रङ्ग का होता जाता है। बूढ़े मनुष्य कहते हैं कि कई सौ वर्ष हुए जब नींव के पत्थरों की दरार में कुछ चींटियाँ सुनहरे रङ्ग की रहती थीं। सबसे बड़ी चींटी उँगली के बराबर थी, और दूसरी चींटियों की लम्बाई अधिक से अधिक जौ के बराबर थी। इन्हीं चींटियों ने मिलकर और पत्थर को खुनर खुनर कर बहुत प्रकार की लकीरें और चिह्न ऐसे बनाये जो चित्रकारी के समान बन गये और जो सुनहरी रेणु उन्होंने छोड़ी उसके कारण मूर्तियों पर चमक आगई।

बड़े स्तूप की सीढ़ियों के दक्षिण में महात्मा बुद्ध का एक रङ्गीन चित्र लगभग १६ फ़ीट ऊँचा बना हुआ है। ऊपरी अर्द्ध भाग में तो दो मूर्त्तियाँ हैं पर नीचेवाले अर्द्धभाग में एक ही है। प्राचीन कथा है कि 'पहले एक दरिद्र आदमी था जो जीविका की तलाश में परदेश चला गया था। उसको एक सोने की मुहर मिली जिसको व्यय करके उसने महात्मा बुद्ध की एक मूर्त्ति बनवानी चाही। स्तूप के निकट आकर उसने चित्र-कार से कहा कि "मैं भगवान् तथागत का एक बहुत ही उत्तम और मनोहर चित्र सुन्दर रङ्गों में चित्रित कराना चाहता हूँ, परन्तु मेरे पास केवल एक स्वर्णमुहर है जो कारीगर को देने

के लिए बहुत ही कम है। मुझको शोक है कि मेरी अभिलाषा के पूर्ण होने में मेरी दरिद्रता बाधा देती है।" चित्रकार ने उसकी सच्ची बात पर विचार करके उत्तर दिया कि दाम के लिए कुछ सोच न करो, चित्र तुम्हारी इच्छानुसार बना दिया जायगा। एक और भी आदमी इसी प्रकार का था, उसके पास भी एक सोने की मुहर थी और उसने भी महात्मा बुद्ध का एक रंगीन चित्र बनवाना चाहा। चित्रकार ने इस प्रकार एक एक मुहर प्रत्येक से पाकर बहुत सुन्दर रङ्ग लेकर एक बढ़िया चित्र बनाया। दोनों आदमी एक ही दिन और एक ही समय में उस चित्र को लेने के लिए आये जो उन्होंने बनवाया था। चित्रकार ने एक ही चित्र को उन दोनों को यह कह कर दिखलाया कि यह भगवान बुद्ध का चित्र है जिसके लिए तुमने कहा था। दोनों मनुष्य घबड़ा कर एक दूसरे का मुँह देखने लगे। चित्रकार उनके सन्देह को समझ गया और कहने लगा, "तुम बड़ी देर से क्या विचार कर रहे हो? यदि तुमको द्रव्य का विचार है तो मेरा उत्तर है कि मैंने तुमको रंचमात्र भी धोखा नहीं दिया है। मेरी बात सत्य प्रमाणित करने के लिए चित्र में अवश्य कुछ न कुछ विलक्षणता इसी क्षण प्रकट हो जायगी"। उसकी बात समाप्त भी न होने पाई थी कि किसी दैवी शक्ति के प्रभाव से चित्र का ऊपरी अर्द्ध भाग स्वयं विभक्त हो गया और दोनों भागों में से प्रताप परिलक्षित होने लगा। यह दृश्य देख कर वे दोनों पुरुष विश्वास और आनन्द में मग्न हो गये। बड़े स्तूप के दक्षिण-पश्चिम लगभग १०० पग की दूरी पर भगवान् बुद्ध की एक श्वेत पत्थर की मूर्त्ति कोई १८ फ़ीट ऊँची है। यह मूर्त्ति उत्तराभिमुख खड़ी है। इस मूर्त्ति में अद्भुत शक्ति तथा बड़ा सुन्दर

प्रकाश है। कभी कभी संध्या-समय इस मूर्त्ति को लोगों ने स्तूप की प्रदक्षिणा करते हुए भी देखा है। थोड़े दिन हुए जब लुटेरों का एक समूह चोरी करने की इच्छा से आया था: मूर्त्ति तुरन्त ही आगे बढ़कर लुटेरों के सम्मुख गई। वे लोग इस दृश्य को देखते ही भयातुर होकर भाग गये और मूर्त्ति अपने स्थान को लौट आई और सदा के समान स्थिर हो गई। लुटेरों का इस दृश्य के प्रभाव से नवीन जीवन हुआ। वे लोग ग्रामों और नगरों में घूम घूम कर जो कुछ हुआ था कहने लगे।

बड़े स्तूप के दाहिने बाएँ सैकड़ों छोटे छोटे स्तूप पास पास बने हुए हैं जिनमें परले सिरे की कारीगरी की गई है।

कभी कभी ऋषि, महात्मा और बड़े बड़े विद्वान् स्तूपों के चारों ओर प्रदक्षिणा देते हुए दिखाई पड़ते हैं तथा सुगन्धित वस्तुओं की महक और गाने-बजाने के विविध प्रकार के शब्दों का भी समय समय पर अनुभव होता है।

भगवान् तथागत की भविष्यद् वाणी है कि सात बार इस स्तूप के अग्निसात् होने और फिर बनने पर बौद्धधर्म का विनाश हो जायगा। प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि अब तक तीन बार यह स्तूप नाश होकर बनाया जा चुका है। पहले-पहल जब मैं इस देश में गया था उसके थोड़े ही दिन पहले यह स्तूप अग्नि-द्वारा नाश हो चुका था। सीढ़ियाँ अब भी अध-बनी हैं जिनकी मरम्मत जारी है।

बड़े स्तूप के पश्चिम में एक प्राचीन संघाराम है जिसको कनिष्क राजा ने बनवाया था। इसके दुहरे टीले, चौतरे, शिलायें और गहरी गुफायें उन बड़े बड़े महात्माओं के प्रभाव की सूचक हैं जिन्होंने इस स्थान पर निवास करके अपने पवित्र धर्मा-

चरण को परिपुष्ट किया था। यद्यपि किसी किसी स्थान पर यह भग्न हो चला है तथापि इसकी अद्भुत बनावट अब भी बिलकुल लुप्त नहीं हुई है। जो साधु यहाँ रहते हैं उनकी संख्या थोड़ी है और वे लोग 'हीनयान' सम्प्रदाय के आश्रित हैं। जिस समय यह बनाया गया था उस समय से लेकर अब तक कितने ही शास्त्रकार इसमें निवास करके परम पद को प्राप्त हो चुके हैं जिनकी प्रसिद्धि देश में व्याप्त और जिनका धार्मिक व्यापार अब तक उदाहरण-रूप में सजीव है। तीसरे बुर्ज में एक गुफा महात्मा पार्श्विक की है, परन्तु बहुत काल से यह उजाड़ है। लोगों ने इस स्थान पर महात्मा के स्मारक का पत्थर लगा दिया है। पहले यह एक विद्वान् ब्राह्मण था, जब इसकी अवस्था ८० वर्ष की हुई इसने गृहपरित्याग कर दिया और गेरुवे वस्त्र (बौद्ध शिष्यों के) धारण कर लिये। नगर के लड़कों ने उसकी हँसी उड़ाते हुए कहा कि ए मूर्ख बुड्ढे आदमी! तुझको वास्तव में कुछ भी बुद्धि नहीं है। क्या तुझको विदित नहीं है कि जो लोग बौद्ध-धर्म को अङ्गीकार करते हैं उनको दो कार्य करने होते हैं - अर्थात् ध्यानावस्थित होना और पुस्तकों का पाठ करना। और, इस समय तुम बुड्ढे और बलहीन हो, तुम इस धर्म के शिष्य होकर क्या पदार्थ प्राप्त कर लोगे? वास्तव में यह सब ढकोसला तुम्हारा पेट भरने के लिए है।

पार्श्विक ने इस प्रकार के व्यङ्ग वचनों को सुनकर संसारत्याग करते हुए यह संकल्प किया कि "जब तक मैं पितृकनय के ज्ञान से पूर्णतया ज्ञानवान् न हो जाऊँगा और त्रिलोक की दुर्वासनाओं को न दूर कर लूँगा, और जब तक मैं छहों आध्यात्मिक शक्तियों को न प्राप्त कर लूँगा तथा अष्ट विमोक्ष

के पद तक न पहुँच जाऊँगा तब तक मैं विश्राम नहीं करूँगा (अर्थात् शयन नहीं करूँगा।) उसी दिन से दिन का समय उत्कृष्ट सिद्धान्तों के गूढ़ तत्त्वों के लगातार पठन में और रात्रि का समय समानरूप से ध्यानावस्थित होकर बैठने में व्यतीत होता था। तीन वर्ष के कठिन परिश्रम में उसने तीनों पितृकों के गूढ़ आशय को मनन करके सांसारिक कामनाओं का परित्याग कर दिया और 'त्रिविद्या'[1] को प्राप्त कर लिया। उस समय से लोग उसकी प्रतिष्ठा करने लगे और महात्मा पार्श्विक के नाम से सम्बोधन करने लगे।

पार्श्विक गुफा के पूर्व एक प्राचीन भवन है जहाँ पर "वसुबंधु बोधिसत्त्व"[2] ने "अभिधर्म कोशशास्त्र"[3] की रचना की

१ त्रिविद्या में (अ) संसार की अनित्यता का वृत्तान्त (ई) दुख क्या है (उ) आत्मा-अनात्मा क्या है, इन्हीं तीन विषयों का वर्णन है।

२ वसुबंधु २१ वां महात्मा हुआ है। वह असङ्ग का भाई था। परन्तु बहुत से लोग इससे सहमत नहीं हैं और 'बुधि धर्म' ग्रथ के अनुसार उसको २८ वां महात्मा मानते हैं जिसका काल लगभग ५२० ईसवी सन् होता है। मैक्समूलर छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में उसका होना निश्चय करते हैं। (India. P. 306) विशेष वृत्तान्त के लिए देखो Lassen, I. A. Vol. II. P. 1205; Edkins, ch. Buddh., Pp. 169, 218; Vassilief. P. 214, or Ind. Ant. Vol. IV. P. 142

३ इस पुस्तक की प्रसिद्धि बहुत है। इसको वसुबन्धु ने वैभाषिका की भूलों को दूर करने के लिए लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद परमारथ ने सन् ५५७-५८९ ई० में किया। देखो J. R. A. S. Vol. XX. P. 211; Edkins ch. Buddh. P. 120; Vassilief Pp. 77 F, 108, 130, 220.

थी। लोगों ने उसके सम्मानार्थ एक शिलालेख इस आशय का इस स्थान पर लगा रक्खा हैः—

वसुबंधु-भवन के दक्षिण लगभग ५० पग की दूरी पर एक दूसरा दो खंड का गुम्बज़दार मकान है जहाँ पर 'मनोर्हिता शास्त्री'[1] ने विभाषा शास्त्र को संकलित किया था। यह विद्वान् महात्मा बुद्ध-निर्वाण के बाद एक हज़ार वर्ष के भीतर ही हुआ था। अपनी युवावस्था में भली भाँति विद्योपार्जन करने के कारण यह बहुत विद्वान् गिना जाता था। धार्मिक विषयों में इसकी बड़ी ख्याति थी और गृहस्थ लोग इसकी आंतरिक प्रतिष्ठा के लिए उत्सुक रहा करते थे। उस समय श्रावस्ती का राजा विक्रमादित्य बहुत प्रसिद्ध था। उसने अपने मंत्रियों को आज्ञा देदी थी कि पाँच लाख स्वर्णमुहर दान होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में नित्य वितरण की जायँ। प्रत्येक स्थान के दरिद्री दुखी और अनाथों की याचनाओं को वह पूरा किया करता था। उसके कोशाध्यक्ष ने

१ मनोर्हित इसको दूसरे प्रकार से मनोरत, मनोर्हत, मनोरथ और मनुर भी लिखा है। इसके लिए जो विशेषण चीनी-भाषा में प्रयोग किया गया है उसका अर्थ है कल्पवृक्ष; अर्थात् यह ऐसा महात्मा था कि प्रत्येक वस्तु देने में समर्थ था। यह बाईसवाँ महात्मा कहलाता है। बस जीफ साहब ने जिस मखिरत नामक महात्मा का उल्लेख किया है सम्भव है वह व्यक्ति भी मनोर्हित ही हो (Vassilief Bouddhisme, P. 219) विशेष वृत्तान्त के लिए देखो Lassen, I. A. Vol. II. P. 1206; Edkins, ch. Buddh. Pp. 82-84; M. Muller. India, Pp. 289, 302; and note 77 ante.

इस बात के भय से कि सम्पूर्ण राज्य की आय समाप्त हुई जाती है राजा के सामने व्यवस्था प्रकट करते हुए निवेदन किया कि "महाराज! आपकी ख्याति छोटे से छोटे व्यक्ति तक पहुँच गई और अब पशुओं में फैल रही है; आपने आज्ञा दी है कि (अन्यान्य व्यय के अतिरिक्त) पाँच लाख स्वर्ण-मुहरें संसार भर के दीनों की सहायता के लिए व्यय की जायँ। ऐसा करने से श्रीमान का कोष खाली हो जायगा, कोष में द्रव्य के न रहने से और भूमि-सम्बन्धी आय के समाप्त हो जाने पर नवीन कर की व्यवस्था करनी पड़ेगी, नहीं तो खर्च पूरा न पड़ेगा। कर की योजना होने से प्रजा की कष्ट-प्रार्थनायें सुनाई पड़ने लगेंगी तथा विद्वेष मच जायगा। इस कार्य से महाराज की उदारता की चाहे प्रशंसा हो परन्तु आपके मंत्री सर्वसाधारण में अप्रतिष्ठित हो जायँगे।" राजा ने उत्तर दिया कि "मैं अपने पुण्य के लिए किसी तरह भी बेपरवाही के साथ देश को पीड़ित नहीं करूँगा बल्कि अपनी निज की सम्पत्ति से यह दान जारी रखूँगा।" यह कह कर उसने कोषाध्यक्ष की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया और दुखियों के सहायतार्थ पाँच लक्ष बढ़ा दिया। इसके कुछ दिनों बाद एक दिन राजा शूकर के शिकार को गया। रास्ता भूल जाने पर उसने एक आदमी को एक लाख इस-लिए दिया कि वह उसको फिर शिकार तक पहुँचा देवे। इधर मनोहित शास्त्री ने एक दिन एक मनुष्य को हजामत बना देने के उपलक्ष में एक लाख अशर्फियाँ दीं। इस उदारता के कार्य को इतिहास-लेखकों ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तकों में स्थान दिया। राजा इस समाचार को पढ़ कर बहुत लज्जित हुआ और उसका गर्वित हृदय क्रोध से भर गया। उसकी

इच्छा हुई कि मनोर्हित पर कोई अपराध लगाकर उसको दंड दिया जावे। यह विचार करके उसने भिन्न भिन्न धर्मों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध सौ विद्वानों को एकत्रित किया और आज्ञा दी कि "नाना प्रकार के मतों में जो विभिन्नता है उसको दूर करके मैं सत्य मार्ग को निर्णीत किया चाहता हूँ। भिन्न भिन्न धर्मों के सिद्धान्त ऐसे विपरीत हैं कि किस पर विश्वास करना चाहिए और किस पर नहीं यह समझना कठिन है। इस कारण अपनी सम्पूर्ण योग्यता को प्रकट करके मेरी इच्छा के पूर्ण करने का प्रयत्न आज आप लोग कीजिए।" शास्त्रार्थ के समय उसने दूसरी आज्ञा सुनाई कि 'अन्य-धर्मावलम्बी विद्वान् अपनी योग्यता के लिए प्रसिद्ध हैं, श्रमण और बौद्ध-धर्मावलम्बियों को इनके सिद्धान्तों पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। यदि बौद्ध लोग जीत जायँगे तो अपने धर्म का प्रतिपालन करने पावेंगे और यदि हार गये तो इनका नाश कर दिया जायगा।' शास्त्रार्थ होने पर मनोर्हित ने निन्नानवे व्यक्तियों को पराजित करके चुप कर दिया, केवल एक व्यक्ति जो विशेष विद्वान न था उसके सामने उपस्थित था। मनोर्हित ने एक तुच्छ प्रश्न अग्नि और धुएँ का उठाया। इस पर राजा और सब अन्य-धर्मावलम्बी चिल्ला उठे कि "मनोर्हित शास्त्री की पद-योजना अशुद्ध है उसको पहले धुएँ का नाम लेना चाहिए तब अग्नि का। यही इन शब्दों के लिए नियम है।" मनोर्हित ने अपनी कठिनता को वर्णन करना चाहा परन्तु कुछ सुनवाई नहीं हुई। लोगों की ऐसी कार्य्यवाही पर खिन्न होकर उसने अपनी जीभ को काट डाला और एक सूचना अपने शिष्य वसुबंधु को लिखी कि "पक्षपातियों के समूह में न्याय नहीं है, भटके हुए लोगों में अज्ञान का निवास है।"

यह लिख कर वह मर गया। थोड़े दिनों के पश्चात् विक्रमादित्य का राज्य जाता रहा और उसका स्थानाधिपति एक ऐसा राजा हुआ जिसने सुयोग्य विद्वानों की रक्षा का भार पूरे तौर पर लिया। वसुबंधु ने पुरानी अप्रतिष्ठा को दूर करने के लिए राजा के पास जाकर प्रार्थना की कि "महाराज अपनी पुनीत योग्यता से राज्य का शासन करते हैं और बहुत बुद्धिमानी से कार्य करते हैं। मेरा गुरु मनोर्हित बड़ा दूरदर्शी और सुदक्ष विद्वान था। उसकी सम्पूर्ण कीर्ति को भूतपूर्व राजा ने द्वेषवश मिटा दिया है। इसलिए जो कुछ मेरे गुरु के साथ बुराई हुई है उसका मैं बदला लेना चाहता हूं। मनोर्हित की महान विद्वत्ता का हाल सुन कर राजा ने वसुबंधु के विचार की सराहना की और जिन अन्य धर्मावलम्बियों से मनोर्हित का शास्त्रार्थ हुआ था उनको बुलवा भेजा। वसुबंधु ने अपने गुरु के पूर्वप्रसङ्ग को फिर से उठाकर विधर्मियों को लज्जित और शान्त कर दिया।

कनिष्क राज के संघाराम के पूर्वोत्तर में लगभग ५० ली पर हम ने एक बड़ी नदी पार करके पुष्कलावती[1] नगरी में प्रवेश किया। इसका क्षेत्रफल १४ या १५ ली है और जन-

[1]पुष्कलावती या पुष्करावती नगर गंधार-प्रदेश की राजधानी था। विष्णुपुराण में लिखा है कि पुष्करावती नगर को रामचन्द्र के भतीजे और भरत के पुत्र पुष्कर ने बसाया था। सिकन्दर की चढ़ाई में भी इसका वर्णन आया है कि उसने हस्ती राजा से इसको छीनकर सञ्जय को अपना स्थानापन्न नियत किया था। परन्तु यह कदाचित् हस्तनगर था जो पेशावर से १८ मील उत्तर स्वात नदी के किनारे उस स्थान पर था जहाँ पर इस नदी का सङ्गम काबुल नदी से हुआ था।

संख्या भी अधिक है; भीतरी द्वार एक सुरङ्ग से जुड़े हुए हैं। पश्चिमी फाटक के बाहरी ओर एक देव-मन्दिर है। इसमें की देवमूर्ति प्रभावशाली तथा विलक्षण कार्यों की द्योतक है— चमत्कार रखती है।

नगर के पूर्व एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यह वही स्थान है जहाँ पर भूतपूर्व चारों बुद्धों ने धर्मोपदेश किया था। बहुत से साधु और महात्मा मध्यभारत से इस स्थान पर आकर लोगों को शिक्षा देते रहे हैं जैसे 'वसुमित्र'[1] शास्त्री; जिसने इस स्थान पर 'अभिधर्मप्रकरण' शास्त्र का संकलन किया था।

नगर के उत्तर चार पाँच ली की दूरी पर एक प्राचीन संघाराम है जिसके कमरे टूट फूट रहे हैं। साधु बहुत थोड़े हैं और सबके सब हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। धर्मत्रात शास्त्री ने[2] 'संयुक्ताभिधर्मशास्त्र' को इस स्थान पर निर्माण किया था।

विशेष वृत्तान्त के लिए देखो Baber's mem., Pp. 136 141 251; Cunningham. Anc. Geog P. 49; St. Martin. Geog. P. 37. Bunbury. Hist. Geog. vol. I. P. 498; Wilson. Ariana. Ant P. 185; Ind. Ant. vol. v Pp. 85. 330; Lassen. I. A. vol. I. P. 501. vol. III. P. 139.

[1] वसुमित्र ५०० महात्मा अरहटों में प्रधान था जो कि कनिष्क की सभा में बुलाये गये थे। देखो Vassilief Pp. 49, 58, 78, 107, 113, 222; Edkinsch. Buddh. Pp. 72, 283; Burnouf, Int, Pp 399.505.

[2] धर्मत्रात वसुमित्र का चचा था (उदानवर्ग तारानाथ ने एक और

संघाराम के निकट एक स्तूप कई सौ फ़ीट ऊँचा है जिसको अशोक राजा ने बनवाया था। यह लकड़ी और पत्थरों पर उत्तम नक़्क़ाशी और विविध प्रकार की कारी-गरी करके बनाया गया है। प्राचीन काल में शाक्य बुद्ध जब इस देश का राजा था तब वह इसी स्थान पर बोधिसत्व दशा को प्राप्त हुआ था। उसने अपना सर्वस्व याचकों को दान कर दिया था, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी दान करने में उसको संकोच नहीं हुआ था। सहस्र बार इस देश में जन्म लेकर वह यहाँ का राजा हुआ था और इन सब जन्मों में उसने अपने नेत्रों को भेंट कर दिया था।

इस स्थान के निकट पूर्व दिशा में दो स्तूप पत्थर के, प्रत्येक सौ सौ फ़ीट ऊँचे, बने हैं। दाहिनी ओर का स्तूप ब्रह्मा का और बाईं ओरवाला शक्र (देवराज इन्द्र) का बनवाया हुआ है। ये दोनों रत्नों से बनाये गये थे, परन्तु बुद्ध भगवान् के निर्वाण के पश्चात् सम्पूर्ण रत्न साधारण पत्थर बन गये। यद्यपि स्तूपों की दशा बिगड़ती जाती है परन्तु उनकी उँचाई और महिमा अब भी वर्तमान है।

इन स्तूपों के पश्चिमोत्तर लगभग ५० ली की दूरी पर

धर्मत्रात का उल्लेख किया है जो वैभाषिका संस्था का प्रधान था। वसुमित्र भी एक और हुआ है जिसने वसुबंधु के लिखे हुए अभिधर्म कोष की टीका बनाई थी। इसका जीवनकाल कदाचित् पंचमशताब्दी माना जाता है। धर्मपाद की रचना चीनी भाषा में वसुबंधु से प्रथम हुई थी और वसुमित्र वसुबंधु के पीछे हुआ था, क्योंकि इसने उसके ग्रन्थ की टीका बनाई थी इसलिए हुएन सांग ने जिस धर्मत्रात का वर्णन किया था वही व्यक्ति धर्मपाद का संग्रहकर्ता माना जाता है।

एक और स्तूप है इस स्थान पर शाक्य तथागत ने दैत्यों की माता को शिष्य करके[1] उसकी नृशंसता को रोक दिया था। यही कारण है कि देश के साधारण लोग संतति प्राप्त करने के लिए उसके निमित्त बलिप्रदान किया करते हैं।

---

[1] दैत्यों की माता का नाम 'हारिती' था। बौद्ध लोग इसकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। इस स्त्री ने अपने पूर्वजन्म में इस बात का संकल्प किया था कि राजगृह के बालकों को वह भक्षण कर डालेगी; अतएव उसका जन्म यक्ष कुल में हुआ था। इस शरीर से उसके ५०० पुत्र भी उत्पन्न हुए थे। इन पुत्रों के खाने के लिए वह प्रतिदिन एक बच्चा राजगृह से उठा लाती थी। लोगों ने दुखित होकर सम्पूर्ण वृत्तान्त बुद्धदेव से निवेदन किया; जिस पर उन्होंने उसके सबसे प्यारे बच्चे को चुरा लिया। यक्षिणी ने सर्वत्र अपने बच्चे को ढूँढ़ा, अन्त में उसने उसको बुद्ध के पास देखा। बुद्धदेव ने उससे पूछा "तुम्हारे तो ५०० पुत्र हैं तिस पर भी तुम अपने बच्चे से इतना अधिक प्रेम करती हो अब बताओ वह बेचारे कितना अधिक प्रेम करते होंगे जिनके एक ही दो बच्चे होते हैं।" यक्षिणी पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसी क्षण से वह उपासक होगई। इसके उपरान्त उसने पूँछा कि वह अब अपने ५०० बच्चों के पोषण का क्या प्रबन्ध करे। बुद्धदेव ने उत्तर दिया, "भिक्षु लोग प्रत्येक दिन अपने भोजन में से कुछ भाग निकाल कर तुझको दिया करेंगे।" इस कारण पश्चिम के सब संघारामों में या तो फाटक की ड्योढ़ी में और या रसोईघर के निकट दीवार पर यक्षिणी का चित्र बालक लिये हुए बना हुआ है और नीचे सामने की भूमि पर कहीं पाँच और कहीं तीन दूसरे बालकों के चित्र बने हुए हैं। प्रत्येक दिन इस चित्र के सामने भिक्षु लोग भोजन की थाली चढ़ाते हैं। चारों देवराज उपासकों में इस स्त्री का प्रभाव विशेष है। रोगी और निःसन्तान

इस स्थान से ५० ली जाने पर उत्तर दिशा में एक और स्तूप मिलता है। इस स्थान पर 'सामकबोधिसत्व'[1] धर्माचरण करते हुए अपने नेत्रहीन माता-पिता की सेवा किया करता था। एक दिन जब वह उनके लिए फल लेने गया था, राजा से, जो शिकार खेल रहा था, उसका सामना हो गया और अनजानपन से राजा का एक विषबाण उसके शरीर में लग गया, परन्तु उसका धार्मिक बल ऐसा प्रबल था जिससे उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। देवराज इन्द्र उसके धर्माचरण से दयार्द्र होकर कुछ ओषधियाँ लेकर आये और उन ओषधियों के प्रभाव से उसका घाव अच्छा हो गया।

पुरुष अपनी कामना के लिए इसको भोजन भेंट करते हैं। चालुक्य तथा दक्षिण के अन्य राजपरिवारवाले अपने को हारिती का वंशज बतलाते है। हारिती का यह सम्पूर्ण वृत्तान्त इटसिङ्ग (Itsing) ने ताम्रलिप्त देश के वराह मन्दिर में बने हुए उसके चित्र पर लिखा है। सम्भव है यह मन्दिर चालुक्य लोगों का बनवाया हुआ हो, क्योंकि वराह इन लोगों का मुख्य निशान था।

(१) यह वृत्तान्त दुखुल के पुत्र साम का मालूम होता है जिसका वर्णन सामजातक में आया है। फ़ाहियान ने इसको 'शेन' लिखा है। मूल पुस्तक में भी यह शब्द आया है। देखो Trans. Int. Cong. Orient (1874) p. 135. सांची के लेखों में यह जातक उद्धृत किया गया है (Tree and Serp. Worship. P.LXXXVI fig. I.) इसका विशेष वृत्तान्त जानने के लिए देखो Spence Hardy's Eastern Monarchism p. 275; Conf. Man. Buddh P. 460. रामायण में भी ठीक ऐसी ही कथा सरवन की है।

इस स्थान के पूर्व-दक्षिण की ओर लगभग २०० ली जाने पर हम 'पोलुश'[1] नगर में आये। इस नगर के उत्तर में एक स्तूप है जहाँ पर सुदान राजकुमार[2] अपने पिता का एक विशाल हाथी ब्राह्मणों को दान कर देने के कारण दंडित होकर देश से निकाल दिया गया था, और फाटक के बाहर जाकर अपने मित्रों से विदा हुआ था। इसके अतिरिक्त एक संघाराम भी है जिसमें लगभग ५० साधु हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी निवास करते हैं। प्राचीन काल में 'ईश्वर शास्त्री'

[1] मूल पुस्तक में जो मार्ग लिखा गया है वह इस प्रकार है कि पुष्कलावती से ४ या ५ ली उत्तर, फिर कुछ दूर पूर्व, फिर ५० ली उत्तर-पश्चिम, फिर इस स्थान से पोलुश तक दक्षिण-पश्चिम २०० ली गिनना चाहिए। परन्तु मारटीन साहब ने २०० के स्थान पर २५० माना है और पुष्कलावती से शुमार किया है, जो ठीक नहीं है। इन्हीं की गणना के समान कनिंघम साहब भी स्थान का निश्चय करने में भूल कर गये हैं जो पालोढेरी को, अथवा एक उजड़े डीह पर बसे हुए पाली गांव को उन्होंने पोलुश निश्चय किया है। मूल-पुस्तक के अनुसार सामक का स्तूप पुष्कलावती से ६० या १०० ली पर उत्तर-पूर्व में होता है, वहाँ से २०० ली दक्षिण-पश्चिम दिशा में खोज होने से पोलुश का ठीक ठीक निश्चय हो सकेगा।

[2] अर्थात् विस्वान्तर, विस्वन्तर या वेस्सन्तर राजकुमार। इस राजकुमार का इतिहास बौद्धों में बहुत प्रसिद्ध है। देखो Spence Hardy's Man. of Buddhism P. 118; Fergusson. Tree and Serp. Worship; Beal's Fah-hian, P. 194; Burnouf, Lotus, P. 411 कथासरित्सागर इत्यादि। इस जातक का वृत्तान्त अमरावती के शिलालेखों में भी पाया गया

ने इस स्थान पर 'ओपीतमोमिङ्ग चिङ्गलुन'[1] ग्रन्थ का संकलन किया था।

पोलुश नगर के पूर्वी द्वार के बाहर एक संघाराम है जिसमें लगभग ५० साधु महायान-सम्प्रदाय के अनुयायी निवास करते हैं। यहाँ पर एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। प्राचीन काल में सुदान राजकुमार अपने घर से निकाला जाने पर 'दन्तलोक' पहाड़[2] में जाकर रहा था। इस स्थान पर एक ब्राह्मण ने उससे उसके पुत्र और कन्या की याचना की थी और उसने उनको उसके हाथ बेंच दिया था।

पोलुश नगर के पूर्वोत्तर लगभग २० ली की दूरी पर हम 'दन्तलोक' पहाड़ को गये। इस पहाड़ की चोटी पर एक स्तूप अशोकराज का बनवाया हुआ है। इसी स्थान पर सुदान राजकुमार एकान्तवास करता था। इस स्थान के पार्श्व में निकट ही एक स्तूप है जहाँ पर ब्राह्मण ने राजकुमार के पुत्र और कन्या को लेकर इतना अधिक मारा था कि रक्त की

है। जुलियन साहब का मत है कि चीनी भाषा में कुछ भूल है जिससे सुदान शब्द समझा जाता है। सुदन्त एक प्रत्येक बुद्ध का नाम है जिसका वर्णन त्रिकाण्डशेष मे आया है।

(1) जुलियन साहब इस वाक्य से 'अभिधर्मप्रकाशसाधनशास्त्र' अनुमान करते है, परन्तु सेम्युल बील साहब का अनुमान है कि कदाचित् यह 'संयुक्तअभिधर्महृदयशास्त्र' है जिसको ईश्वर नामक विद्वान् ने सन् ४२६ ई० के लगभग अनुवाद किया था।

[2] General Cunningham identifies the mountain with the Montes Doedali of Justin (op. cit. P. 52.)

श्रोर बह चली थी। इस समय भी यहाँ के घास-पात लाल रङ्ग के हैं। करार (पहाड़ का) के मध्य में एक पत्थर की गुफा है जहाँ पर राजकुमार और उसकी स्त्री निवास और ध्यानाभ्यास किया करते थे। घाटी के मध्य में वृक्षों की शाखायें परदे के समान लटकी हुई हैं। इस स्थान पर प्राचीन काल में राजकुमार अपना मन बहलाया करता था: और विश्राम किया करता था। इस वृक्षावली के निकट ही पार्श्व मे एक पथरीली गुफा है जिसमें किसी प्राचीन ऋषि का निवास था।

इस पथरीली गुफा से लगभग १०० ली पश्चिमोत्तर जाने पर हम एक छोटी पहाड़ी पार करके एक बड़े पहाड़ पर पहुँचे। इस पहाड के दक्षिण में एक संघाराम है जिसमे थोड़े से महायान-सम्प्रदायी साधु निवास करते हैं। इसके पास ही एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर प्राचीन-काल मे एक शृङ्ग नाम का ऋषि[1] रहता था। यह ऋषि एक सुन्दर स्त्री के मोह में फँस कर तपभ्रष्ट हो गया था और वह स्त्री उसके कंधे पर चढ़कर नगर में लौट आई थी।

पोलुश नगर के पूर्वोत्तर ५० ली जाने पर हम एक पहाड़

[1] बौद्ध पुस्तकों मे इस कथा का वर्णन अनेक स्थानों पर आया है; देखो—Eitels' handbook; Catena of Buddh. Srip. 260, Romantic Legend, P 124; and compare the notice in Yule's Marco Polo, Vol. II. P. 233; Ind Ant. Vol. I, P. 244, Vol II. Pp. 69, 140. यह कथा रामायण के शृंगी ऋषि की कथा से मिलती-जुलती है।

पर आये। इस स्थान पर एक मूर्ति ईश्वरदेव की पत्नी भीमा-देवी की हरे पत्थर पर खुदी हुई है। छोटे और बड़े सब प्रकार के लोग इस बात को मानते हैं कि यह मूर्ति स्वयं निर्मित हुई है। अपने अद्भुत चमत्कारों के कारण इस मूर्ति की बड़ी प्रतिष्ठा है तथा सब श्रेणी के लोग इसकी पूजा करते हैं और इसलिए भारत के सम्पूर्ण प्रान्तों के लोग यहाँ आते हैं और दर्शन पूजन करके अपने मनोरथों की याचना करते हैं। दूर और निकट के प्रत्येक प्रान्त से धनी और दरिद्र इस स्थान की यात्रा करते हैं। जो लोग देवी के स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन किया चाहते हैं वे विश्वासपूर्वक और सन्देहरहित होकर सात दिन का उपवास करते हैं, तब जाकर देवी के दर्शन प्राप्त होते हैं[1] और उनकी प्रार्थना सुफल होती है। पहाड़ के नीचे एक मन्दिर महेश्वर देव का है। भस्मधारी (पाशुपतधर्मवाले) लोग यहाँ आकर अर्चन-पूजन किया करते हैं।

भीमादेवी के मन्दिर से पूर्व दक्षिण १५० ली जाने पर हम 'उटो किया हान चा'[2] स्थान में पहुँचे। इस नगर का

[1] भीमा नाम दुर्गा का है। जो बात हम देवी के विषय में लिखी गई है वही अवलोकितेश्वर के विषय में भी प्रचलित है। दुर्गा या पार्वती और अवलोकितेश्वर को पहाड़ी देवता मानकर रायल एशियाटिक सासाइटी के जर्नल में अच्छा लेख है। (J. R. A. S. N. S. Vol. XV. P. 333.)

[2] जुलियन साहब इस शब्द को 'उडखाण्ड' समझते हैं जिसका पता लगाकर मारटीन साहब ने सिंधु नदी के तटवाले ओहिन्द का निश्चय किया है।

क्षेत्रफल २० ली के लगभग है। इसके दक्षिणी किनारे पर सिन्धु नदी बहती है। निवासी धनी और सुखी हैं। इस स्थान पर बहुमूल्य व्यापार की वस्तुएँ और सब प्रकार का माल सब देशों से आता है। इस नगर के पश्चिमोत्तर लगभग २० ली चलकर हम 'पोलोटुलो'[१] नगर में आये। यह वही स्थान है जहाँ पर व्याकरण-शास्त्र के रचयिता महर्षि पाणिनि का जन्म हुआ था। अत्यन्त प्राचीन काल में अक्षरों की संख्या बहुत थी, परन्तु कुछ दिनों बाद जब संसार में लय होकर शून्यता छा गई उस समय दीर्घजीवी देवता लोग, जीवों को सुमार्ग पर लाने के लिए संसार में आये थे और अक्षरों का प्रचार किया था।

प्राचीन अक्षरों और वाक्यों का यही वास्तविक कारण है। इस समय से भाषा का स्वरूप फैलता रहा और अपनी प्राचीन अवस्था को पहुँच गया। ब्रह्मा देवता और शक्र (देवराज इन्द्र) ने आवश्यकता के अनुसार व्याकरण को बनाया। ऋषियों ने अपनी अपनी पाठशाला के अनुसार भिन्न भिन्न अक्षर निर्मित कर लिये। लोग कई पीढ़ी तक तो जो कुछ उनको बताया गया था उसका प्रयोग करते रहे परन्तु विद्यार्थियों को बिना (धार्मिक) योग्यता के उन (शब्दों या अक्षरों) का काम में लाना कठिन हो गया। इस प्रकार सौ वर्ष तक हीनावस्था रही। जब पाणिनि ऋषि का जन्म हुआ। वह जन्म से ही वस्तु-ज्ञान में

[१] पाणिनि का जन्मस्थान सलातुर नगर है जो सालातुरीय के नाम से प्रसिद्ध है। कनिंघम साहब इसका निश्चय लाहोर नामक ग्राम से करते हैं जो ओहिन्द से चार मील उत्तर-पश्चिम में है।

विशेष परिचित था, इस कारण समय की निकृष्ट दशा देखकर उसकी इच्छा अस्थिर और दोषपूर्ण नियमों को हटाकर और (लिखने तथा बोलने के) अनौचित्य को सुधार कर शुद्ध नियम संकलित करने की हुई। जिस समय वह शुद्ध मार्ग की प्राप्ति के लिए इधर-उधर घूम रहा था उसकी भेंट ईश्वर देवता से हुई। उसने अपने विचार को देवता पर प्रकट किया। ईश्वर देवता ने उत्तर दिया, "अहो आश्चर्य! मैं तुम्हारी इस काम में सहायता करूँगा"। ऋषि ने उनसे शिक्षा पाकर और लौट कर अपनी सम्पूर्ण मस्तिष्क-शक्ति से काम लेना और लगातार परिश्रम करना प्रारम्भ किया। उसने सम्पूर्ण शब्द-समूह का संग्रह करके एक पुस्तक व्याकरण की बनाई जिसमें एक सहस्र श्लोक थे, और प्रत्येक श्लोक ३२ वाक्यों का था। इस पुस्तक में अनादि काल से लेकर उस समय तक की सम्पूर्ण वस्तुओं का समावेश हो गया, शब्द और अक्षर-विषयक कोई भी बात नहीं छूटने पाई। फिर उसने इसको, समाप्त होने पर, राजा के निकट भेजा, जिसने उसको बहुत बड़ा पारितोषिक देकर यह आज्ञा प्रचारित की कि सम्पूर्ण राज्य भर में यह पुस्तक पढ़ाई जाय। उसने यह भी आज्ञा दे दी कि जो व्यक्ति इसको आदि से अन्त तक पढ़ लेगा उसको एक सहस्र स्वर्णमुद्रा उपहार में मिला करेंगे। उस समय से विद्वानों ने इसको अङ्गीकार किया और संसार की भलाई के लिए इसका प्रचार किया। इस कारण इस नगर के ब्राह्मणों को विद्याभ्यास का बहुत सुभीता है और अपनी विद्वत्ता, शाब्दिक ज्ञान, तथा तीव्र बुद्धिमत्ता के लिए ये लोग बहुत प्रसिद्ध हैं।

'सोलाटुलो' नगर में एक स्तूप है। यह वह स्थान है

जहाँ पर एक अरहट ने पाणिनि के एक शिष्य को अपने धर्म का अनुयायी बनाया था। तथागत को संसार परित्याग किये हुए लगभग ५०० वर्ष हो चुके थे जब एक बहुत बड़ा अरहट कश्मीर-प्रदेश में पहुँचा और इधर-उधर लोगों को अपना अनुयायी बनाने के लिए घूमने लगा। इस स्थान पर पहुँच कर उसने देखा कि एक ब्रह्मचारी एक बालक को जिसको वह शब्दविद्या पढ़ा रहा था दण्ड दे रहा है। उस समय अरहट ने ब्राह्मण से इस प्रकार कहा कि "तुम इस बालक को क्यों कष्ट दे रहे हो?" ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि "मैं इसको शब्द-विद्या पढ़ा रहा हूँ, परन्तु जैसी चाहिए वैसी उन्नति यह नहीं करता"। इस पर अरहट को हँसी आगई। ब्राह्मण ने कहा कि 'श्रमण लोग बड़े दयालु और उत्तम स्वभाव के होते हैं। मनुष्यों से लेकर पशुओं तक के प्रति समानरूप से प्रेम प्रदर्शित करते हैं। ए महात्मा! आप मुझे कृपा करके कारण बतलाइए कि आप हँसे क्यों?' अरहट ने उत्तर दिया कि 'शब्द तुच्छ नहीं हैं, परन्तु मुझको भय होता है कि तुमको सन्देह और अविश्वास होगा। अवश्य तुमने पाणिनि ऋषि का नाम सुना होगा जिसने संसार की शिक्षा के लिए शब्दविद्या-शास्त्र को विरचित किया था।' ब्राह्मण ने कहा कि 'इस नगर के बालक जो उसके विद्यार्थी हैं उसके पूज्य गुणों की प्रतिष्ठा करते हैं और उन्होंने उसका स्मारक बना रक्खा है जो अब तक मौजूद है।' श्रमण कहने लगा कि 'यह बालक जिसको तुम पढ़ा रहे हो वही पाणिनि ऋषि है। इसने अपना सम्पूर्ण मस्तिष्क-बल सांसारिक साहित्य के अन्वेषण में लगा दिया था और कच्चे मत की पुस्तक को बनाया था कि जिसमें कुछ भी सात्त्विक अंश नहीं है। इस कारण इसकी आत्मा और बुद्धि भटकी हुई

है, और यह तब से लेकर अब तक बराबर जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ चक्कर खा रहा है। इसके कुछ थोड़े से सच्चे पुण्य को धन्यवाद है जिसके बल से यह तुम्हारा बालक होकर उत्पन्न हुआ है। सांसारिक साहित्य और शाब्दिक लेख इसके लिए व्यर्थ प्रयत्न ही कहे जायँगे। भगवान् तथागत की पुनीत शिक्षा के सामने इनका कुछ भी मूल्य नहीं है जो अपने गुप्त बल से सुख और बुद्धि दोनों की देनेवाली है। दक्षिण सागर के किनारे पर एक प्राचीन शुष्क वृक्ष था जिसके खोखल में ५०० चमगादड़ निवास करते थे। एक बार कुछ व्यापारी उस वृक्ष के नीचे आकर ठहरे, उस समय बहुत ठंडी हवा चल रही थी; सौदागरों ने भूख और शीत से विकल होकर कुछ लकड़ियाँ इकट्ठी करके वृक्ष की जड़ के पास जला दीं। अग्नि की लपट वृक्ष तक पहुँच गई और वह वृक्ष धीरे धीरे सुलगने लगा। उन सौदागरों के झुंड में से एक ने रात्रि के अन्त में अभिधर्मपिटक के एक अंश का गान करना प्रारम्भ किया। चमगादड़ उस मधुर गान पर ऐसे मोहित हुए कि धैर्य के साथ अग्नि के कष्ट को सहन करते रहे और बाहर नहीं निकले। इसके पश्चात् वे सब मर गये और अपने कर्म के प्रभाव से मनुष्य-योनि में प्रकट हुए। ये सब बड़े तपस्वी और ज्ञानी हुए और उस धर्म-ध्वनि के बल से, जो उन्होंने सुना था, उनका ज्ञान इतना अधिक हुआ कि वे सबके सब अरहट हो गये जैसा होना कि उच्च कोटि के सांसारिक ज्ञान का फल है। थोड़े दिन हुए कनिष्क राजा ने महात्मा पार्श्विक के सहित पाँच सौ साधु और विद्वानों को कश्मीर-प्रदेश में बुलाकर एक सभा की थी; उन लोगों ने विभाषा शास्त्र को बनाया। वे लोग वही पाँच सौ चमगादड़ हैं जो पहले उस सूखे वृक्ष में रहते थे। मैं स्वयं

भी, यद्यपि थोड़ी योग्यता रखता हूँ, उन्हीं में से एक हूँ। इस प्रकार मनुष्यों में ऊँची नीची योग्यता के बल से विभिन्नता हो जाती है। कुछ लोग बढ़ जाते हैं और कुछ अंधकार ही में पड़े रहते हैं। परन्तु अब, ऐ धार्मिक! अपने शिष्य को गृह परित्याग करने की आज्ञा दीजिए। बुद्ध का शिष्य होकर जो ज्ञान हमने प्राप्त किया वह कहने के योग्य नहीं है।' अरहट यह कह कर अपने आत्मिक-बल को प्रकट करने के लिए उसी समय अन्तर्धान हो गया।

ब्राह्मण ने जो कुछ देखा उसका उस पर बड़ा प्रभाव हुआ और वह विश्वास में पग गया। जो कुछ घटना हुई थी उसका समाचार निकटवर्ती नगरों में फैला कर उसने अपने पुत्र को बुद्ध का शिष्य होने और ज्ञान प्राप्त करने की आज्ञा दे दी। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भक्त होकर रत्नत्रयी की बड़ी प्रतिष्ठा करने लगा। ग्राम के लोग भी उसके अनुगामी होकर शिष्य हो गये और तब से अब तक लोग अपने व्रत में दृढ़ हैं।

'उटोकियाहानचा' से उत्तर जाकर कुछ पहाड़ और एक नदी पार करके तथा लगभग ६०० ली भ्रमण करके हम उत्तङ्गना-राज्य में पहुँचे।

तीसरा अध्याय

आठ प्रदेशों का वर्णन अर्थात् (१) उचङ्गना (२) पोलूलो (३) टाचाशिपालो (४) सङ्गहोपूलो (५) बुलाशी (६) किया-शीमीलो (७) पुन्नूसो (८) कोलोचिपूलो

(१) उचङ्गना (उद्यान[1])

उचङ्गना प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग ५००० ली है। पहाड़ और घाटियाँ लगातार मिली चली गई हैं। घाटियाँ और दलदल ऊँचे ऊँचे चट्टानों से सटे हुए हैं। यद्यपि अनेक प्रकार का अन्न बोया जाता है परन्तु पैदावार उत्तम नहीं होती। अङ्गूर बहुत होता है, ईख कम है; सोना और लोहा भी निकलता है, परन्तु सबसे अधिक खेती सुगन्ध की, जिसको योकिन (केसर) कहते हैं, होती है। जंगल घने और छायादार हैं, फल और फूलों की बहुतायत है। सरदी और गरमी सहन हो सकनेवाली है; आँधी और मेघ अपने ऋतु में होते हैं। पुरुष कोमल और बलहीन हैं; इनका स्वभाव कुछ चतुरता और धूर्ततायुक्त है। विद्या से प्रेम तो लोग करते हैं परन्तु प्रचार अधिक नहीं है। मंत्र-शास्त्र[2] की विद्या इनको अच्छी

१ 'उद्यान' (प्राकृत उज्जान) देश पेशावर के उत्तर में स्वात नदी पर था, परन्तु हुएन सांग के अनुसार सम्पूर्ण पहाड़ी प्रान्त जो हिन्दू-कुश के दक्षिण चित्राल से सिन्धु नदी तक फैला था, उद्यान कहलाता था।" (Yule, Marco Polo, vol. 1. P. 173) इसके बारे में कनिंघम साहब और लैसन साहब के विचार भी देखने योग्य हैं।

(२) यूल साहब Marco Polo, vol. 1. P. 173) लिखते हैं कि पद्मसम्भव नामक मन्त्रशास्त्री का जन्म उद्यान में हुआ था।

आती है। इनका वस्त्र रुई का बना श्वेत होता है, परन्तु पहनते कम हैं। इनकी भाषा—यद्यपि कहीं कहीं विभिन्न भी है, तो भी अधिकतर भारतवर्ष ही के समान है। इनकी लिखावट और सभ्यता के नियम भी उसी प्रकार के मिले जुले हैं। ये लोग बुद्धधर्म का बड़ा आदर करते हैं और महायान-सम्प्रदाय के भक्त हैं[1]। सुपोफासुटु[2] नदी के दोनों किनारों पर कोई १४०० प्राचीन संघाराम हैं परन्तु इस समय प्रायः जनशून्य और उजाड़ हैं। प्राचीन काल में १८००० साधु इनमें निवास करते थे जो धीरे धीरे घट गये, यहाँ तक कि अब बहुत थोड़े हैं। ये सब महायान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। ये लोग चुपचाप ध्यानावस्थित होने का अभ्यास करते हैं और जिन पुस्तकों में इस क्रिया का वर्णन होता है उनके पढ़ने में बहुत प्रसन्न रहते हैं; परन्तु इस विषय में विशेष विज्ञ नहीं हैं। साधु लोग धार्मिक नियमों का प्रतिपालन करते हुए पवित्र जीवन धारण करते हैं और मंत्रशास्त्र के प्रयोगों का विशेष निषेध करते हैं। विनय की संस्थायें सर्वास्तिवादिन, धर्मगुप्त महीशासक, काश्यपीय और महासंघिक यही पाँच[3] इन लोगों में अधिक विख्यात हैं।

देवताओं के लगभग १० मन्दिर हैं जिनमें विधर्मी लोग निवास करते हैं। चार या पाँच बड़े बड़े नगर हैं। राजा

[1] फ़ाहियान लिखता है कि उसके समय में हीनयान सम्प्रदाय का प्रचार था।

[2] अर्थात् शुभवस्तु, वर्तमान समय में इसका नाम स्वात नदी है।

[3] यही पाँच संस्थायें हीनयान-सम्प्रदायवालों की हैं।

अधिकतर मुङ्गाली में[1] शासन करता है क्योंकि यही उसकी राजधानी है। इस नगर का क्षेत्रफल १६ या १७ ली है, तथा आबादी सघन है। मुङ्गाली के पूर्व चार पाँच ली की दूरी पर एक स्तूप है जहाँ पर बहुत सी दैवी घटनायें दृष्टिगोचर हुआ करती हैं। यही स्थान है जहाँ पर महात्मा बुद्ध, जीवित अवस्था में, शान्ति के अभ्यासी ऋषि 'क्षान्ति-ऋषि' थे[2] और कलिराज के लिए अपने शरीर के टुकड़े टुकड़े करने की यातना को सहन करते थे।

मुङ्गाली के पूर्वोत्तर लगभग २५० या २६० ली की दूरी पर हम एक बड़े पहाड़ पर होकर 'अपलाल नाग' नामक जलप्रपात तक आये। यहीं से 'सुपोफासुट' (शुभ वस्तु) नदी निकली है। यह नदी दक्षिण पश्चिमाभिमुख बहती है। ग्रीष्म और वसन्त में यह नदी जम जाती है और सबेरे से शाम तक बरफ़ के ढोके बादलों में फिरा करते हैं जिनकी सुन्दर परछाईं का रङ्ग प्रत्येक दिशा में दिखाई पड़ता है।

यह नाग काश्यप बुद्ध के समय में उत्पन्न हुआ था। उस समय यह मनुष्य था और इसका नाम गाँगी था। यह अपने मन्त्रों के प्रभाव से नागों की सामर्थ्य को रोकने में समर्थ था इस कारण वे लोग सत्यानाशी वृष्टि का उपयोग नहीं कर सकते थे, और इसकी कृपा से लोग अधिक उपज प्राप्त कर

[1] यह नगर स्वात-नदी के बाएँ किनारे पर था। (देखो J. A. S. Ben. vol. VIII P. 311; Lassen 1. A. vol. I. P. 138)

[2] अर्थात् बोधिसत्व थे। चीनीभाषा की पुस्तकों में, बोधिसत्व का इतिहास—जब वह क्षान्ति ऋषि के स्वरूप में थे—बहुधा मिलता है। (J. R. A. S. vol. XX)

लेते थे। प्रत्येक परिवार ने, इसके प्रत्युपकार को प्रदर्शित करने के लिए, सहायता-स्वरूप थोड़ा सा अन्न प्रतिवर्ष देना स्वीकार कर लिया था। कुछ काल व्यतीत होने पर कुछ ऐसे लोग हुए जिन्होंने भेट देना बन्द कर दिया जिस पर कि गांगी ने क्रोधित होकर विषधर नाग का तन पाने की प्रार्थना की जिससे भयंकर जल-वृष्टि करके लोगों की फसल का नाश करते हुए भलीभाँति उनका ताड़ना कर सके। मृत्यु होने पर वह इस देश का नाग हुआ और एक सोते से एक बड़ी भारी श्वेत जलधारा निकाल कर उसने भूमि की सब उपज का विनाश कर दिया।

इस समय परमकृपालु भगवान शाक्यबुद्ध संसार के रक्षक थे, वह इस देश के विकल लोगों की दशा पर जो इस तरह पर सताये गये थे अत्यन्त दुःखी हुए। उस दारुण नाग-राज को शिष्य बनाने की इच्छा से भगवान शाक्य हाथ में वज्र और गदा धारण किये हुए अपने आध्यात्मिक बल से इस स्थान पर पहुँचे और पहाड़ों पर प्रहार करने लगे। उस समय नागराज भयभीत होकर आपकी शरण में आ गिरा। बुद्ध-धर्म की शिक्षा पाकर उसका हृदय शुद्ध हो गया और उसके हृदय में धार्मिक वृत्ति का विकास हुआ। भगवान तथा-गत ने उसको कृषकों की खेती नाश करने से रोका जिस पर नागराज ने उत्तर दिया कि मेरी सारी जीविका मनुष्यों के खेतों से मिलती है, परन्तु अब उस पुनीत शिक्षा को धन्यवाद देते हुए, जो आपकी कृपा से मुझको प्राप्त हुई है, मुझको भय होता है कि ऐसा करने से मेरा जीना कठिन हो जायगा। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि प्रत्येक बारह वर्ष पर एक बार मुझे जीविका प्राप्त करने की आज्ञा दी जावे। भगवान् तथा-

गत ने दयावश उसकी इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया, इस कारण प्रत्येक बारह वर्ष पर श्वेत नदी की बाढ़ से यहाँ विपत्ति का फेरा हो जाता है।

अपलाल नाग के सोते के दक्षिण-पश्चिम लगभग ३० ली की दूरी पर नदी के उत्तरी किनारे एक चट्टान पर भगवान बुद्ध का चरण-चिह्न अङ्कित है। लोगों के धार्मिक ज्ञानानुसार यह चिह्न छोटा और बड़ा देख पड़ता है। नाग को पराजित करने के उपरान्त भगवान् ने यह चरण-चिह्न अङ्कित कर दिया था जिस पर पीछे से लोगों ने पत्थर का भवन बना दिया है बहुत दूर दूर से लोग यहाँ सुगन्धित वस्तु और फूल चढ़ाने आते हैं। नदी के किनारे किनारे लगभग ३० ली जाने पर हम उस शिला तक आये जहाँ तथागत भगवान ने अपना वस्त्र धोया था। कषाय वस्त्र के तन्तुओं की छाप अब भी ऐसी देख पड़ती है मानो शिला पर नक़्क़ाशी की गई हो।

मुङ्गाली नगर के दक्षिण लगभग ४०० ली जाने पर हम 'हीलो' (Mount Hila) पहाड़ पर आये। घाटी में होकर बहती हुई जलधारा यहाँ से पश्चिम ओर को बहती है फिर पूर्व की ओर पलट कर मुहाने की ओर चढ़ती है। पहाड़ के पार्श्व में तथा नदी के किनारे किनारे अनेक प्रकार के फल और फूल लगे हुए हैं। ऊँचे ऊँचे करारे, गहरी गुफाएँ और घाटियों में घूम घुमैली जल-धारायें भी अनेक हैं। कभी कभी लोगों के बोलने का शब्द और गान-वाद्य की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त चौकोने, लम्बे, पतले पत्थर मनुष्य-रचित सेज्या के समान, पहाड़ के पार्श्व से लेकर घाटी तक बहुत दूर फैले चले गये हैं। इसी स्थान पर प्राचीन समय में भगवान् तथागत, जब यहाँ निवास करते थे, धर्म की आधी

गाथा को सुनकर प्राण परित्याग करने पर उद्यत हो गये थे[1]।

मुङ्गाली नगर के दक्षिण पहाड़ के किनारे किनारे लगभग २०० ली जाने पर हम महावन संघाराम में पहुँचे। इसी स्थान पर प्राचीन काल में भगवान् तथागत ने सर्वदत्त राजा के नाम से बोधिसत्व जीवन का अभ्यास किया था। सर्वदत्त राजा ने शत्रु से पराजित होकर देश छोड़ दिया था और वह चुपचाप भाग कर इस स्थान पर चले आये थे। इस स्थान पर एक ब्राह्मण मिला जिसने भिक्षा माँगी परन्तु राज्य-पाट छूट जाने के कारण राजा के पास कुछ भी न था। राजा ने ब्राह्मण से कहा कि मुझको बाँधकर कैदी के समान मेरे शत्रु राजा के पास ले चलो। ऐसा करने से तुमको जो कुछ पारितोषिक मिलेगा वही तुम्हारे लिए दान-स्वरूप होगा।

महावन संघाराम के पश्चिमोत्तर पहाड़ के नीचे नीचे लगभग ३०–४० ली जाने पर हम मोसू संघाराम में पहुँचे। यहाँ पर एक स्तूप लगभग १०० फीट ऊँचा है। इसके निकट ही एक बड़ा सा चौकोना पत्थर है जिस पर भगवान् बुद्ध का चरण-चिह्न बना हुआ है। यही स्थान है जहाँ पर भगवान् बुद्ध ने प्राचीन समय में अपना पैर जमा दिया था, उस समय ऐसी किरण-कोटि निकली थीं जिससे महावन संघाराम प्रकाशित हो गया था और फिर देवताओं और मनुष्यों के लाभार्थ उन्होंने अपने पूर्व जन्मों का हाल वर्णन किया था। (जातक)

[1] अर्द्ध गाथा के निमित्त बुद्धदेव के प्राण परित्याग करने का वृत्तान्त; उत्तरी संस्था के महापरिनिर्वाण-सूत्र में लिखा है। देखो Ind. Antiq. vol. IV. P. 40.

इस स्तूप के नीचे (या चरण-चिह्न के पास) एक पत्थर श्वेत पीले रङ्ग का है जो सदा चिकनापन लिये हुए चिपचिपा या गीला बना रहता है। यह वह स्थान है जहाँ पर बुद्ध भगवान् ने, जब प्राचीन काल में बोधिसत्व अवस्था का अभ्यास करते थे, सत्य धर्म के उपदेश को श्रवण किया था। और जो कुछ शब्द उनके कर्णगोचर हुए थे उनको पुस्तक-प्रणयन करने के लिए इस पत्थर पर अपने शरीर की हड्डी तोड़ कर (उसके गूदा से) लिखा था।

मोम्‌ संघाराम के पश्चिम ६०-७० ली पर एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यही स्थान है जहाँ पर तथागत भगवान् ने प्राचीन काल में शिविक [1] राजा के नाम से बोधिसत्व धर्म का अभ्यास किया था और बौद्ध-धर्म का फल प्राप्त करने के लिए अपने शरीर को काट काट कर एक पिंडकी को बाज़ पक्षी से बचा लिया था।

उस स्थान से पश्चिमोत्तर में जहाँ पर पिंडकी की रक्षा हुई

[1] शिवि जातक के लिए देखो Abstract of Four Lectures P. 331. इसी प्रकार की और इसी नाम की कथा महाभारत में भी है। Tree and serpent worship Pp. 194, 225. में इस कथानक-सम्बन्धी चित्र हैं। पिंडकी और बाज़ के चित्र जो अन्य चित्रकारियों में देखे जाते हैं (Cunningham, Bharhut stupa Pl X 107) उनका भी सम्बन्ध कदाचित् इसी जातक से है। Conf. Jour. Ceylon Br. R. As. Soc. vol II (1853) Pp. 5, 6; Hardy's Eastern Monachism Pp. 277-279; Burgess notes on Ajanta Rock Temple P. 76; Cane Temples India Pp. 291, 315

थी, २०० ली जाने पर हम शान्नालोशी घाटी में पहुँचे जहाँ पर 'सर्पाव शाटी' [1] संघाराम है। यहाँ एक स्तूप लगभग ८० फीट ऊँचा है। प्राचीन समय में जब भगवान् बुद्ध राजा शक्र के स्वरूप मे थे, इस देश में अकाल और रोगों की सर्वत्र बहुतायत थी। कोई दवा काम नहीं करती थी, रास्ते मुर्दों से भरे हुए थे। राजा शक्र को बहुत करुणा उत्पन्न हुई और ध्यानावस्थित होकर विचारा कि किस प्रकार मनुष्यों की रक्षा हो सकती है। फिर अपने स्वरूप को बदल कर एक बड़े भारी सर्प के समान हो गये और अपने मृत शरीर को तमाम घाटी में फैला कर चारों दिशा के लोगों को सूचना दे दी। इस बात को सुनते ही सब लोग प्रसन्न हो गये और दौड़ दौड़ कर उस स्थान पर पहुँचने लगे। जिसने जितना ही अधिक सर्प के शरीर को काट लिया वह उतना ही अधिक सुखी हुआ और इस प्रकार अकाल तथा रोग से लोगों को छुटकारा मिला।

इस स्तूप की बगल में पास ही एक बड़ा स्तूप सूम नामक है। इस स्थान पर प्राचीन काल में, तथागत भगवान ने, जब राजा शक्र के स्वरूप में थे, संसार-सम्बन्धी यावत् रोग और कष्टों से विकल होकर और अपने पूर्ण ज्ञान से कारण जान कर सूम सर्प का स्वरूप धारण किया था। जिसने उस सर्प के मांस को चक्खा वह रोग से मुक्त हो गया।

शात्री लो शी घाटी के उत्तर में एक ढालू चट्टान के निकट एक स्तूप है। जो कोई रोगग्रस्त होकर इस स्थान पर आया अधिकतर अच्छा ही हो कर गया। प्राचीन काल में तथागत भगवान सोरो का राजा था एक समय अपने साथियों सहित इस

[1] सर्पौषध।

स्थान पर आया। प्यास से दुःखित होकर सर्वत्र उसने जल की खोज की परन्तु कहीं न मिला। तब उसने अपनी चोंच से चट्टान में छेद कर दिया जिसमें से बड़ी भारी जल-धारा प्रकट होगई। आज-कल यह झील के समान है। रोगी पुरुष इसके जल को पीने अथवा इसमें स्नान करने से अवश्य नीरोग हो जाते हैं। चट्टान पर मयूरों के चरण-चिह्न अब तक बने हुए हैं।

मुङ्गाली नगर के दक्षिण-पश्चिम ६० या ७० ली पर एक बड़ी नदी है[1] जिसके पूर्व में एक स्तूप ६० फ़ीट ऊँचा है। यह उत्तरसेन का बनवाया हुआ है। प्राचीन काल में जब तथागत भगवान मृतप्राय हो रहे थे उन्होंने बहुत से लोगों को बुलाकर यह आज्ञा दी कि मेरे निर्वाण के पश्चात् उद्यान-प्रदेश का राजा उत्तरसेन भी मेरे शरीरावशेष में भाग पावेगा। जिस समय राजा लोग शव को परस्पर बाँट रहे थे उत्तरसेन राजा भी पीछे से आया। सीमान्त-प्रदेश से आने के कारण दूसरे राजा लोगों ने इसकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया। तब देवताओं ने तथागत के मृत्युकालिक शब्दों को फिर से दुहराया। अपना भाग पाकर राजा अपने देश को लौट आया तथा अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिए इस स्तूप को बनवाया। इसके पास ही नदी के किनारे एक बड़ी चट्टान हाथी की सूरतवाली है। प्राचीन काल में उत्तरसेन राजा बुद्ध का शरीरावयव एक बड़े भारी श्वेत हाथी पर चढ़ाकर अपने

१ यह नदी शुभवस्तु अथवा सुवस्तु है। इसका वर्णन ऋग्वेद और महाभारत में भी आया है। वर्तमान काल में इसका नाम स्वात नदी है।

देश को लाता था। इस स्थान पर पहुँच कर अकस्मात् हाथी गिर कर मर गया और तुरन्त ही पत्थर हो गया। उसी के बगल में यह स्तूप बना हुआ है।

मुङ्गाली नगर के पश्चिम ५० ली की दूरी पर एक नदी पार करके हम रोहितक स्तूप तक आये। यह ५० फ़ीट ऊँचा है और अशोक राजा का बनवाया हुआ है। प्राचीन काल में जब तथागत भगवान् बोधिसत्व-अवस्था का अभ्यास कर रहा था वह एक बड़े देश का राजा था और उसका नाम मैत्रीबल[1] था। इस स्थान पर उसने अपने शरीर को फाड़ कर पाँच यक्षों को रुधिरपान कराया था।

मुङ्गाली नगर के पूर्वोत्तर ३० ली पर होपूटोशी (अद्भुत) स्तूप लगभग ४० फ़ीट ऊँचा है। प्राचीन काल में तथागत भगवान् ने देवता और मनुष्यों की शिक्षा और सुधार के लिए इस स्थान पर धर्मोपदेश किया था। भगवान के जाते ही भूमि एक-दम से ऊँची (स्तूप-स्वरूप) हो गई। लोगों ने स्तूप की बहुत बड़ी पूजा की और धूप, फूल इत्यादि चढ़ाये।

स्तूप के पश्चिम एक बड़ी नदी पार करके और ३० या ४० ली जाने पर हम एक विहार में आये जिसमें अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की एक मूर्ति है। इसकी आध्यात्मिक शक्ति की सूचना बहुत गुप्तरीति से मिलती है और इसके अद्भुत चमत्कार प्रत्यक्षरूप में प्रदर्शित होते रहते हैं। धार्मिकजन प्रत्येक प्रान्त से अपनी भेंट अर्पण करने के लिए यहाँ बराबर आया करते हैं।

१ इस जातक के लिए देखो R. Mitra's Nepalese Buddhist Literature; **P.** 50.

अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति के पश्चिमोत्तर १४० या १५० ली जाने पर हम लानपोलू पहाड़ के निकट आये। इस पहाड़ की चोटी पर एक नाग झील लग-भग ३० ली विस्तृत है; लहरें अपने घेरे में तरङ्ग ले रही हैं और पानी शीशे के समान स्वच्छ है। प्राचीन काल में विरुद्धक राजा ने सेना सजा कर शाक्य लोगों पर चढ़ाई की थी। इस जाति के चार मनुष्यों ने चढ़ाई को रोका था[1]। इन लोगों को इनकी जातिवालों ने निकाल दिया था जिससे चारों चार दिशा को भाग गये। इन शाक्यों में से एक, राजधानी छोड़ कर और घूमते घूमते थक कर विश्राम करने के निमित्त रास्ते के एक भाग में बैठ गया। उसी समय एक हंस उड़ता हुआ आकर उसके सामने उतरा और वह उसके सिखाने से उस पर सवार हुआ। हंस उड़ता हुआ उसको इस झील के किनारे ले आया। इस सवारी के द्वारा उस भगोड़े शाक्य ने अनेक दिशाओं के बहुत से राज्य देखे। एक दिन रास्ता भूल कर वह झील के किनारे एक वृक्ष की छाया में सोने लगा। इसी समय एक नाग-कन्या झील के किनारे टहल रही थी। अकस्मात् उसकी दृष्टि युवा शाक्य पर पड़ी। यह सोच कर कि दूसरे प्रकार से उसकी इच्छा पूरी न होगी उसने अपना स्वरूप स्त्री के समान बना लिया और उसके निकट आकर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करने लगी[2]। वह युवा घबड़ाकर जग पड़ा और उससे कहने लगा कि "मैं एक दरिद्र और भगेड़ूपन

[1] यह वृत्तान्त चौथे अध्याय में आवेगा।

[2] इस स्थान पर चीनी भाषा का जो वाक्य है उसका अर्थ यह भी होता है कि उसने आकर उसका सिर दबाया या थपथपाया।

से पीड़ित व्यक्ति हूँ, तू क्यों मेरे साथ ऐसा प्रेम करती है ?" इसी प्रकार की बात-चीत में वह युवा भी उस पर आसक्त हो गया और अपनी इच्छा पूरी करने के लिए उससे बिनती करने लगा। स्त्री ने उत्तर दिया कि "मेरे माता-पिता से इसकी प्रार्थना करनी चाहिए, इस विषय में उनकी आज्ञा माननीय है। आपने तो प्रेम-दान देकर मुझ पर कृपा की है परन्तु उनकी आज्ञा अभी नहीं मिली है।" युवा शाक्य ने उत्तर दिया कि "मुझको चारों ओर पहाड़ और घाटियाँ जन-शून्य दिखाई पड़ रही हैं। तुम्हारा मकान कहाँ है ?" उसने कहा, "मैं इस झील की रहनेवाली नागकन्या हूँ; मैंने आपकी पुनीत जाति के कष्टों का हाल और घर से निकाले जाकर इधर-उधर मारे मारे फिरने का वृत्तान्त बड़े दुख से सुना है; भाग्य से मैं इधर आगई और जो कुछ मुझसे सम्भव था आपको सुखी करने का प्रयत्न कर सकी। आपने भी अपनी कामना को दूसरे प्रकार से मुझसे पूरी करने की इच्छा की है परन्तु मैंने इस बारे में अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त नहीं की है। इसके अतिरिक्त मेरे पापों के फल से मेरा शरीर भी नाग का है।" शाक्य ने उत्तर दिया कि "एक शब्द में सब मामला समाप्त होता है। वह शब्द हृदय से निकला हुआ तथा स्वीकृति का होना चाहिए"। उसने कहा, 'मैं बड़े प्रेम से आपकी आज्ञा को शिरोधार्य्य करूँगी फिर चाहे जो हो।" शाक्य युवक ने कहा कि "जो कुछ मेरा संचित पुण्य हो उसके बल से यह नागकन्या मनुष्य-स्वरूपा हो जावे।" वह स्त्री तुरन्त वैसी ही हो गई। अपने को इस तरह मनुष्य-स्वरूप में देख कर उस स्त्री की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा और कृतज्ञता प्रकाश करती हुई उस शाक्य युवा से इस प्रकार कहने लगी कि 'मैं अपने

पातक-पुञ्ज के प्रभाव से इस पतितयोनि में जन्म लेने के लिए बाध्य हुई थी, परन्तु प्रसन्नता की बात है कि आपके धार्मिक-पुण्य के बल से मेरा वह शरीर, जो मैं बहुत कल्पों से धारण करती आई थी, पल-मात्र में परिवर्तित हो गया; मैं आपकी बड़ी कृतज्ञ हूँ। मैं किसी प्रकार उस निस्सीम कृतज्ञता को प्रकाशित नहीं कर सकती, चाहे मैं अपने शरीर को भूमि ही पर क्यों न लुठार दूँ[1] (अर्थात् दण्डवत करूँ)। अब मुझको अपने माता-पिता से भेंट कर लेने दीजिए, फिर मैं आपके साथ हूँ और आपकी आज्ञा का सब तरह पर पालन करूँगी।' फिर नाग-कन्या झील में जाकर अपने माता-पिता से इस प्रकार कहने लगी, "अभी अभी जब मैं बाहर घूम रही थी मैं एक शाक्य युवक के निकट पहुँच गई और उसने अपने धार्मिक पुण्य के बल से मेरा तन मनुष्य का सा कर दिया; अब वह मेरे साथ बड़े प्रेम से विवाह किया चाहता है। यह सब सच्चा सच्चा हाल आपके सम्मुख में उपस्थित करती हूँ।" नागराजा अपनी कन्या को मनुष्य-तन में देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और पुनीत जाति के प्रति भक्ति प्रदर्शित करके अपनी कन्या की बात से सहमत हो गया। फिर वह झील से निकल कर शाक्य युवक के निकट पहुँचा और बड़ी कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए प्रार्थना करने लगा, "आपने दूसरी जाति के जीवों के प्रति घृणा नहीं की और अपने से नीचे लोगों पर कृपा की है; मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे

[1] इस स्थान पर यह भी अर्थ हो सकता है कि 'चाहे मेरा शरीर कूट पीस कर बालू के कण के समान ही क्यों न कर डाला जाय तो भी मैं आपसे उऋण नहीं हो सकती।'

स्थान पर पधारिए और मेरी तुच्छ सेवा को स्वीकार कीजिए।"

"शाक्य युवक नाग-राज के निमन्त्रण को स्वीकार करके उसके स्थान पर गया। नाग के समस्त परिवारवालों ने युवक की बड़ी आवभगत की और उसके मनोविनोद के लिए बड़ी भारी ज्योनार और उत्सव का समारोह किया। परन्तु अपने सत्कार करनेवालों के नागतन को देख कर वह युवक भयभीत और घृणायुक्त हो गया, तथा उसने जाने की इच्छा प्रकट की। नागराज ने उसको रोक कर कहा, "कृपा करके आप जाइए नहीं, निकटवर्ती मकान में निवास कीजिए; मैं आपको इस भूमि का स्वामी और ऐसा नामी गरामी बना दूँगा कि जिससे आपकी कीर्ति का नाश न हो। ये सब लोग आपके सेवक रहेंगे और आपका राज्य सैकड़ों वर्ष तक रहेगा।" शाक्य युवक ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि "मुझको आशा नहीं है कि आपकी वाणी पूरी हो।" तब नागराज ने एक बहुमूल्य तलवार लाकर एक बहुत सुन्दर सफ़ेद रेशमी वस्त्र चढ़ी हुई म्यान में रक्खी और शाक्य युवक से कहने लगा, "अब आप कृपा करके राजा के पास जाइए और यह श्वेत रेशमी वस्त्र भेंट कीजिए। एक दूर देश-निवासी व्यक्ति की भेंट को राजा अवश्य स्वीकार करेगा। जैसे ही वह इसको ग्रहण करे वैसे ही तलवार को खींच कर उसे मार डालिए। इस तरह आप उसके राज्य को पा जायँगे। क्या यह उत्तम नहीं है?" शाक्य युवक नाग की शिक्षानुसार उद्यान के राजा के पास भेंट लेकर गया। जैसे ही राजा ने उस श्वेत रेशमी वस्त्रवाली वस्तु को लेने के लिए हाथ बढ़ाया युवक ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे तलवार

से टुकड़े टुकड़े कर दिया। कर्मचारी, मन्त्री और रक्षक लोगों ने बड़ा गुल-गपाड़ा मचाया और सब लोग घबड़ा कर उठ दौड़े। शाक्य युवक ने अपनी तलवार को हिलाते हुए पुकार कर कहा, "यह तलवार जो मेरे हाथ में है, दुष्टों को दण्ड और घमंडियों को अधीन करने लिए नाग-देवता की दी हुई है।" दैवी शस्त्र से भयभीत होकर वे सब लोग उसके अधीन होगये और उसको राजा बनाया। इसके उपरान्त उसने बुराइयों को हटा करके शान्ति स्थापन की और भलाई की बहुत सी बातें करके दुखियों को सुखी किया। इसके उपरान्त बहुत से सेवकों को साथ लेकर अपनी सफलता की सूचना देने के लिए नागराज के स्थान को गया और वहाँ से अपनी स्त्री को साथ लेकर राजधानी को लौट आया।

नागकन्या के प्राचीन पापों के दूर न होने का प्रत्यक्ष प्रमाण अब तक वर्तमान था। जब राजा उसके समीप शयन करने जाता था नागकन्या के सिर से एक नाग नौ फनवाला बाहर निकला। शाक्य राजा यह दृश्य देख कर भय और घृणा से व्याकुल हो गया। केवल यही उपाय उससे बन पड़ा कि नाग-कन्या के सो जाने पर उसने उस नाग का सिर तलवार से काट लिया। नागकन्या भयातुर होकर जग पड़ी और कहने लगी कि "आपने बुरा किया, इसका फल आपकी सन्तान के लिए अच्छा न होगा। इस समय जो थोड़ा सा कष्ट मुझको पहुँचा है उसका प्रभाव यह होगा कि आपके बेटे और पोते शिरोवेदना से सदा पीडित रहेंगे"। उस समय से राज-वंश सदा इस रोग से पीड़ित रहता है। यद्यपि इस समय सब लोगों की यह दशा नहीं है तो भी प्रत्येक पीढ़ी में रोग से एक व्यक्ति पीड़ित अवश्य रहता है। शाक्य युवक की

मृत्यु होने पर उसका पुत्र उत्तरसेन राज्य पर बैठा। जैसे ही उत्तरसेन गद्दी पर बैठा उसकी माता के नेत्र जाते रहे। इसके कुछ दिनों बाद भगवान् तथागत जिस समय अपलाल नाग को दमन करके आकाश-मार्ग-द्वारा लौटे जा रहे थे रास्ते में उसके महल में उतर पड़े। उत्तरसेन उस समय शिकार को गया था, भगवान तथागत ने एक छोटा सा धर्मोपदेश उसकी माता को सुनाया। भगवान् के मुख से पवित्र धर्मोपदेश को सुनते ही उसके नेत्र फिर ठीक हो गये। तथागत ने तब उससे पूछा कि "तुम्हारा पुत्र कहाँ है? वह मेरे वंश का है।" उसने उत्तर दिया कि "वह आज प्रातःसमय शिकार को गया था, थोड़ी देर में आता ही होगा।" जिस समय तथागत अपने सेवकों-सहित जाने के लिए प्रस्तुत हुए राजमाता ने निवेदन किया कि "मेरे बड़े भाग्य हैं कि मेरे पुत्र का सम्बन्ध पवित्र जाति से है, और उसी सम्बन्ध से दयावश भगवान् तथागत ने मेरे स्थान पर पदार्पण किया है; मेरी प्रार्थना है कि मेरा पुत्र आता ही होगा, कृपा करके थोड़ा और ठहर जाइए।" भगवान ने उत्तर दिय कि 'तुम्हारा पुत्र मेरा वंशज है, सत्यधर्म पर विश्वास कराने और उसके जानने के लिए केवल उससे हाल कह देना यथेष्ट है। यदि वह मेरा सम्बन्धी न होता तो मैं उसकी शिक्षा के लिए अवश्य ठहर जाता, परन्तु अब मैं जाता हूँ। जब वह लौट आवे तब उससे कह देना कि यहाँ से तथागत कुशीनगर को गया है; जहाँ शालवृक्षों के नीचे वह प्राण त्याग करेगा। अपने पुत्र को भेज देना कि वह भी मेरे शरीरावयवों में से भाग ले आवे और उसकी पूजा करे।" फिर तथागत भगवान अपने सेवकों सहित आकाश-गामी होकर चले गये। इसके थोड़ी देर बाद

उत्तरसेन राजा जिस समय शिकार खेलते खेलते बहुत दूर निकल गया था उसने अपने महल की ओर बहुत प्रकाश देखा मानो आग लग गई हो। इस कारण सन्देहवश वह शिकार छोड़ कर अपने घर लौट आया। घर पर आकर अपनी माता के नेत्रों की ज्योति को ठीक देख कर वह आनन्द से फूल उठा और अपनी माता से पूछने लगा, "मेरी थोड़ी देर की अनुपस्थिति में किस भाग्य के बल से आपके नेत्रों में सदा के समान प्रकाश आगया?" माता ने उत्तर दिया, "तुम्हारे शिकार खेलने जाने के उपरान्त भगवान् तथागत यहाँ पधारे थे, उनके उपदेशों को सुन कर मेरी दृष्टि ठीक होगई। बुद्ध भगवान यहाँ से कुशीनगर को गये हैं और वहाँ शाल-वृक्षों के नीचे प्राण त्याग करेंगे। तुमको आज्ञा दे गये हैं कि शीघ्र उस स्थान पर जाकर भगवान के शरीरावयवों में से कुछ भाग ले आओ।" राजा इन शब्दों को सुनते ही शोक से चिल्ला उठा और मूर्छित होकर गिर पड़ा। होश में आने पर अपने अनुचर-वर्ग को साथ लेकर उन शालवृक्षों के पास गया जहाँ भगवान बुद्ध की स्वर्ग-यात्रा हुई थी। उस देश के राजाओं ने इसका यथोचित आदर नहीं किया और न उस बहुमूल्य शरीरावयव में से, जो अपने देश को लिये जा रहे थे, इसको भाग देना चाहा। इस पर सब देवताओं ने भगवान् बुद्ध की आज्ञा का वृत्तान्त उन लोगों को सुनाया तब राजा लोगों को ज्ञान हुआ और उन लोगों ने इसके सहित बराबर भाग बाँट लिया। मुङ्गकियाली नगर से पश्चिमोत्तर एक पहाड़ पार करके और एक घाटी में होते हुए हम सिंटू[1]

[1] सिंधुनद।

नदी पर पहुँचे। रास्ता पथरीला और ढालू है, पहाड़ और घाटियाँ अंधकारमय हैं। कहीं कहीं रस्सियों और लोहे की ज़ंजीरों के सहारे चलना पड़ता है, और कहीं कहीं छोटे छोटे पुल और झूले लटके हुए हैं तथा ढालू कगारों पर चढ़ने के लिए लकड़ी की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इस तरह पर अनेक प्रकार के कष्ट हैं जिनको झेलते हुए लगभग १,००० ली जाने पर हम टालीलो[1] नामक नदी की खोह में पहुँचे। इस स्थान पर किसी समय में उद्यान-प्रदेश की राजधानी थी। इस प्रदेश में सोना और केशर अधिक होती है। टालीलो घाटी में एक बड़े संघाराम के निकट मैत्रेय बोधिसत्व[2] की एक मूर्ति लकड़ी की बनी हुई है। इसका रङ्ग सुनहरा और बहुत ही चमकदार है, देखने से आँखें चौंधिया जाती हैं। आश्चर्यदायक चमत्कारों के लिए भी यह प्रतिमा प्रसिद्ध है। इस मूर्ति की उँचाई

१ कनिंघम साहब लिखते हैं, टालीलो या दारिल अथवा दारेल, यह एक घाटी सिंधुनद के दाहिने अथवा पश्चिमी किनारे पर है जिसमें दारिल नदी का जल बहता है। यहाँ पर कोई छः ग्राम दार्दस अथवा दार्द लोगों के हैं, इसी सबब से इसका यह नाम पड़ा है।

२ भविष्य बुद्धदेव का नाम मैत्रेय है। इस बोधि का निवास आज-कल चौथे स्वर्ग में, जिसका नाम तुषित है, बताया जाता है। (Hardy, Man. Budh. p. 25; Burnouf Introd. pp. 96, 606) हुएनसांग सरीखे सभी बौद्धों की इच्छा यही रहती है कि मरने पर इसी स्वर्ग में जन्म प्राप्त करें। हाल में जो लेख चीनवालों का बुद्ध-गया में पाया गया है उसमें इस स्वर्ग के लिए इच्छा प्रकट की गई है (J. R. A. S. N. S. Vol. XIII. p. 552; Ind. Ant. Vol. X. p. 193)

लगभग १०० फ़ीट है और मध्यान्तिक[1] अरहट की बनवाई हुई है। इस साधु ने अपने आध्यात्मिक-बल से तीन बार एक मूर्तिकार को स्वर्ग (तुषित) भेजकर मैत्रेय भगवान् के स्वरूप को दिखला लिया था और उस मूर्तिकार ने उसी प्रकार की मूर्ति को बनाकर तैयार किया था। इसी मूर्ति के बनने के समय से पूर्वी देशों में बौद्ध-धर्म का अधिक प्रचार हुआ।

यहाँ से पूर्व दिशा में करारों पर चढ़कर और घाटियों को पार करके हम सिंटू नदी पर पहुँचे, और फिर झूलों की सहायता से तथा लकड़ी के तख़्तों पर, जिन पर केवल पैर रखने की जगह होती है, चढ़कर करारों और खोहों को नाँघते हुए लगभग ५०० ली जाने के उपरान्त हम 'पोलुलो' प्रदेश में पहुँचे।

[1] बौद्धों की उत्तरी संस्थावाले इसको आनन्द का शिष्य मानते हैं। तिब्बतवाले इसको तिमाही गंग कहते हैं। कुछ लोग इसको पहले पाँच महात्माओं में मान कर आनन्द और शाणवास के मध्य में स्थान देते हैं। परन्तु कुछ लोग इसको नहीं मानते। इस महात्मा के विषय में लिखा है कि एक बार बनारसवाले भिक्षुओं की अधिकता से घबड़ा उठे थे; उस समय मध्यान्तिक उनमें से १० हज़ार भिक्षुओं को अपने साथ लेकर आकाश-द्वारा कश्मीर को चला आया था और वहाँ पर जाकर उसने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। Vassilief, p. 35, 39, 45, 225 Coppen Vol. I., p. 145, 189) फ़ाहियान लिखता है कि बुद्धनिर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् मध्यान्तिक ने मैत्रेय की मूर्ति को बनवाया था।

'पोलूलो' (बोलर[1])

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ४००० ली है। यह हिमालय पहाड़ का मध्यवर्ती प्रदेश है। यह उत्तर से दक्षिण की ओर चौड़ा और पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बा है। यहाँ गेहूँ, अरहर सोना और चाँदी उत्पन्न होती है। सोने की अधिकता होने के कारण लोग धनी हैं। जलवायु सर्वदा शीत रहता है। मनुष्यों का आचरण असभ्य और सज्जनता-रहित है। दया न्याय और कोमलता का स्वप्न में भी नाम नहीं सुनाई पड़ता। इनका रूप भद्दा और भोंडा होता है और ये लोग ऊनी वस्त्र पहिनते हैं। इनके अक्षर तो अधिकतर भारतवर्ष के समान हैं परन्तु भाषा कुछ विपरीत है। लगभग १०० संघाराम इस देश में हैं जिनमें १००० साधु निवास करते हैं। ये साधु न तो विद्या पढ़ने ही में अधिक उत्साह दिखाते हैं और न आचरण ही शुद्ध रखते हैं। इस देश से चलकर और उदखाण्ड[2] को लौटकर दक्षिण दिशा में हमने सिंध नदी को पार किया। यह नदी लगभग तीन या चार ली चौड़ी है और

[1] कनिंघम साहब आज-कल के बल्टी, बल्टिस्टान अथवा छोटे तिब्बत को बोलर मानते हैं (Anc. Geog. of India, p. 84) यूल साहब भी बोलर देश का निश्चय करते हैं परन्तु वह पामीर से पूर्व-उत्तर-पूर्व मानते हैं। (देखो Marco Polo, Vol. I. p. 187) प्राचीनकाल में यह देश सोने के लिए प्रसिद्ध था।

[2] इसमें सन्देह नहीं कि यह सिंधुनद के दक्षिणी किनारेवाला 'ओहिन्द' अथवा 'वाहन्द' है; जो अटक से १६ मील है। अलबेरूनी इसको कंधार की राजधानी 'वेहन्द' मानता है।

दक्षिण-पश्चिम को बहती है। इसका जल उत्तम और स्वच्छ है, तथा जब यह नदी वेग से बहती है तब जल काँच के समान चमकने लगता है। विषैले नाग और भयानक जन्तु इसके किनारे की खोहों और दरारों में भरे पड़े हैं। यदि कोई व्यक्ति बहुमूल्य वस्तु या रत्न अथवा अलभ्य फूल फल और विशेष कर भगवान् बुद्ध का शरीरावयव अपने साथ लेकर नदी को पार करना चाहे तो नाव अवश्य लहर की तरङ्गों में पड़कर डूब जायगी[1]। नदी पार करके हम टचाशिलो राज्य में पहुँचे।

टचाशिलो (तक्षशिला[2])

तक्षशिला का राज्य लगभग २००० ली विस्तृत है और राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। राज्यवंश नष्ट हो गया है,

[1] जब हुएन सांग लौटते समय इस स्थान पर नदी के पार उतरा था तब यही बात उसे भी झेलनी पड़ी थी। उसके पुष्प और पुस्तकें इत्यादि बह गई थीं और वह डूबता डूबता बचा था। देखो (Hwinlih K. v., vie, p. 263).

[2] लौटते समय हुएन सांग ने सिंधुनद से तक्षशिला तक तीन दिन का मार्ग लिखा है। फाहियान गन्धार से वहाँ तक सात दिन का मार्ग लिखता है। सङ्गयन भी सिंधुनद के पूर्व इस स्थान तक की दूरी तीन दिन की बतलाता है। जनरल कनिंघम साहब इस नगर का स्थान शाहढेरी के निकट निश्चय करते हैं जो कालका-सराय से एक मील उत्तर-पूर्व है। इस स्थान पर बहुत से डीह हैं। लगभग ५५ स्तूपों के भग्नावशेष भी पाये गये हैं जिनमें से दो मानिक्याल स्तूप के बराबर बड़े हैं। लगभग २८ पक्के मकान और नौ मन्दिरों का भी पता चला है। (Anc. Geog. of India, p. 105) अपोलोनियस और

बड़े बड़े लोग बलपूर्वक अपनी सत्ता स्थापन करने में लगे रहते हैं। पहले यह राज्य कपिसा के अधीन था परन्तु थोड़े दिन हुए जब से कश्मीर के अधिकार में हुआ है। यह देश उत्तम पैदावार के लिए प्रसिद्ध है। फ़सलें सब अच्छी होती हैं। नदियाँ और सोते बहुत हैं तथा फल फूलों की भी अधिकता है। जलवायु स्वभावानुकूल हैं। मनुष्य बली और साहसी हैं तथा रत्नत्रयी को माननेवाले हैं। यद्यपि संघाराम बहुत हैं परन्तु सबके सब उजड़े और टूटे-फूटे हैं जिनमें साधुओं की संख्या भी नाम-मात्र को है। ये लोग महायान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

राजधानी के पश्चिमोत्तर लगभग ७० ली की दूरी पर नागराज इलापत्र[1] का तालाब है। इस तालाब का घेरा १००

डामिस साहबों के विषय में भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने सन् ४९ ई० के लगभग तक्षशिला को देखा था फिलास्ट्रेटस लिखता है कि नगर के निकट एक मन्दिर था जिसमें पारस और सिकन्दर के युद्ध-सम्बन्धी चित्र बने हुए थे।

[1] नागराज इलापत्र का वृत्तान्त चीनी-बौद्ध पुस्तकों में बहुत मिलता है (देखो Romantic Hist. of Buddha, p. 276; Stupa Bhahut, p. 277) कनिंघम साहब निश्चय करते हैं कि हसन अब्दुल का सोता ही, जिसको बाबावली कहते हैं, ईलापात्र तड़ाग है। इसकी कथा में लिखा है कि इस नाग ने अपने शरीर को बढ़ाकर तक्षशिला से बनारस तक फैला दिया था। इस कथा के अनुसार अनुमान होता है कि हसन अब्दुल जिस स्थान पर है वहीं पर तक्षशिला का नगर था। इस नगर का वर्णन महाभारत, हरिवंश और विष्णुपुराण में भी आया है। इसको कश्यप और कद्रू का सुत लिखा है।

क़दम से अधिक नहीं है। पानी मीठा और उत्तम है। अनेक प्रकार के कमल-फूल जिनका सुहावना रङ्ग बहुत ही सुन्दर मालूम होता है किनारे की शोभा को बढ़ाते हैं। यह नाग एक भिक्षु था जिसने काश्यप बुद्ध के समय में इलापत्र वृक्ष का नाश कर दिया था। लोगों को जब कभी वृष्टि अथवा सुकाल होने की आवश्यकता पड़ती है तब वे अवश्य तालाब के किनारे श्रमण के पास जाते हैं और अपनी कामना निवेदन करने के उपरान्त उँगलियाँ चटकाते हैं। जिससे मनोरथ पूरा होता है। यह दस्तूर प्राचीन समय से लेकर अब तक चला आता है।

नाग-तालाब के दक्षिण-पूर्व ३० ली जाने पर हम दो पहाड़ों के मध्यवर्ती रास्ते में पहुँचे जहाँ पर एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यह लगभग १०० फ़ीट ऊँचा है। यही स्थान है जहाँ के लिए शाक्य तथागत ने भविष्यद्वाणी की थी कि "कुछ दिनों बाद जब भगवान् मैत्रेय अवतार धारण करेंगे तब चार रत्नकोष भी प्रकट होंगे जिनमें से कि यह उत्तम भूमि भी एक होगी। इतिहास से पता लगता है कि जब कभी भूडोल होता है अथवा आस-पास के पहाड़ हिलने लगते हैं तब भी इस स्थान के चारों ओर १०० क़दम तक पूर्ण निश्चलता रहती है। यदि मनुष्य मूर्खतावश इस स्थान को खोदने का उद्योग करते हैं तो पृथ्वी हिलने लगती है और खोदनेवाले सिर के बल गिरकर धराशायी हो जाते हैं। स्तूप के बगल में एक संघाराम उजाड़ दशा में है। बहुत समय से यह निर्जन है। एक भी साधु इसमें नहीं रहता। नगर के उत्तर १२ या १३ ली की दूरी पर एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। धर्मोत्सव के दिन यह स्तूप चमकने लगता

है तथा देवता इस पर पुष्प बरसाते हैं और स्वर्गीय गान का शब्द सुनाई पड़ता है। इतिहास से पता चलता है कि प्राचीनकाल में एक स्त्री भयानक कुष्ट रोग से अत्यन्त पीड़ित थी। वह स्त्री चुपचाप स्तूप के निकट आई और बहुत कुछ पूजा-अर्चा के उपरान्त अपने पापों की क्षमा माँगने लगी। उसने देखा कि स्तूप का खुला हुआ भाग विष्ठा और करकट से भरा हुआ है। इस कारण उसने उस मलिनता को हटाकर अच्छी तरह पर स्थान को धोया पोंछा और फूल तथा सुगंधित वस्तुओं को छिड़क कर थोड़े से कमल-पुष्प भूमि पर फैला दिये। इस सेवा के प्रभाव से उसका दारुण कुष्ठ दूर हो गया और सम्पूर्ण शरीर से मनोहरता की झलक तथा कमल-पुष्प की महक आने लगी। यही कारण है कि यह स्थान बड़ा सुगंधित है। प्राचीन समय में भगवान् तथागत इस स्थान पर निवास करके बोधिसत्व अवस्था का अभ्यास करते थे। उस समय वह एक बड़े प्रदेश के राजा थे और उनका नाम चन्द्रप्रभा था। बोधिदशा को बहुत शीघ्र प्राप्त करने की उत्कण्ठा से उन्होंने अपने मस्तक को काट डाला था। यह भीषण कर्म उन्होंने लगातार अपने एक हज़ार जन्मों तक किया था[1]। इस स्तूप के निकट ही एक संघाराम है जिसके चारों ओर की इमारत गिर गई है और घास-पात से आच्छादित है: भीतरी भाग में थोड़े से साधु

[1]वास्तव में यह कथा तक्षशिर की है जैसा कि फ़ाहियान और सङ्गयन लिखते हैं। राजेन्द्रलाल मित्र की Nepalese Buddhist Literature, p. 310 में भी इस कथा का उल्लेख है। जिस व्यक्ति के लिए बोधिसत्व ने अपना शिर काट डाला था वह एक ब्राह्मण था।

निवास करते हैं। इस स्थान पर सौत्रान्तिक सम्प्रदायी[1] कुमारलब्ध शास्त्री ने प्राचीन समय में कुछ ग्रन्थ निर्माण किये थे।

नगर के बाहर दक्षिण-पूर्व दिशा में पहाड़ के नीचे एक स्तूप लगभग १०० फ़ीट ऊँचा है। इस स्थान पर लोगों ने राजकुमार कुलङ्कन की जिसको अन्याय से उसकी सौतेली माता ने दोषी ठहराया था। आँखें निकलवा ली थीं। यह अशोक राजा का बनवाया हुआ है। अंधे आदमी यदि विशेष विश्वास से इस स्थान पर प्रार्थना करते हैं तो अधिकतर आँखें पा जाते हैं। यह राजकुमार बड़ी रानी का पुत्र था। इसका स्वरूप अत्यन्त मनोहर और आचरण सुशीलता और सौजन्य का आकर था। संयोगवश कुमार की माता का परलोकवास हो गया। उस समय उसकी स्थानापन्न रानी (कुमार की विमाता) ने जो बहुत ही व्यभिचारिणी और विवेकरहित थी, राजकुमार के सुन्दर स्वरूप पर मोहित होकर, अपनी घृणित इच्छा और मूर्खता को राजकुमार पर प्रकट किया। राजकुमार के नेत्रों में आँसू भर आये और वह माता को झिड़की बताकर उस स्थान से उठ कर चला गया। विमाता को उसके व्यवहार पर क्रोध हो आया। जिस समय राजा का और उसका सामना हुआ उसने इस प्रकार राजा से निवेदन किया, "महाराज ने तक्षशिला का राज्य किसके

[1] बैसलीफ साहब (Buddhisme, p. 233) लिखते हैं कि बौद्धों की सौत्रान्तिक सम्प्रदाय धर्मोत्तर अथवा उत्तर धर्म के द्वारा स्थापित हुई थी। हीनयान-सम्प्रदाय की मुख्य दो शाखायें हैं जिनमें से एक यह है और दूसरी वैभाषिका-सम्प्रदाय है।

सुपुर्द करना विचारा है? आपका पुत्र सेवा और सज्जनता के लिए प्रशंसित है। सब लोग उसकी भलमंसी की बड़ाई करते हैं। इस कारण यह राज्य उसी को दीजिए।" रानी के शब्दों में जो आन्तरिक कपट भरा हुआ था उसको राजा समझ गया और इस कारण वह उसके अधम कार्य में बहुत प्रसन्नता से सहमत होगया।

इसके उपरान्त अपने बड़े पुत्र को बुलाकर उसने इस प्रकार आज्ञा दी, "मैंने राज्य को अपने पूर्वजों से पाया है इस कारण मेरी इच्छा है कि मैं अपना उत्तराधिकारी उसी को नियत करूँ जो मेरे वशवर्ती रहे, जिसमें किसी प्रकार की त्रुटि होने का भय न रहे और न मेरे पूर्वजों की प्रतिष्ठा में ही बट्टा लगे। मुझको तुम पर सर्वथा विश्वास है इस कारण मैं तुमको तक्षशिला का राज्य सुपुर्द करता हूँ[1]। राज्यकार्य सँभालना बहुत कठिन काम है, तथा मनुष्यों का स्वभाव परस्पर विरुद्ध होता है इस कारण कोई भी कार्य

[1] सिकन्दर की चढ़ाई के पचास वर्ष पश्चात् तक्षशिला के लोगों ने मगधदेश के राजा बिन्दुसार के प्रतिकूल विद्रोह किया था। जिस पर उसने अपने बड़े पुत्र 'सुसीम' को शान्ति स्थापन करने के लिए भेजा। उसके असमर्थ होने पर उसके छोटे पुत्र 'अशोक' ने जाकर सबको अधीन किया। अपने पिता के जीवनपर्य्यन्त 'अशोक' पंजाब में राजप्रतिनिधि के समान शासन करता रहा। जब फिर द्वितीय बार देश में विद्रोह हुआ तब अशोक ने अपने पुत्र 'कुणाल' को जो इस कथा का नायक है तक्षशिला का शासन-भार सुपुर्द किया था (Conf. Burnouf. Introd., p. 163, 357, 360; J. A. S. Ben. Vol. VI. p. 714)

शीघ्रतावश न करना जिससे तुम्हारी प्रभुता को हानि पहुँचे। जो कुछ आज्ञा समय समय पर तुम्हारे पास मैं भेजूँ उसकी सत्यता मेरे दाँतों की मुहर देखकर निश्चय करना, मेरी मुहर मेरे मुँह में है जिसमें कभी भूल नहीं हो सकती।"

राजकुमार इस आज्ञा को पाकर उस देश को चला गया और राज्य करने लगा। इस प्रकार महीने पर महीने व्यतीत होगये परन्तु रानी की शत्रुता में कमी नहीं हुई। कुछ दिनों बाद रानी ने एक आज्ञापत्र लिखकर उस पर लाल मोम से मुहर की और जब राजा सो गया तब उसके मुँह में बहुत सावधानी के साथ पत्र को रखकर दाँतों की छाप बना ली और उस पत्र को एक दूत के हाथ भेज दिया। मंत्री लोग पत्र को पढ़ते ही घबड़ा गये और एक दूसरे का मुँह देखने लगे। राजकुमार ने उन लोगों की घबड़ाहट का कारण पूछा तब उन लोगों ने निवेदन किया कि "महाराज ने एक आज्ञापत्र भेजा है जिसमें आपको अपराधी बताया गया है और आज्ञा दी है कि 'राजकुमार के दोनों नेत्र निकाल लिये जावें और वह अपनी स्त्री-सहित जीवन-पर्यन्त पहाड़ों पर निवास करे।' यद्यपि इस प्रकार की आज्ञा लिखी है परन्तु हमको ऐसा करने का साहस तब तक नहीं हो सकता जब तक हम राजा से फिर न पूछ लें। इसलिए उत्तर आने तक आप चुपचाप रहें।"

राजकुमार ने उत्तर दिया, "यदि मेरे पिता की आज्ञा मेरे वध करने की है तो वह अवश्य पालन की जानी चाहिए, इस पर राजा के दाँतों की छाप भी है जिससे इसकी सचाई में कुछ भी सन्देह नहीं है, और न कुछ भूल होने का ही अनुमान किया जा सकता है।" इसके उपरान्त राजकुमार ने एक चाण्डाल को बुला

कर अपनी आँखें निलकवा डालीं और इधर-उधर अपने निर्वाह के लिए भिक्षाटन करने लगा। अनेक देशों में घूमता फिरता वह एक दिन अपने पिता के नगर में पहुँचा। अपनी स्त्री[1] के मुख से वह सुनकर कि राजधानी यही है उसको बड़ा शोक हुआ। वह कहने लगा, "हा हन्त! कैसे कैसे कष्ट मुझको भूख और शीत से उठाने पड़ते हैं। एक समय वह था जब मैं राजकुमार था और एक समय आज है जब भिखारी हो गया हूँ। हा! किस तरह पर मैं अपने को प्रकट करके अपने अपराधों को, जो मुझ पर लगाये गये हैं, अप्रमाणित कर सकूँ? इसके उपरान्त वह बहुत कुछ प्रयत्न करके राजा के भीतरी महल में पहुँचा और रात्रि के पिछले पहर ज़ोर ज़ोर से रोने लगा तथा विलाप-व्यंजक ध्वनि में अपनी वीणा बजा बजाकर बड़ा ही हृदयद्रावक गीत गाने लगा। राजा जो कोठे पर सोता था, इस शोक-भरे अद्‌भुत पद को सुनकर विस्मित हो गया और सोचने लगा कि वीणा के सुरों और आवाज़ से मुझको ऐसा मालूम होता है कि यह मेरा पुत्र है, परन्तु वह यहाँ क्यों आया?" उसने बहुत शीघ्रता के साथ अपने सेवक को इसका पता लगाने की आज्ञा दी कि यह कौन व्यक्ति है। सेवक ने राजकुमार को राजा के सामने लाकर खड़ा कर दिया। राजा उसकी यह दशा देखकर शोक से विकल हो गया और पूछने लगा, "किसने तुमको यह हानि पहुँचाई है? किसका यह नीच कर्म है जिसके कारण मेरे पुत्र की आँखें

[1] कणाल की स्त्री का नाम कञ्चनमाला, माता का नाम पद्मावती और सौतेली माता का नाम तिष्यरक्षिता था। राजकुमार को लोग प्रायः कुनाल भी कहते हैं।

जाती रहीं? वह अब अपने किसी परिजन को नहीं देख सकता! हा शोक! क्या होनेवाला है, हे परमात्मा! हे परमात्मा! यह कैसा भाग्य-परिवर्तन है?"

राजकुमार ने रोते हुए राजा को धन्यवाद दिया और कहने लगा कि 'अपने पूज्य पिता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए यह स्वर्गीय दण्ड मुझको मिला है। अमुक वर्ष के अमुक मास की अमुक तिथि को अनायास मेरे पास एक पूज्य आज्ञा पहुँची। कोई उपाय बचाव का न होने के कारण मैं दण्डाज्ञा से विरोध करने का साहस न कर सका।' राजा अपने मन में समझ गया कि यह सब चरित्र मेरी रानी का है इस कारण बिना किसी प्रकार की पूछ जाँच के उसने रानी को मरवा डाला।

इस समय 'बोधिवृक्ष'[1] के संघाराम में एक बड़ा महात्मा अरहट रहता था जिसका नाम 'घोष' था और जिसमें प्रत्येक वस्तु के सहज विवेचन की चतुर्गुण शक्ति थी[2] तथा त्रिविद्याओं का पूर्ण विद्वान् था। राजा अपने अन्धे पुत्र को उसके पास ले गया और सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन करने के उपरान्त उसने प्रार्थना की कि 'कृपा करके ऐसा उपाय कीजिए जिसमें कि मेरे पुत्र को सूझने लगे।' उसने राजा की प्रार्थना को स्वीकार करके और लोगों को सम्बोधन करके यह आज्ञा दी कि 'कल मैं धर्म के कुछ गुप्त सिद्धान्तों का वर्णन किया चाहता हूँ इस कारण सब लोगों को अपने हाथ में एक एक पात्र लेकर

[1] यह संघाराम, जिस स्थान पर आज-कल बुद्धगया का मन्दिर है उसी स्थान पर था।

[2] इस चतुर्गुण शक्ति के लिए देखो। Childer's Pali Dict.

धर्म-ज्ञान सुनने के लिए और अपने अपने अश्रुविन्दु उस पात्र में एकत्रित करने के लिए अवश्य आना चाहिए। दूसरे दिन उस स्थान में स्त्री-पुरुषों के समूह के समूह चारों दिशाओं से आकर जमा हुए। जिस समय अरहट 'द्वादश निदान' पर व्याख्यान दे रहा था उस समय उस समाज में कोई भी ऐसा श्रोता न था जिसके आँसुओं की धारा न चलती हो। वह सब अश्रुजल पात्रों में एकत्रित होता रहा और धर्मोपदेश के समाप्त होने पर अरहट ने उन सब पात्रों के अश्रुजल को एक सोने के पात्र में भर लिया फिर बहुत दृढ़ता के साथ उसने यह प्रार्थना की, "जो कुछ मैंने कहा है वह बुद्ध भगवान् के अत्यन्त गुप्त सिद्धान्तों का निचोड़ है; यदि यह सत्य नहीं है, अथवा जो कुछ मैंने कहा है उसमें कुछ भूल है, तो प्रत्येक वस्तु ज्यों की त्यों बनी रहे, अन्यथा मेरी कामना है कि इस अश्रुजल से आँखें धोने पर इस अन्धे आदमी में अवलोकन-शक्ति का समावेश हो।" उपदेश के समाप्त होने पर जैसे ही उसने अपनी आँखों को उस जल से धोया उसके नेत्रों में दृष्टि-शक्ति आगई।

फिर राजा ने मंत्रियों और उनके सहायकों को अपराधी बनाकर (जिन्होंने उस आज्ञा का प्रतिपालन किया था) किसी का पद घटा दिया किसी को देश निकाला दिया, किसी को पदच्युत किया और कितनों को प्राणदण्ड दिया। दूसरे लोगों को (जिन्होंने इस अपराध में भाग लिया था) हिमालय पहाड़ की पूर्वोत्तर दिशावाले रेगिस्तान में छुड़वा दिया। इस राज्य से दक्षिण-पूर्व जाकर और पहाड़ तथा घाटियों को पार करके लगभग ७०० ली की दूरी पर हम साङ्गहोपुलो राज्य में पहुँचे।

साङ्गहोपुलो (सिंहपुर[1])

यह राज्य लगभग ३५०० या ३६०० ली के घेरे में है। इसके पश्चिम में सिन्दु नदी है। राजधानी का क्षेत्रफल १४ या १५ ली है। यह पहाड़ की तराई में बसी है। चट्टाने और कगार इसको चारों ओर से घेर कर इसको सुरक्षित बनाये हुए हैं। भूमि में अधिक खेती नहीं होती है परन्तु पैदावार अच्छी है। प्रकृति ठंढ़ी है मनुष्य भयानक साहसी तथा विश्वासघाती हैं। देश का कोई अपना शासक या राजा नहीं है, बल्कि कश्मीर का अधिकार हैं। राजधानी के दक्षिण में थोड़े फासले पर एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि इसकी सुन्दरता का बहुत कुछ ह्रास हो गया है परन्तु अद्भुत चमत्कारों का निदर्शन समय समय पर हो ही जाता है। इसके निकट ही एक उजाड़ संघाराम है जिसमें एक भी संन्यासी

[1] तक्षशिला से सिंहपुर की दूरी ७०० ली अर्थात् १४० मील, जैसा कि हुएन सांग ने लिखा है; अनुमान से यह स्थान टको (Toko) अथवा नरसिंह के निकट होना चाहिए। परन्तु यह स्थान मैदान में है और हुएन सांग इसको पहाड़ी अथवा पहाड़ का निकटवर्ती स्थान लिखता है, इस कारण इस स्थान को 'सिंहपुर' मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार मारटीन साहब का 'सङ्गोही' स्थान भी नहीं माना जा सकता। कनिंघम साहब खेतास अथवा खेताश को यह स्थान निश्चय करते हैं जिसके पवित्र तीर्थों में अब भी अगणित यात्री यात्रा करके स्नान-दान किया करते हैं। (Anc. Geog. p., 124) परन्तु इस स्थान की दूरी कदाचित् दूनी के लगभग है। अस्तु जो कुछ हो, या तो हुएन सांग की लिखी दूरी ग़लत है या अभी तक स्थान का ठीक पता नहीं चला है।

का निवास नहीं है। नगर के दक्षिण-पूर्व ४० या ५० ली की दूरी पर एक पत्थर का स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ लगभग २०० फ़ीट ऊँचा रक्खा है। यहाँ दस तालाब हैं जो गुप्त-रूप से परस्पर मिले हुए हैं। इनके दाहिने और बायें जो पत्थर बिछे हुए हैं उनका अद्भुत स्वरूप है और वे अनेक प्रकार के हैं। जल स्वच्छ है, कभी कभी लहरें बड़े वेग और शब्द से उठने लगती हैं। तालाबों के किनारे की गुफाओं और गढ़ों में तथा पानी के भीतर बहुत से नाग और मछलियाँ रहती हैं। चारों रङ्ग के कमल-पुष्प निर्मल जल को आच्छादित किये रहते हैं। सैकड़ों प्रकार के फलदार वृक्ष इनके चारों ओर लगे हुए हैं जिनकी शोभा अकथनीय है। ऐसा मालूम होता है कि वृक्षों की परछाईं जल के भीतर तक धँसी चली जाती है। तात्पर्य यह कि स्थान बहुत ही मनोहर और दर्शनीय है। इसके पार्श्व में एक संघाराम है जो बहुत दिनों से शून्य पड़ा है। स्तूप की बगल में थोड़ी दूर पर एक स्थान है जहाँ श्वेताम्बर[1] साधु को सिद्धान्तों का ज्ञान हुआ था और उसने सबसे पहले धर्म का उपदेश दिया था। इस बात का सूचक एक लेख भी यहाँ लगा है। इस स्थान के निकट एक मन्दिर देवताओं का है। इस मन्दिर से सम्बन्ध रखनेवालों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है परन्तु वे लोग रातदिन लगातार परिश्रम किया करते हैं, ज़रा भी ढील नहीं होने देते। इन लोगों ने अधिकतर बौद्ध-पुस्तकों में से सिद्धान्तों को उड़ाकर अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया है। ये लोग अनेक श्रेणी के हैं और अपनी

[1] यह जैनियों की एक शाखा है।

अपनी श्रेणी के अनुसार नियम और धर्म को अलग अलग बनाये हुए हैं। जो बड़े हैं वे भिक्षु कहलाते हैं, और जो छोटे हैं वे श्रमणेर कहलाते हैं। इनका चरित्र और व्यवहार अधिकतर बौद्ध-संन्यासियों के समान है, केवल इतना भेद है कि ये लोग अपने सिर पर चोटी रखते हैं और नङ्गे रहते हैं। यदि कपड़ा पहनते हैं तो वह श्वेत रङ्ग का होता है। बस यही थोड़ा सा भेद इनमें और दूसरे लोगों में है। इनके देवताओं की मूर्तियाँ भी आकार-प्रकार में सुन्दर तथागत भगवान् के समान सुन्दर हैं, केवल पहनावे में भेद है[1]।

इस स्थान से पीछे लौटकर, तक्षशिला की उत्तरी हद पर सिन्धु नदी पार करके और दक्षिण-पूर्व २०० ली जाकर हमने एक पत्थर के फाटक को पार किया। यह वह स्थान है जहाँ पर राजकुमार महासत्व[2] ने प्राचीन काल में अपने शरीर को एक भूखी बिल्ली को खिला दिया था। इस स्थान के दक्षिण ४० या ५० क़दम की दूरी पर एक पत्थर का स्तूप है। इसी स्थान पर महासत्व ने, उस पशु को भूख से आसन्नमरण अवस्था में पाकर दयावश अपने शरीर को बाँस के खपाँच से नोच डाला था और अपने रक्त से उस पशु का पालन किया था, जिससे कि वह फिर जीवित हो गया था। इस स्थान की समस्त भूमि और वृक्षावली रुधिर के रङ्ग से रँगी हुई है तथा

[1] अर्थात् जैनियों की मूर्तियाँ नंगी रहती हैं सो भी दिगम्बर जैन लोगों की।

[2] हार्डी साहब की मैनवल में इस कथा का उल्लेख है; परन्तु उसमें बोधिसत्व ब्राह्मण लिखा है, हुएन सांग उसी को राजकुमार लिखता है।

भूमि के भीतर खोदने से काँटेदार कीलें निकलती हैं। यह स्थान ऐसा करुणोत्पादक हैं कि यहाँ इस बात का प्रश्न ही नहीं उठता कि इस कथा पर विश्वास किया जाय या नहीं। इस स्थान से उत्तर को एक पत्थर का स्तूप[१] अशोक राजा का बनवाया हुआ २०० फ़ीट ऊँचा है। यह अनेक प्रकार की मूर्तियों से सुसज्जित और बहुत मनोहर बना हुआ है। समय समय पर अद्‌भुत चमत्कार परिलक्षित होते रहते हैं। लगभग १०० छोटे छोटे स्तूप और भी हैं जिनके पत्थरों के आलों में चल मूर्तियाँ स्थापित हैं। रोगी लोग जो इस स्थान के चारों ओर प्रदक्षिणा करते हैं अधिकतर अच्छे हो जाते हैं। स्तूप के पूर्व एक संघाराम है जिसमें कोई १०० संन्यासी महायान-सम्प्रदाय के अनुयायी निवास करते हैं। यहाँ से ५० ली पूर्व दिशा में जाकर हम एक पहाड़ के निकट आये जहाँ पर एक संघाराम २०० साधुओं समेत हैं। ये सब महायान-सम्प्रदायी हैं। फूल और फल बहुत हैं तथा सोतों और तालाबों में पानी बहुत स्वच्छ है। इस संघाराम की बगल में एक स्तूप ३०० फ़ीट ऊँचा है। प्राचीन समय में इस स्थान पर तथागत भगवान् ने निवास करके एक यक्ष का मांस-भक्षण छुड़ा दिया था।

यहाँ से ५०० ली जाने पर पहाड़ के किनारे किनारे दक्षिण-पूर्व दिशा में हम 'उलशी' प्रदेश में पहुँचे।

[१] इस स्तूप को जनरल कनिंघम साहब ने खोज निकाला है; यहाँ की भूमि अब तक लाल रङ्ग की है (Arch. Survey, vol. II, pt. XII, p. 153)

उलशी (उरश[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग २००० ली है। पहाड़ और घाटियों का प्रदेश भर में जाल बिछा हुआ है। खेती के योग्य भूमि पर बस्तियाँ बसी हुई हैं। राजधानी का क्षेत्रफल ७-८ ली है। यहाँ का कोई राजा नहीं है बल्कि कश्मीर का अधिकार है। भूमि जोतने और बोने के योग्य है, परन्तु फल-फूल विशेष नहीं होते। वायु मन्द और अनुकूल है, हिम और पाला नहीं है। लोगों में सुधार की आवश्यकता है। इनका आचरण कठोर और स्वभाव दुष्ट है। धोखेबाज़ी का बहुत चलन है। बौद्ध-धर्म पर इनका विश्वास नहीं है। राजधानी के दक्षिण-पश्चिम ४ या ५ ली की दूरी पर एक स्तूप २०० फ़ीट ऊँचा, अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इसकी बगल में एक संघाराम है जिसमें महायान-सम्प्रदायी थोड़े से साधु निवास करते हैं।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व जाकर, पहाड़ों और घाटियों को नाँघते तथा पुलों की शृंखला पार करते हुए लगभग २००० ली की दूरी पर हम कश्मीर[2] प्रदेश में पहुँचे।

[1] यह स्थान हज़ारों में है। (Coningh Anc. Geog. 2nd, p. 103; J. A. S. Ben., vol. XVII, Pt. II, P., p. 21, 283) महाभारत में एक नगर का नाम 'उरगा' आया है, कदाचित् उसी का अपभ्रंश 'उरश' है। राज-तरंगिणी में उरशा लिखा हुआ है। पाणिनि ने भी इसकी राजधानी का नामोल्लेख ४-१ १५४ और १७८ और ४-२-४२ और ४-३-९३ में किया है।

[2] कहा जाता है कि प्राचीनकाल में कश्मीर का राज्य बहुत बड़ा था, और इसका नाम कश्यपपुर था।

कियाशीमिलो (कश्मीर)

कश्मीर-राज्य का क्षेत्रफल लगभग ७००० ली है। इसके चारों ओर पहाड़ हैं। ये पहाड़ बहुत ऊँचे हैं। पहाड़ों में होकर जो दर्रे गये हैं वे बहुत ही तंग और पतले हैं। निकटवर्ती राज्यों ने चढ़ाई करके कभी भी इसको विजय नहीं कर पाया है। राजधानी उत्तर से दक्षिण १२ या १३ ली और पूर्व से पश्चिम ४ या ५ ली विस्तृत है, तथा इसकी पश्चिमी हद पर एक बड़ी नदी बहती है। भूमि अन्नादि के लिए जिस प्रकार उपजाऊ है उसी प्रकार फल-फूल भी बहुत होते हैं। घोड़े, केशर और अन्यान्य ओषधियाँ भी अच्छी होती हैं।

जलवायु अत्यन्त शीत है। बर्फ़ अधिक पड़ती है परन्तु वायु विशेष ज़ोर की नहीं चलती। लोग चर्म-वस्त्र को सफ़ेद अस्तर लगाकर धारण करते हैं। ये लोग स्वभाव के नीच, ओछे और कायर होते हैं। इस प्रदेश की रक्षा एक नाग करता है इस कारण निकटवर्ती देशों के लोग इसकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। मनुष्यों का स्वरूप सुन्दर परन्तु मन कपटी है। ये लोग विद्याव्यसनी और सुशिक्षित हैं। बौद्ध और भिन्न धर्मावलम्बी दोनों प्रकार के लोग बसते हैं। लगभग १०० संघाराम और ५००० संन्यासी हैं। तथा चार स्तूप राजा अशोक के बनवाये हुए हैं। प्रत्येक स्तूप में तथागत भगवान का शरीरावशेष विराजमान है। देश के इतिहास से पता चलता है कि किसी समय में यह प्रान्त नागों की झील था। प्राचीन समय में, बुद्ध भगवान जब उद्यान-प्रदेश के दुष्ट नाग को परास्त करके मध्य भारत को लौटे जा रहे थे, उस समय वायु-द्वारा गमन करते हुए इस प्रदेश के ऊपर भी पहुँचे। तब

उन्होंने आनन्द से इस प्रकार भविष्यद्वाणी की थी, "मेरे निर्वाण के पश्चात् मध्यान्तिक अरहट इस भूमि में एक राज्य स्थापित करेगा और अपने ही प्रयत्न से यहाँ के लोगों में सभ्यता का प्रचार करके बौद्ध-धर्म फैलावेगा"। निर्वाण के पाँचवें वर्ष आनन्द के शिष्य मध्यान्तिक अरहट ने छहों आध्यात्मिक शक्तियाँ (षडाभिजन) और अष्ट विमोक्षाओं को प्राप्त करके बुद्ध की भविष्यद्वाणी का पता पाया। जिससे उसका चित्त प्रसन्न हो गया और उसने इस देश का सुधार करना चाहा। एक दिन वह शान्ति के साथ एक पहाड़ के चट्टान पर बैठकर अपना आध्यात्मिक बल प्रकाशित करने लगा। नाग इसके प्रभाव को देखकर विस्मित हो गया और बड़ी भक्ति के साथ प्रार्थना करने लगा कि 'आपकी क्या कामना है।' अरहट ने उत्तर दिया कि मैं तुमसे झील के मध्य में अपनी जाँघ बराबर जगह बैठने भर को चाहता हूँ। इस पर नागराज ने थोड़ा सा पानी हटाकर उसको जगह दे दी। अरहट ने अपने आध्यात्मिक बल से अपने शरीर को इतना अधिक बढ़ाया कि नागराज को झील का सम्पूर्ण जल हटा देना पड़ा। जिससे कि झील सूख गई। तब नागराज ने अपने रहने के लिए स्थान की प्रार्थना की। अरहट ने उत्तर दिया, "यहाँ से पश्चिमोत्तर दिशा में एक चश्मा लगभग १०० ली के घेरे में है। इस छोटे से तालाब में तुम और तुम्हारी सन्तति आनन्द से निवास कर सकते हैं।" नाग ने फिर प्रार्थना की कि "मेरी भूमि और झील दोनों समान-रूप से बदल गये हैं इस कारण मेरी प्रार्थना है कि आप मुझको अपना दास जानकर ऐसा प्रबन्ध कर दीजिए जिससे मैं आपकी पूजा कर सकूँ।" मध्यान्तिक ने उत्तर दिया कि "थोड़े ही दिनों में मैं अनुपाधि-

शेष निर्वाण को प्राप्त करूँगा। यद्यपि मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हारी प्रार्थना को पूर्ण करूँ परन्तु ऐसा करने में असमर्थ हूँ।" नाग ने फिर प्रार्थना की कि "यदि ऐसा है तो यह प्रबंध कीजिए कि ५०० अरहट, जब तक बौद्ध-धर्म संसार में है तब तक, मेरी भेंट-पूजा को ग्रहण करते रहें। बौद्ध-धर्म के जाते रहने पर मुझको आज्ञा मिले कि मैं फिर इस देश में लौट आ सकूँ और उसी तरह निवास करता रहूँ जिस तरह कि झील में करता आया हूँ।" मध्यान्तिक ने उसकी इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

फिर अरहट ने इस भूमि पर, जिसको उसने अपने आध्यात्मिक बल से प्राप्त किया था, ५०० संघाराम स्थापित किये और अन्यान्य प्रदेशों से बहुत से दीन पुरुष क्रय करके यहाँ के संन्यासियों की सेवा के लिए नियत कर दिये। मध्यान्तिक के स्वर्गवास होने पर वही सेवक लोग इस भूमि के स्वामी हो गये, परन्तु अन्यान्य प्रदेशों के लोग इन दासों से घृणा करते थे इनकी समाज में नहीं जाते थे और इनको क्रितीय[1] के नाम से सम्बोधन करते थे। इन दिनों यहाँ बहुत से सोते फूट निकले हैं। (जिससे धर्म का ह्रास होना विदित होता है।) तथागत भगवान् के निर्वाण के सौवें वर्ष में मगधराज[2]

[1] विष्णुपुराण में लिखा है कि वर्णसंकर और दूसरे प्रकार के शूद्र लोग सिंधुनद, द्वारविका देश, चन्द्रभागा और कश्मीर में राज्य करेंगे।

[2] हुएन सांग अशोक को बुद्धदेव से सौ वर्ष पीछे लिखता है, परन्तु स्वयं अशोक के लेख से पता चलता है कि उससे २२१ वर्ष पहले बुद्धदेव थे। अवदानशतक से भी यही बात पुष्ट होती है कि अशोक बुद्धदेव से २०० वर्ष पीछे हुआ था।

अशोक का प्रभाव सम्पूर्ण संसार में फैल रहा था। दूर दूर तक के लोग उसका सन्मान करते थे। यह राजा रत्नत्रयी का जिस प्रकार भक्त था उसी प्रकार प्राणि-मात्र से दया और प्रेम का व्यवहार रखता था। उस समय लगभग ५०० अरहट और ५०० अन्य साधु ऐसे महात्मा थे जिनकी प्रतिष्ठा समान-रूप से राजा को करनी पड़ती थी। इन दूसरे प्रकार के साधुओं में एक व्यक्ति महादेव नामक बहुत ही बड़ा विद्वान् और प्रतिभाशाली था। इसने अपनी वानप्रस्थावस्था में ऐसे सिद्धान्तों की एक पुस्तक लिखकर जो बौद्ध-धर्म के बिलकुल विपरीत थे, बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। जो कोई उन सिद्धान्तों को सुनता था अवश्य उसका चेला हो जाता था। अशोक राजा केवल दुष्टों को दण्ड देना तो अच्छी तरह जानता था परन्तु महात्मा और सर्वसाधारण में क्या भेद है इससे नितान्त अपरिचित था। इसलिए वह भी महादेव के बहकाये में आगया और उसने सब बौद्ध संन्यासियों को सभा के बहाने गङ्गा-किनारे बुलाकर डुबा देना चाहा। इस समय अरहट अपने प्राणों को संकट में देख कर आध्यात्मिक बल से आकाशगामी होकर चले गये और इस देश में आकर पहाड़ों और घाटियों में छिप रहे। अशोक राजा को तब बहुत पछ-तावा हुआ और अपने अपराधों की क्षमा माँगता हुआ वह इस बात का प्रार्थी हुआ कि वे लोग अपने अपने स्थानों को लौट चलें। परन्तु अरहट अपने विचार के पक्के थे इससे नहीं लौटे। तब अशोक ने उन लोगों के लिए ५०० संघाराम बनवा कर सारा प्रदेश साधुओं को दान कर दिया। तथागत भगवान् के निर्वाण के ४०० वर्ष पश्चात् गंधार-नरेश महाराज कनिष्क राज्य का स्वामी हुआ। उसकी प्रभुता दूर दूर तक फैल गई

थी और बहुत दूर दूर के देश उसके अधीन हो गये थे। अपने धार्मिक कामों में वह पुनीत बौद्ध-पुस्तकों का आश्रय लेता था तथा उसकी आज्ञा से नित्य एक बौद्ध-संन्यासी उसके महल में जाकर धर्मोपदेश सुनाया करता था। परन्तु बौद्ध-धर्म के जो अनेक भेद हो गये थे और उनमें जो परस्पर अनैक्य था उसके कारण उसका विश्वास पूरे तौर पर जमता नहीं था और न इस भेद के दूर करने का कोई उपाय उसकी समझ में आता था "उस समय महात्मा पार्श्व ने उसको समझाया कि 'भगवान् तथागत को संसार परित्याग किये हुए बहुत से वर्ष और महीने व्यतीत हो गये; उस समय से लेकर अब तक कितने ही महात्मा विद्वान् उत्पन्न हो चुके हैं जिन्होंने अपने अपने ज्ञानानुसार अनेक पुस्तकें लिखकर अनेक सम्प्रदाय स्थापित कर दिये हैं; यही कारण है कि बौद्ध-धर्म टुकड़े टुकड़े होकर बँट गया है।" राजा को इस बात से बहुत संताप हुआ। थोड़ी देर के बाद उसने पार्श्व से कहा कि "यद्यपि मैं अपनी बड़ाई नहीं करता हूँ, परन्तु मैं उस ज्ञान को जिसका मेरा साथ बौद्ध भगवान् के समय से लेकर आज तक प्रत्येक जन्म में रहा है और जिसके बल से मैं इस समय राजा हुआ हूँ, धन्यवाद देकर इस बात का साहस करता हूँ कि मैं अवश्य ऐसा प्रयत्न करूँगा कि जिससे शुद्ध धर्म का प्रचार संसार में बना रहे। इस कारण मैं ऐसा प्रबंध करूँगा जिससे प्रत्येक सम्प्रदाय में तीनों पिटकों की शिक्षा होती रहे।" महात्मा पार्श्व ने उत्तर दिया "आपने अपने पूर्व-पुण्य से महाराज का पद पाया है इस कारण मेरी भी सर्वोपरि यही इच्छा है कि आपका अटल विश्वास बौद्ध-धर्म में बना रहे।"

इसके उपरान्त राजा ने दूर और पास के सब विद्वानों को

बुला भेजा। चारों दिशाओं से हज़ारों मील चलकर बड़े बड़े विद्वान् और महात्मा वहाँ पर आकर जमा हुए। सात दिन तक उन लोगों का सब तरह पर सत्कार करके राजा ने इस बात की इच्छा प्रकट की कि वास्तविक धर्म का निरूपण किया जावे। परन्तु इतनी बड़ी भीड़ में शास्त्रार्थ होने से अवश्य गुलगपाड़ा अधिक मचेगा इस कारण उसने आज्ञा दी कि 'जो लोग अरहट हैं वे ठहरें, और जो अभी सांसारिक क्लेश में फँसे हुए हैं वे सब चले जावें" फिर भी भीड़ कम न हुई तब उसने दूसरी आज्ञा निकाली "जो लोग पूर्ण विद्वान् हो चुके हैं वही लोग ठहरें, और जो अभी विद्याभ्यास में लगे हुए हैं वे लोग चले जावें।" फिर भी अभी बहुत भीड़ थी। तब राजा ने यह आज्ञा दी कि 'जो लोग 'त्रिविद्या' और 'षडभि-जन' को प्राप्त कर चुके हैं वही लोग ठहरें और शेष चले जावें।' अब भी जितने लोग रह गये थे उनकी संख्या अग-णित थी। तब राजा ने यह नियम किया कि 'जो त्रिपिटक और पञ्च महाविद्या[1] में पूर्ण निपुण हैं उनको छोड़कर शेष लोग लौट जावें।' इस तरह पर ४९९ आदमी रह गये। उस समय राजा की इच्छा सब लोगों को अपने देश में ले चलने की हुई क्योंकि यहाँ की सर्दी गरमी से राजा बहुत क्लेशित था। उसकी यह भी इच्छा थी कि राजगृही की गुफा[2] को चलें जहाँ पर काश्यप ने धार्मिक समाज किया था। महात्मा

[1] पंच महाविद्या ये हैं (अ) शब्दविद्या अर्थात् व्याकरण (इ) अध्यात्मविद्या (उ) चिकित्साविद्या (ऋ) हेतुविद्या (लृ) शिल्प-स्थानविद्या।

[2] कदाचित् सप्तपर्णा गुफा।

पार्श्व तथा अन्य महात्माओं ने सलाह करके यह कहा कि 'हम वहाँ नहीं जा सकते क्योंकि वहाँ पर बहुत से भिन्न-धर्मावलम्बी विद्वान् हैं; जो अनेक शास्त्रों का मनन किया करते हैं, उन लोगों से सामना हो जायगा, जिससे व्यर्थ का झगड़ा होने के अतिरिक्त और कोई फल नहीं होगा। जब तक निश्चिन्ताई के साथ किसी विषय पर विचार न किया जाय, उपयोगी पुस्तक नहीं बन सकती। सब विद्वानों का चित्त इस प्रदेश में रमा हुआ है। यह भूमि चारों ओर से पहाड़ों से घिरी तथा यक्ष-द्वारा सुरक्षित है। सब वस्तु उत्तमता के साथ उत्पन्न होती है, जिससे खाने-पीने की भी कोई असुविधा नहीं है। यही स्थान है जहाँ पर विद्वान् और बुद्धिमान् लोग निवास करते हैं, तथा महात्मा, ऋषि विचरण करते और विश्राम करते हैं।' परन्तु अन्त में सब लोगों को राजा की इच्छा के अनुसार कार्य करना ही पड़ा। राजा सब अरहटों-समेत वहाँ से चलकर उस[1] स्थान पर गया जहाँ पर उसने एक मन्दिर इस निमित्त बनवाया था कि सब लोग एकत्रित होकर विभाषा-शास्त्र की रचना करें। महात्मा वसुमित्र द्वार के बाहर कपड़े पहिन रहा था। अरहटों ने उससे कहा कि 'तुम्हारे पातक अभी दूर नहीं हुए हैं इस कारण तुम्हारा शास्त्रार्थ में योग देना अनुचित और व्यर्थ है, तुम यहाँ मत आओ, इस पर वसुमित्र ने उत्तर दिया कि ' बुद्धिमान् लोग भगवान् बुद्ध के स्वरूप को जितना आदर देते हैं उतना आदर इनके धार्मिक सिद्धान्तों को भी देते हैं क्योंकि उनके

[1] यहाँ पर मूल में कुछ गड़बड़ है। राजा कहाँ गया जहाँ पर उसने मन्दिर बनवाया था यह स्पष्ट नहीं है।

सिद्धान्त संसार भर को शिक्षा देनेवाले हैं। इस कारण उन सत्य सिद्धान्तों को संग्रह करने का विचार आप लोगों का बहुत उत्तम है। अब रही मेरी बात, सो मैं यद्यपि पूर्णतया नहीं तो भी थोड़ा बहुत शास्त्रीय शब्दों के अर्थों को जानता हूँ। मैंने त्रिपिटक के गूढ़ से गूढ़ सूत्रों को और पंच महाविद्या के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को बड़े परिश्रम से अध्ययन किया है। जो कुछ गुप्त भाव इन पुनीत पदार्थों में भरा है वह सब मैंने अपनी तीव्र बुद्धिमत्ता से प्राप्त कर लिया है।'

अरहटों ने उत्तर दिया, "यह असम्भव है; और यदि यह सत्य भी हो तो तुमको कुछ समय तक ठहर कर जो कुछ तुमने पढ़ा है उसका फल प्राप्त करना चाहिए और तब इस समाज में प्रवेश करना चाहिए। अभी तुम्हारा सम्मिलित होना सम्भव नहीं है।"

वसुमित्र ने उत्तर दिया कि 'मैं पूर्वपठित विद्या के फल की उतनी ही परवाह करता हूँ जितनी कोई थूक-बिन्दु की करे। मेरा मन केवल बौद्ध-धर्म के फल की चाहना करता है, इन छोटी छोटी वस्तुओं की ओर नहीं दौड़ता। मैं अपनी इस गेंद को आकाश में उछालता हूँ जितनी देर में यह लौट-कर भूमि तक आवेगी उतनी देर में मुझको पूर्वपठित विद्या का सब फल प्राप्त हो जायगा।'

इस पर अरहटों ने चारों ओर से घुड़क घुड़क कर कहना आरम्भ किया कि 'वसुमित्र! तू पहले सिरे का घमंडी है। पूर्वपठित विद्या का फल प्राप्त करना सब बौद्धों का माननीय सिद्धान्त है, परन्तु तुम उसको कुछ भी नहीं गिनते इसलिए तुमको अवश्य यह फल प्राप्त करके दिखा देना चाहिए जिससे सबका सन्देह जाता रहे।'

तब वसुमित्र ने अपनी गेंद को ऊपर फेंका जिसको देवताओं ने ऊपर ही रोक कर उससे यह प्रश्न किया कि 'बौद्ध-धर्म का फल प्राप्त करने के कारण तुम स्वर्ग में मैत्रेय भगवान् के स्थानापन्न होगे, तीनों लोकों में तुम्हारी प्रतिष्ठा होगी और चारों प्रकार के प्राणी तुम्हारा भय मानेंगे; फिर तुम इस तुच्छ फल के प्राप्त करने की क्यों इच्छा करते हो?

यह हाल देखकर सब अरहटों ने अपने अपराधों की क्षमा माँगकर और भक्ति-पूर्वक प्रार्थना करके वसुमित्र को सभापति बनाया। इन लोगों के शास्त्रार्थ में जो कुछ कठिनाइयाँ पड़ीं उनका निर्णय वसुमित्र करते थे। इन पाँचों सौ विद्वान् महात्माओं ने पहले सूत्रपिटक को सुस्पष्ट करने के लिए उपदेश शास्त्र को दस हज़ार श्लोकों में बनाया। उसके उपरान्त विनयपिटक सुस्पष्ट करने के लिए दस हज़ार श्लोकों में विनयविभाषा शास्त्र को लिखा, तदनन्तर 'अभिधर्मपिट्टक' को सुस्पष्ट करने के लिए दस हज़ार श्लोकों में अभिधर्मविभाषा शास्त्र का निर्माण किया। इस प्रकार छः लाख साठ हज़ार शब्दों में ३० हज़ार श्लोक तीनों पिटकों के भाष्य-स्वरूप निर्माण किये गये। ऐसा उत्तम कार्य कभी भी इसके पहले नहीं हुआ था जो बड़े से बड़े और छोटे से छोटे प्रश्न को उत्तमता के साथ प्रकट कर सके। संसार भर में इस कार्य की प्रशंसा हुई और विद्यार्थियों को इनके पढ़ने और समझने में सुगमता हो गई।

कनिष्क राजा ने इन सब श्लोकों को ताम्रपत्रों पर लिखवाकर और एक पत्थर की सन्दूक़ में बन्द करके उस पर मुहर कर दी, और फिर एक स्तूप बनवाकर बीच में उस सन्दूक़ को रखवा दिया। यक्ष लोगों को आज्ञा हुई कि

वे लोग रक्षा करें जिसमें कोई विधर्मी इन शास्त्रों तक पहुँच कर चुरा न सके। और इस देश के रहनेवाले ही इस परिश्रम के फल से लाभ उठाते रहें।

इस पुनीत कर्म को करके राजा सेना-सहित अपनी राजधानी को चला गया[1]। इस देश के पश्चिमी फाटक से निकल कर और पूर्व की ओर मुख करके खड़े होकर राजा ने दण्डवत् की और इस प्रदेश को फिर से संन्यासियों को दान कर दिया।

कनिष्क के मरने पर क्रीत्य जाति ने फिर अपना अधिकार जमा लिया और पुरोहितों को खदेड़कर धर्म का तहसनहस कर डाला।

तुषार-प्रदेश के हिमतल स्थान का राजा शाक्य-वंश[2] का था; बुद्ध निर्वाण के छः सौ वर्ष बाद यह अपने पूर्वजों के राज्य का स्वामी हुआ था। इसका चित्त बौद्ध-सिद्धान्तों के प्रेम में भलीभाँति रँगा हुआ था। जिस समय उसको यह वृत्तान्त मालूम हुआ कि क्रीत्य लोगों ने बौद्ध-धर्म को कश्मीर प्रदेश से दूर कर दिया है उस समय अपने तीन हज़ार बड़े बड़े वीर सरदारों को इकट्ठा करके और सबका सौदागरों का सा भेष बनाकर यह इस देश की ओर प्रस्थानित हुआ।

ये लोग प्रकट-रूप से अगणित और बहुमूल्य सौदागरी की वस्तुएँ और गुप्त-रूप से लड़ाई के अस्त्र-शस्त्र लिये हुए कश्मीर-

[1] कनिष्क की राजधानी गन्धार-प्रदेश में थी।

[2] यह राजा उन्हीं शाक्य युवकों में से किसी का वंशज था जो विरुद्धक राजा की चढ़ाई का सामना करने पर देश से निकाल दिया गया था। इसका वर्णन छठे अध्याय में आवेगा।

प्रदेश में पहुँचे। देश के राजा ने बड़ी आवभगत के साथ इन लोगों को अपना अतिथि बनाया। हिमतलराज ने अपने पाँच सौ नामी और वीर सिपाहियों को आज्ञा दी कि 'उत्तमोत्तम वस्तुओं के सहित हाथों में तलवार लेकर राजा की भेंट को चलो।' जिस समय ये लोग राजा के निकट पहुँचे हिमतलराज अपनी टोपी को फेंककर सिंहासन की ओर झपटा। क्रीत्यराज इस कैफ़ियत को देखकर घबड़ा गया। उसकी समझ में न आया कि क्या करना चाहिए। थोड़ी देर में उसका सिर काट डाला गया। फिर हिमतलराज ने दरबारियों से कहा कि 'मैं तुषार प्रदेश के हिमतल स्थान का राजा हूँ। मुझको बहुत शोक था कि एक नीच जाति के राजा ने इतना बड़ा अपराध कर डाला। जिसको दंड देने के लिए मुझको आज यहाँ पर आना पड़ा। अपराधी अपने दंड को पहुँच गया, परन्तु अन्य लोग किसी प्रकार का भय न करें, इसमें उनका कुछ भी अपराध नहीं है।' इस प्रकार सब लोगों को समझाकर और शान्त करके तथा मंत्रियों को दूसरे प्रदेशों में भेजकर उसने बौद्ध-संन्यासियों को बुलवा भेजा और एक संघाराम बनवाकर उन लोगों को फिर से उसी प्रकार बसाया जिस प्रकार वह पहले रहा करते थे। इसके उपरान्त वह पश्चिमी फाटक से निकल कर और पूर्वाभिमुख साष्टाङ्ग दण्डवत् करके अपने देश को चला आया। और प्रदेश पुरोहितों को दान में मिला।

चूँकि क्रीत्य लोगों को कई बार पुरोहितों से दबना पड़ा और उनका सत्यानाश हुआ इस कारण उनके हृदय में दिनोंदिन शत्रुता बढ़ती ही गई यहाँ तक कि वे लोग बौद्ध-धर्म से घृणा करने लगे। कुछ वर्षों के उपरान्त वे लोग फिर प्रभावशाली होकर यहाँ के अधिपति हो गये, यही कारण है कि

इस समय यहाँ बौद्ध-धर्म का विशेष प्रचार नहीं है बल्कि अन्य धर्मावलम्बियों के मन्दिरों की बढ़ती है। नवीन नगर के पूर्व-दक्षिण १० ली की दूरी पर और प्राचीन नगर[1] के उत्तर में था पर्वत के दक्षिण ओर एक संघाराम है जिसमें ३०० संन्यासी निवास करते हैं। स्तूप के भीतर एक दाँत भगवान् बुद्ध का डेढ़ इंच लम्बा रखा हुआ है। इसका रङ्ग पीलापन लिये हुए सफ़ेद है तथा धार्मिक दिनों में इसमें से उज्ज्वल प्रकाश निकलने लगता है। प्राचीन समय में कीत्य लोगों ने बौद्ध-धर्म को नाश करके जब उन लोगों को निकाल दिया था और संन्यासी लोग जहाँ तहाँ भाग गये थे तब एक श्रमण इधर-उधर भारतवर्ष भर में यात्रा करने लगा और अपने अटल विश्वास को प्रदर्शित करने के लिए सम्पूर्ण बौद्धस्थानों में जा जाकर बौद्धावशेष के दर्शन करता रहा। कुछ दिनों के उपरान्त उसको मालूम हुआ कि उसके देश में अशान्ति हो गई है। अतः वह अपने घर की ओर प्रस्थानित हुआ। मार्ग में उसको हाथियों का एक झुंड मिला जो चिंघाड़ करते हुए जङ्गल के रास्ते में दौड़ धूप कर रहे थे। श्रमण उन हाथियों को

[1] जनरल कनिंघम लिखते हैं कि 'अधीष्ठान' अधिष्ठान कहलाता है। यह संस्कृत-शब्द है जिसका अर्थ मुख्य नगर होता है। इसी स्थान पर श्रीनगर बसा है जिसको राजा प्रवरसेन ने छठी शताब्दी में बसाया था। इस कारण हुएन सांग के समय में यही स्थान नवीन राजधानी था। प्राचीन राजधानी तख़्त सुलेमान के दक्षिण-पूर्व लगभग दो मील की दूरी पर थी जिसको पांड्रेथान कहते हैं। यह शब्द 'पुरानाधिष्ठान' (प्राचीन राजधानी का) अपभ्रंश है। प्राचीन समय का हरी पर्वत ही आज-कल का तख़्त सुलेमान है। (Anc. Geog. Ind., p. 93)

देखकर एक वृक्ष पर चढ़ गया। परन्तु हाथियों का समूह एक तालाब पर पहुँच कर स्नान करने लगा। भलीभाँति अपने शरीर को शुद्ध करके हाथियों ने वृक्ष को चारों ओर से घेर लिया और जड़ों को नोचकर श्रमणसमेत वृक्ष को भूमि पर गिरा दिया। इसके उपरान्त श्रमण को अपनी पीठ पर चढ़ाकर वे लोग जङ्गल के मध्य में उस स्थान पर गये जहाँ पर एक हाथी घाव से पीड़ित होकर भूमि पर पड़ा हुआ था। उसने साधु का हाथ पकड़कर वह स्थान दिखलाया जहाँ पर एक बाँस का टुकड़ा घुसा हुआ था। श्रमण ने उस खपाँच को खींचकर कुछ दवा लगाई और फिर अपने वस्त्र को फाड़ कर घाव बाँध दिया। दूसरे हाथी ने एक सोने का डिब्बा लाकर रोगी हाथी के सामने रख दिया और उसने उस डिब्बे को श्रमण की भेंट कर दिया, श्रमण को उसके भीतर बुद्ध भगवान का एक दाँत मिला। इसके उपरान्त सब हाथी उसको घेर कर बैठ गये जिससे श्रमण को उस दिन उसी स्थान पर रहना पड़ा। दूसरे दिन, धार्मिक दिवस होने के कारण, प्रत्येक हाथी ने उसको उत्तमोत्तम फल लाकर भेंट किये। भोजन कर चुकने के उपरान्त वे लोग संन्यासी को अपनी पीठ पर चढ़ाकर बहुत दूर तक जङ्गल के बाहर पहुँचा आये और प्रणाम करके अपने स्थान को लौट आये।

श्रमण अपने देश की पश्चिमी हद पर पहुँच कर एक बड़ी नदी को पार कर रहा था, उसी समय सहसा नाव डूबने लगी। सब लोगों ने सलाह करके यही निश्चय किया कि यह सब उत्पात श्रमण के कारण है अवश्य इसके पास कुछ बौद्धावशेष हैं जिसके लिए नाग लोग लालायित हो गये हैं। नाव के स्वामी ने उसकी तलाशी लेने पर बुद्ध के दाँत

को पाया। श्रमण ने उस समय दाँत को ऊपर उठाकर और सिर नवाकर नागों को बुलाया और यह कह कर वह दाँत उनको दे दिया कि 'मैं यह तुम्हारे सुपुर्द करता हूँ, इसको बहुत सावधानी से रखना। थोड़े दिनों में आकर मैं तुमसे लौटा लूँगा।' इस घटना से श्रमण को इतना रञ्ज हुआ कि वह नदी के पार नहीं गया बल्कि इसी पार लौट आया और नदी की ओर देखकर गहरी साँसें लेता हुआ यह कहने लगा कि "मैं क्या उपाय करूँ जिससे ये दुखदायक नाग परास्त हों?" इसके उपरान्त वह भारतवर्ष में लौट कर नागों को अधीन करनेवाली विद्या का अध्ययन करने लगा। तीन वर्ष के उपरान्त वह अपने देश को लौटा। नदी के किनारे पहुँच कर उसने एक वेदी बनाकर यज्ञ करना आरम्भ किया। नाग लोग विवश होकर बुद्ध-दन्त को डिब्बे सहित ले आये। श्रमण उसको लेकर इस संघाराम में आया और पूजन करने लगा।

संघाराम के दक्षिण की ओर चौदह पन्द्रह ली की दूरी पर एक छोटा संघाराम और है जिसमें अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की एक खड़ी मूर्ति है। यदि कोई इस बात का संकल्प करे कि जब तक हम दर्शन न कर लेंगे अन्न-जल ग्रहण न करेंगे चाहे भूख प्यास से हमारा प्राणान्त ही क्यों न हो जाय, तो उसको एक मनोहर स्वरूप मूर्ति में से निकलता हुआ अवश्य दिखलाई पड़ता है।

इस छोटे संघाराम के दक्षिण-पूर्व लगभग ३० ली चल कर हम एक बड़े पर्वत पर आये जहाँ एक पुराना संघाराम है। इसकी सूरत मनोहर और बनावट सुदृढ़ है। परन्तु आजकल यह उजाड़ हो रहा है केवल एक कोना शेष है जिसमें

दो खंड का एक बुर्ज बना है। लगभग ३० संन्यासी महायान-सम्प्रदायी इसमें निवास करते हैं। इस स्थान पर प्राचीन समय में सङ्घभद्र शास्त्रकार ने 'न्यायानुसार शास्त्र' की रचना की थी। संघाराम के दोनों ओर स्तूप बने हैं जिनमें महात्मा अरहटों के शरीर समाधिस्थ हैं। जङ्गली पशु और पहाड़ी बन्दर इस स्थान पर आकर फूल इत्यादि से धार्मिक पूजा किया करते हैं। इनकी पूजा बिना रुकावट परम्परागत के समान नित्य होती रहती है। इन पहाड़ों में बहुत अद्‌भुत अद्भुत व्यापार समय समय पर प्रदर्शित हुआ करते हैं। कभी कभी पत्थर पर आर पार दरारें पड़ जाती हैं (जैसे कोई सेना उस तरफ़ से गई हो,) कभी कभी पहाड़ की चोटी पर घोड़े का चित्र बना हुआ मिलता है। यह सब बातें अरहटों और श्रमणों की करतूत से दिखाई देती हैं जो झुण्ड के झुण्ड इस स्थान पर आते हैं और अपनी उँगलियों से इस तरह के चित्र बनाते हैं जैसे कि घोड़े पर चढ़कर जाना अथवा इधर-उधर टहलना। परन्तु इन सब चिह्नों का वास्तविक भाव क्या है इसका समझना कठिन है।

बुद्धदाँतवाले संघाराम के पूर्व दश ली दूर पहाड़ के उत्तरी भाग के एक चट्टान पर एक छोटा सा संघाराम बना है। प्राचीन समय में परमविद्वान् स्कंधिल सास्त्री ने इस स्थान पर 'चङ्गस्सी फान पीप आशा' ग्रंथ[1] को बनाया था। इस संघाराम में एक छोटा स्तूप लगभग ५० फीट ऊँचा पत्थर का बना हुआ है जिसमें एक अरहट का शरीर है।

[1] जुलियन इस शब्द से 'विभाषा प्रकरण पादशास्त्र' तात्पर्य निकालता है।

प्राचीन समय में एक अरहट था जिसका शरीर बहुत लम्बा चौड़ा और भोजन इत्यादि हाथी के समान था। लोग उसकी हँसी उड़ाया करते थे कि यह पेटू भोजन करना खूब जानता है परन्तु सत्यासत्य धर्म क्या है यह नहीं जानता। यह अरहट जब निर्वाण के निकट पहुँचा तब लोगों को निकट बुलाकर कहने लगा कि बहुत शीघ्र मैं अनुपाधिशेष अवस्था को प्राप्त करूँगा। मेरी इच्छा है कि मैं सब लोगों पर प्रकट कर दूँ कि किस प्रकार मैंने परमोत्तम धर्म ज्ञान को पाया है। लोग यह सुनकर दिल्लगी उड़ाने लगे और उसको लज्जित करने के लिए भीड़ की भीड़ उसके निकट एकत्रित होगई। अरहट ने उस समय उन लोगों से यह कहा "मैं तुम लोगों की भलाई के लिए अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त और उसका कारण बतलाता हूँ। अपने पूर्व जन्म में मैंने पापों के कारण हाथी का तन पाया था और पूर्वी भारत के एक राजा के फ़ीलख़ाने में रहा करता था। उन्हीं दिनों एक श्रमण, बुद्ध भगवान् के पुनीत सिद्धान्तों (नाना प्रकार के सूत्र और शास्त्रों) की खोज में भारतवर्ष में घूमता फिरता था। राजा ने मुझको दान करके उस श्रमण को दे दिया। मैं बौद्ध-धर्म की पुस्तकों को पीठ पर लादे हुए इस स्थान पर आया और थोड़े दिनों में अकस्मात् मर गया। उन पुनीत पुस्तकों को पीठ पर लादने के प्रभाव से मेरा जन्म मनुष्य-योनि में हुआ। थोड़े दिनों पीछे मेरी पुनः मृत्यु होने पर अपने पूर्व पुण्य के प्रताप से मैं दूसरे जन्म में संन्यासी हो गया और निराश्रय होकर सांसारिक बंधनों से मुक्त होने का प्रयत्न करने लगा। मुझको छहों परमतम शक्तियों की प्राप्ति होगई और मैंने तीनों लोकों के सुख-सम्बन्ध को परित्याग कर दिया। परन्तु भोजन के समय

मेरी पुरानी आदत बनी रही, तो भी मैं अपनी क्षुधा के घटाने का नित्यप्रति प्रयत्न करता ही रहा। इस समय मेरे शरीर के पोषण के निमित्त जितने भोजन की आवश्यकता है उसका तृतीयांश ही भोजन करता हूँ।" यद्यपि उसने यह सब वर्णन किया परन्तु लोग उसकी हँसी ही उड़ाते रहे। थोड़ी देर के उपरान्त वह समाधिस्थ होकर आकाशगामी हो गया और उसके शरीर से अग्नि और धुवाँ निकलने लगा। इस तरह पर वह निर्वाण को प्राप्त हो गया और उसकी हड्डियाँ भूमि पर गिर पड़ीं जिनको बटोर कर लोगों ने स्तूप बना दिया।

राजधानी से पश्चिमोत्तर २०० ली चलकर हम मैलिन सङ्घाराम में आये। इस स्थान पर पूर्ण शास्त्री ने विभाषा-शास्त्र की टीका रची थी।

नगर के पश्चिम १४० या १५० ली की दूरी पर एक बड़ी नदी बहती है जिसके उत्तरी किनारे की ओर पहाड़ की दक्षिणी ढाल पर एक संघाराम 'महासंघिक' सम्प्रदायवालों का बना हुआ है इसमें लगभग १०० संन्यासी निवास करते हैं। इस स्थान पर 'बोधिल' शास्त्री ने 'तत्त्वसंचय शास्त्र' की रचना की थी। यहाँ से दक्षिण-पश्चिम जाकर और कुछ पहाड़ तथा करारों को नाँघ कर लगभग ७०० ली की दूरी पर हम पुन्नुसो प्रान्त में पहुँचे।

पुन्नुसो (पुनच[1])

यह राज्य लगभग २,००० ली के घेरे में है। पहाड़ों और

[1] जनरल कनिंघम लिखते हैं कि 'पुनच' एक छोटा सा राज्य है जिसको कश्मीरी लोग पुनट कहते हैं। इसके पश्चिम में झेलम नदी, उत्तर में पीर पञ्जाल पहाड़, और पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में छोटा सा राज्य 'राजपुरी' है।

नदियों की बहुतायत के कारण खेती के योग्य भूमि बहुत कम है। समयानुसार फ़सलें बोई जाती हैं और फल-फूल अच्छे होते हैं। ईख भी बहुत होती है परन्तु अङ्गूर नहीं होते। आँवला, उदुम्बर और मोच इत्यादि फल अच्छे और अधिक बोये जाते हैं। इनके जङ्गल के जङ्गल लगे हुए हैं। इनका स्वाद बहुत उत्तम होता है। प्रकृति गर्म और तरी लिये हुए हैं। मनुष्य बहादुर होते हैं। ये लोग प्रायः रुई के वस्त्र पहनते हैं। इनका व्यवहार सच्चा और धर्मशील होता है, तथा बौद्ध-धर्म का प्रचार है। पाँच संघाराम बने हुए हैं जो प्रायः उजाड़ हैं। राज्य का कोई स्वतन्त्र स्वामी नहीं है, कश्मीर का अधिकार है। मुख्य नगर के उत्तर एक संघाराम है जिसमें थोड़े से संन्यासी निवास करते हैं। यहाँ पर एक स्तूप बना है जो अद्भुत चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ से ४०० ली दक्षिण-पूर्व जाकर हम 'होलोशीपुलो' राज्य में पहुँचे।

होलोशीपुलो (राजपुरी[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली है और राजधानी १० ली के घेरे में है। प्रकृतितः यह प्रान्त बहुत सुदृढ़ है। बहुत से पहाड़ पहाड़ियाँ और नदियों के कारण खेती के योग्य भूमि बहुत कम है, जिसके कारण कि पैदावार भी कमती होती है। प्रकृति तथा फल इत्यादि पुनच प्रान्त के समान हैं।

[1] जनरल कनिंघम लिखते हैं कि आज-कल का 'रजौरी' स्थान ही राजपुरी है। यह कश्मोर के उत्तर और पुनच के दक्षिण-पूर्व एक छोटे से राज्य का मुख्य नगर है।

मनुष्य फुरतीले और काम-काजी हैं। प्रान्त का कोई स्वाधीन राजा नहीं है, किन्तु यह कश्मीर के अधीन है। कोई १० संघाराम हैं जिनमें थोड़े से साधु रहते हैं। बहुत से अन्य धर्मावलम्बी भी रहते हैं जिनके देवताओं का एक मन्दिर है। लमघान प्रदेश से लेकर यहाँ तक के पुरुषों का स्वरूप सुन्दर नहीं है तथा स्वभाव भयानक और क्रोधी हैं। इनकी भाषा भद्दी और असभ्य है। कठिनता से कदाचित् कोई आचरण इनका शुद्ध मिले, नहीं तो पूर्णतया असभ्यता ही का राज्य है। इन लोगों का भारत से ठीक सम्बन्ध नहीं है। ये लोग सीमान्त प्रदेश के निवासी और दुष्ट स्वभाव के पुरुष हैं। यहाँ से पूर्व-दक्षिण चलकर पहाड़ों और नदियों को नाँघते हुए लगभग ७०० ली की दूरी पर हम 'टसिहकिया' राज्य में पहुँचे।

———

चौथा अध्याय

१५ प्रदेशों का वर्णन

टसिहकिया (टक्का[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग १०,००० ली है। इसकी पूर्वी सीमा पर विपासा[2] नदी बहती है और पश्चिमी सीमा पर सिन्धु नदी है। राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। भूमि चावलों के लिए बहुत उपयुक्त है तथा देर की बोई हुई फसलें अच्छी होती हैं। इसके अतिरिक्त सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा और एक प्रकार का पत्थर 'टिश्रोयू'[3] भी होता है। प्रकृति

[1] राजतरंगिणी में लिखा है कि वाहिक लोगों का टक्क देश गुर्जर राज्य का भाग है जिसको अलखान राजा ने विवश होकर कश्मीर राज को सन् ८८३ और ९०१ ई० के मध्य में सौंप दिया था। टक्क लोग चिना नदी के किनारे रहते थे और किसी समय में बड़े बलवान् थे, सारा पंजाब इनके अधीन था; इन्हीं टक्क लोगों का राज्य कदाचित् 'टसिहकिया' कहलाता होगा।

[2] व्यास नदी।

[3] यह नाम हुएन सांग ने बहुधा लिखा है। यह वस्तु समभाग ताँबा और जस्ता मिलाकर बनती थी, अथवा इसको देशी ताँबा भी कहते हैं।

बहुत गर्म और आँधियों का ज़ोर रहता है। मनुष्य चालाक और अन्यायी हैं तथा भाषा भद्दी और ऊटपटाङ्ग है। इनके वस्त्र एक चमकदार महीन रेशेवाली वस्तु के बनते हैं जिसको ये लोग कियावचेये (कौशेय, रेशम) कहते हैं। ये लोग चौहिया[1] तथा दूसरे प्रकार के वस्त्र भी धारण करते हैं। बुद्ध-धर्म के माननेवाले थोड़े हैं, अधिकतर लोग स्वर्गीय देवताओं के लिए यज्ञ हवन आदि करते हैं। लगभग दस संघाराम और कई सौ मन्दिर हैं। प्राचीनकाल में यहाँ पर बहुत सी पुण्य-शाला दरिद्रों और अभागों के रहने के लिए बनी थीं जहाँ से भोजन, वस्त्र, ओषधियाँ आदि आवश्यक वस्तुएँ लोगों को मिला करती थीं। इस कारण यात्रियों को बहुत सुख मिलता था।

राजधानी के दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग १४ या १५ ली चलकर हम प्राचीन नगर 'शाकल' में पहुँचे। यद्यपि इसकी चहारदीवारी गिर गई है परन्तु उसकी नींव अब तक मज़बूत बनी हुई है। इसका क्षेत्रफल २० ली है। इसके मध्य में एक छोटा सा नगर ६-७ ली के घेरे में बसा है। निवासी सुखी और धनी हैं। देश की प्राचीन राजधानी यही है। कई शताब्दी व्यतीत हुई जब 'मिहिरकुल' नामक एक राजा हो गया है जिसने इस नगर को राजधानी बनाकर समस्त भारत का शासन किया था। वह बहुत ही बुद्धिमान् और वीर पुरुष था। उसने निकटवर्ती सब प्रान्तों पर अधिकार कर लिया था। सब तरफ़ से निश्चिन्त होकर उसने बौद्ध-धर्म की जाँच करने का विचार किया इस कारण उसने आज्ञा दी कि जो

[1] चौहिया यह लाल रंग की पोशाक होती थी।

सबसे बड़ा विद्वान् संन्यासी हो वह मेरे निकट लाया जावे। परन्तु किसी भी संन्यासी ने उसके निकट जाना स्वीकार न किया क्योंकि जो लोग सन्तुष्ट थे और किसी बात की इच्छा न रखते थे उन्होंने प्रतिष्ठा की परवाह न की, और जो बहुत योग्य विद्वान् तथा प्रसिद्ध पुरुष थे उनको राजकीय दान की आवश्यकता न थी। इस समय राजा के सेवकों में एक वृद्ध नौकर था जो बहुत दिनों तक धर्म की सेवा कर चुका था। यह पुरुष बहुत योग्य विद्वान् सुवक्ता और शास्त्रार्थ के उपयुक्त था। संन्यासियों ने उसी को राजा के समक्ष भेज दिया। राजा ने कहा कि 'मैं बौद्ध-धर्म की बड़ी प्रतिष्ठा करता हूँ इस कारण मैंने दूर देशस्थ प्रसिद्ध विद्वान् से भेंट करने की इच्छा की थी, परन्तु उन लोगों ने इस सेवक को बातचीत के लिए छाँट कर भेजा है। मेरा सदा से यही विचार था कि बौद्ध लोगों में बहुत से योग्य विद्वान् हैं परन्तु आज जो बात देखने में आई है उस से भविष्य में उन लोगों के प्रति मेरा पूज्य भाव कैसे रह सकता है?' इसके उपरान्त उसने आज्ञा दी कि सब बौद्ध भारत से निकाल दिये जावें, उनका धर्म नाश कर दिया जावे यहाँ तक कि चिह्न भी न रहने पावे।

मगधराज बालादित्य बौद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा और प्रजा का पालन बहुत प्रेम से करता था। जिस समय उसने 'मिहिरकुल' राजा के इस अन्याय और दुष्टता का समाचार सुना वह बहुत सावधानी के साथ अपने राज्य की रक्षा में तत्पर होकर उसकी अधीनता से विमुख होगया। मिहिरकुल ने उसको परास्त करने के लिए चढ़ाई की। बालादित्य राजा ने इस समाचार को पाकर अपने मंत्री से कहा कि मैंने सुना है कि चोर लोग आते हैं मैं उनसे युद्ध नहीं कर सकता; यदि

तुम कहो तो मैं किसी टापू के जंगल में भाग कर छिप रहूँ। यह कहकर उसने राजधानी परित्याग कर दी और पहाड़ों तथा जङ्गलों में घूमने लगा। राजा के साथी लोग भी जो कई हज़ार थे और जो उससे बहुत प्रेम करते थे, भागकर समुद्र के टापुओं में चले गये। मिहिरकुल अपनी सेना को अपने भाई के सुपुर्द करके बालादित्य को वध करने के निमित्त अकेला समुद्र के किनारे पहुँचा। राजा तो भागकर एक दर्रे में चला गया और उसकी थोड़ी सी सेना जो शत्रु से लड़ने के लिए तैयार थी सोने का नगाड़ा बजाती हुई सहसा चारों ओर से दौड़ पड़ी और मिहिरकुल को पकड़कर राजा के सम्मुख ले गई।

मिहिरकुल ने अपनी हार से लज्जित होकर अपने मुख को वस्त्र से बन्द कर लिया। बालादित्य ने सिंहासन पर बैठकर अपने मंत्रियों को आज्ञा दी कि राजा से कहो कि अपना मुह खोल दे जिसमें मैं उससे बातचीत कर सकूँ।

मिहिरकुल ने उत्तर दिया कि 'प्रजा और राजा में अदल-बदल हो गया है इस कारण दोनों परस्पर शत्रु-भाव रखते हैं। शत्रु का मुख शत्रु को देखना उचित नहीं है इसके अतिरिक्त बातचीत करने के लिए मुख खोलने से लाभ ही क्या है?'

बालादित्य ने तीन बार मुँह खोलने की आज्ञा दी परन्तु कुछ फल नहीं हुआ, तब उसने क्रुद्ध होकर राजा के अपराधों को प्रकाशित करते हुए यह आज्ञा दी कि 'धार्मिक ज्ञान का क्षेत्र, जिसका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से है, सब संसार को सुखी करने के लिए है, परन्तु तुमने उसको जङ्गली पशु के समान तहस-नहस कर दिया। इससे तुम पापी होगये। साथ ही इसके तुम्हारे भाग्य ने भी तुम्हारा साथ छोड़ दिया, अब तुम

मेरे बन्दी हो। तुम्हारा अपराध ऐसा नहीं है जिसमें कुछ भी क्षमा को स्थान दिया जा सके, इस कारण मैं तुमको प्राणदंड की आज्ञा देता हूँ।'

बालादित्य की माता अपनी बुद्धिमत्ता–विशेषकर ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान के लिए बहुत प्रसिद्ध थी। उसने सुना कि 'मिहिरकुल' को प्राणदण्ड देने के लिए लोग लिये जाते हैं। तब उसने बालादित्य को बुलाकर कहा कि 'मैंने सुना है कि 'मिहिरकुल' बड़ा ही स्वरूपवान् और ज्ञानवान् पुरुष है, मैं एक बार उसको देखा चाहती हूँ' बालादित्य ने मिहिरकुल को बुलवाकर माता के पास महल में भेज दिया। माता ने कहा "मिहिरकुल, लज्जित मत हो, सांसारिक वस्तुएँ स्थिर नहीं होतीं, हार जीत समयानुसार एक दूसरे के पीछे लगी ही रहती हैं; इस कारण इसका कुछ शोक न करना चाहिए। मैं तुमको अपना पुत्र और अपने को तुम्हारी माता समझती हूँ, मेरे सामने तुम अपना मुँह खोलकर मेरी बात का उत्तर दो।" मिहिरकुल ने उत्तर दिया, "थोड़ा समय हुआ जब मैं जित प्रदेश का राजा था और इस समय बन्दी तथा प्राण-दंड से दण्डित हूँ। मैंने अपने राज्य को खो दिया तथा अपने धार्मिक-कृत्य से भी मैं विमुख हो रहा हूँ। मैं अपने बड़ों और छोटों के सम्मुख लज्जित हो रहा हूँ तथा सत्य बात तो यह है कि मैं किसी के सामने मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा: चाहे स्वर्ग हो या पृथ्वी–मेरा कहीं भी कल्याण नहीं है। इस कारण मैंने अपना मुँह अपने वस्त्र से ढक लिया है" राज-माता ने उत्तर दिया, "दुख-सुख समयानुसार मिलते हैं; मनुष्य को कभी लाभ होता है तो कभी हानि। यदि तुम अवस्थानुसार दुख से दुखी और सुख से सुखी होगे तो अवश्य क्लेशित होगे, परन्तु यदि तुम

दशा पर ध्यान न देकर उन्नति की ओर दत्तचित्त होगे तो अवश्य फलीभूत होगे। मेरा कहा मानो, कर्म्मों का फल समय के आश्रित है, मुँह खोलकर मुझसे बातें करो। कदाचित् तुम्हारे प्राणों को मैं बचा दूँ।" मिहिरकुल ने उसको धन्यवाद देकर कहा कि मेरे सर्वथा अयोग्य होने पर भी मुझको पैत्रिक राज्य मिला था, परन्तु मैंने दंडित होकर उस राज्य-सत्ता को कलंकित कर दिया तथा राज्य को भी खो दिया। यद्यपि मेरे बेड़ियाँ पड़ी हैं परन्तु मेरी इच्छा अभी मरने की नहीं है, चाहे एक ही दिन जीवित रहूँ। इस कारण तुम्हारे अभय दान के लिए मैं मुँह खोलकर धन्यवाद देता हूँ। इसके उपरान्त उसने अपना वस्त्र हटाकर मुँह खोल दिया। राज-माता ने इन वचनों को कहकर कि 'मेरा पुत्र यद्यपि मुझको बहुत प्यारा है परन्तु उसका भी जब समय पूरा होगा तो अवश्य मृत्युगत होगा।' अपने पुत्र से कहा कि प्राचीन नियमानुसार यही उचित है कि इसके अपराधों को क्षमा कर दो और प्राण-रक्षा के प्रेम को मत भूलो। यद्यपि मिहिरकुल ने अपने कलुषित कार्यों से बड़ा भारी पातक-समूह बटोर लिया है तो भी उसका पुण्य बिलकुल निश्शेष नहीं हो गया है। यदि तुम इसको मार डालोगे तो बारह वर्ष तक इसका पीला-पीला मुख तुम्हारे सामने नित्य दिखाई पड़ेगा। मुझको इसके ढंग से मालूम होता है कि यह अवश्य किसी छोटे प्रदेश का राजा होगा इस कारण इसको उत्तर दिशा के किसी छोटे से स्थान में राज्य करने की आज्ञा दे दो।

बालादित्य ने अपनी माता की आज्ञा मानकर मिहिरकुल के साथ बड़ी कृपा करते हुए उसके साथ अपनी छोटी लड़की को ब्याह दिया और सत्कारपूर्वक अपनी सेना की

रक्षा में उसको टापू से रवाना कर दिया। इधर मिहिरकुल का भाई स्वदेश को लौटकर स्वयं राजा बन बैठा। मिहिर-कुल इस प्रकार अपने राज्य को खोकर जङ्गलों और टापुओं में छिपता हुआ उत्तर दिशा में कश्मीर पहुँचा और शरण का प्रार्थी हुआ। कश्मीर-नरेश ने उसका बड़ा सत्कार करके तथा उसके दुख से दुखित होकर एक छोटा सा प्रदेश और एक नगर राज्य करने के लिए दे दिया। कुछ काल उपरान्त मिहिरकुल ने अपने नगर के लोगों को उत्तेजित करके कश्मीर पर चढ़ाई कर दी तथा राजा को मारकर स्वयं सिंहासन पर बैठ गया। इस जीत से प्रसन्न और प्रसिद्ध होकर वह पश्चिम-दिशा की ओर बढ़ा और गंधार-राज्य को तहस-नहस करके अपनी सेना-द्वारा उसने राजा को पकड़वाकर मार डाला। तथा राज-वंश और मन्त्रिमण्डल का नाश करके सोलह सौ स्तूपों और संघारामों को धूल में मिलवा दिया। इसके अतिरिक्त उसकी सेना ने जितने लोग मारे थे उनको छोड़कर नौ लाख पुरुष ऐसे बाकी थे जिनके मारने की तैयारी हो रही थी, उस समय वहाँ के बड़े बड़े सरदारों ने निवेदन किया कि 'महाराज! आपकी युद्ध-निपुणता ने बड़ी भारी विजय प्राप्त कर ली। हमारी सेना को विशेष लड़ना भी नहीं पड़ा। जब आप सब बड़े बड़े लोगों को परास्त ही कर चुके तब इन छोटे-छोटे पुरुषों को मारने से क्या लाभ है? यदि ऐसा ही है तो इनके स्थान पर हम दीन पुरुषों को मार डालिए।' राजा ने उत्तर दिया कि 'तुम लोग बौद्ध धर्म को माननेवाले हो तथा इस धर्म के गुप्त ज्ञान का विशेष आदर देते हो। तुम्हारा मन्तव्य बोधिसत्व प्राप्त करना ही होता है और उस दशा में तुम अपने जातकों में मेरे कर्मों की अच्छी तरह पर विवेचना

करोगे, जिससे कि अगली सन्तति को लाभ पहुँचेगा। जाओ तुम लोग अपने राज्य को सँभालो और हमारे काम में अधिक मत पड़ो।' उसके उपरान्त उसने तीन लाख उच्च श्रेणी के पुरुषों को सिन्टु नदी के तट पर मरवा डाला, फिर मध्यम श्रेणी के पुरुषों की इतनी ही संख्या को नदी में डुबवा दिया और तृतीय श्रेणी के पुरुषों की उतनी ही संख्या को अपनी सेना में सेवकाई के लिए बाँट दिया। फिर उस देश की लूटी हुई सम्पत्ति को एकत्रित करके और फौज को समेट के अपने देश को लौट गया। परन्तु एक वर्ष भी नहीं बीतने पाया कि उसका प्राणान्त होगया। उसकी मृत्यु के समय बादल गरजने लगे थे, पाले और कुहरे से संसार में अन्धकार छा गया था और पृथ्वी निकम्पित हो उठी थी, तथा बड़ी भारी आँधी आई थी। उस समय महात्माओं ने कहा था कि 'बहुत से जीवों का नाश करने और बौद्ध-धर्म को सत्यानाश करने के कारण इसको सबसे निकृष्ट नर्क प्राप्त हुआ है, जहाँ पर यह अनन्त काल तक निवास करेगा।'

शाकल के प्राचीन नगर में एक संघाराम सौ संन्यासियों समेत है, जो हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। पूर्व काल में वसुबंधु बोधिसत्व ने इस स्थान पर 'परमार्थ सत्य शास्त्र' को बनाया था।

संघाराम के पार्श्व में एक स्तूप २०० फीट ऊँचा है। इस स्थान पर पूर्वकालिक चार बुद्धों ने धर्मोपदेश किया था, जिनके कि इधर-उधर फिरने के निशान यहाँ पर बने हुए हैं।

संघाराम के पश्चिमोत्तर ५ या ६ ली की दूरी पर एक स्तूप २०० फीट ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर भी पूर्वकालिक चार बुद्धों ने धर्मोपदेश

दिया था। नई राजधानी के पूर्वोत्तर लगभग १० ली चलकर हम एक २०० फ़ीट ऊँचे पत्थर के स्तूप तक पहुँचे। यह स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यही स्थान है जहाँ पर तथागत भगवान् उत्तर दिशा में धर्मोपदेश करने के लिए जाते हुए सड़क के मध्य में ठहरे थे। भारतीय इतिहास में लिखा है कि इस स्तूप में बहुत से बौद्धावशेष रक्खे हैं जिनमें से पवित्र दिनों में सुन्दर प्रकाश निकला करता है। यहाँ से लगभग ५०० ली पूर्व को चलकर हम 'चिनापोटी' प्रान्त में पहुँचे।

चिनापोटी (चिनापटी[1])

यह देश २,००० ली के घेरे में है। राजधानी का क्षेत्रफल

[1] यह प्रदेश रावी नदी से सतलज नदी तक फैला हुआ था। कनिंघम साहब 'चिने' अथवा चिनिगरी को राजधानी निश्चय करते हैं जो अमृतसर से ११ मील उत्तर है। (Arch. Survey, Vol. XIV, P. 54) परन्तु दूरी तथा स्थानादि के विचार से कनिंघम साहब का यह निश्चय ठीक नहीं मालूम होता। उदाहरणस्वरूप सुल्तापुर (तामस वन) इस स्थान से १० मील (४० ली) के स्थान पर ६० मील (३०० ली) उत्तर-पश्चिम है। इसके अतिरिक्त जालंधर शहर उत्तर-पूर्व के स्थान पर 'चिने' से दक्षिण-पूर्व में है तथा दूरी भी २८ या ३० मील के स्थान पर ७० मील है। इसलिए बहुत प्राचीन और बड़ा कस्बा जिसको पट्टी कहते हैं, और जो व्यास नदी से १० मील पश्चिम और 'कसूर' से २७ मील उत्तर-पूर्व है, दूरी और दिशा इत्यादि के अनुसार ठीक मालूम होता है। एक बात और बड़ी गड़बड़ की है कि कनिंघम साहब के नक़्शे में (Anc. Geog. of Ind.) जो दूरी विदित होती है उसका मिलान उनकी पुस्तक (Arch. Survey) से नहीं होता।

१४ या १५ ली है। यहाँ पर फ़सलें अच्छी होती हैं तथा फलदार वृक्ष भी बहुत हैं। मनुष्य सन्तोषी और शान्त हैं; देश की आय अच्छी है। प्रकृति गर्म-तर है और मनुष्य डरपोक और उत्साह-रहित हैं। अनेक प्रकार की पुस्तकों और विद्याओं का पठन-पाठन होता है। कुछ लोग बौद्ध-धर्म को मानते हैं और कुछ दूसरे धर्मों को। दस संघाराम और आठ देव-मन्दिर बने हुए हैं।

प्राचीन समय में, जब राजा कनिष्क राज्य करता था, उसकी कीर्ति निकटवर्ती सब प्रदेशों में अच्छी तरह पर फैल गई थी और सबके हृदयों पर उसकी सेना का आतंक जमा हुआ था। इस कारण पीत नद से पश्चिम में राज्य करनेवाले राजाओं ने भी उसकी प्रभुता स्वीकार करने के लिए कुछ मनुष्य उसकी सेवा में भेज दिये थे जिनको कनिष्क राजा ने बड़े सत्कार के साथ ग्रहण किया था। इन आगन्तुक लोगों के रहने के लिए तीनों ऋतुयोग्य अलग अलग स्थान नियत थे तथा विशेष सेना इनकी रक्षा करती थी। यह प्रदेश उन लोगों के शीत ऋतु में निवास करने के लिए नियत था। इसी कारण से इस स्थान का नाम 'चीनापट्टी' कहा जाता है। इसके पहले यहाँ नासपाती और आड़ू नहीं होता था यहाँ तक कि भारत भर में कोई भी इनके स्वाद से परिचित न था। इन्हीं आगन्तुक पुरुषों ने इन वृक्षों को इस देश में पैदा किया। इस सबब से आड़ू को लोग 'चीनानी'[1] और नासपाती को 'चीन राजपुत्र' कहते हैं। तथा पूर्व देशनिवासियों का बड़ा सम्मान करते हैं। यहाँ तक कि

[1] कनिंघम साहब भी इस बात को स्वीकार करते हैं और लिखते हैं कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त में चीना आड़ू अब तक बोला जाता है।

जब लोगों ने मुझको देखा तो उँगली उठा उठाकर एक दूसरे से कहने लगे कि यह व्यक्ति हमारे प्राचीन राजा के देश का निवासी है[1]।

राजधानी के दक्षिण-पूर्व ५०० ली[2] की दूरी पर हम 'तामस-वन' नामक संघाराम में पहुँचे। इसमें लगभग ३०० संन्यासी निवास करते हैं जिनका सम्बन्ध सर्वास्तिवाद संस्था से है। ये लोग अपने शील-स्वभाव और शुद्ध आचरण के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं तथा हीनयान-सम्प्रदाय के अनुसार धार्मिक कृत्य करते हैं। भद्रकल्प में होनेवाले १,००० बुद्ध इस स्थान पर देवताओं को पुनीत धर्म की शिक्षा देंगे। बुद्ध भगवान् के निर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् कात्यायन शास्त्री ने इस स्थान पर 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान' शास्त्र की रचना की थी[3]। तामस वन

[1] अर्थात् राजा कनिष्क और उसके साथी यूएची स्थान के गुशान जाति में से थे और चीन की सीमा से आये थे।

[2] हुएन सांग की जीवनी में चीनापट्टी से तमस वन की दूरी ५० ली लिखी है, जो कदाचित् ठीक है। ५०० ली नक़ल करनेवाले ने भूल से लिख दिया होगा। कनिंघम साहब ने इस संघाराम को सुल्तापुर में निश्चय किया है। जलंधर दुआब में यह एक बड़ा क़स्बा है।

[3] इस पुस्तक का अनुवाद चीनी भाषा में सन् ३८३ ई० के लगभग संघदेव इत्यादि ने किया था। दूसरा अनुवाद सन् ६५७ ई० में हुएन सांग ने किया। यदि बुद्धदेव का निर्वाण-काल कनिष्क से ४०० वर्ष पूर्व माना जाय तो कात्यायन का समय ईसा से २० वर्ष प्रथम अथवा प्रथम शताब्दी का आदि काल माना जायगा। (देखो Weber Sansk. Liter., P. 222)

संघाराम में एक स्तूप २०० फ़ीट ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इसके निकट चारों बुद्धों के बैठने और चलने-फिरने के चिह्न बने हुए हैं। यहाँ पर अगणित छोटे छोटे स्तूप और पत्थर के बड़े बड़े मकानों की पाँतियाँ आमने-सामने दूर तक चली गई हैं। कल्प की आदि से लेकर अब तक जितने अरहट हुए हैं वह सब इसी स्थान पर निर्वाण प्राप्त करते रहे हैं। इन सबका नामोल्लेख करना कठिन है, हाँ दाँत और हड्डियाँ अब भी मौजूद हैं। यहाँ पर इतने अधिक संघाराम बने हैं जिनका विस्तार २० ली के घेरे में है तथा बौद्धावशेष संयुक्त स्तूपों की संख्या तो सैकड़ों हज़ारों तक पहुँचेगी। ये सब इतने निकट निकट बने हुए हैं कि एक की परछाईं दूसरे पर पड़ती है। इस देश से पूर्वोत्तर १४० या १५० ली चलकर हम 'चेलनटालो' स्थान पर पहुँचे।

चेलनटालो (जालंधर)

यह राज्य १,००० ली पूर्व से पश्चिम और ८०० ली उत्तर से दक्षिण की ओर विस्तृत है। राजधानी का क्षेत्रफल १२-१३ ली है। भूमि अन्नादि की खेती के लिए बहुत उपयुक्त है तथा चावल अधिक होता है। जङ्गल घने और छायादार हैं; फल और फूल भी बहुत होते हैं। प्रकृति गरम-तर और मनुष्य वीर और बली हैं; परन्तु इनका स्वरूप साधारण देहातियों का सा है। सब लोग धनी और सुखी हैं। लगभग ५० संघाराम २,००० संन्यासियों के सहित हैं जिनका सम्बन्ध 'हीनयान' और 'महायान' दोनों सम्प्रदायों से है। तीन मन्दिर देवताओं के और ५०० अन्य धर्मावलम्बी साधु हैं जो पाशुपत कहलाते हैं। इस देश का कोई

प्राचीन नरेश अन्य धर्मावलम्बियों का बड़ा पक्षपाती था, परन्तु जिस समय उसकी भेंट एक अरहट से हुई और उसने बौद्धधर्म को सुना तभी से उसका विश्वास इस ओर अच्छी तरह जम गया। फिर उस राजा ने उस अरहट को भारतवर्ष भर के धार्मिक कार्यों की जाँच का काम सुपुर्द कर दिया। पक्षपात, प्रेम तथा द्वेष को छोड़कर वह बहुत ही योग्यता से सब धर्म के साधुओं की परीक्षा लेता रहा। जिनका आचरण शुद्ध और धार्मिक होता था उनकी प्रतिष्ठा करके उत्तम प्रतिफल देता था, और विपरीत आचरणवालों को दंडित करता था। जहाँ जहाँ पर पवित्र वस्तुओं का पता मिला वहाँ वहाँ उसने स्तूप और संघाराम बनवाये तथा कोई भी स्थान भारतवर्ष भर में नहीं बच रहा जहाँ की यात्रा उसने न की हो। यहाँ से पूर्वोत्तर की ओर चल कर कई एक ऊँचे ऊँचे पहाड़ों के दर्रों और घाटियों को नाँघते हुए तथा भयानक रास्ते और नालों को पार करते हुए लगभग ७०० ली की दूरी पर हम 'कियेलूटो' प्रदेश में पहुँचे।

कियेलूटो (कुलूट[1])

यह प्रदेश ३,००० ली के घेरे में है और चारों ओर पहाड़ों से सुसम्बद्ध है। मुख्य शहर का क्षेत्रफल १४ या १५ ली है। भूमि उपजाऊ है, फ़सलें सब समय पर बोई और काटी जाती हैं। फल-फूल बहुत होते हैं तथा वृक्षों और पौधों से अच्छी

[1] व्यास नदी के ऊपरी भाग का कुलू का ज़िला। इसको कोलूक और कोलूट भी कहते है। रामायण बृहत्संहिता इत्यादि में भी इसका नाम आया है। कनिंघमसाहब लिखते है कि इसका मुख्य स्थान वर्तमान काल में सुल्तांपुर है। प्राचीन काल में नगर अथवा नगरकोट था।

पैदावार होती है। हिमालय पहाड़ के निकट होने के कारण बहुत सी बहुमूल्य जड़ी-बूटियाँ पैदा होती हैं। सोना, चाँदी, ताँबा, बिल्लौर और देशी ताँबा भी होता है। प्रकृति प्रायः शीत-प्रधान है, बर्फ़ और पाला अधिक पड़ता है। मनुष्यों का स्वरूप विशेष सुन्दर नहीं है। फोड़ा फुंसी इत्यादि से बहुधा लोग पीड़ित रहते हैं। इनका स्वभाव भयानक और कठोर है। ये लोग न्याय और वीरत्व की बड़ी चाह करते हैं। लगभग २० संघाराम और १,००० संन्यासी हैं जो अधिकतर महायान-सम्प्रदायी हैं। अन्य निकाय (सम्प्रदाय) के माननेवाले कम हैं। १५ देवमन्दिर हैं जिनके माननेवालों की अनेक संस्थायें हैं।

पहाड़ों की करारों और चट्टानों में बहुत सी गुफाएँ बनी हैं जिनमें अरहट और ऋषि लोग निवास करते हैं। देश के मध्य में एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। प्राचीन समय में तथागत भगवान् अपने शिष्यों समेत लोगों को धर्मोपदेश देने के लिए यहाँ पधारे थे उसी के स्मारक में यह स्तूप बना है।

यहाँ से उत्तर दिशा में भयानक कगारों के रास्ते, पहाड़ों और घाटियों में होते हुए लगभग १,८००-१,९०० ली की दूरी पर हम 'लोउलो' (लाहुल) प्रदेश में पहुँचे।

यहाँ से २,००० ली उत्तर की ओर भयानक कगारों के मार्ग से, जहाँ पर बर्फ़ीली हवा चलती है, हम 'मोलोसो'[१] देश को पहुँचे।

[१] इस देश को सन-पो-हो भी कहते हैं और वर्तमान समय का नाम लदाख है। कनिंघम साहब की राय है कि मो-लो-सो के

'कुलूट' प्रदेश को छोड़कर और दक्षिण दिशा में ७०० ली चलकर एक बड़ा भारी पहाड़ और एक बड़ी नदी पार करके हम 'शीटोटउलो' (शतद्रु) प्रदेश में पहुँचे।

शीटोटउलो (शतद्रु[1])

यह राज्य २,००० ली पूर्व से पश्चिम एक बड़ी नदी तक फैला है। राजधानी का क्षेत्रफल १७ या १८ ली है। फल और अन्नादि बहुत होते हैं, सोना-चाँदी और बहुमूल्य पत्थर भी अधिकता से पाये जाते हैं। रेशमी वस्त्रों का प्रचार अधिक है। यह यहाँ बहुत सुन्दर और क़ीमती होता है। प्रकृति गरमतर है। मनुष्यों का स्वभाव कोमल और सुशील है। ये लोग बहुत बुद्धिमान और गुणवान हैं। बड़े और छोटे सब अपने अपने कुलानुसार आचरण में व्यस्त हैं तथा बौद्ध-धर्म से बड़ी भक्ति रखते हैं। राजधानी समेत राज्य भर में १० संघाराम हैं, परन्तु अधिकतर गिरते जाते हैं। इनमें संन्यासी

स्थान पर मार्यो (मो-लो-पो, मारटीन साहब ने माना है) होना चाहिए। यह ठीक है और मारटीन साहब के भी मत से मिलता है, क्योंकि 'मो-लो' और 'मार' में कुछ भेद नहीं है। लदाख प्रान्त का नाम मार्यो अथवा लाल स्थान उस देश की भूमि के रङ्ग के अनुसार है। हुएन सांग ने जालंधर से लदाख की दूरी ४,६०० ली लिखी है, जो बहुत अधिक है। परन्तु, क्योंकि वह स्वयं कुलूत से आगे नहीं गया था इसलिए यह दूरी उसने सुन सुनाकर लिख दी है। इसके अतिरिक्त मार्ग इत्यादि की बीहड़ता भी उन दिनों विशेष थी।

[1] शतद्रु नाम सतलज नदी का है। किसी समय में यह नाम राज्य का भी था जिसकी राजधानी कदाचित् सरहिन्द थी।

भी कम हैं। नगर के दक्षिण-पूर्व ३ या ४ ली की दूरी पर एक स्तूप २०० फ़ीट ऊँचा है जो कि अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इसके अतिरिक्त गत चारों बुद्धों के बैठने और चलने फिरने के भी चिह्न बने हुए हैं। यहाँ से दक्षिण-पश्चिम लगभग ८०० ली चल कर हम 'पोलीयेटोलो' राज्य में आये।

पोलीयेटोलो (पार्यात्र[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल ३,००० ली और राजधानी का १४-१५ ली है। गेहूँ तथा अन्य अन्नादि अच्छा होता है। यहाँ एक विचित्र-प्रकार का चावल होता है जो साठ दिन में तैयार हो जाता है। बैल और भेड़ बहुत हैं परन्तु फल-फूल कम। प्रकृति गर्म और दुखद है। मनुष्यों का आचरण दृढ़ और कठोर है[2]। इनको विद्या से प्रेम नहीं है तथा धर्म भी बौद्ध नहीं है। यहाँ राजा वैश्य जाति का है जो वीर, बली और बड़ा लड़ाकू है। कुल ८ संघाराम उजड़े पुजड़े हैं जिनमें थोड़े से, हीनयान-सम्प्रदायी संन्यासी निवास करते हैं। देवमन्दिर दस हैं जिनमें भिन्न भिन्न प्रकार के १,००० उपासक हैं। यहाँ से ५०० ली पूर्व दिशा में चलकर हम मोटउलो प्रदेश में पहुँचे।

[1] हुएन सांग ने पार्यात्र से मथुरा तक की दूरी ५०० ली (१०० मील) और मथुरा से पार्यात्र को पश्चिम दिशा में लिखा है, जिससे इसका विराट या वैराट होना ठीक पाया जाता है; परन्तु सरहिन्द से इस स्थान तक की दूरी ८०० ली का ठीक मिलान नहीं होता। सरहिन्द से विराट २२० मील दक्षिण दिशा में है।

[2] विराट देश के लोग सदा से वीर होते आये हैं, इसी लिए मनु ने लिखा है कि मत्स्य अथवा विराट के लोग सेना में भरती किये जायँ।

मोटउलो (मथुरा)

इस राज्य का क्षेत्रफल ५,००० ली और राजधानी का २० ली है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है तथा अन्नादि अच्छा होता है। यहाँ के लोग 'आमलक' के पैदा करने में बहुत ध्यान देते हैं जो झुंड का झुंड पैदा होता है। यह वृक्ष दो प्रकार का होता है। छोटी जातिवाले का फल कच्चेपन पर हरा और पकने पर पीला हो जाता है, तथा बड़ी जातिवाले का फल सदा हरा रहता है। इस देश में बढ़िया जाति की कपास और पीत स्वर्ण भी उत्पन्न होता है। प्रकृति कुछ गर्म और मनुष्यों का व्यवहार कोमल तथा आदरणीय है। ये लोग धार्मिक ज्ञान को गुप्तरूप से उपार्जन करना अधिक पसन्द करते हैं। तथा परोपकार और विद्या की प्रतिष्ठा करते हैं। लगभग २० संघाराम और २,००० संन्यासी हैं जो समानरूप से हीनयान और महायान-सम्प्रदाय के आश्रित हैं। पाँच देवमन्दिर भी हैं जिनमें सब प्रकार के साधु उपासना करते हैं। तीन स्तूप अशोक राजा के बनवाये हुए हैं। गत चारों बुद्धों के भी अनेक चिह्न वर्तमान हैं। तथागत भगवान् के पुनीत साथियों के शरीरावशेष पर भी स्मारक-स्वरूप कई स्तूप बने हैं। जैसे श्रीपुत्र, मुद्गलपुत्र, पूर्णमैत्रेयाणिपुत्र, उपाली, आनन्द, राहुल, मञ्जुश्री तथा अन्य बोधिसत्व इत्यादि। प्रत्येक वर्ष तीनों धार्मिक महीनों में और प्रत्येक मास के षट् व्रतोत्सवों के अवसर पर संन्यासी लोग इन स्तूपों के दर्शनों को आते हैं और अभिवादन पूजन करके बहुमूल्य वस्तुओं को भेट करते हैं। ये लोग अपने अपने सम्प्रदायानुसार अलग अलग पुनीत स्थानों का दर्शन-पूजन करते हैं। जो लोग 'अभिधर्म' का अभ्यास करते हैं वे श्रीपुत्र को, जो समाधि

में मग्न होनेवाले हैं वे मुद्गलपुत्र को, जो सूत्रों का पाठ करते हैं वे पूर्णमैत्रेयाणिपुत्र को, जो विनय का अध्ययन करते हैं वे उपाली को, भिक्षु लोग आनन्द को, श्रमण राहुल को; और महायान-सम्प्रदायी बोधिसत्वों को सम्मान देकर अनेक प्रकार की भेट पूजा चढ़ाते हैं। रत्नजटित झंडे और बहु-मूल्य छत्र जाल की तरह सब ओर फैल जाते हैं। सुगंधित द्रव्यों का धूम बादलों के समान छा जाता है और मेह के समान फूलों की वृष्टि सब तरफ़ होती है। सूर्य, चन्द्र उसी प्रकार छिप जाते हैं जिस प्रकार घाटियों में बादलों के उठने से। देश का राजा और बड़े बड़े मंत्री लोग भी बड़े उत्साह के साथ यहाँ पर आकर धार्मिक उत्सव मनाते हैं।

नगर के पूर्व लगभग ५ या ६ ली की दूरी पर हम 'एक ऊँचे संघाराम' में आये। इसके पार्श्व में गुफाएँ बनी हैं। हम इसके भीतर फाटक के समान एक सुरंग में होकर गये[1]।

[1] इस स्थान पर कुछ गड़बड़ है। पहली बात तो नगर के स्वरूप के विषय में है। यमुना नदी नगर के पूर्व ओर बराबर बहती चली गई है। परन्तु हुएन सांग ने उसका कुछ वृत्तान्त नहीं दिया, दूसरी बात यह है कि हुएन सांग लिखता है कि नगर के पूर्व पांच छः ली की दूरी पर 'थिहशनकिश्रालन' (one Mountain—Sangharam) है। मथुरा के आस पास एक मील तक कोई पहाड़ नहीं है। कनिंघम साहब की राय है कि यदि पूर्व के स्थान पर पश्चिम माना जाय तो (Arch. Survey of Ind., Vol. III, P. 28) भी चौबारा टीले में जो लगभग डेढ़ मील है, कोई सुरङ्ग इस प्रकार की नहीं है जैसा हुएन सांग लिखता है। और यदि उत्तर माना जाय तो कटरा टीला नगर से एक मील पर नहीं है। पहाड़ (Mountain) के विषय में सेमुयल

जिसको महामान्य उपगुप्त[1] ने बनवाया था। इसमें एक स्तूप है जहाँ तथागत भगवान् के कटे हुए नाखन रक्खे हुए हैं। संघाराम के उत्तर में एक गुफा में एक पत्थर की कोठरी २० फ़ीट ऊँची और ३० फ़ीट विस्तृत है। इस कोठरी में छोटे छोटे

बील साहब की राय है कि चीनी भाषा का शब्द शन (Mountain) छापे की अशुद्धि है। जनरल साहब का विचार है कि यह भवन इतना अधिक ऊँचा होगा जिसमें हुएन सांग ने उसकी उपमा पहाड़ से दी होगी। यदि यही बात है तब तो गड़बड़ मिट सकती है; परन्तु यह अनुमान ही अनुमान है, वाक्य-विन्यास से ऐसी ध्वनि नहीं निकलती। परन्तु एक बात अवश्य है कि पूर्वकालिक चीनी यात्रियों ने ऊँचे ऊँचे टीलों को (जैसे सुल्तांपुर के ऊँचे ऊँचे टीले) Mountain Convents लिखा है इसलिए जनरल कनिंघम साहब का विचार समुचित है और इसी लिए हमने mountain (पहाड़) शब्द के स्थान पर ऊँचा संघाराम लिखा है, और valley (घाटी) के स्थान पर सुरङ्ग शब्द लिखा है।

[1] उपगुप्त जाति का शूद्र था। यह महात्मा १७ वर्ष की अवस्था में साधु हो गया था और तीन वर्ष के कठिन परिश्रम में 'मार राजा' को परास्त करके अरहट अवस्था को प्राप्त हुआ था। यह चौथा महा-पुरुष था जिसने मथुरा में धर्म का अभ्यास किया था (देखो Eital hand-book S. voc.) इसके मार-युद्ध का वर्णन अश्वघोष ने अपने पदों में पूर्ण रीति से किया है। उपगुप्त समाधि में मग्न था; मार राजा ने आकर फूलों की माला उसके सिर पर रख दी। समाधि टूटने पर और उस माला को देखकर उसको आश्चर्य हुआ और इस-लिए पूरा भेद मालूम करने की इच्छा से वह पुनः समाधिमग्न हो गया। यह जान कर कि यह मार का काम है, उसने एक शव को मार

लकड़ी के टुकड़े चार इंच लम्बे भरे हुए हैं। महात्मा उपगुप्त अपने धर्मोपदेश से जब किसी स्त्री पुरुष को शिष्य करता था, जिससे कि वे भी अरहट पद का फल प्राप्त कर सकें, तब एक लकड़ी का टुकड़ा इस कोठरी में डाल देता था। जिन लोगों को वह शिष्य करता था उनका कोई हिसाब उसके पास नहीं रहता था कि वे किस वंश और किस जाति के लोग थे। इस स्थान से चौबीस पच्चीस ली दक्षिण पूर्व एक सूखी झील के किनारे एक स्तूप है। प्राचीन समय में तथागत भगवान् इस स्थान पर इधर-उधर विचर रहे थे कि एक बन्दर थोड़ा सा मधु उनके निकट ले आया। तथागत भगवान् ने उस बन्दर को आज्ञा दी कि इसमें जल मिलाकर सब संघ (लोगों) को बाँट दो। बन्दर को इस बात से इतनी

राजा की गर्दन में ऐसा जकड़ कर चिपका दिया कि जिसको पार्थिव अपार्थिव (स्वर्गीय) किसी प्रकार की भी शक्ति न छुड़ा सकी। मार राजा उसकी शरण हुआ और अपने अपराधों की क्षमा माँग कर इस बात का प्रार्थी हुआ कि यह शव उससे अलग कर दिया जाय। उपगुप्त ने उसकी प्रार्थना को इस शर्त पर स्वीकार किया कि वह सब लक्षण-सम्पन्न भगवान् बुद्धदेव के स्वरूप में उसको दर्शन देवे। मार राजा ने वैसा ही किया। उपगुप्त ने उस बनावटी (बुद्ध) स्वरूप को बड़ी भक्ति से साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। उपगुप्त 'लक्षणरहित बुद्ध'(अलक्षणको बुद्ध) कहलाता है। (देखो Burnouf Introd. P. 336, N. 4)दक्षिणी बौद्धों में इस महात्मा की प्रसिद्धि नहीं है परन्तु उत्तरी बौद्ध लोगों ने इसको अशोक का सहयोगी लिखा है और इसका काल निर्वाण के सौ वर्ष पीछे माना है। Conf. Edkins, Chin. Buddhism, Pp. 67—70; Lassen. Ind. Alt., Vol. II, P. 1201.

प्रसन्नता हुई कि एक गहरे गढ़े में गिर कर मर गया। इस धार्मिक ज्ञान के बल से उसका जन्म मनुष्य-योनि में हुआ[१]। लेक के उत्तर की ओर जङ्गल में थोड़ी दूर पर गत चारों बुद्धों के घूमने फिरने के चिह्न मिलते हैं। निकट ही बहुत से स्तूप श्रीपुत्र, मुद्गलपुत्र इत्यादि १,२५० महात्मा अरहटों के स्मारक में उस स्थान पर बने हैं जहाँ पर वे लोग योग, समाधि आदि का अभ्यास करते थे। तथागत भगवान धर्मप्रचार के लिए बहुधा इस प्रदेश में आते रहे हैं। जिस जिस स्थान पर वह ठहरे वहाँ वहाँ पर स्मारक बना दिये गये हैं। यहाँ से पूर्वोत्तर ५०० ली चलकर हम 'साट आनी शीफालो' प्रदेश में पहुँचे।

('साट आनी शीफालो' स्थानेश्वर[२])

इस राज्य का क्षेत्रफल ७,००० ली और राजधानी का

[१] ग्राउस साहब ने बन्दरवाले स्तूप का स्थान (दमदम) टीह निश्चय किया है जो सराय जमालपुर के निकट और कटरा से दक्षिण पूर्व थोड़ी दूर पर है ; कटरा के टीह इत्यादि प्राचीन मथुरा बतलाये जाते हैं। (देखो Growse's Mathura (2nd, ed. P. 100) कनिंघम साहब भी इसको पुष्ट करते हैं। (Arch. Sur. Rep., Vol. I, P. 233) बन्दर का इतिहास बहुधा बौद्ध प्रस्तरों में प्रदर्शित किया गया है। (देखो Ind. Ant., Vol. IX, P. 114)

[२] कदाचित् मथुरा से यात्री पीछे की ओर लौट कर हाँसी तक गया होगा और वहां से लगभग १०० मील उत्तर-पश्चिम में जाकर थानेश्वर अथवा स्थानेश्वर को पहुँचा होगा। पांडव लोगों से सम्बन्धित होने के कारण यह स्थान बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध है। (देखो कनिंघम साहब की Anc. Geog. of India, P. 331; Lassen, Ind. Alt., Vol. I., P. 153).

२० ली है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है तथा सब प्रकार का अन्नादि होता है। प्रकृति यद्यपि गरम है परन्तु सुखदायक है। मनुष्यों का व्यवहार रूक्ष और सभ्यता रहित है। धनाढ्य होने के कारण लोगों में व्यभिचार का प्रचार अधिक है तथा गाने बजाने की भी अच्छी चर्चा है। जिस विषय की जैसी योग्यता जिसमें होती है वैसी ही उसकी प्रतिष्ठा भी होती है। सांसारिक सुखों की ओर लोगों का ध्यान अधिक है, खेती बारी की ओर कम लोग दत्तचित्त होते हैं। सब देशों की बहुमूल्य और उत्तम व्यापारिक वस्तुएँ यहाँ पर मिल सकती हैं। तीन संघाराम ७०० संन्यासियों सहित हैं जो हीनयान-सम्प्रदाय का अभ्यास करते हैं। कई सौ देव-मन्दिर बने हैं जिनमें नाना जाति के अगणित भिन्न धर्मावलम्बी उपासना करते हैं। राजधानी के चारों ओर २०० ली विस्तृत भूमि को यहाँवाले 'धर्मक्षेत्र' के नाम से पुकारते हैं। इसकी बाबत इतिहासों में लिखा है कि "प्राचीन काल में दो नरेश थे जिनमें सम्पूर्ण भारत का राज्य बँटा हुआ था। दोनों एक दूसरे पर चढ़ाई किया करते थे और सदा लड़ा करते थे। अन्त में इन दोनों ने यह निश्चय किया कि प्रत्येक राजा अपनी अपनी ओर से थोड़े से सिपाही चुनकर नियत कर दे जो लड़कर मामला निपटा दें जिसमें व्यर्थ अधिक लोगों को दुख न हो। परन्तु इसको लोगों ने स्वीकार न किया यहाँ तक कि एक भी व्यक्ति लड़ने के लिए न गया। तब (इस देश के) राजा ने यह विचार किया कि इस तरह पर लोग नहीं मानेंगे, कोई असाधारण (चमत्कारिक) शक्ति के बल से लोगों पर दबाव डाला जाय तो सम्भव है लोग लड़ने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। इस समय में एक ब्राह्मण बहुत विद्वान् और

बुद्धिमान् था। राजा ने चुपचाप उसके पास कुछ रेशमी वस्त्र भेट में भेजे और उसको निमन्त्रित किया। उसके आने पर अपने मकान के एक गुप्त स्थान में ले जाकर राजा ने प्रार्थना की कि आप इस स्थान पर रह कर बहुत छिपा के एक धार्मिक पुस्तक बना दीजिए। फिर उस पुस्तक को एक पहाड़ की गुफा में ले जाकर रख दिया। कुछ दिनों बाद जब गुफा के द्वार पर बहुत से वृक्ष उग आये थे, राजा ने सिंहासन पर बैठ कर और मंत्रियों को बुला कर यह कहा कि "इतने बड़े राज्य का स्वामी होकर भी मेरा प्रभाव थोड़ा था इस बात से दुखित होकर देवराज (इन्द्र) ने दयावश मुझको स्वप्न में दर्शन देकर एक दैवी पुस्तक कृपा की है, जो अमुक पहाड़ की अमुक गुफा में गुप्त रूप से रक्खी है।"

इसके उपरान्त उस पुस्तक के खोज करने की आज्ञा दी गई। पुस्तक को पहाड़ की झाड़ियों में पाकर मंत्रियों ने राजा को बहुत बधाई दी तथा प्रजा में बड़ी प्रसन्नता फैली। तब राजा ने उस पुस्तक के तात्पर्य को—कि उसमें क्या भाव भरा है—सब दूर तथा निकटवर्ती लोगों पर प्रकट किया। उस पुस्तक में यह लिखा था "जन्म और मृत्यु की कोई सीमा नहीं है, जीवन-चक्र असमाप्त रूप में सदा घूमा करता है। मानसिक पापों से बचना कठिन है, परन्तु मैं एक सर्वोत्तम रीति इन दुखों से बचने के लिए पा गया हूँ। इस राजधानी के चारों ओर २०० ली के घेरे की भूमि का नाम प्राचीन नरेशों के समय में धर्मक्षेत्र था। सैकड़ों हज़ारों वर्ष व्यतीत हो गये जो कुछ इसके महत्त्व के चिह्न थे वे सब नष्ट हो गये। आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान न देने के कारण मनुष्य दुःख-सागर में डूब गये हैं जिससे निकलने की शक्ति उनमें नहीं

है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? यही बात (दैवी आज्ञा से) प्रकट की जाती है। तुममें से जो लोग शत्रु-सेना पर धावा करके संग्राम-भूमि में प्राण विसर्जन करेंगे वे फिर मनुष्य तन पावेंगे। और बहुत से लोगों को मारनेवाले वीर पापों से मुक्त होकर स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करेंगे। जो पितृ-भक्त पुत्र और पौत्र अपने पूज्य पिता, पितामह आदि को लड़ाई के मैदान में जाते समय सहायता देंगे उनको अपरिमित सुख होगा। अर्थात् थोड़े काम का बड़ा फल यही है। परन्तु जो लोग ऐसे अवसर को खो देंगे वे मरने पर अंधकार में लिपटे हुए तीनों प्रकार के दारुण[1] दुख पावेंगे। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इस पुनीत कार्य के लिए सब तरह पर कटिबद्ध होजाना चाहिए।"

पुस्तक के इस वृत्तान्त को सुनकर सब लोग लड़ाई के लिए उत्सुक होगये और मृत्यु को मुक्ति का कारण समझने लगे। तब राजा ने अपने सब वीरों को बुला भेजा। दोनों देश के लोगों ने ऐसा भारी संग्राम किया जिसका कि विचार में आना भी कठिन है। मृत शव लकड़ियों की भाँति तला ऊपर ढेर कर दिये गये जिसके सबब से अब तक इस मैदान में हड्डियाँ फैली पड़ी हैं। जिस प्रकार यह वृत्तान्त बहुत प्राचीन समय का है उसी प्रकार इस स्थान की फैली हुई हड्डियाँ भी बहुत बड़ी बड़ी हैं[2]। इसी युद्ध के कारण इस भूमि का नाम धर्मक्षेत्र पड़ा है।

[1] नरकवास पाना, राक्षसों का आहार बनना और पशुयोनि में जन्म लेना यही तीन दारुण यातनायें हैं।

[2] वेदों में इतिहास है कि इन्द्र ने इक्कीस बार इस स्थान पर

नगर से पश्चिमोत्तर दिशा में ४ या ५ ली की दूरी पर एक स्तूप ३०० फीट ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ है। ईंटें बहुत सुन्दर और चमकदार कुछ पीलापन लिये हुए लाल रङ्ग की हैं। इस स्तूप में बुद्ध भगवान् का शरीरावशेष रक्खा हुआ है। स्तूप से बराबर प्रकाश निकला करता है तथा अनेक अद्‌भुत चमत्कार परिलक्षित होते रहते हैं।

नगर के दक्षिण १०० ली की दूरी पर गोकंठ[1] नामक संघाराम में हम पहुँचे। यहाँ पर बहुत से स्तूप अनेक खंड वाले बने हैं जिनके मध्य में थोड़ी थोड़ी जगह टहलने भर को छोड़ दी गई है। साधु लोग सुशील, सदाचारी और प्रतिष्ठित हैं। यहाँ से पूर्वोतर ४०० ली चलकर हम 'सुलोकिनना' प्रदेश में पहुँचे।

सुलोकिनना (स्रुघ्न)[2]

यह राज्य ६,००० ली विस्तृत है। पूर्व दिशा में गंगा नदी और उत्तर में हिमालय पहाड़ है। यमुना नदी इसके सीमान्त

वृत्रासुर को मारा था। नगर के पश्चिम ओर मैदान में अस्थिपुर नाम का ग्राम अब भी है। (देखो Cunningham, Geog., P. 336; Arch. Sur., Vol. II, P. 219.)

[1] इसको गोविन्द भी पढ़ सकते हैं।

[2] हुएन सांग की लिखी दूरी के अनुसार स्थानेश्वर से पूर्वोत्तर दिशा में कालसी स्थान है, जो सिरमूर के पूर्व ओर जौनसार ज़िले में है। कनिंघम साहब गोकंठ संघाराम से ४० मील पूर्वोत्तर दिशा में संघ नामक स्थान को स्रुघ्न निश्चय करते हैं। डुइली पूर्वोत्तर के स्थान में

प्रदेश में होकर बहती है। राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। इसके पूर्व ओर यमुना नदी बहती है। यह नगर उजाड़ हो रहा है। भूमि की पैदावार जल-वायु इत्यादि में यह देश स्थानेश्वर के समान है। मनुष्य सुशील और सत्यपरायण हैं। ये लोग अन्यधर्मावलम्बियों के उपदेशों की बहुत प्रतिष्ठा और भक्ति करते हैं। विद्या—विशेषकर धार्मिक ज्ञान—की प्राप्ति में इनका परिश्रम सराहनीय है। पाँच संघाराम १,००० संन्यासियों समेत हैं जिनमें से अधिकतर हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। कुछ थोड़े से लोग अन्य सम्प्रदायवाले हैं। वे बहुत साधु भाषा में बात-चीत और धर्मचर्चा इत्यादि करते हैं। इनके सुस्पष्ट उपदेश आद्योपान्त सत्यता से भरे रहते हैं। अनेक धर्मों के सुयोग्य विद्वान् भी अपने सन्देहों को दूर करने के लिए इन लोगों से प्रश्नोत्तर किया करते हैं। कोई सौ देवमन्दिर हैं जिनमें अगणित अन्यधर्मावलम्बी उपासना करते हैं।

राजधानी के दक्षिण-पश्चिम और यमुना नदी के पश्चिम में एक संघाराम है जिसके पूर्वी द्वार पर एक स्तूप अशोक

पूर्व दिशा लिखता है और पाणिनि तथा बराहमिहिर स्रुघ्न को हस्तिनापुर से उत्तर लिखते हैं। फ़ीरोज़शाह के स्तम्भ से (जो सलोर ज़िले के यमुना नदी के किनारेवाले तोपुर अथवा तोपेर नामक स्थान में मिला था। यह स्थान खिज़राबाद के निकट दिल्ली से ६० कोस पर पहाड़ के पदतल में है। कनिंघम साहब ने इस स्थान को मौना नामक स्थान बतलाया है जो कालसी से बहुत दूर नहीं है।) विदित होता है कि यह प्रान्त पूर्वकाल में बौद्धों के कारण बहुत प्रसिद्ध था। इन सब बातों से यही निश्चय होता है कि स्रुघ्न या तो कालसी ही अथवा उसके निकट कोई स्थान था।

राजा का बनवाया हुआ है। तथागत भगवान् ने इस स्थान पर लोगों को शिष्य करने के लिए धर्मोपदेश दिया था। इसके निकट ही एक दूसरा स्तूप है जिसमें तथागत भगवान् के बाल और नख रक्खे हुए हैं। इसके आस पास दाहने और बाँयें दस स्तूप और बने हैं जिनमें श्रीपुत्र, मुद्गलयान तथा अन्य अरहटों के नख और बाल सुरक्षित हैं। तथागत भगवान के निर्वाण प्राप्त करने के बाद यह प्रदेश अन्यधर्मावलम्बी उपदेशकों का केन्द्रस्थल बन गया था। बड़े बड़े कट्टर धार्मिक अपने कट्टरपने को छोड़ कर असत्य सिद्धान्तों के जाल में फँस गये थे। उस समय अनेक देशों के बड़े बड़े विद्वान् बौद्धों ने यहाँ आकर, विधर्मियों और ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। जहाँ जहाँ पर शास्त्रार्थ हुआ था वहाँ वहाँ पर संघाराम बना दिये गये हैं। इनकी संख्या पाँच है।

यमुना नदी के पूर्व ८०० ली चल कर हम गंगा नदी के तट पर पहुँचे। नदी की धार ३ या ४ ली चौड़ी है। यह नदी दक्षिण-पूर्व की ओर बहती हुई समुद्र में जाकर मिल गई है जहाँ पर इसका पाट १० ली से भी अधिक हो गया है। जल का रंग समुद्र-जल के समान नीला है और लहरें भी समुद्र के समान तुङ्ग वेग से उठती हैं। दुष्ट राक्षस तो बहुत हैं परन्तु मनुष्यों को कोई हानि नहीं पहुँचाते। जल का स्वाद मीठा और उत्तम है तथा इसके किनारे की रेत बहुत स्वच्छ है। देश के साधारण इतिहास में इस नदी का नाम फोश्वुई (महाभद्र) है जो अगणित पातकों को नाश कर देने वाली है। जो लोग सांसारिक दुखों से दुखी होकर इस नदी में अपना प्राण विसर्जन करते हैं वे स्वर्ग में जन्म ले कर सुखों को प्राप्त करते हैं। यदि मनुष्य मर जाय और उसकी

हड्डियाँ इस नदी में डाल दी जायँ तो भी उसको नरक-वास नहीं हो सकता। चाहे कोई अनजान में भी इस नदी में पड़ कर बह जाय तो भी उसकी आत्मा सुखपूर्वक स्वर्ग में पहुँच जायगी। किसी समय में सिंहलद्वीपनिवासी देव नामक एक बोधिसत्व हो गया है, जो सत्य धर्म के सिद्धान्तों से पूर्णतया अभिज्ञ था। वह लोगों की मूर्खता से क्षुभित होकर सत्य मार्ग का उपदेश देने के लिए इस प्रदेश में आया। जिस समय छोटे और बड़े स्त्री-पुरुष, नदी के किनारे, जो बड़े वेग से बह रही थी, एकत्रित थे, उस देव बोधिसत्व ने अपने असाधारण स्वरूप से (उसका स्वरूप दूसरे लोगों के स्वरूपों से भिन्न था) सिर झुका कर थोड़ा सा जल इधर-उधर फेंकना प्रारम्भ किया। उस समय एक विधर्मी ने उससे पूछा कि 'आप ऐसा क्यों करते हैं?' बोधिसत्व ने उत्तर दिया कि 'मेरे माता-पिता और सम्बन्धी लंका में रहते हैं, मुझको भय है कि वे लोग भूख प्यास से दुखित होते होंगे; इस कारण मैं उनको इसी स्थान से संतुष्ट किया चाहता हूँ।'

विधर्मी ने कहा—"तुम भूलते हो। तुमको अपनी बेवकूफ़ी का ध्यान नहीं होता कि तुम्हारा देश यहाँ से बहुत दूर है, बड़े बड़े पहाड़ और नदियाँ बीच में पड़ती हैं। इतनी दूर के आदमी की प्यास बुझाने के लिए जल लेकर उछालना वैसा ही है जैसे कोई व्यक्ति सामने पड़ी हुई वस्तु को पीछे फिर कर ढूँढ़े। क्या खूब उपाय है जो कभी सुना तक नहीं गया!"

बोधिसत्व ने उत्तर दिया कि "वे लोग जो अपने पापों के कारण नरक में पड़े हुए हैं यदि इस जल से लाभ उठा सकते

हैं तब उन लोगों तक, जिनके मध्य में केवल पहाड़ और नदियाँ हैं, जल क्यों नहीं पहुँचेगा ?"

विधर्मी को उत्तर न बन आया। अपनी भूल को स्वीकार करके और अज्ञान को परित्याग करके उसने सत्य धर्म को ग्रहण किया, तथा दूसरे लोग भी उसके शिष्य होकर सुधर गये[1]।

नदी को पार करके और उसके पूर्वी किनारे पर जाकर हम 'माटी पोलो' प्रदेश को पहुँचे।

माटी पोलो (मतिपुर[2])

इस राज्य का क्षेत्रफल ६,००० ली और राजधानी का २० ली है। अन्नादि की उत्पत्ति के लिए यह देश बहुत उपयुक्त

[1] देव का इतिहास अनिश्चित है। तो भी जो कुछ पता चलता है वह यही है कि यह नागार्जुन का शिष्य और उसका उत्तराधिकारी चौदहवां महापुरुष था। वैसिलीफ (Vassilief) के अनुसार इसका नाम कनदेव भी था, क्योंकि इसने अपनी एक आंख महेश्वर की भेट कर दी थी। इसको आर्यदेव भी कहते हैं। कुछ लोग इसी को चद्रकीर्ति कहते हैं, परन्तु यह चन्द्रकीर्ति नहीं हो सकता क्योंकि वह बुद्धपालित का अनुयायी था, और बुद्धपालित ने आर्यदेव के ग्रन्थों का भाष्य बनाया था। यह भी अनुमान होता है कि कदाचित् देव सिंहल-देशनिवासी था। इसने बहुत से ग्रंथ बनाये थे। इसका काल ईसा की प्रथम शताब्दी का मध्य अथवा अन्तिम भाग निश्चय किया जाता है।

[2] मतिपुर का निश्चय मडावर अथवा मनडोर नामक स्थान में किया जाता है जो बिजनौर के निकट रुहेलखण्ड के पश्चिमी भाग में है। (देखो V. Le St. Martin Memoire, P. 344. Cunningham, Anc. Geog. of Ind., P. 349)

है, कितने ही प्रकार के फल और फूल भी होते हैं। प्रकृति की छटा मनोहर और उत्तम है । मनुष्य धर्मिष्ठ और सत्यपरायण हैं। ये लोग विद्या का बड़ा आदर करते हैं और तन्त्र-मन्त्र की ओर बहुत विश्वास रखते हैं। सत्य और असत्यधर्म के माननेवाले संख्या में प्रायः बराबर हैं। राजा शूद्र जाति का है। वह बौद्धधर्म को नहीं मानता, बल्कि स्वर्गीय देवताओं की प्रतिष्ठा और पूजा करता है। बीस संघाराम और ८०० संन्यासी देश भर में हैं, जो कि अधिकतर सर्वास्तिवाद-संस्था के हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। कोई ५० देवमन्दिर हैं जिनमें अनेक धर्म के लोग मिल जुल कर रहते हैं।

राजधानी के दक्षिण ४ या ५ ली चल कर हम एक छोटे संघाराम में पहुँचे जिसमें लगभग ५० संन्यासी निवास करते हैं। प्राचीन काल में 'गुणप्रभ' नामक शास्त्रवेत्ता ने इस संघाराम में रह कर तत्त्वविभंग शास्त्र तथा अन्य सैकड़ों पुस्तकों की रचना की थी। बहुत छोटी अवस्था ही में इस विद्वान् की प्रतिभा का प्रकाश हो चला था, और युवा होने पर इसने स्वावलम्बन ही के बल से विद्योपार्जन किया था। यह व्यक्ति तीव्रबुद्धिमत्ता, पूर्णविद्वत्ता और मानव-समाज-सम्बन्धी ज्ञान के लिए बहुत प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध था। पहले यह महायान-सम्प्रदाय का अभ्यासी था परन्तु इसके गूढ़ तत्त्वों में पूरी जानकारी प्राप्त करने के पहले इसको विभाषा-शास्त्र के अध्ययन का अवसर मिला, जिससे यह अपने पहले कर्म को त्याग करके हीनयान-सम्प्रदाय का अनुयायी हो गया। इसने बीसों पुस्तकें महायान-सम्प्रदाय के विपक्ष में लिखी थीं जिससे विदित होता

है कि हीनयान-सम्प्रदाय का यह कट्टर पक्षपाती हो गया था। इसके अतिरिक्त इसने बीसों पुस्तकें ऐसी भी बनाई हैं जिनमें प्राचीन काल के प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों की रचना की प्रतिकूल तथा तीव्र समालोचना की गई है। इसने बौद्ध-धर्म की अगणित पुस्तकों का अध्ययन किया था, और यद्यपि यह बहुत समय तक पठन-पाठन और मनन में लगा रहा तो भी कुछ प्रश्न इसके सामने ऐसे उपस्थित रहे जिनका समाधान इस सम्प्रदाय में नहीं हो सका। उन दिनों देवसेन नामक एक अरहट बड़ा महात्मा था। वह कई बार सदेह स्वर्ग को जाकर लौट आया था। उससे गुणप्रभ ने प्रार्थना की कि मेरी शंकाओं का समाधान मैत्रेय भगवान् से मिल कर करा दीजिए। देवसेन ने अपने आध्यात्मिक बल से उसको स्वर्ग में पहुँचा दिया। मैत्रेय भगवान् के सामने जाकर गुणप्रभ ने दण्डवत् तो की परन्तु पूजा नहीं की। इस पर देवसेन ने कहा कि 'मैत्रेय बोधिसत्व को बुद्ध अवस्था प्राप्त करने में केवल एक दरजा बाकी रह गया है। ऐ घमंडी! यदि तेरी इच्छा उनसे लाभ उठाने की थी तो तूने उनकी उच्च कोटि की पूजा क्यों नहीं की? क्यों न तू भूमि में गिरा दिया जाय?' गुणप्रभ ने उत्तर दिया कि 'महाशय! आपकी सलाह उत्तम है और मैं इसके अनुसार करने के लिए तैयार भी हूँ; परन्तु मैं भिक्षु हूँ और शिष्य बन कर मैंने संसार को छोड़ा है। मैत्रेय बोधिसत्व स्वर्गीय सुखों का आनन्द ले रहे हैं और तपस्वियों से मेल-मिलाप नहीं रखते हैं; इस कारण इच्छा रहते हुए भी, अनौचित्य का विचार करके, मैंने पूजा नहीं की।' मैत्रेय उसके मद को देखकर समझ गये कि यह शिक्षा का उपयुक्त पात्र नहीं है। इस कारण यद्यपि वह तीन बार उनके पास गया परन्तु अपनी शंकाओं

का समाधान हुए बिना ही ज्यों का त्यों लौट आया। अन्त में उसने देवसेन से प्रार्थना की कि मुझको फिर ले चलो, मैं पूजा करूँगा। परन्तु देवसेन उसके महामद से खिन्न होकर ऐसा करने पर सहमत नहीं हुए।

गुणप्रभ हतमनोरथ होकर क्रोधित हो गया और निर्जन स्थान में जाकर समाधि द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान करने लगा, परन्तु उसका वह मद दूर नहीं हुआ था इस कारण उसको कुछ लाभ नहीं हुआ।

गुणप्रभ संघाराम के उत्तर में ३ या ४ ली की दूरी पर एक संघाराम २०० संन्यासियों सहित हीनयान-सम्प्रदाय का है। इसी स्थान में संघभद्र शास्त्री का देहान्त हुआ था। यह व्यक्ति कश्मीर का रहनेवाला और बड़ा विद्वान् तथा बुद्धिमान् था। यह छोटी ही अवस्था में विद्वान् होकर विभाषा-शास्त्र का पूर्ण पण्डित हो गया था। इन्हीं दिनों वसु-बन्धु बोधिसत्व भी हो गया है। वह ऐसी बात की खोज का प्रयत्न कर रहा था जिसका प्रकट करना शाब्दिक शक्ति से परे था, अर्थात् शब्दों द्वारा वह बताया नहीं जा सकता था। उसकी प्राप्ति का उपाय केवल समाधि-द्वारा ही सम्भव था। इस बोधिसत्व ने बड़े परिश्रम से विभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को उलट-पुलट कर देने के लिए अभिधर्मकोश शास्त्र को बनाया। यद्यपि उसकी पुस्तक की भाषा स्पष्ट और मनोहर है परन्तु उसकी तर्कना बहुत सूक्ष्म और उच्च कोटि की है।

संघभद्र[1] इस पुस्तक को पढ़कर बड़े सोच विचार में पड़

[1] संघभद्र, वसुबन्धु का गुरु नहीं हो सकता जैसा कि मैक्स-

गया। बारह वर्ष तक इसी उधेड़बुन और खोज में रहकर एक पुस्तक 'कोशकारक शास्त्र' नामक उसने २५,००० श्लोकों में बनाई जिसमें ८,००,००० शब्द थे। हम कह सकते हैं कि इस पुस्तक के बनानेवाले ने सूक्ष्म से सूक्ष्म सिद्धान्तों को भी बहुत ही गहरी खोज करके लिखा था। इसके उपरान्त उसने अपने शिष्यों से कहा. "हे मेरे श्रेष्ठ शिष्यो, तुम इस पुस्तक को लेकर वसुबन्धु के पास जाओ और उसके सूक्ष्म तर्कों को नीचा दिखा दो, जिसमें केवल उसी का नाम बढ़े-चढ़े पुरुषों में न रहे।" तब उसके तीन चार सर्वोत्तम शिष्य उसकी पुस्तक को लेकर वसुबन्धु की तलाश में निकले। वसुबन्धु इन दिनों चेक-प्रदेश के शकलाल नगर में था। उसकी कीर्ति उस देश में बहुत दूर तक फैली हुई थी, परन्तु यह सुन कर कि अब संघभद्र वहाँ पर आ रहा है, उसने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि यहाँ से हट चलो। शिष्यों को उसकी बात पर बड़ी शङ्का हुई इसलिए उसके सर्वोत्तम शिष्य ने इस प्रकार निवेदन किया कि "आपकी योग्यता सब प्राचीन काल के सुयोग्य पुरुषों से बढ़ी-चढ़ी है, सब लोग आपकी विद्वत्ता का लोहा मानते हैं, आपका नाम भी बहुत प्रसिद्ध हो गया है; फिर क्यों आप संघभद्र का नाम सुनते ही इतने भयभीत हो गये? हम सब आपके शिष्य इस बात से बहुत दुखित हो रहे हैं।"

वसुबन्धु ने उत्तर दिया कि 'मैं इस कारण से नहीं

मूलर साहब (India, Pp. 303, 309, 312) विचार करते हैं। 'संघदेश' नामक व्यक्ति कदाचित् यही है जिसका नाम वैसिलीफ ने (Bouddhisme, P. 206) लिखा है।

भागा जाता हूँ कि मैं उससे मिलते डरता हूँ, बल्कि इसका कारण यह है कि इस देश में कोई भी व्यक्ति ऐसा बुद्धिमान् नहीं है जो संघभद्र की हीन योग्यता की परख कर सके। वह केवल मुझको कलङ्क लगायेगा मानों मेरी वृद्धावस्था किसी उत्तम कर्म में व्यतीत न हुई हो। शास्त्र की रीति से न तो उसके प्रश्नों का उत्तर हो सकेगा और न मैं उसके अपवादों को निर्मूल ही कर सकूँगा। इसलिए उसको मध्यभारत में ले चलना चाहिए। वहाँ पर सुयोग्य और विद्वान् पुरुषों के सामने हम दोनों की परीक्षा होकर निश्चय होना चाहिए कि क्या सत्य है और क्या झूठ; अथवा कौन हारा और कौन जीता। इसलिए पोथी पत्रा समेत कर चल ही दो। संघभद्र इस संघाराम में आने के दूसरे ही दिन अकस्मात् रोगग्रस्त हो गया, अर्थात् उसका शारीरिक बल जवाब देने लगा। तब उसने वसुबन्धु को एक पत्र इस आशय का लिखा—"तथागत भगवान् के निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् भिन्न भिन्न सम्प्रदायवालों ने भिन्न भिन्न पद्धतियों को प्रचलित कर दिया है। और प्रत्येक के अलग अलग शिष्य बे-रोक-टोक मौजूद हैं। सबको अपनी ही अपनी बात पक्की और प्रिय तथा दूसरों की निकम्मी जँचती है। मुझ अल्पज्ञ को भी, यही रोग अपने पूर्वगामियों के प्रसाद से लग गया है। तथा आपके अभिधर्मकोश में लिखे हुए सिद्धान्तों को, जो विभाषिक-संस्था को परास्त कर देनेवाले हैं, पढ़ कर मेरे चित्त में भी वही भाव उत्पन्न हो गया और बिना अपनी सामर्थ्य का विचार किये, मैं भी इस काम में लग गया। मैंने बहुत वर्षों के परिश्रम के उपरान्त उस संस्था को सँभालने के लिए इस पुस्तक को लिखा है। मेरी बुद्धि थोड़ी होने पर भी मेरा

इरादा बहुत बड़ा था, परन्तु मेरा अन्त समय अब निकट आगया है। यदि आप अपने सिद्धान्तों को फैलाते हुए और पुष्ट करते हुए कृपा करके मेरे परिश्रम को नष्ट नहीं करेंगे, और उसको ज्यों का त्यों भविष्य सन्तति के लिए बना रहने देंगे, तो मुझको अपनी मृत्यु का कुछ भी शोक न होगा।"

इसके उपरान्त अपने शिष्यों में से योग्यतम शिष्य से उसने कहा कि 'यद्यपि मेरी योग्यता थोड़ी थी परन्तु मैंने एक बहुत बड़े विद्वान् के दबाने का प्रयत्न किया है; इस कारण मेरी मृत्यु के उपरान्त तुम इस पत्र को और मेरे ग्रन्थ को लेकर बोधिसत्व वसुबन्धु के पास जाना और उससे मेरे अपराधों की क्षमा माँगना और इस कार्य से मुझको जो कुछ पश्चात्ताप हुआ है उसका पूर्णतया विश्वास करा देना।' इन शब्दों को कहते ही कहते वह सहसा चुप हो गया और उसका प्राण-वायु निकल गया।

शिष्य उस पत्र को लेकर वसुबन्धु के पास गया और उससे प्रार्थी हुआ कि 'मेरे गुरु संघभद्र का देहान्त हो गया, उसके जो कुछ अन्तिम वाक्य हैं वह इस पत्र में लिखे हैं। इस पत्र में वह अपने अपराध को स्वीकार करता है और आपसे प्रार्थना करता है कि आप उसके अपराधों को क्षमा करके ऐसी कृपा कीजिए जिसमें उसकी कीर्ति का नाश न हो।'

वसुबन्धु ने पत्र और पुस्तक को पढ़ा। पुस्तक के पढ़ चुकने के उपरान्त बहुत देर तक विचारों में निमग्न रहकर उसने शिष्य को निकट बुलाकर कहा कि 'इसमें शक नहीं कि संघभद्र शास्त्रप्रणेता, बहुत योग्य विद्वान् और बुद्धिमान्

था। यद्यपि उसकी तर्कना-शक्ति विशेष प्रभावशाली नहीं है परन्तु भाषा जो उसने पुस्तक में लिखी है बड़ी मनोहर है। यदि मैं चाहूँ तो उसके शास्त्र पर उतनी ही सरलता से हरताल लगा सकता हूँ जितनी सरलता से मैं अपनी उँगली से उँगली को छू सकता हूँ परन्तु उसने मृत्यु के समय जो प्रार्थना की है उसकी प्रतिष्ठा करने को मैं विवश हो गया हूँ। इसके अतिरिक्त एक और भी बड़ा भारी कारण है जिसकी वजह से मैं उसकी अन्तिम प्रार्थना को प्रसन्नता से स्वीकार किये लेता हूँ। अर्थात् इस पुस्तक के द्वारा मेरे सिद्धान्तों को बहुत प्रकाश पहुँचेगा। इस कारण मैं केवल इसका नाम बदल कर 'न्यायानुसार शास्त्र' [1] नाम किये देता हूँ।"

शिष्य ने उत्तर दिया कि "संघभद्र की मृत्यु के पूर्व तो आप भागकर इतनी दूर चले आये, और जब आपको पुस्तक मिल गई तब आप उसका नाम बदलना चाहते हैं: हम लोग इस अपमान को किस तरह पर सहन कर सकेंगे?"

वसुबन्धु ने उसके सन्देह को दूर करने के लिए एक श्लोक कहा जिसका भाव यह है कि 'यद्यपि सिंह शूकर के सामने से हट कर दूर चला जाता है परन्तु बुद्धिमान् लोग अच्छी तरह पर जानते हैं कि दोनों में कौन विशेष बली है।'

संघभद्र के मरने पर लोगों ने उसके शरीर को जलाकर और उसकी अस्थि को संचय करके एक स्तूप बनवा दिया

[1] इसका अनुवाद स्वयं हुएन सांग ने चीनी भाषा में किया था।

है जो संघाराम से पश्चिमोत्तर दिशा में २०० क़दम की दूरी पर आम्रकानन में अब भी बना हुआ है।

आम्रकानन के पार्श्व भाग में एक और स्तूप बना है जिसमें 'विमलमित्र' शास्त्री का शरीरावशेष सुरक्षित है। यह विद्वान् कश्मीर का रहनेवाला और सर्वास्तिवाद-संस्था का अनुयायी था। इसने बहुत से सूत्रों और शास्त्रों का अध्ययन और मनन किया था तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष भर में यात्रा करके यह तीनों पिटकों के गूढ़ आशय में अभिज्ञ हो गया था। जब यह अपनी कीर्ति को फैलाता हुआ अपने मनोरथ में सफल होकर स्वदेश को लौटा जा रहा था तो संघभद्र के स्तूप के निकट पहुँचा। स्तूप के ऊपर हाथ फेर कर और बड़े दुख से गहरी साँसें लेते हुए उसने कहा कि 'वास्तव में यह विद्वान् बहुत ही प्रतिभाशाली था। इसके विचार अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर थे। इसने अपने सिद्धान्तों को प्रकट करके दूसरी संस्थाओं को अपनी असाधारण योग्यता से परास्त करना चाहा था; यही कारण है कि इसका नाम अमर हो गया है। जिस प्रकार मुझ ऐसे मूर्ख को समय समय पर इसके अनन्य सिद्धान्तों से ज्ञान लाभ होता रहा है, उसी प्रकार ऐसे कितने ही परिवार हैं जिनमें वंशपरम्परा से इसके लब्धप्रतिष्ठ गुणों का प्रतिपालन होता आया है। वसुबन्धु यद्यपि मर गया है परन्तु उसका नाम अभी तक साम्प्रदायिक इतिहास में सजीव है, इसलिए मैं भी अपने ज्ञानानुसार ऐसा शास्त्र रचूँगा कि जिससे जम्बूद्वीप के विद्वान् महायान-सम्प्रदाय को भूल जायँगे और वसुबन्धु का नाम निश्शेष हो जायगा। इसके साथ ही, बहुत दिनों की ध्यान-धारणा

का प्रतिफल स्वरूप मेरा यह काम मेरे अमरत्व का कारण भी होगा।"

इन शब्दों को समाप्त करते करते उसका चित्त विकल हो गया, उसकी दशा पागलों की सी हो गई और उसकी शेखी मारनेवाली जीभ मुँह के बाहर निकल पड़ी, तथा उसके शरीर में गरम गरम खून दौड़ने लगा। अपनी मृत्यु निकट जान कर उसने बड़े पश्चात्ताप के साथ इस प्रकार पत्र लिखा—"महायान-सम्प्रदाय के सिद्धान्त बहुत पुष्ट हैं। चाहे किसी समय में इसकी कीर्ति में बट्टा लग जाय परन्तु इसके सिद्धान्तों की गूढ़ता का पता लगना कठिन है। मैंने मूर्खतावश इसके सुयोग्य विद्वानों पर आक्रमण करना चाहा था, जिसके लिए सब लोग दुखित हैं, तथा यही कारण है कि मैं अपने प्राणों को त्याग किये देता हूँ। सब बुद्धिमानों से मेरी प्रार्थना है कि मेरे उदाहरण पर ध्यान करके अपने अपने विचारों की रखवाली करते रहें और भूलकर भी इस सम्प्रदाय के विषय में सन्देहों को स्थान न दें।" जिस समय इसका प्राणान्त हुआ था भूमि हिल उठी थी, और जिस स्थान पर इसकी मृत्यु हुई उतनी भूमि फट कर उसमें दरार पड़ गई थी। उसके शिष्यों ने उसके शरीर को भस्मसात् करके और हड्डियों को जमा करके स्तूप बना दिया है।

इसकी मृत्यु के समय एक अरहट भी उपस्थित था, जिसने इसे मृत देख कर ठंढी साँसें लेते हुए कहा था कि 'हा शोक! हा हंत! आज यह शास्त्री अपने चित्त को घमंड से भर कर और महायान-सम्प्रदाय के प्रति अनुचित शब्द कह कर नरकगामी हो गया।'

इस देश की पश्चिमोत्तर सीमा पर और गङ्गा नदी के पूर्वी किनारे पर मायापुर[1] नामक नगर है। इसका क्षेत्रफल २० ली और निवासियों की संख्या अधिक है। विशुद्ध गङ्गा जल इसको घेर कर चारों ओर प्रवाहित होता है। यहाँ ताँबा और उत्तम बिल्लौर उत्पन्न होता है तथा बर्तन अच्छे बनते हैं। नगर के निकट ही गङ्गा किनारे एक बड़ा देवमन्दिर है जहाँ पर नाना प्रकार के अद्भुत चमत्कार दिखलाई दिया करते हैं। इसके मध्य में एक तड़ाग है जिसके किनारे, पत्थरों को जोड़ कर, बड़ी बुद्धिमानी से बनाये गये हैं। गङ्गाजी का जल इस तड़ाग में एक बनावटी नहर[2] के द्वारा पहुँचाया गया है। इसको लोग गङ्गाद्वार के नाम से पुकारते हैं। यही स्थान है जहाँ पर लोग अपने पातकों को दूर करके पुण्य संचय करते हैं। यहाँ पर नित्य अगणित पुरुष भारत के प्रत्येक प्रान्त से आकर स्नान करते हैं। उदार राजाओं ने अनेक पुण्यशालायें बनवा रक्खी हैं जहाँ पर विधवा और दुखित पुरुषों को तथा आश्रय-रहित और दरिद्र लोगों को ओषधियाँ और इच्छा-भोजन मिलने का प्रबन्ध है। यहाँ से ३०० ली के लगभग उत्तर दिशा में चलकर हम 'पओ लोहिह मो पुलो' प्रदेश में आये।

पओ लोहिह मो पुलो (ब्रह्मपुर[3])

[1] अर्थात् हरिद्वार। आज-कल यह गङ्गा के पश्चिमी तट पर है।

[2] यह नहर अब भी वर्त्तमान है (Cunningham, P. 353)

[3] कनिंघम साहब 'ब्रिटिश गढ़वाल और कमायूँ को ब्रह्मपुर' होना निश्चय करते हैं। (Anc. Geog. of India, P. 356).

यह राज्य लगभग ४,००० ली के घेरे में है तथा इसके चारों ओर पहाड़ हैं। राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है जो बहुत घनी बसी है। यहाँ के निवासी धनाढ्य हैं। भूमि उपजाऊ हैं तथा सब फ़सलें समयानुसार बोई और काटी जाती हैं। देशी ताँबा और बिल्लौर भी उत्पन्न होता है। प्रकृति कुछ ठंढी है और मनुष्य असभ्य तथा कठोर हैं। साहित्य की ओर लोगों का विशेष ध्यान नहीं है। वाणिज्य की उन्नति अच्छी है। मनुष्यों का आचरण जङ्गलियों का सा है। विधर्मी और बौद्ध सम्मिलित रूप से रहते हैं। पाँच संघाराम हैं जिनमें थोड़े से संन्यासी निवास करते हैं। दश देवमन्दिर हैं जिनमें अनेक मत के विधर्मी मिल जुल कर उपासना करते हैं। इस प्रदेश की उत्तरी सीमा में हिमालय पहाड़ है जिसके मध्य की भूमि को सुवर्णगोत्र कहते हैं। इस स्थान से बहुत उत्तम प्रकार का सोना आता है इसी से इसका यह नाम है। यह पूर्व से पश्चिम की ओर फैला हुआ है। पूर्वी स्त्रियों के प्रदेश के समान यह देश भी स्त्रियों का है। वर्षों से यहाँ की स्वामिनी एक स्त्री रही है इससे इस देश को स्त्रियों का राज्य कहते हैं। यद्यपि इस स्त्री का पति राजा कहलाता है परन्तु राजकीय कार्यों से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। पुरुषों का काम केवल लड़ना और भूमि का जोतना-बोना है, शेष काम स्त्रियाँ ही करती हैं। राज्य भर का यही दस्तूर हैं। यहाँ पर गेहूँ, बैल, भेड़ और घोड़े अच्छे उत्पन्न होते हैं। प्रकृति ठंढी (हिमप्रधान) और मनुष्य क्रोधी तथा जल्दबाज़ हैं। इस देश के पूर्व में तिब्बत, पश्चिम में सम्पह और उत्तर में खोटान राज्य हैं। मतिपुर से ४०० ली पूर्वोत्तर चलकर हम किउपीश्वाङ्गना प्रान्त में आये।

किउपीश्वाङ्गना (गोविशन[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल २,००० ली है और राजधानी का क्षेत्रफल १४ या १५ ली। चट्टानों और करारों से घिरे होने के कारण यह प्रान्त प्रकृतितः सुरक्षित है। जन-संख्या अच्छी है। सब तरफ़ फूल, बग़ीचे और सुन्दर सुन्दर झीलें सुशोभित हैं। पैदावार और जलवायु मतिपुर के समान है। मनुष्य शुद्ध आचरणवाले और धर्मिष्ठ हैं। उत्तम उत्तम विद्याओं और कामों ही में इनका समय व्यतीत होता है। बहुत से असत्य सिद्धान्तों पर भी चलनेवाले हैं जिनका उद्देश्य केवल ऐहिक सुखों का प्राप्त करना है। दो संघाराम और कोई १०० साधु हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, तथा भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों के ३० मन्दिर हैं, जिनमें दर्शन-पूजन करने के लिए भेद-भाव नहीं पाया जाता। नगर के अतिरिक्त एक और संघाराम है जिसमें अशोक राजा का बनवाया हुआ एक स्तूप है। यह लगभग २०० फ़ीट ऊँचा है। यहाँ पर बुद्ध भगवान् ने धर्म के बहुत आवश्यक विषय पर एक मास तक उपदेश दिया था। इसके निकट ही गत चारों बुद्धों के घूमने फिरने के चिह्न बने हुए हैं। इसकी बगल में दो और स्तूप दस दस फ़ीट ऊँचे हैं जिनमें तथागत भगवान् के बाल

[1] कनिंघम साहब को विश्वास है कि उजेन नामक ग्राम के निकट जो प्राचीन क़िला है वही गोविशन नगर है। यह ग्राम काशीपुर से ठीक एक मील पूर्व दिशा में है। डुइली साहब गोविशन का नाम नहीं लिखते हैं परन्तु यह लिखते हैं कि मतिपुर से ४०० ली दक्षिण पूर्व अहिक्षेत्र है। यह दूरी और दिशा इत्यादि ठीक हैं।

और कटे हुए नख रक्खे हैं। यहाँ से पूर्व दक्षिण ४०० ली चलकर हम ओही चीटालो प्रदेश में पहुँचे।

ओही चीटालो (अहिक्षेत्र[1])

यह प्रदेश ३,००० ली के घेरे में है और राजधानी का क्षेत्रफल १७ या १८ ली है। पहाड़ी चट्टान के किनारे होने के कारण यह प्रान्त प्रकृतितः सुरक्षित है। यहाँ पर गेहूँ उत्पन्न होता है तथा जङ्गल और नदियाँ बहुत हैं। जलवायु उत्तम तथा मनुष्य सत्यनिष्ठ हैं। धर्म और विद्याभ्यास से लोगों को बहुत प्रेम है। सब लोग चतुर तथा विज्ञ हैं। कोई दस संघाराम और १,००० साधु सम्मतीय-संस्था के हीनयान सम्प्रदायी हैं। ६ देवमन्दिर हैं जिनमें पाशुपत-सम्प्रदायी ३०० साधु रहते हैं। ये लोग ईश्वर के निमित्त बलिप्रदान किया करते हैं। नगर के बाहर एक नाग-झील है जिसके किनारे एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यहाँ पर तथागत भगवान् ने नागराजा को सात दिन तक धर्मोपदेश दिया था। इसके निकट ही चार स्तूप और हैं जहाँ पर गत चारों बुद्ध बैठते थे और घूमा फिरा करते थे जिसके चिह्न अभी तक वर्तमान हैं। यहाँ से दक्षिण की ओर २६० या २७० ली चल कर और गंगा नदी पार करने के उपरान्त पश्चिमोत्तर दिशा में गमन करते हुए हम 'पिलोशनन' प्रदेश में पहुँचे।

[1] अहिक्षेत्र का नाम, महाभारत, हरिवंश इत्यादि में भी आया है। यह स्थान उत्तरी पञ्चाल अर्थात् रुहेलखण्ड की राजधानी था। (देखो Lassen Ind. Alt., Vol. I., P. 747).

पिलोशनन (वीरासन[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल २,००० ली और राजधानी का १० ली है। प्रकृति और पैदावार अहिक्षेत्र के समान है। मनुष्यों का स्वभाव हठी और क्रोधी है। ये लोग शिल्प और विद्याध्ययन में लगे रहते हैं। अधिकतर लोग भिन्नधर्मावलम्बी हैं, कुछ थोड़े से बौद्ध हैं। दो संघाराम और ३०० साधु हैं जो महायान-सम्प्रदायी हैं। पाँच देवमन्दिर हैं जिनमें भिन्न भिन्न पंथ के लोग उपासना करते हैं। राजधानी के मध्य में एक प्राचीन संघाराम है जिसके मध्य में एक स्तूप है। यद्यपि यह स्तूप गिर गया है तो भी २०० फीट ऊँचा है। यह अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यहाँ पर तथागत भगवान् ने सात दिन तक 'स्कंधधातु उपस्थानसूत्र' का उपदेश दिया था। इसके निकट ही चारों गत बुद्धों के चलने फिरने और बैठने के चिह्न बने हुए हैं। यहाँ से २०० ली दक्षिण चलकर हम 'कई पीथ' प्रदेश में पहुँचे।

कईपीथ (कपिथ[2])

राज्य का क्षेत्रफल २,००० ली और राजधानी का २० ली है। प्रकृति और पैदावार वीरासन प्रदेश के समान है। मनुष्यों का स्वभाव कोमल और उत्तम है तथा लोग विद्योपार्जन में लगे रहते हैं। १० संघाराम १,००० साधुओं-सहित

[1] जनरल कनिंघम इस स्थान का निश्चय अतरंजीखेरा नामक डीह से करते हैं। यह स्थान करसान से दक्षिण में चार मील पर है।

[2] यह स्थान वर्तमान कालिक 'संकिस' है। जनरल कनिंघम साहब ने इस स्थान की खोज सन् १८४२ ई० में की थी। यह अतरंजी से पूर्व-

हैं जो सम्मतीय-संस्था के हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। कुल दस देवमन्दिर हैं, जिनमें अनेक पंथ के लोग उपासना करते हैं। ये सब लोग महेश्वर के उपासक और बलिप्रदान आदि के करनेवाले हैं। नगर के पूर्व २० ली की दूरी पर एक बड़ा संघाराम बहुत सुन्दर बना है। शिल्पी ने इसके बनाने में बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया है तथा बुद्ध भगवान् की पुनीत मूर्ति भी बड़ी विचित्रता से स्थापित की है। लगभग १०० साधु सम्मतीय-सम्प्रदायी इसमें निवास करते हैं। इसके चारों ओर धार्मिक पुरुषों का निवास है। संघाराम की बड़ी चहारदीवारी के भीतर तीन बहुमूल्य सीढ़ियाँ पास पास उत्तर से दक्षिण को बनी हैं, जिनका उतार पूर्वमुख को है। तथागत भगवान् स्वर्ग से लौटते समय इसी स्थान पर आकर उतरे थे। प्राचीन समय में तथागत भगवान् 'जेतवन' से स्वर्ग में जाकर सद्धर्म भवन में ठहरे थे और अपनी माता को धर्मोपदेश दिया था[३]। तीन महीने तक वहाँ रह कर जब भगवान् की इच्छा लौट कर पृथ्वी पर आने की हुई तब देव-राज इन्द्र ने अपने योगबल से तीन बहुमूल्य सीढ़ियों को तैयार किया था। बीच की सोने की, बाईं ओर की बिल्लौर और दाहिने ओर की चाँदी की थी। तथागत भगवान् सद्धर्म

दक्षिण की ओर ठीक ४० मील पर है। कपिथ शब्द केवल कनिंघम साहब की पुस्तक (Arch. Survey of Ind., Vol. I., P. 271) में लिखा मिलता है। डाक्टर कर्न का विचार है कि प्रसिद्ध गणितज्ञ वराहमिहिर की शिक्षा कपिथ में हुई थी।

[३] बौद्धों में बुद्धदेव के स्वर्ग से आने की कथा बहुत प्रसिद्ध है। फ़ाहियान ने भी इसका वर्णन (Cap. XVII) किया है और

भवन[1] से चल कर देवमण्डली के साथ बीचवाली सीढ़ी पर से उतरे थे। दाहिनी ओर माह ब्रह्मराज (ब्रह्मा?) चाँदी की सीढ़ी से चामर लेकर और बाँई ओर इन्द्र बहुमूल्य छत्र लेकर बिल्लौरवाली सीढ़ी से उतरे थे। भूमि पर इन सबके पहुँचने तक देवता लोग स्तुति करते हुए फूलों की वर्षा करते रहे थे। कई शताब्दियों के व्यतीत होने तक ये सीढ़ियाँ प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती थीं परन्तु अब भूमि में समाकर लोप हो गई हैं। निकटवर्ती राजाओं ने उनके अदृश्य होने के दुख से दुखित होकर जिस प्रकार की वे सीढ़ियाँ थीं वैसी ही और उसी स्थान पर ईंटों से बनवाकर रत्नजटित पत्थरों से उनको विभूषित कर दिया है। ये लगभग ७० फीट ऊँची हैं। इनके ऊपरी भाग में एक विहार बना है जिसमें बुद्ध भगवान् की मूर्ति और अगल-बगल सीढ़ियों पर ब्रह्मा और इन्द्र की पत्थर की मूर्तियाँ उसी प्रकार की बनी हुई हैं जिस प्रकार वे लोग उतरते हुए दिखाई पड़े थे।

विहार के बाहरी ओर उसी से मिला हुआ एक पत्थर का स्थान ७० फीट ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इसका रङ्ग बैंगनी चमकदार है तथा सब मसाला सुदृढ़ और उत्तम लगा है। इसके ऊपरी भाग में एक सिंह जिसका

साँची के भी चित्रों में इसका दृश्य पाया गया है। (Zue and Serp Wor. XXVII fig. 3) और (J. R. A. S., Vol. V., P. 164.)

[1] यह वह भवन है जहाँ पर शक राजा और तैंतीसों स्वर्ग के देवता धार्मिक कृत्य के लिए एकत्रित होते हैं।

मुख सीढ़ियों की तरफ़ है अपने पुट्ठों के बल बैठा है। इसके स्तम्भ के चारों ओर सुन्दर सुन्दर चित्र बड़ी विचित्रता से बने हुए हैं। इनकी विचित्रता यह है कि सज्जन पुरुष को तो दिखाई पड़ते हैं परन्तु दुर्जन की दृष्टि में नहीं आते। सीढ़ियों के पश्चिम में थोड़ी ही दूर पर गत चारों बुद्धों के बैठने-उठने के चिह्न बने हुए हैं। इसके निकट ही दूसरा स्तूप है जहाँ पर तथागत भगवान ने स्नान किया था। इसके निकट ही एक विहार बना है जहाँ पर तथागत भगवान ने समाधि लगाई थी। इस विहार के निकट एक दीवार ५० पग लम्बी और ७ फ़ीट ऊँची बनी है। इस स्थान पर बुद्ध भगवान् टहलते थे। जहाँ जहाँ पर वह टहले थे वहाँ वहाँ उनके पैर पड़ने से कमलपुष्प के चित्र बन गये हैं[1]। इस दीवार के दाहिने बायें दो छोटे छोटे स्तूप ब्रह्मा और इन्द्र के बनवाये हुए हैं। ब्रह्मा और इन्द्र के स्तूपों के सामने वह स्थान है जहाँ पर उत्पल-वरण भिक्षुनी ने बुद्ध भगवान् के दर्शन, जब वे स्वर्ग से लौटे आ रहे थे, सबसे पहले करना चाहा था, और इस पुण्य के फल से वह चक्रवर्तिन हो गई थी। इसका वृत्तान्त इस प्रकार है कि सुभूति नामक बौद्ध अपनी गुफा में बैठा था। उसको ध्यान हुआ कि बुद्ध भगवान् अब फिर मानव-समाज में लौटे आते हैं। देवता उनकी सेवा के लिए साथ हैं। फिर मुझको उस स्थान पर क्यों जाना चाहिए। मुझको उनके पार्थिव शरीर के दर्शन से क्या पुण्य

[1] ऐसा ही एक पत्थरी मार्ग (stone path) नालन्द में भी था, जिस पर कमलपुष्प अंकित थे (देखो I. tsing & J. R. A. S. N. S., Vol. XIII, P. 571.

हो सकता है ? मैंने अपने ज्ञान-बल से उनके धर्मकाय[1] का दर्शन कर लिया है, इसके अतिरिक्त बुद्ध भगवान् का वाक्य है कि प्रत्येक सजीव वस्तु (जगत्) मिथ्या है। इस कारण उनके निकट जाने की आवश्यकता नहीं। इसी समय उत्पलवरण। भिक्षुनी, सबसे पहले दर्शन की अभिलाषिणी होने के कारण चक्रवर्तिन अधीश्वरी होगई। उसका शरीर सप्त रत्नों से आभूषित और चतुरंगिणी सेना से सुरक्षित हो गया। निकट पहुँचने पर उसने फिर भिक्षुनी के से वस्त्र धारण कर लिये। बुद्ध भगवान् ने उससे कहा कि सबसे पहले तुमने मेरे दर्शन नहीं किये हैं। बल्कि सुभूति ने सब वस्तुओं को असार समझ कर मेरे सूक्ष्म शरीर का दर्शन किया है इस कारण वही प्रथम दर्शक है।

इन पुनीत स्थानों की सीमा के भीतर बहुधा चमत्कारिक दृश्य दिखलाई दिया करते हैं। बड़े स्तूप के दक्षिण-पूर्व नाग-झील है। यह नाग इन पुनीत स्थलों की रक्षा किया करता है जिस कारण कोई भी इस स्थान को कुदृष्टि से नहीं देख सकता। बली काल चाहे वर्षों में इनको नाश कर पावे परन्तु मनुष्य में इनके ध्वस्त करने की सामर्थ्य नहीं। यहाँ से २०० ली से कुछ कम, पश्चिमोत्तर दिशा में चल कर, हम 'कइयो किओशी' राज्य में गये।

---

[1] बुद्धदेव के तीनों प्रकार के शरीरों के वृत्तान्त के लिए देखो J. R. A. N. S., Vol. XIII, P. 555.

पाँचवाँ अध्याय

कान्यकुब्ज[1]

इस राज्य का क्षेत्रफल ४,००० ली है, राजधानी के पश्चिम गंगा नदी है। इसकी लम्बाई २० ली और चौड़ाई ४ या ५ ली है। नगर के चारों ओर एक सूखी खाई है जिसके किनारे पर मज़बूत और ऊँचे २ बुर्ज एक दूसरे में मिले चले गये हैं। मनोहर फल-फूलों से भरे हुए वन, उपवन और कांच के समान स्वच्छ जल के तड़ाग और झीलें सर्वत्र वर्तमान हैं। बहुमूल्य वाणिज्य-सम्बन्धी वस्तुओं की यहाँ बहुतायत रहती है। मनुष्य सुखी और संतुष्ट तथा निवास-भवन समृद्धिशाली और सुन्दर हैं। प्रत्येक स्थान पर फल-फूल की अधिकता है। भूमि समयानुसार बोई और काटी जाती है। प्रकृति कोमल और सुखद तथा मनुष्यों का आचरण धर्मिष्ठ और सत्यतापरिपूर्ण है। इन लोगों की सूरत ही से भलमनसाहत और बड़प्पन प्रकट होता है। इन लोगों के वस्त्र बहुमूल्य और मनोहर होते हैं। ये लोग विद्याव्यसनी तथा धार्मिक चर्चा में विशेष व्युत्पन्न हैं तथा इनकी भाषा की शुद्धता का डंका चारों ओर बज रहा है। संख्या में बौद्ध और

[1]कान्यकुब्ज वर्तमान समय का कन्नौज। कपिथ अथवा संकिस से यहाँ तक की दूरी कुछ कम २०० ली, और उत्तर-पश्चिम दिशा जो हुएन सांग ने लिखी है ठीक नहीं है। दिशा दक्षिण-पूर्व और दूरी कुछ कम ३०० ली होनी चाहिए। कन्नौज बहुत दिनों तक उत्तरी भारत के हिन्दू-राज्य की राजधानी रहा है, परन्तु उसके चिह्न अब बहुत कम बच रहे हैं (देखो Anc. Geog. of Ind., P. 380.)

हिन्दू प्रायः बराबर हैं। कई सौ संघाराम १०,००० साधुओं के सहित हैं जिनमें हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदाय के साधु निवास करते हैं; तथा दो सौ देवमन्दिर हैं जिनमें कई हज़ार हिन्दू उपासना करते हैं। प्राचीन राजधानी कान्यकुब्ज, जिसमें बहुत दिनों से लोग निवास करते रहे हैं, 'कुसुमपुर' कहलाती थी और राजा का नाम ब्रह्मदत्त था। पूर्व जन्म के संस्कार और पुण्य के फल से इस राजा में विद्वत्ता और युद्ध-निपुणता का प्रकाश स्वभावतः हो गया था जिससे लोग इसका भय मानते और बहुत सम्मान करते थे। सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में तथा निकटवर्ती प्रान्तों में इस राजा की बड़ी प्रसिद्धि थी। इसके, बड़े बुद्धिमान और वीर, एक हज़ार पुत्र और एक से एक रूपवती १०० कन्यायें थीं।

इन्हीं दिनों एक ऋषि गंगा के किनारे रहता था। यह इतना बड़ा तपस्वी था कि तपस्या करते करते हज़ारों वर्ष व्यतीत हो गये थे; यहाँ तक कि उसका शरीर भी सूख कर लकड़ी हो गया था। एक समय कुछ पक्षियों का झुण्ड उड़ता हुआ उस स्थान पर पहुँचा। उस झुण्ड में से एक के मुख से न्यग्रोध (अंजीर) वृक्ष का फल तपस्वी के कंधे पर गिर पड़ा। कुछ दिनों के उपरान्त उस फल से वृक्ष उत्पन्न हो गया और वह बढ़कर इतना बड़ा हुआ कि जाड़ा और गरमी में उसके कारण ऋषि के ऊपर छाया बनी रहती थी। बहुत समय के उपरान्त जब ऋषि की आँख खुली तब उसने चाहा कि वृक्ष को अपने शरीर से अलग कर दे परन्तु वृक्ष में के पक्षियों के खोते नाश होने के भय से वह ऐसा न कर सका और वृक्ष ज्यों का त्यों बना रहा। उसकी इस महान् तपस्या और अनिर्वचनीय दया के काम से उसका नाम महावृक्ष

ऋषि पड़ गया था । एक समय महावृक्ष ऋषि को सघन कानन में विचरण करते हुए गंगा के किनारे से कुछ दूरी पर अनेक राजकन्यायें दिखाई पड़ीं जो परस्पर आमोद-प्रमोद और वन-विहार कर रही थीं । उन राजकन्याओं को देखते ही महर्षि के चित्त में, सम्पूर्ण संसार के चित्त को विह्वल करने-वाला, कामदेव उत्पन्न होगया । इस वेदना से विकल होकर वह महर्षि राजा से भेंट करने और उससे उसकी कन्या की याचना करने के लिए कुसुमपुर की ओर प्रस्थानित हुआ। जिस समय राजा को महर्षि के आगमन का समाचार विदित हुआ वह प्रेम से उसकी अभ्यर्थना करने के लिए कुछ दूर पैदल गया तथा दण्डवत् प्रणाम करके इस प्रकार निवेदन करने लगा, "हे महर्षि ,आप तो पूर्ण शान्ति के साथ तपस्या में निमग्न थे; आप पर कौन सा ऐसा कष्ट पड़ा जिससे आपको मेरे स्थान तक पधारना पड़ा ?" महर्षि ने उत्तर दिया, "पृथ्वीपति ! बहुत समय तक मैं आनन्द और शान्ति के साथ तपस्या करता रहा, समाधि के टूटने पर एक दिन मैं वन में इधर-उधर विचरण कर रहा था कि कुछ राजकन्यायें मुझको दिखाई पड़ीं । उन सुन्दरियों को देखते ही मेरा मन हाथ से जाता रहा और मैं कामदेव के अचूक बाणों से विद्ध होकर विकल हो गया । यही कारण है कि मैं बहुत दूर चल कर आपके पास यह याचना करने आया हूँ कि आप अपनी किसी कन्या के साथ मेरा विवाह कर दीजिए ।"

राजा ने महर्षि के वचनों को सुनकर और उसकी आज्ञा के उल्लङ्घन में अपने को असमर्थ पाकर उत्तर दिया कि "हे तपस्वी ! आप अपने स्थान पर जाकर विश्राम कीजिए और मुझको किसी शुभ मुहूर्त के आने का अवकाश दीजिए,

में आपकी आज्ञा का अवश्य पालन करूँगा।" महर्षि राजा के वचनों को स्वीकार करके फिर वन को लौट गया। फिर राजा ने बारी बारी से अपनी प्रत्येक कन्या को बुला कर महर्षि के साथ विवाह करने के लिए पूछा परन्तु उनमें से कोई भी विवाह करने के लिए राज़ी न हुई।

राजा महर्षि के प्रभाव को विचार कर बहुत भयभीत और शोकाकुल हो गया, परन्तु कोई युक्ति नहीं दिखाई पड़ती थी जिससे उसको आश्वासन मिल सके। एक दिन जब राजा चुपचाप बैठा हुआ विचारसागर में ग़ोते खा रहा था, उसकी सबसे छोटी कन्या उसके निकट आई और समयानुसार बहुत उपयुक्त रीति से कहने लगी कि 'हे पिता, हज़ार पुत्र और दस हज़ार राज्य आपके अधीन हैं, सब लोग सेवक के समान आपकी आज्ञा के वशीभूत हैं, फिर क्या कारण है कि आप इस प्रकार खिन्न और मलीन हो रहे हैं मानो कोई बड़ा भारी भय आप के सामने उपस्थित हो।'

राजा ने उत्तर दिया कि 'महावृद्ध ऋषि तुम लोगों पर मोहित हुआ है और तुममें से किसी एक के साथ विवाह करना चाहता है, परन्तु तुम सबकी सब उसको नापसन्द करती हो और उसकी याचना को स्वीकार नहीं करती हो। यही मेरे शोक का कारण है। वह महर्षि तपस्या के बल से बड़ा प्रभावशाली है, सुख को दुख और दुख को सुख में परिवर्तन कर देना उसके लिए सामान्य कार्य है। यदि उसकी आज्ञा मैं न पालन कर सकूँगा तो अवश्य वह क्रोधित हो जायगा। और उसका क्रोध मेरे राज्य को नाश कर देगा, मेरा धर्म जाता रहेगा तथा मेरे बाप-दादों की और मेरी कीर्ति मिट्टी में मिल जावेगी। जिस समय

मैं भविष्य की इस विपद् का विचार करता हूँ उस समय मेरा चित्त ठिकाने नहीं रहता।

उस छोटी कन्या ने उत्तर दिया कि 'हे पिता, आप शोक को दूर कीजिए; यह हमारा अपराध है इसको क्षमा कीजिए; और मुझको आज्ञा दीजिए कि मैं देश की सुख-समृद्धि की वृद्धि और रक्षा करने में समर्थ हो सकूँ।' राजा उसके वचनों को सुन कर प्रफुल्लित हो गया और अपने रथ को मँगवा कर तथा विवाह के योग्य सामग्री सहित उस कन्या को लेकर महर्षि के आश्रम को गया, तथा बड़ी भक्ति से चरण-वन्दना करके निवेदन करने लगा कि 'हे तपोधन! यदि आपका चित्त लौकिक वस्तुओं पर आसक्त हुआ है, और आप सांसारिक आनन्द में लिप्त हुआ चाहते हैं, तो मैं अपनी छोटी कन्या आपकी सेवा-शुश्रूषा करने के लिए समर्पण करता हूँ।' महर्षि उस कन्या को देख कर क्रोधित होगया और राजा से कहने लगा कि 'मालूम होता है तुम मेरी वृद्धावस्था का अनादर कर यह अनुपयोगी छोटी सी कन्या दिया चाहते हो।'

राजा ने उत्तर दिया, "मैंने अपनी सब कन्याओं से अलग अलग पूछा, परन्तु उनमें से कोई भी आपके साथ विवाह करने को राज़ी नहीं हुई केवल यह छोटी कन्या आपकी सेवकाई के लिए मुस्तैद है।'

इस बात पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर महर्षि ने शाप दिया कि 'वह निन्नानवे कन्यायें (जिन्होंने मुझको अस्वीकार किया है)। इसी क्षण कुबड़ी हो जावें और संसार का कोई भी मनुष्य उनके इस कुब्रपपन के कारण उनके साथ विवाह न करे।' राजा ने शीघ्र ही संदेशा भेजकर इसका पता लगाया

तो मालूम हुआ कि वे सबकी सब कुबड़ी हो गई हैं। इस समय से इस नगर का दूसरा नाम कान्यकुब्ज अर्थात् 'कुबड़ी स्त्रियों का नगर' हुआ[1]।

इस समय का राजा वैश्य[2] जाति का है जिसका नाम हर्षवर्द्धन[3] है। कर्मचारियों की समिति राज्य का प्रबन्ध करती है। दो पीढ़ी के अन्तर में तीन राजा राज्य के स्वामी हुए। राजा के पिता का नाम प्रभाकरवर्द्धन और बड़े भाई का नाम राज्यवर्द्धन था।

राज्यबर्द्धन बड़ा बेटा होने के कारण पिता के सिंहासन का अधिकारी हुआ था। यह राजा बहुत योग्यता के साथ शासन करता था जिससे पूर्वी भारत के कर्ण सुवर्ण[4] नामक

[1] पुराणों में लिखा है कि 'वय' ऋषि ने राजा कुशनाभ की सौ कन्याओं को शाप देकर कुबड़ी कर दिया था।

[2] कदाचित् वैश्य से तात्पर्य वाणिज्य करनेवाले बनियों से नहीं है बल्कि वैस कहलानेवाले क्षत्रियों से है जिनके नाम से लखनऊ से लेकर कड़ामानिकपुर तक और अवध का समस्त दक्षिणी भाग वैसवारा कहलाता है।

[3] यही व्यक्ति शिलादित्य हर्षवर्द्धन के नाम से प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध योरपीय विद्वान् मैक्समूलर इसके राज्य का आरम्भ ६१० ई० में और अन्त सन ६५० ई० में निश्चित करते हैं, तथा कुछ दूसरे विद्वान् इसके राज्य का आरम्भ सन् ६०६-६०७ ई० से मानते हैं।

[4] बङ्गाल में मुर्शिदाबाद के उत्तर १२ मील पर रङ्गामति नाम का नगर एक प्राचीन नगर के डीह पर बसा हुआ है, जो 'कुरुसोन का गढ़' कहलाता था। कदाचित् यह शब्द 'कर्ण सुवर्ण' का बँगला अपभ्रंश हो।

राज्य का स्वामी, राजा शशाङ्क,[१] बहुधा अपने मन्त्रियों से कहा करता था कि 'यदि हमारे सीमान्त प्रदेश का राजा इतना योग्य शासक है, तो यह बात हमारे राज्य के लिए अवश्य अनिष्टकारक है।' मंत्रियों ने राजा की बात का विचार करके और उसकी सम्मति लेकर राजा राज्यवर्द्धन को गुप्त रूप से मार डाला।

प्रजा को बिना राजा के विकल और देश को सत्यानाश होते देख कर प्रधान मन्त्री पोनी (भण्डी)[२] ने, जो बहुत

[१] गौड़ या बङ्गाल का राजा शशाङ्क नरेन्द्र गुप्त यही है।

[२] हर्षचरित का रचयिता प्रसिद्ध कवि बाण ही का नाम भण्डिन था। वाघड साहब ने इसका उल्लेख नागानन्द नाटक की भूमिका में किया है I. tsing लिखता है कि "Siladitya kept all the best writers, especially poets, at his Court, and that he (the King) used to join in the literary recitals; among the rest that he would assume the part of Jimutavahana Bodhisattva, and transform himself into a Naga amid the sound of song and instrumental music." जीमूतवाहन ही नागानन्द नाटक का मुख्य पात्र है। इसलिए श्रीहर्षदेव ही, जो नागानन्द और रत्नावली दोनों का रचयिता कहा जाता है, कन्नौज का शिलादित्य था और उसी ने, जैसा कि I. tsing सूचित करता है, नागानन्द के अभिनय करते समय जीमूतवाहन का स्वरूप धारण किया था। परन्तु कोवेल साहब का मत है कि नागानन्द का रचयिता धावक और रत्नावली का रचयिता बाण था। जातकमाला को बनानेवाले भी श्रीहर्ष के दरबारी कवि ही थे।

प्रतिष्ठित और विशेष प्रभावशाली था, मन्त्रियों की सभा करके यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि 'होनहार के कारण हमको आज का दिन देखना पड़ा। हमारे विदेह राजा का पुत्र भी स्वर्गवासी हो गया, परन्तु गत राजा का भाई हम लोगों के भाग्य से बहुत दयालु और लोकप्रिय है। ईश्वर की कृपा से वह बहुत उत्तम स्वभाव का और कर्तव्यशील है। राज-परिवार से उसका सम्बन्ध भी बहुत निकट का है जिससे लोग उस पर विश्वास भी करेंगे। इस कारण मेरी प्रार्थना है कि उसी को राज्यभार समर्पण करना चाहिए। मुझको आशा है कि आप लोग इस विषय में अपनी उचित सम्मति से अनुगृहीत करेंगे।' सब लोगों ने राजकुमार के गुणों का गान करते हुए उसका राजा होना स्वीकार किया।

तब प्रधान मन्त्री तथा सब सरदारों ने राजकुमार से राज्यभार ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करते हुए यह निवेदन किया कि 'हम लोग राजकुमार का अभिवादन करते हुए प्रार्थी हैं। विगत राजा का पुण्य और प्रभाव ऐसा प्रबल था कि जिसके कारण सम्पूर्ण राज्य का शासन, उनके गुणों की बदौलत, बहुत उत्तमतापूर्वक होता था। उसके उपरान्त गत नरेश स्वनामधन्य महाराज राज्यवर्द्धन जब राज्यासीन हुए उस समय हम लोगों को आशा हुई थी कि वह अपने जीवन को सुख से व्यतीत करते हुए बहुत काल तक राज्य करेंगे, परन्तु वह भी शत्रु के हाथ में पड़ गये, जिससे कि आपके राज्य को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है। परन्तु यह आपके मन्त्रियों का अपराध है। राज्य के निवासी, जैसा वे अपने गीतों में गान करते हैं, आपके वास्तविक गुणों पर मोहित होकर आपके सच्चे दास हैं। इस कारण प्रार्थना है कि आप

यश के साथ राज्यासन को सुशोभित कीजिए, तथा अपने परिवार के शत्रुओं को पराजित करके, आपके राज्य और पिता के कर्मों पर जो कलंक की कालिमा लग रही है उसको, दूर कीजिए[1]। इससे आपको बड़ा पुण्य होगा। हम प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे निवेदन को अस्वीकार न करें।

राजकुमार ने उत्तर दिया, "राज्य-प्रबन्ध बड़ी ज़िम्मेदारी का काम है, इसमें प्रत्येक समय कठिनाई का सामना रहता है। राजा का क्या कर्तव्य है इसका पहले से ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। यद्यपि मेरी योग्यता बहुत थोड़ी है परन्तु, मेरे पिता और भ्राता अब संसार में नहीं हैं, ऐसे समय में राज्याधिकार को अस्वीकार करने से लोगों की बड़ी हानि होगी। इस कारण मैं अपनी अयोग्यता का विचार न करके आप लोगों की सम्मति पर अवश्य ध्यान दूँगा। अब गंगा के तट पर अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति के निकट, जिसके अद्भुत अद्भुत चमत्कारों का परिचय समय समय पर मिला करता है, चलना चाहिए, और भगवान की भी आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। बोधिसत्व-प्रतिमा के निकट पहुँच कर राजकुमार निराहारव्रत करता हुआ प्रार्थना में लीन हो गया। उसके सत्य विश्वास पर प्रसन्न होकर बोधिसत्व ने मनुष्य के स्वरूप में उसके सामने आकर पूछा, "किसलिए तू इतनी भक्ति से प्रार्थना करता है, तेरी क्या कामना है?" राजकुमार ने उत्तर दिया, "मैं बड़े भारी दुख के भार से दबा हुआ हूँ। सबको दयादृष्टि से देखनेवाले मेरे पूज्य पिता का देहान्त हो गया और मेरे बड़े भाई, जिनकी कोमल और शुद्ध प्रकृति सब

[1] समझ में नहीं आता कि राज्य और पिता पर क्या कलङ्क था।

पर विदित है, बड़ी नीचता और निर्दयता से मार डाले गये। इन सब दुखों में पड़े होने पर भी, और मेरी न्यूनातिन्यून योग्यता का कुछ भी विचार न करके, लोग मुझको राज्य-पद पर प्रतिष्ठित किया चाहते हैं। मेरी अयोग्यता और मूर्खता की ओर ध्यान न करके मुझको उस उच्च स्थान पर बैठाया चाहते हैं जिसको मेरा सुप्रसिद्ध पिता सुशोभित करता था। ऐसे दुख के समय में भगवान् की पूज्य आज्ञा प्राप्त करने के लिए मैं प्रार्थी हुआ हूँ।"

बोधिसत्व ने उत्तर दिया, "हे राजकुमार, पूर्व जन्म में तू इसी जङ्गल में योगियों के समान निवास करता था। अपनी कठिन तपस्या और अविचल योगाभ्यास के बल से तू सिद्धावस्था को प्राप्त हो गया था। यह उसी का फल है कि तू राजपुत्र हुआ। कर्ण सुवर्ण प्रदेश के राजा ने बौद्ध-धर्म को परित्याग कर दिया है। अब तुम राज्य को सँभालो और इस धर्म से प्रेम करके उसी प्रकार इसको सर्वव्यापी बनाओ जिस प्रकार उसने इसके विपरीत आचरण किया है। यदि तुम दुखी पुरुषों की अवस्था पर दयार्द्रचित्त रहोगे और उनका पालन-पोषण करते रहोगे तो तुम बहुत शीघ्र समस्त भारत के अधिपति हो जाओगे। यदि तुम मेरी शिक्षा के अनुसार राज-काज सम्पादन करते रहोगे, और मेरे अत्यन्त गुप्त प्रभाव से विवेक-सम्पन्न होगे, तो कोई भी तुम्हारा पड़ोसी तुम पर कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकेगा[1]। सिंहासन पर मत बैठो और अपने को महाराजा न कहलाओ।"

[1] वास्तव में शिलादित्य ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को विजय कर लिया था। केवल दक्षिण देशवासी पुलकेशी पर उसका वश नहीं चला

इन शिक्षाओं को ग्रहण करके राजकुमार लौट आया और राज प्रबन्ध को देखने लगा। वह अपने को राजकुमार ही कहता था तथा अपना उपनाम शिलादित्य रखता था। कुछ दिनों बाद उसने अपने मंत्रियों से कहा कि "मेरे भाई के शत्रु अब तक दंडित नहीं किये गये हैं, और न निकटवर्ती प्रदेश मेरे अधीन हुए हैं: जब तक यह कार्य न हो जायगा मैं अपने दाहिने हाथ से भोजन नहीं करूँगा। इस कारण तुम सब प्रजा और दरबारी लोग एक दिल होकर इस कार्य के लिए कटिबद्ध हो जाओ और अपने बल को प्रकट करो।" इस आज्ञा को पाकर उन लोगों ने सब सिपाहियों और राज्य के सम्पूर्ण युद्धनिपुण वीरों को एकत्रित किया। इस प्रकार ५,००० हाथी, २०,००० घुड़सवार और ५०,००० पैदल सेना को साथ लेकर राजकुमार ने पूर्व के सिरे से पश्चिम के सिरे तक सब विद्रोहियों को परास्त करके अपने अधीन किया। एक दिन के लिए भी न हाथियों की गद्दियाँ उतारी गईं और न सिपाहियों ने अपनी कमरें खोलकर विश्राम लिया। कोई छः वर्ष के कठिन परिश्रम में उसने समस्त भारत को विजय किया। जिस प्रकार उसका राज्य विस्तृत हुआ उसी प्रकार सेना की भी संख्या बढ़ कर ६०,००० हाथी और १,००,००० घुड़सवार होगये। तीस वर्ष के उपरान्त उसने हथियार बाँधना छोड़ दिया और शान्ति के साथ सब और शासन करने लगा। सदाचार के नियमों को दृढ़ता से पालन करते

था। इसलिए पुलकेशी का नाम परमेश्वर पड़ गया था। (देखो Cunningham, Arch. Surv., Vol. 1, P. 281; Ind. Ant., Vol. VII, Pp. 164, 219, etc.)

हुए धर्म के पौधे को परिवर्द्धित करने के लिए राजकुमार इतना अधिक व्यग्र हुआ कि उसका खाना और सोना तक छूट गया। उसने आज्ञा दे दी कि समस्त भारत में कहीं पर भी जीवहिंसा न की जावे, और न कोई व्यक्ति मांसभक्षण करे, अन्यथा प्राण-दंड दिया जावेगा। इन कार्यों के करनेवाले का अपराध कदापि नहीं क्षमा किया जावेगा। उसने गंगा के किनारों पर कई हज़ार स्तूप सौ सौ फीट ऊँचे बनवाये। भारतवर्ष के प्रत्येक बड़े नगर और ग्राम में उसने पुण्यशालायें बनवाईं जिनमें खाने और पीने की सब प्रकार की सामग्री प्रस्तुत रहती थी, तथा वैद्य लोग औषधियों के सहित सदा तैयार रहते थे जिससे यात्रियों और निकटवर्ती दुखी दरिद्र पुरुषों को बिना किसी प्रकार की रुकावट के अपरिमित लाभ पहुँचता था। सब स्थानों में जहाँ जहाँ पर बुद्ध भगवान् का कुछ भी चिह्न था उसने संघाराम स्थापित किये।

प्रत्येक पाँचवें वर्ष वह मोक्ष नाम का एक बहुत बड़ा मेला करता था, जिसमें वह अपना सम्पूर्ण ख़ज़ाना दान कर देता था, केवल सेना के हथियार शेष रहते थे जिनका दान करना न तो उचित ही था और न दान कर देने पर साधुओं के ही किसी काम के थे। प्रत्येक वर्ष सब प्रान्तों के श्रमणों को एकट्ठा करता था और तीसरे तथा सातवें दिन सबको चारों प्रकार की वस्तुएं (अन्न, जल, औषधि और वस्त्र) दान करता था। उसने कितने ही धर्म-सिंहासनों को सोने से मढ़वा दिया तथा अनेक उपदेशासनों को रत्नों से जड़वा दिया था। उसने साधुओं को वादानुवाद करने के लिए आज्ञा दे रक्खी थी, तथा उनके अनेक सिद्धान्तों पर स्वयं विचार करता था कि कौन सा सिद्धान्त सबल और कौन सा निर्बल

है। साधुओं को दान, दुष्टों को दण्ड, नीचों का अनादर और ज्ञानियों का आदर करने के लिए वह सब प्रकार से तैयार रहता था। यदि कोई साधु सदाचार के नियमानुसार आचरण रखते हुए धर्म के मामले में विशेष प्रसिद्ध हो जाता था तो राजकुमार उस साधु को बड़ी प्रतिष्ठा के साथ सिंहासन पर बैठा कर उसके धार्मिक उपदेशों को श्रवण करता था। यदि कोई साधु, सदाचारी तो पूर्ण रीति से होता था परन्तु विद्वान नहीं होता था तो उसकी प्रतिष्ठा तो होती थी परन्तु बहुत विशेष नहीं। यदि कोई व्यक्ति धर्म का तिरस्कार करता था और उसका वह तिरस्कार सर्वसाधारण पर प्रकट हो जाता था तो उस व्यक्ति को कठोर दण्ड देश-निकाले का दिया जाता था, जिसमें उसकी बात किसी के कानों तक न पहुँच सके और न उसके किसी देशभाई को उसका मुख ही देखने को मिले। यदि निकटवर्ती नरेश और उनके मंत्री धार्मिक कार्यों में विशेष तत्परता दिखा कर धर्म को उन्नत और सुरक्षित रखने में सहायक होते थे तो उनकी बड़ी प्रतिष्ठा होती थी। राजकुमार बड़े आदर से उनका हाथ पकड़ कर अपने बराबर आसन पर बैठा लेता था और 'सच्चा मित्र' के नाम से सम्बोधन करता था। परन्तु जो लोग इसके विपरीत आचरणवाले होते थे उनकी अप्रतिष्ठा होती थी। यों तो राज्य का सम्पूर्ण कार्य, हरकारों के द्वारा, जो इधर-उधर आया-जाया करते थे, होता था परन्तु यदि मुख्य नगर के लोगों में कुछ गड़बड़ होता था तो उस समय राजकुमार स्वयं उनके मध्य में जाकर सब बात ठीक कर देता था। राज्य-प्रबन्ध की देख-भाल के लिए जहाँ कहीं राज-कुमार जाता था वहाँ पर नवीन मकान पहले ही से बना

दिये जाते थे। केवल बरसात के तीन महीनों में, जिन दिनों अधिक वर्षा होती थी, ऐसा नहीं हो सकता था। इन मकानों में सब प्रकार की भोज्य वस्तुएँ सब धर्मों के मनुष्यों के लिए संगृहीत रहती थीं जिनसे प्रायः एक हज़ार बौद्ध-संन्यासी और ५०० ब्राह्मणों का निर्वाह होता था[1]।

राजकुमार ने अपने समय के तीन विभाग कर रक्खे थे। प्रथम भाग में राज्य-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण, और द्वितीय भाग में धार्मिक पूजा-पाठ। पूजा-पाठ के समय कोई भी व्यक्ति उसको नहीं छेड़ सकता था, और न उसकी तृप्ति ही इस कार्य से होती थी।

जिस समय मुझको प्रथम निमन्त्रण कुमार राजा[2] की ओर से मिला था उस समय मेरा विचार हुआ था कि मैं मगध होता हुआ कामरूप जाता। राजकुमार शिलादित्य इन दिनों अपने राज्य के विविध प्रान्तों में यात्रा और राज्य-प्रबंध का निरीक्षण करता हुआ 'कीमी[3] औकीलो' स्थान में था।

[1] इससे विदित होता है कि यद्यपि शिलादित्य का अधिक झुकाव बौद्धधर्म की ओर था परन्तु वह अन्य धर्मों की भी रक्षा करता था।

[2] कुमार राजा जिसने हुएन सांग को निमन्त्रित किया था कामरूप का राजा था जो आसाम का पश्चिमी भाग है। शिलादित्य भी कुमार कहलाता है परन्तु इस निमन्त्रण का सुस्पष्ट वृत्तान्त हुएन सांग की जीवनी के चौथे खण्ड के अन्तिम भाग में लिखा हुआ है।

[3] यहाँ 'मी' अशुद्ध है, कदाचित् 'चू' होगा जिसका तात्पर्य 'कजूघिर' अथवा 'काजिनघर' होता है। यह छोटा सा राज्य गंगा के किनारे 'चम्पा' से लगभग ९२ मील दूर था।

उसने कुमार राजा को पत्र भेजा कि "मेरी इच्छा है कि आप तुरन्त मेरी सभा में उपस्थित होवें और अपने साथ उस नवागत श्रमण को भी लेते आवें जिसका आपने नालन्दा के संघाराम में निमन्त्रित करके आतिथ्य-सत्कार किया है।" इस आज्ञा के अनुसार हम कुमार राजा के साथ सभा में पहुँचे। हम लोगों का मार्गजनित श्रम दूर हो जाने पर हमसे और शिलादित्य से निम्नलिखित बात-चीत हुई।

शिलादित्य—आप किस देश से आते हैं और इस यात्रा से आपका क्या अभिप्राय है?

हुएन सांग—मैं टङ्ग देश से आता हूँ और बौद्धधर्म के सिद्धान्तों को खोजने के लिए आज्ञा चाहता हूँ।

शिलादित्य—टङ्ग देश कहाँ पर है? किस मार्ग से भ्रमण करते हुए आप आये हैं? वह देश यहाँ से दूर है अथवा निकट?

हुएन सांग—यहाँ से कई हज़ार ली दूर पूर्वोत्तर दिशा में मेरा देश है। यह वह राज्य है जो भारतवर्ष में महा-चीन के नाम से प्रसिद्ध है।

शिलादित्य—मैंने सुना है कि महाचीन देश के राजा देवपुत्र टसिन हैं[1]। इनकी आध्यात्मिक योग्यता युवा-

[1] प्रसङ्ग और हुएन सांग के उत्तर से विदित होता है कि यह वार्तालाप टसिन-वंश के प्रथम राजा की बाबत है जिसने जागीरदारों को तहस-नहस करके साम्राज्य को स्थापित किया था। उसने शत्रुओं से सुरक्षित रहने के लिए एक बड़ी भारी दीवार बनवाई, देश को बसाया और टसिन-राज्य को क़ायम किया। इस राजा की प्रशंसा

वस्था ही से प्रकट हो चली थी, और ज्यों ज्यों अवस्था बढ़ती गई त्यों त्यों उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई; यहाँ तक कि लोग उनको दैवी शक्ति-सम्पन्न योद्धा[1] कहने लगे। पहले समय में राज्य की व्यवस्था गड़बड़ और असम्बद्ध थी। छोटे छोटे विभाग होने के कारण सर्वत्र अनैक्य का निवास था। रात-दिन संग्राम मचे रहने के कारण प्रजा दुख और दरिद्रता से जर्जरित हो गई थी। उस समय सबसे पहले देवपुत्र टसिन राजा को उपयोगी और महत्त्व के कार्यों का ध्यान हुआ। उसने दया और प्रेम के बल से मनुष्यों को समझा-बुझाकर कर्तव्य का ज्ञान कराया जिससे सब ओर शान्ति विराजने लगी तथा उसके उपदेश और क़ानून का सर्वत्र प्रचार हुआ। दूसरे देश के लोग भी उसके प्रभाव और गुणों पर मोहित होकर उसकी वशवर्तिता स्वीकार करने को सहर्ष प्रस्तुत हो गये। प्रजा का उदारता के साथ पालन करने से लोगों ने अपने अपने भजनों में टसिन राज के प्रभाव का अच्छा बखान किया है। बहुत दिन हुए जब उसके गुणगान की कविता को हमने भी पढ़ा था।

में जो भजन गाये जाते हैं उनसे शिलादित्य के भी चरित्र का पता लगता है, जो स्वयं भी कवि था।

[1] चीनी भाषा का शब्द ह्वांगटी अथवा वह मनुष्य जो युद्धनिपुणता में ईश्वर के तुल्य हो।

क्या उसके चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाली सम्पूर्ण कविता भली भाँति शुद्ध है? क्या यही टक्क राज है जिसका आपने वर्णन किया है?

हुएन सांग—चीन हमारे पहले राजाओं का देश है और टक्क हमारे वर्तमान नरेश का देश है। प्राचीन काल में हमारा राजा, वंशपरम्परागत राज्य का स्वामी होने के पहले (साम्राज्य की स्थापना होने के पूर्व) टसिन-महाराज कहलाता था, परन्तु अब देवराज (सम्राट्) कहलाता है। प्राचीन राज्य के समाप्त होने पर जब देश का कोई स्वामी न रहा और सर्वत्र अराजकता और लड़ाई झगड़े के कारण प्रजा का विनाश होने लगा उस समय टसिन-राज ने अपने दैवी बल से सब लोगों को दया और प्रेम का पात्र बनाकर सुखी किया। उसके प्रभाव से सब ओर के सारे दुष्टों का नाश हो गया और अष्टलोक[1] में शान्ति छा गई तथा दस सहस्र राज्य उसके वशवर्ती हुए। उसने सब प्रकार के प्राणियों को रत्नत्रयी[2] का भक्त बनाया जिससे लोगों पर से पातक का भार उतरने के साथ ही दण्ड-व्यवस्था में भी कमी हो गई। यह इसी राजा का प्रभाव था जिससे देश-

[1] अर्थात् राज्य के आठों देश, अथवा संसार के अष्टलोक।

[2] चीनवालों का इस बात पर पूर्ण विश्वास है कि बौद्ध-उपदेशक सबसे पहले टसिन-राज्य के समय में चीन को गये थे।

निवासी निश्चिन्ताई के साथ सुख-समृद्धि के भोग करने में समर्थ हुए। जो कुछ महत्त्व के कार्य इस राजा ने किये थे उन सबका बखान करना कठिन है।

शिलादित्य—बिलकुल सच है। प्रजा ऐसे ही पुनीत राजा के पाने से सुखी होती है।

शिलादित्य राजा जब अपने नगर कान्यकुब्ज को जाने लगा तब अपने सम्पूर्ण धर्मनेताओं को एकत्रित करके तथा कई लाख अन्य पुरुषों को साथ लेकर गङ्गा के दक्षिणी किनारे किनारे चला, और कुमार राजा अपने कई सहस्र मनुष्यों के सहित उत्तरी किनारे किनारे गया। इस तरह पर उन दोनों के मध्य में नदी की धार थी तथा कुछ लोग पानी पर और कुछ भूमि के मार्ग पर रवाना हुए। दोनों राजाओं की सेना नावों और हाथियों पर सवार होकर नगाड़ा, नरसिंहा, बाँसुरी और वीणा बजाती हुई आगे आगे चलती थी। नव्वे दिन की यात्रा के उपरान्त सब लोग कान्यकुब्ज नगर में पहुँचकर गङ्गा के पश्चिमी किनारे के पुष्पकानन में जाकर ठहरे।

इसी समय बीस अन्य देशों के राजा भी शिलादित्य की आज्ञानुसार अपने अपने देश के सुप्रसिद्ध और योग्य विद्वान् श्रमण और ब्राह्मण तथा शूरवीर सेनापति और सरदारों के सहित आकर इकट्ठे हुए। राजा ने पहले ही से गङ्गा के पश्चिमी किनारे पर एक बड़ा संघाराम और पूर्वी तट पर १०० फुट ऊँचा एक स्तूप बनवा दिया था, जिसके मध्य में भगवान् बुद्ध की उतनी ही ऊँची सोने की मूर्ति, जितना ऊँचा राजा खुद था, रक्खी हुई थी। बुद्ध भगवान् की मूर्ति के स्नान के निमित्त बुर्ज के दक्षिण में एक बहुमूल्य सुन्दर वेदी बनाई

गई थी, तथा इससे १४ या १५ ली पूर्वोत्तर दिशा में दूसरा विश्रामगृह बनाया गया था। आज-कल वसन्त-ऋतु का दूसरा महीना व्यतीत हो रहा था। इस महीने की प्रथम तिथि से श्रमणों और ब्राह्मणों को उत्तमोत्तम भोजन दिया जाने लगा और बराबर २१ वीं तिथि तक दिया गया। संघाराम के निकटवर्ती सम्पूर्ण अस्थायी स्थानों के सिंहद्वार बहुत सुन्दरता से सजाये गये थे जिनके ऊपर बैठकर गाने बजानेवाले अपने विविध प्रकार के वाद्ययन्त्रों से आनन्द को परिवर्द्धित कर रहे थे।

राजा ने अपने विश्रामगृह से बाहर आकर हुक्म दिया कि बुद्ध भगवान् की स्वर्णमूर्ति, जो तीन फ़ीट ऊँची थी, एक सर्वोत्तम और सर्वप्रकार से सुसज्जित हाथी पर चढ़ा कर लाई जाय। उसके बाईं ओर राजा शिलादित्य शक्र के समान वस्त्राभूषण धारण करके और बहुमूल्य छत्र हाथ में लिये हुए चले, और कुमार राजा ब्रह्मा का स्वरूप बना कर एक श्वेत चमर हाथ में लिये हुए दाहिनी ओर चले। दोनों के आगे आगे ५०० लड़ाकू हाथी सुन्दर झूलें डाले हुए रक्षक के समान चले जाते थे, और बुद्ध भगवान् की मूर्ति के पीछे १०० बड़े बड़े हाथी वाद्य-यन्त्रों से लदे हुए चले, जिनके नगाड़ों और बाजों का तुमुल निनाद गगनव्यापी हो रहा था।

राजा शिलादित्य उपासना के तीनों फल प्राप्त करने के लिए मोती तथा बहुमुल्य रत्न और सोने-चाँदी के फूल मार्ग में लुटाता जाता था। वेदी पर पहुँच कर मूर्ति को सुगन्धित जल से स्नान कराया गया। फिर राजा उसको अपने कन्धे पर उठाकर पश्चिमी बुर्ज को ले गया जहाँ पर सैकड़ों

हज़ारों रेशमी वस्त्र और बहुमूल्य रत्न-आभूषणों से वह मूर्ति सुभूषित और सुसज्जित की गई। इस सवारी के ठाठ में केवल २० श्रमण साथ थे, तथा अनेक प्रदेशों के राजा रक्षकों का काम करते थे। यह कार्य समाप्त हो जाने पर भोजन का समारोह किया गया, और तदनन्तर अनेक विद्वान् बुलाये गये जिन्होंने धर्म के गूढ़ विषयों पर सुललित भाषा में व्याख्यान दिया। संध्या होने पर राजा अपने यात्रा[1]-भवन को लौट गया।

इस तरह प्रत्येक दिन स्वर्णमूर्ति का इसी भाँति समारोह और ठाठ-बाट होता रहा। अन्तिम दिन बुर्ज और संघाराम के फाटक के ऊपरी भाग सिंहपौर पर एकाएक बड़ी भारी आग लग गई। इस दुर्घटना को देख कर राजा बड़े आर्तस्वर से कहने लगा "मैंने प्राचीन नरेशों के समान देश का अगणित धन दान करके यह संघाराम बनवाया था। मेरी इच्छा थी कि इस शुभ कार्य से संसार में मेरी कीर्ति हो, परन्तु मेरा प्रयत्न व्यर्थ हुआ: उसका कुछ फल न निकला। ऐसे भीषण दुःख के समय भी मेरी मृत्यु न हुई और मैं इस दुःखद दृश्य को अपने नेत्रों से देखता रहा, तो मेरे बराबर अधम और कौन होगा? मुझको अब अधिक जीवन की क्या आवश्यकता है।"

इन शब्दों के कहते कहते राजा का हृदय भर आया तथा सम्पूर्ण शरीर में क्रोध की ज्वाला उठने लगी। उसने बड़े

[1] पहले लिखा गया है कि राजा जहाँ जहाँ जाता था वहाँ नवीन मकान बनाया जाता था, यात्रा-भवन, विश्राम-गृह इत्यादि से तात्पर्य उन्हीं मकानों से है।

जोश में आकर यह प्रार्थना की कि 'मैंने पूर्व जन्म के फल से सम्पूर्ण भारत का राज्य हस्तगत किया है; मेरे उस पुण्य में यदि सामर्थ्य हो तो यह अग्नि इसी क्षण शान्त हो जावे, अन्यथा मेरा प्राण निकल जावे।' यह कह कर राजा सीधा फाटक की ओर दौड़ा; देहली तक पहुँचते ही आग सहसा बुझ गई, जैसे किसी ने फूक मार कर दीपक बुझा दिया हो, और धुवाँ नदारद हो गया।

उपस्थित राजा लोग इस अद्भुत कार्य को देख कर शिलादित्य के दूने भक्त हो गये, परन्तु शिलादित्य के मुख पर किसी प्रकार के विकार के चिह्न दिखाई न पड़े। उसने साधारण रीति से राजा लोगों से कहा कि 'अग्नि ने मेरे परमोत्तम धार्मिक कार्य को नष्ट कर दिया है, आप लोगों का इसकी बाबत क्या विचार है?'

राजा लोगों ने सजल नेत्रों से उसके चरणों पर गिर कर उत्तर दिया कि 'वह काम, जो आपके पूर्ण पुण्य का प्रकाश करने वाला था, और जिसके लिए हमको आशा थी कि भविष्य में भी बना रहेगा, पल-मात्र में राख हो गया; इस दुख को हम कैसे सहन कर लेंगे इसका विचार करना कठिन है; बल्कि हमारा दुख और भी अधिक होता जाता है जब हम अपने विरोधियों को इस घटना से प्रसन्नता मनाते और परस्पर बधाई देते देखते हैं।'

राजा ने उत्तर दिया—"अन्त में हमको भगवान् बुद्ध-देव ही के वचनों में सत्यता दिखाई पड़ती है। विरोधी तथा अन्य लोग इस बात पर ज़ोर देते हैं कि वस्तु नित्य है, परन्तु हमारे महोपदेशक का सिद्धान्त है कि वस्तुएं अनित्य हैं। मुझी को देखो, मैंने अपनी कामनानुसार असंख्य द्रव्य दान करके

यह महत्त्व का कार्य किया था जो इस सत्यानाशी घटना के फेर में पड़ गया! इससे तथागत भगवान् के सिद्धान्तों में मेरी भक्ति और भी अधिक पुष्ट हो गई है। मेरे लिए यह समय बड़ी प्रसन्नता का है न कि किसी प्रकार के शोक का।"

इसके उपरान्त राजाओं को साथ लिये हुए शिलादित्य पूर्व दिशा में जाकर स्तूप पर चढ़ गया और चोटी पर पहुँच कर घटना-स्थल को सब ओर से अच्छी तरह देख कर ज्यों ही नीचे उतर रहा था कि सहसा एक विरोधी हाथ में छुरी लिये हुए उस पर झपटा। राजा इस नई विपत्ति से भयभीत होकर कुछ सीढ़ी पीछे चढ़ गया और फिर वहाँ से झुककर उसने उस आदमी को पकड़ लिया। जितने सरदार और कर्म-चारी लोग उस समय उस स्थान पर मौजूद थे वे सब राजा के प्राणों के लिए भयभीत होकर इतना अधिक व्याकुल होगये कि किसी की समझ ही में न आया कि किस उपाय से राजा को सहायता देकर बचाना चाहिए।

सब उपस्थित नरेशों की राय हुई कि इस अपराधी को इसी क्षण मार डालना चाहिए, परन्तु शिलादित्य राजा ने, जिसके मुख पर न तो कोई विकार और न किसी प्रकार का भय प्रदर्शित होता था, लोगों को उसके मारने से रोक दिया और इस तरह पर उससे प्रश्नोत्तर करने लगा।

शिलादित्य—मैंने तुम्हारी क्या हानि की थी, जिससे तुमने ऐसा नीच प्रयत्न करना चाहा था।

अपराधी—महाराज! आपके गुण-कर्म में कुछ भी पक्षपात नहीं है, जिसके सबब से देश और विदेश सब जगह सुख वर्तमान है। परन्तु मैं मूर्ख और

पागल हूँ, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक मुझको नहीं है, इसी से मैं विरोधियों के बहकाने में पड़कर भ्रष्टमार्ग होगया, और अपने राजा के विरुद्ध नीच कर्म करने को तैयार हो गया।

राजा ने फिर पूछा—'विरोधियों में इस अधम कार्य के करने का विचार क्यों उत्पन्न हुआ ?'

उसने उत्तर दिया—हे राजराजेश्वर ! आपने अनेक देशों के लोगों को बुलाकर एकत्र किया और अपना सम्पूर्ण खज़ाना श्रमणों को दान देने और बुद्ध भगवान् की मूर्ति के बनवाने में खर्च कर डाला, परन्तु विरोधी जो बहुत दूर दूर से आये हैं उनकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया। इस कारण वे लोग कुपित होगये और मुझ नीच को ऐसे अनुचित कार्य के लिए उन्होंने नियुक्त किया।'

तब राजा ने विरोधियों और उनके अनुयायियों को बुलाया। कोई ५०० ब्राह्मण, जो सबके सब ऐसी ही अद्भुत बुद्धिवाले थे, सामने लाये गये। उन्हीं लोगों ने श्रमणों से, जिनकी राजा प्रतिष्ठा करता था और जो इस समय भी सम्मानित हुए थे, द्वेष करके बुर्ज में अग्निबाण फेंका था। इन लोगों का विश्वास था कि आग लगने से घबरा कर जब सब लोग इधर-उधर दौड़ने लगेंगे और राजा के निकट से भीड़ हट जायगी उस समय राजा के प्राणघात करने का अच्छा मौक़ा होगा। परन्तु जब यह कार्रवाई ठीक नहीं उतरी तब इन लोगों ने राजा का प्राण लेने के लिए इस मनुष्य को इस प्रकार भेजा।

मंत्रियों और दूसरे राजाओं ने निवेदन किया कि सब

विरोधी एकबारगी नाश कर दिये जायँ। परन्तु राजा ने मुखिया लोगों को दंड देकर शेष को छोड़ दिया, और वे ५०० ब्राह्मण भारत की सीमा से निकाल दिये गये। इसके उपरान्त राजा अपनी राजधानी को लौट आया।

राजधानी से पश्चिमोत्तर दिशा में एक स्तूप राजा अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर तथागत भगवान् ने, जब वे संसार में थे, सात दिन तक सर्वोत्तम सिद्धान्तों का उपदेश दिया था। इस स्तूप के निकट चारों गत बुद्धों के बैठने-उठने चलने-फिरने इत्यादि के चिह्न बने हुए हैं। इसके अलावा एक और छोटा स्तूप है जिसमें बुद्ध भगवान् के शरीरावशेष, नख और बाल रक्खे हुए हैं, तथा एक और स्तूप ठीक उसी स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर बुद्ध भगवान् ने उपदेश दिया था।

दक्षिण ओर गंगा के किनारे तीन संघाराम एक ही दीवार से घेर कर बनाये गये हैं, केवल फाटक तीनों के अलग अलग हैं। इनमें बुद्ध भगवान् की सर्वाङ्ग-सुसज्जित मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनके निवासी साधु, तपस्वी और प्रतिष्ठित हैं तथा कई हज़ार उपासक इनके आश्रित हैं। विहार के भीतर एक सुन्दर डिब्बे में भगवान् बुद्ध का एक दाँत क़रीब डेढ़ इञ्च लम्बा और बहुत चमकीला रक्खा है। इसका रङ्ग दिन में और तथा रात में और होता है। निकट और दूर सब देशों के दर्शनाभिलाषी यहाँ बहुतायत से आते हैं। बड़े बड़े आदमी अगणित मनुष्यों के साथ समान रूप से उपासना करते हैं, किसी प्रकार का भेद भाव नहीं होता। प्रत्येक दिन सैकड़ों और हज़ारों उपासकों का आवागमन बना रहता है। यहाँ के रक्षकों ने अधिक भीड़ होने से जो गड़बड़ी होती है उससे त्राण पाने

के लिए दर्शकों पर बड़ा भारी कर बाँध रक्खा है, तथा दूर दूर तक इस बात की सूचना हो गई है कि बुद्ध भगवान् के दाँत के दर्शनों की इच्छा से जो लोग यहाँ आवेंगे उनको एक स्वर्णमुद्रा अवश्य देना पड़ेगी, तो भी दर्शक लोगों की संख्या अपरिमित ही रहती है। लोग प्रसन्नता से स्वर्णमुद्रा दे देते हैं। प्रत्येक व्रतोत्सव के दिन वह दाँत बाहर निकाला जाता है और एक ऊंचे सिंहासन पर रक्खा जाता है। सैंकड़ों हज़ारों दर्शक उत्तमोत्तम सुगंधित वस्तुएँ जलाते हैं, और पुष्पों की वृष्टि करते हैं। यद्यपि फूलों के ढेर लग जाते हैं परन्तु डिब्बा फूलों से कभी नहीं ढकता।

संघाराम के आगे दाहिनी और बाईं दोनों ओर दो विहार सौ सौ फीट ऊँचे बने हैं। इनकी बुनियाद तो पत्थर की है परन्तु दीवारें ईंट की बनी हैं। बीच में रत्नों से सुसज्जित बुद्धदेव की मूर्तियाँ स्थापित हैं। इन मूर्तियों में से एक सोने और चाँदी की है, तथा दूसरी ताँबे की है। प्रत्येक विहार के सामने एक एक छोटा संघाराम है।

संघाराम से दक्षिण-पूर्व दिशा में थोड़ी दूर पर एक बड़ा विहार है जिसकी नींव पत्थर से बनाकर ऊपर २०० फीट ऊँची ईंटों की इमारत बनाई गई है। इसके भीतर ३० फीट ऊँची बुद्धदेव की मूर्ति है। यह मूर्ति ताँबे से बनाई गई है तथा बहुमूल्य रत्नों से आभूषित है। इस विहार की सब ओर की दीवारों पर सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ खुदी हुई हैं जिनसे तथागत भगवान् के उस समय के बहुत से चरित्रों का पता लगता है जब वह एक बोधिसत्व के शिष्य होकर तपस्या में प्रवृत्त थे।

इस विहार से थोड़ी दूर पर दक्षिण दिशा में सूर्यदेव

का एक मन्दिर है और इस मन्दिर से दक्षिण की ओर थोड़ी दूर पर दूसरा मन्दिर महेश्वरदेव का है। दोनों मन्दिर बहुमूल्य नीले पत्थर से बनाये गये तथा अनेक प्रकार की सुन्दर सुन्दर मूर्तियों से सुशोभित किये गये हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई बुद्ध-विहारों के बराबर ही है, तथा हर एक मन्दिर में एक हज़ार मनुष्य सब प्रकार की सेवा-पूजा के लिए नियत हैं। नगाड़ों और गाने-बजाने का शब्द रात-दिन में किसी समय भी बन्द नहीं होता।

नगर के दक्षिण-पूर्व ६–७ ली दूर गङ्गा के दक्षिणी तट पर अशोक राजा का २०० फ़ीट ऊँचा एक बड़ा स्तूप बनवाया हुआ है। तथागत भगवान् ने इस स्थान पर छः महीने तक अनात्मा, दुख, अनित्यता और अशुद्धता पर व्याख्यान दिया था।

इसके एक ओर वह स्थान है जहाँ पर गत चारों बुद्ध उठते-बैठते रहे थे। इसके अतिरिक्त एक और छोटा स्तूप बना है जिसमें तथागत भगवान् के नख और बाल रक्खे हैं। जो कोई रोगी पुरुष अपने सत्य विश्वास से इस पुनीत धाम की परिक्रमा करता है वह शीघ्र आरोग्य हो जाता है, तथा अपने धार्मिक फल को प्राप्त करता है।

राजधानी से दक्षिण-पूर्व १०० ली जाने पर हम 'नवदेवकुल'[1] क़सबे में पहुँचे। यह नगर लगभग २० ली के घेरे

[1] इस स्थान के वृत्तान्त के लिए देखो—St. Martin Memoir, p. 350; Cunningham Anc. Geog. of India, p. 382; Arch. Survey of India, Vol. I, p. 294.

में गंगा के पूर्वी किनारे पर बसा हुआ है। यहाँ पर पुष्प-वाटिका तथा सुन्दर जल की अनेक झीलें हैं।

इस नगर के उत्तर-पश्चिम में गंगा के पूर्वी किनारे पर एक देवमन्दिर है। इसके बुर्ज और ऊपरवाले कँगूरे की चित्रकारी बड़ी ही बुद्धिमानी से की गई है। नगर के पूर्व ५ ली की दूरी पर तीन संघाराम बने हुए हैं जिनके घेरे की दीवार एक ही है, परन्तु फाटक अलग अलग हैं। लगभग ५०० संन्यासी निवास करते हैं, जो सर्वास्तिवाद-संस्था के हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

संघाराम के सामने दो सौ क़दम की दूरी पर एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि इसका निचला भाग भूमि में धस गया है तो भी अभी कोई सौ फ़ीट ऊँचा है। इस स्थान पर तथागत भगवान् ने सात दिन तक धर्मोपदेश दिया था। इसके भीतर बुद्ध भगवान् का जो शरीर बन्द है उसमें से सदा स्वच्छ प्रकाश निकला करता है। इसके अतिरिक्त इस स्थान पर गत चारों बुद्धों के भी चलने-फिरने और बैठने के चिह्न पाये जाते हैं।

संघाराम के उत्तर ३-४ ली पर, गंगा के किनारे, २०० फ़ीट ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ एक स्तूप है। यहाँ पर बुद्धदेव ने सात दिन तक धर्मोपदेश दिया था। इन दिनों कोई ५०० राक्षस बुद्ध भगवान् के पास धर्मोपदेश सुनने के लिए आये थे, तथा धर्म के स्वरूप को प्राप्त करते ही उन्होंने अपने राक्षसी स्वरूप को परित्याग करके स्वर्ग में जन्म लिया था[1]। उपदेश-स्तूप के निकट गत चारों बुद्धों के चलने-फिरने

[1] "स्वर्ग में उत्पन्न होना" यह वाक्य बौद्ध-पुस्तकों में बहुधा

के चिह्न बने हैं तथा इसके निकट ही एक और स्तूप है जिसमें तथागत का बाल और नख रक्खा है।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व ६०० ली चलकर, गङ्गानदी के पार, दक्षिण दिशा में जाकर हम 'ओयूटो' देश में पहुँचे।

ओयूटो (अयोध्या[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल ५,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। यहाँ पर अन्न बहुत उत्पन्न होता है तथा सब प्रकार के फल-फूलों की अधिकता है। प्रकृति कोमल तथा सह्य और मनुष्यों का आचरण शुद्ध और सुशील है। यहाँ के लोग धार्मिक कृत्य से बड़ा प्रेम रखते हैं, तथा विद्याभ्यास में

मिलता है। बुद्धगया में एक चीनी यात्री का लेख है जिसमें १०,००० मनुष्यों की इस प्रतिज्ञा का वृत्तान्त है कि वे लोग शुभ कर्मों-द्वारा स्वर्ग में उत्पन्न होंगे (J. R. A. S., Vol. XIII, p. 553) धम्मपद में भी यह वाक्य बहुधा आया है।

[1] कन्नौज से या नवदेवकुल से घाघरा नदी के किनारे अयोध्या का फ़ासला पूर्व-दक्षिण पूर्व की ओर १३० मील है, परन्तु अयोध्या ही ओयूटो है यह ठीक समझ में नहीं आता। यदि मान भी लिया जाय कि घाघरा ही हुएन सांग की गङ्गा नदी है तो भी यह समझ में नहीं आता कि उसने क्यों यह नदी पार की और दक्षिण दिशा में गया। यदि यह माना जाय कि यात्री ६०० ली गंगा के किनारे किनारे गया और फिर नदी को पार किया, तो हम उसको प्रयाग के निकट पाते हैं जो सम्भव नहीं। जनरल कनिंघम की राय है कि दूरी ६० ली मानी जाय और 'ओयूटो' एक पुराना क़सबा काकूपुर नामक समझा जाय जो कानपुर से उत्तर पश्चिम २० मील है।

विशेष परिश्रम करते हैं। संपूर्ण देश भर में कोई १०० संघाराम और ३,००० साधु हैं, जो हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों की पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। कोई दस देव-मन्दिर हैं जिनमें अनेक पंथों के अनुयायी (बौद्धधर्म के विरोधी) निवास करते हैं, परन्तु उनकी संख्या थोड़ी है।

राजधानी में एक प्राचीन संघाराम है। यह वह स्थान है जहाँ पर वसुबंधु[1] बोधिसत्व ने कई वर्ष के कठिन परिश्रम से अनेक शास्त्र, हीनयान और महायान, दोनों सम्प्रदाय-विषयक निर्माण किये थे। इसके पास ही कुछ उजड़ी-पुजड़ी दीवारें अब तक वर्तमान हैं। ये दीवारें उस मकान की हैं जिसमें वसुबन्धु बोधिसत्व ने धर्म के सिद्धांतों को प्रकट किया था, तथा अनेक देश के राजाओं, बड़े आदमियों, श्रमणों और ब्राह्मणों के उपकार के निमित्त धर्मोपदेश किया था।

नगर के उत्तर ४० ली दूर गङ्गा के किनारे एक बड़ा सङ्घाराम है जिसके भीतर अशोक राजा का बनवाया हुआ एक स्तूप २०० फ़ीट ऊँचा है। यह वह स्थान है जहाँ पर तथागत भगवान् ने देव-समाज के उपकार के लिए तीन मास तक धर्म के उत्तमोत्तम सिद्धांतों का विवेचन किया था।

स्मारक स्वरूप स्तूप के निकट बहुत से चिह्न गत चारों बुद्धों के उठने-बैठने आदि के पाये जाते हैं।

संघाराम के पश्चिम ४–५ ली दूर एक स्तूप है जिसमें तथागत भगवान् के नख और बाल रक्खे हैं। इस स्तूप के उत्तर एक संघाराम उजड़ा हुआ पड़ा है। इस स्थान पर

[1] वसुबंधु का अध्यापन परिश्रम आदि अयोध्या ही में हुआ था। (Vasseliet Boudhisme, p. 220, Eitel, Handbook)

श्रीलब्ध शास्त्री ने सौत्रान्तिक सम्प्रदाय-सम्बन्धी विभाषा-शास्त्र का निर्माण किया था।

नगर के दक्षिण-पश्चिम ५–६ ली की दूरी पर एक बड़ी आम्रवाटिका में एक पुराना संघाराम है। यह वह स्थान है जहाँ असङ्ग[1] बोधिसत्व ने विद्याध्ययन किया था। फिर भी जब उसका अध्ययन परिपूर्णता को नहीं पहुँचा तब वह रात्रि में मैत्रेय बोधिसत्व के स्थान को, जो स्वर्ग में था, गया और वहाँ पर योगचार्यशास्त्र, महायन सूत्रालङ्कार टीका, मद्यान्त विभङ्गशास्त्र आदि को उसने प्राप्त किया. और अपने गूढ़ सिद्धान्तों को, जो इस अध्ययन से प्राप्त हुए थे, समाज में प्रकट किया।

आम्रवाटिका से पश्चिमोत्तर दिशा में लगभग १०० क़दम की दूरी पर एक स्तूप है जिसमें तथागत भगवान् के नख और बाल रक्खे हुए हैं। इसके निकट ही कुछ पुरानी दीवारों की बुनियाद हैं। यह वह स्थान है जहाँ पर वसुबन्धु बोधिसत्व तुषित[2] स्वर्ग से उतर कर असङ्ग बोधिसत्व को मिला था। असङ्ग बोधिसत्व गन्धार प्रदेश[3] का निवासी था। बुद्ध भगवान् के शरीरावसान के पाँच सौ वर्ष पीछे इसका जन्म हुआ था, तथा अपनी अनुपम प्रतिभा के बल से यह

[1] असङ्ग बोधिसत्व का छोटा भाई वसुबंधु बोधिसत्व था।

[2] प्राचीन काल के बौद्धों की यह महत् कांक्षा रहती थी कि वे लोग मृत्यु के पश्चात् तुषित स्वर्ग में मैत्रेय के निकट निवास करें।

[3] वसुबंधु की जीवनी के अनुसार, जिसका अनुवाद चिनटी (Chinti) ने किया है, इस महात्मा का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में हुआ था।

बहुत शीघ्र बौद्ध-सिद्धान्तों में ज्ञानवान् हो गया था। प्रथम यह महीशासक-सम्प्रदाय का सुप्रसिद्ध अनुयायी था, परन्तु पीछे से इसका विचार बदल गया और यह महायान-सम्प्रदाय का अनुगामी हो गया। इसका भाई वसुबन्धु सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय का था। सूक्ष्म बुद्धिमत्ता, दृढ़ विचार और अनुपम प्रतिभा के लिए उसकी बहुत ख्याति थी। असङ्ग का शिष्य बुद्धसिंह जिस प्रकार बड़ा बुद्धिमान् और सुप्रसिद्ध हुआ उसी प्रकार उसके गुप्त और उत्तम चरित्रों की थाह भी किसी को नहीं मिली।

ये दोनों या तीनों महात्मा प्रायः आपस में कहा करते थे कि हम सब लोग अपने चरित्रों को इस प्रकार सुधार रहे हैं कि जिसमें मृत्यु के बाद मैत्रेय भगवान् के सामने बैठ सकें। हममें से जो कोई प्रथम मृत्यु को प्राप्त होकर इस अवस्था को पहुँचे (अर्थात् मैत्रेय के स्वर्ग में जन्म पावे) वह एक बार वहाँ से लौट आकर अवश्य सूचना देवे ताकि हम उसका वहाँ पहुँचना मालूम कर सकें।

सबसे पहले बुद्धसिंह का देहान्त हुआ। तीन वर्ष तक उसका कुछ समाचार किसी को मालूम नहीं हुआ। इतने ही में वसुबन्धु बोधिसत्व भी स्वर्गगामी हो गया। छः मास इसको भी व्यतीत हो गये परन्तु इसका भी कोई समाचार किसी को विदित न हुआ। जिन लोगों का विश्वास नहीं था वह अनेक प्रकार की बातें बनाकर हँसी उड़ाने लगे कि वसु-बन्धु और बुद्धसिंह का जन्म नीच योनि में हो गया होगा इसी से कुछ दैवी चमत्कार नहीं दिखाई पड़ता।

एक समय असङ्ग बोधिसत्व रात्रि के प्रथम भाग में अपने शिष्यों को बता रहा था कि समाधि का प्रभाव अन्य

पुरुषों पर किस प्रकार होता है, उसी समय अकस्मात् दीपक की ज्योति ठंडी हो गई और उसके स्थान में बड़ा भारी प्रकाश फैल गया। फिर ऋषिदेव आकाश से नीचे उतरा और मकान की सीढ़ियों पर चढ़कर असङ्ग के निकट आया और प्रणाम करने लगा। असङ्ग बोधिसत्व ने बड़े प्रेम से उससे पूछा कि 'तुम्हारे आने में क्यों देर हुई? तुम्हारा अब नाम क्या है?' उत्तर में उसने कहा, "मरते ही मैं तुषित स्वर्ग में मैत्रेय भगवान् के भीतरी समाज में पहुँचा और वहाँ एक कमल के फूल में उत्पन्न हुआ। शीघ्र ही कमलपुष्प के खोले जाने पर मैत्रेय ने बड़े शब्द से मुझसे कहा, 'ए महाविद्वान्! स्वागत! हे महाविद्वान! स्वागत'। इसके उपरान्त मैंने प्रद-क्षिणा करके बड़ी भक्ति से उनको प्रणाम किया और फिर अपना वृत्तान्त कहने के लिए सीधा यहाँ चला आया। असङ्ग ने पूछा, "और बुद्धसिंह कहाँ है?" उसने उत्तर दिया, "जब मैं मैत्रेय भगवान् की प्रदक्षिणा कर रहा था उस समय मैंने उसको बाहरी भीड़ में देखा था, वह सुख और आनन्द में लिप्त था। उसने मेरी ओर देखा तक नहीं, फिर क्या उम्मेद की जा सकती है कि वह यहाँ तक अपना हाल कहने आवेगा?" असङ्ग ने कहा, "यह तो तय हो गया परन्तु अब यह बताओ कि मैत्रेय भगवान् का स्वरूप कैसा है और कौन से धर्म की शिक्षा वह देते हैं।" उसने उत्तर दिया कि 'जिह्वा और शब्दों में इतनी सामर्थ्य नहीं है जो उनकी सुन्दरता का बखान किया जा सके। मैत्रेय भगवान् क्या धर्म सिखाते हैं उसके विषय में इतना ही यथेष्ट है कि उनके सिद्धान्त हम लोगों से भिन्न नहीं हैं। बोधिसत्व की सुस्पष्ट वचना-वली ऐसी शुद्ध, कोमल और मधुर है जिसके सुनने में कभी

थकावट नहीं होती और न सुननेवाले की कभी तृप्ति ही होती है"।

असङ्ग बोधिसत्व के भग्नस्थान से लगभग ४० ली उत्तर-पश्चिम चलकर हम एक प्राचीन संघाराम में पहुँचे जिसके उत्तर तरफ़ गंगा नदी बहती है। इसके भीतरी भाग में ईंटों का बना हुआ एक स्तूप लगभग १०० फ़ीट ऊँचा खड़ा है। यही स्थान है जहाँ पर वसुबन्धु बोधिसत्व को सर्वप्रथम महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अध्ययन करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई थी[1]। उत्तरी भारत से चलकर जिस समय वसुबन्धु इस स्थान पर पहुँचा उस समय असङ्ग बोधिसत्व ने अपने अनुयायियों को उससे मिलने के लिए भेजा, और वे लोग इस स्थान पर आकर उससे मिले। असङ्ग का शिष्य जो बोधिसत्व के द्वार के बाहर लेटा था, वह रात्रि के पिछले पहर में दशभूमिसूत्र का पाठ करने लगा। वसुबन्धु उसको सुनकर और उसके अर्थ को समझ कर बहुत विस्मित हो गया। उसने बड़े शोक से कहा कि यह उत्तम और शुद्ध सिद्धान्त यदि पहले से मेरे कान में पड़ा होता तो मैं महायान-सम्प्रदाय की निन्दा करके अपनी जिह्वा को क्यों कलङ्कित कर पाप का भागी बनता ? इस प्रकार शोक करते हुए उसने कहा कि अब मैं अपनी जिह्वा को काट डालूँगा। जिस समय छुरी लेकर वह जिह्वा काटने के लिए उद्यत था उसी समय उसने देखा कि असङ्ग

[1] इसके पहले वसुबंध बोधिसत्व हीनयान-सम्प्रदाय का अनुयायी था। महायान-सम्प्रदाय के अनुगामी होने के वृत्तान्त के लिए देखो J. R. A. S., Vol. XX, p. 206.

बोधिसत्व उसके सन्मुख खड़ा है और कहता है कि 'वास्तव में महायान-सम्प्रदाय के सिद्धान्त बहुत शुद्ध और परिपूर्ण हैं; सब बुद्ध देवों ने जिस प्रकार इसकी प्रशंसा की है उसी प्रकार सब महात्माओं ने इसको परिवर्द्धित किया है। मैं तुमको इसके सिद्धान्त सिखाऊँगा। परन्तु तुम खुद इसके तत्त्व को अब समझ गये हो, और जब इसको समझ गये और इसके महत्त्व को मान गये तब क्या कारण है कि बुद्ध भगवान् की पुनीत शिक्षा के प्राप्त होने पर भी तुम अपनी जिह्वा को काटना चाहते हो। इससे कुछ लाभ नहीं है, ऐसा मत करो। यदि तुमको पछतावा है कि तुमने महायान-सम्प्रदाय की निन्दा क्यों की तो तुम अब उसी ज़ुबान से उसकी प्रशंसा भी कर सकते हो। अपने व्यवहार को बदल दो और नवीन ढंग से काम करो, यही एक बात तुम्हारे करने योग्य है। अपने मुख को बन्द कर लेने से, अथवा शाब्दिक शक्ति को रोक देने से कुछ लाभ नहीं होगा।" यह कह कर वह अन्तर्ध्यान हो गया।

वसुबंधु ने उसके वचनों की प्रतिष्ठा करके अपनी जिह्वा काटने का विचार परित्याग कर दिया और दूसरे ही दिन से असङ्ग बोधिसत्व के पास जाकर महायान-सम्प्रदाय के उपदेशों को अध्ययन करने लगा। इसके सिद्धान्तों को भली भाँति मनन करके उसने एक सौ से अधिक सूत्र महायान सम्प्रदाय की पुष्टि के लिए लिखे जो कि बहुत प्रसिद्ध और सर्वत्र प्रचलित हैं।

यहाँ से पूर्व दिशा में ३०० ली चल कर गंगा के उत्तरी किनारे पर हम 'ओयीमोखी' को पहुँचे।

अोयीमोखी (हयमुख[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल चौबीस या पच्चीस सौ ली है, और मुख्य नगर का क्षेत्रफल, जो गंगा के किनारे बसा है, लगभग २० ली है। इसकी उपज और जल-वायु इत्यादि अयोध्या के समान हैं। मनुष्य सीधे और ईमानदार हैं, तथा विद्याध्ययन और धर्म्म-कर्म में अच्छा श्रम करते हैं। कुल पाँच संघाराम हैं जिनमें लगभग एक हज़ार संन्यासी हीन-यान सम्प्रदाय के सम्मतीय संस्थानुयायी निवास करते हैं। देवमन्दिर दस हैं जिनमें अनेक वर्णाश्रम के लोग उपासना करते हैं।

नगर के निकट ही दक्षिण-पूर्व दिशा में गंगा के किनारे एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यह २०० फ़ीट ऊँचा है। इस स्थान पर बुद्धदेव ने तीन मास तक धर्मो-पदेश दिया था। इसके अतिरिक्त चारों गत बुद्धों के आवा-गमन के भी चिह्न हैं। एक दूसरा स्तूप भी है जिसमें बुद्ध भगवान् के नख और बाल हैं। इस स्तूप के निकट ही एक संघाराम बना है जिसमें २०० शिष्य निवास करते हैं। इसके भीतर बुद्ध भगवान् की एक मूर्त्ति बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित है। यह मूर्त्ति सजीव के समान शान्त और गम्भीर दिखाई पड़ती है। बुर्ज़ और बरामदे बड़ी विल-क्षणता से खोद कर बनाये गये हैं, और एक के ऊपर एक

[1] इस प्रदेश का अच्छी तरह पता नहीं चलता है, कनिंघम साहब इसकी राजधानी इलाहाबाद के उत्तर-पश्चिम १०४ मील पर डौंडिया खेरा अनुमान करते हैं।

बनते चले गये हैं। प्राचीन काल में बुद्धदास नामक महा-विद्वान् शास्त्री ने इस स्थान पर सर्वास्तिवाद साम्प्रदायिक महाविभाषा-शास्त्र का निर्माण किया था।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व ७०० ली चलकर और गंगा के दक्षिण तरफ़ होकर हम 'पोलोयीकिया' राज्य में पहुँचे।

पोलोयीकिया (प्रयाग)

यह राज्य ५,००० ली के घेरे में है और राजधानी जो दो नदियों के बीच में बसी हुई है लगभग २० ली के घेरे में है। अन्न की पैदावार जिस प्रकार अधिक होती है उसी प्रकार फलों की भी बहुतायत है। प्रकृति गरम और सह्य है, तथा मनुष्यो का आचरण सभ्य और सुशील ह। लोग विद्या से प्रेम तो बहुत करते हैं परन्तु धार्मिक सिद्धान्तों पर दृढ़ नहीं हैं।

दो सङ्घाराम हैं जिनमें थोड़े से संन्यासी हीनयान-सम्प्रदायी निवास करते हैं।

कइ देवमंदिर हैं जिनमें बहुतसंख्यक विरुद्ध धर्माव-लम्बी रहते हैं।

राजधानी के दक्षिण-पश्चिम चंपक बाग़ में एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि इसकी नींव भूमि में धँस गई है तो भी १०० फीट से अधिक ऊँचा है। इस स्थान पर तथागत भगवान् ने विरोधियों को परास्त किया था। इसी के निकट ही बुद्धदेव के नख और बालों सहित एक स्तूप तथा वह स्थान जहाँ पर गत चारों बुद्ध बैठते और चलते थे, बना हुआ है।

इस अन्तिम स्तूप के निकट ही एक प्राचीन सङ्घाराम है।

इस स्थान पर देव बोधिसत्व ने शतशास्त्रवैपुल्यम् नामक ग्रंथ में हीनयान-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को खण्डन करके विरोधियों का मुख बंद किया था। देव बोधिसत्व दक्षिण-भारत का निवासी था और वहीं से इस सङ्घाराम में आया था। उन दिनों एक ब्राह्मण भी इस नगर में निवास करता था। यह ब्राह्मण विवाद करने में और तर्क-शास्त्र में बड़ा निपुण और प्रसिद्ध था। उसका यह ढङ्ग था कि विरोधी के शब्दों के अर्थ पर लक्ष्य करके उसी शब्द को कितनी ही बार फेर बदल कर इस तरह पर प्रश्नोत्तर करता कि विरोधी बेचारा चुप हो जाता। देव की सूक्ष्म बुद्धिमत्ता का जब उसने हाल सुना तब उसकी इच्छा हुई कि इसको भी अपने शब्द-जाल में फाँस कर परास्त करे। इसलिए इसके निकट आकर उसने पूछा:—

'कृपा करके बताइए आपका नाम क्या है?' देव ने उत्तर दिया, "लोग मुझको देव कहते हैं।" ब्राह्मण ने पूछा, "देव कौन है?" उसने उत्तर दिया, 'मैं हूँ'। ब्राह्मण ने पूछा, "मैं, यह क्या है?" देव ने उत्तर दिया, "कुत्ता।" ब्राह्मण ने फिर पूछा, "कुत्ता कौन है?" देव ने उत्तर दिया, "तुम।" ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "और 'तुम' यह क्या है?" देव ने कहा, "देव।" ब्राह्मण ने पूछा, "देव कौन है?" उसने कहा, "मैं।" ब्राह्मण ने पूछा, "मैं कौन है?" उसने उत्तर दिया "कुत्ता।" उसने फिर पूछा, "कुत्ता कौन है?" देव ने कहा, "तुम।" ब्राह्मण ने पूछा, "तुम कौन है।" देव ने उत्तर दिया, "देव।" इसी प्रकार बात-चीत होते हुए जब कोई अन्त न मिला तब ब्राह्मण समझ गया कि यह भी असाधारण बुद्धि का मनुष्य है, तथा उस दिन से उसकी बड़ी प्रतिष्ठा करने लगा।

नगर के भीतर एक देवमन्दिर बहुत ही सुसज्जित और सुन्दर है तथा इसके अद्भुत चमत्कारों की बड़ी प्रसिद्धि है। लोगों का कहना है कि इस स्थान पर सब प्रकार के प्राणियों को धर्म का फल प्राप्त होता है। यदि इस मन्दिर में कोई एक पैसा दान करे तो उसका पुण्य दूसरे स्थानों पर हज़ार अशर्फ़ी दान करने से भी अधिक होता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई मनुष्य अपने जीवन को तुच्छ समझ कर इस मन्दिर में प्राण त्याग करे, तो स्थायी सुख प्राप्त करने के लिए उसका जन्म स्वर्ग में होता है।

मन्दिर के सभा-मण्डप के सामने एक बड़ा भारी वृक्ष है जिसकी डालियाँ और टहनियाँ दूर तक फैली चली गई हैं जिससे खूब सघन छाया रहती है। किसी समय यहाँ एक मांसभक्षी राक्षस रहता था जो मनुष्यों के शरीरों को (आत्मघात करनेवालों के तन को) खाया करता था। इस कारण वृक्ष के दाहिने और बाएँ हड्डियों के ढेर लगे हुए हैं। जो मनुष्य इस मन्दिर में आता है उसको इन हड्डियों के ढेर को देख कर शरीर का अन्तिम परिणाम विदित हो जाता है और वह अपने जीवन को धिक्कार कर प्राण विसर्जन कर देता है। जो लोग यहाँ आत्मघात करना चाहते हैं उनको जिस प्रकार उनके सहधर्मियों से सहायता मिलती है उसी प्रकार जो लोग पहले से आत्मघात करके प्रेत हो चुके हैं वह भी खूब भुलावा देते हैं, और यही कारण है कि यह हत्यारिणी प्रथा प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक बराबर चली आती है।

थोड़े दिन हुए यहाँ एक ब्राह्मण रहता था जिसके वंश का नाम 'पुत्र' था। यह व्यक्ति दूरदर्शी, महाविद्वान्, ज्ञानी और

उच्च कोटि का बुद्धिमान् था। उसने इस मन्दिर में आकर और सब लोगों को सम्बोधन करके कहा, "हे सज्जनो! आप लोग भटके हुए मार्ग पर हैं; आपके चित्त में जो हठ समाया है वह किसी प्रकार निकाले नहीं निकलता, किस प्रकार आपको समझाया जाय?" यह कह कर वह भी उन लोगों के आत्मघात में इस मतलब से सहायक हो गया कि अन्त में इन लोगों का मिथ्या विश्वास दूर कर दूँगा। थोड़ी देर के बाद वह भी उस वृक्ष पर चढ़ गया और नीचे खड़े हुए अपने मित्रों से कहने लगा, "मैं भी मरना चाहता हूँ; पहले मैंने कहा था कि लोगों का विश्वास ग़लत और घृणित है परन्तु अब मैं कहता हूँ कि यह उत्तम और शुद्ध है। स्वर्गीय ऋषि वायुमण्डल में बाजे बजाते हुए मुझको बुला रहे हैं, मैं ऐसे पुनीत स्थान से गिर कर अवश्य प्राण त्याग करूँगा।" जब वह गिरने को हुआ और उसके मित्र भी समझा बुझाकर हार गये और उसकी मति को न पलटा सके तब उन लोगों ने, जहाँ से वह गिरना चाहता था उस स्थान के ठीक नीचे अपना कपड़ा फैला दिया, और ज्योंही वह नीचे आया उसको कपड़े पर रोक कर बचा लिया। होश में आने पर वह कहने लगा, "मुझ को ख़याल हुआ था कि मैं देवताओं को वायुमण्डल में देख रहा हूँ और वे मुझको बुला रहे हैं, परन्तु अब विदित हुआ कि यह सब इस वृक्ष के प्रेतों का छल था कि जिससे मैं भविष्य में स्वर्गीय आनन्द पाने से बिलकुल वंचित हुआ जाता था।"

राजधानी के पूर्व, दोनों नदियों के सङ्गम के मध्य में लगभग १० ली के घेरे की भूमि बहुत सुहावनी और ऊँची है। इस सम्पूर्ण भूमि में बालू ही बालू है। प्राचीन समय से राजा

लोग तथा बड़े बड़े प्रतिष्ठित और धनाढ्य पुरुष, जब उनको दान करने की उत्कंठा होती है, सदा इस स्थान पर आते हैं और अपनी सम्पत्ति को दान कर देते हैं। इस सबब से इस स्थान का नाम 'महादानभूमि' हो गया है। आज-कल के दिनों में शिलादित्य राजा ने, अपने भूतपूर्व पुरुषों के समान, इस स्थान पर आकर अपनी पाँच वर्ष की इकट्ठी की हुई सम्पत्ति को एक दिन में दान कर दिया। इस महादानभूमि में असंख्य द्रव्य और रत्नों के ढेर लगाकर पहले दिन राजा भगवान् बुद्धदेव की मूर्ति को बहुत उत्तम रीति से सुसज्जित करता है और बहुमूल्य रत्नों को भेंट करता है। तब स्थानीय संन्यासियों को, दान देता है। इसके उपरान्त, अनेक दूर-देशीय साधुओं को, जो उपस्थित होते हैं उनको, और फिर बुद्धिमान् और विद्वान् पुरुषों को, दान से सम्मानित करता है। इसके उपरान्त स्थानीय अन्यधर्मावलम्बियों की बारी आती है, और सबके अन्त में विधवा और दुखी, अनाथ बालक और रोगी, तथा दरिद्री और महन्त लोगों को दान दिया जाता है।

इस प्रकार अपने संपूर्ण ख़ज़ाने को ख़ाली करके और भोजन इत्यादि दान करके अपने मुकुट और रत्नों की माला को दान कर देता है। प्रारम्भ से अन्त तक यह सर्वस्व दान करते हुए उसको कुछ भी रञ्ज नहीं होता है। सब कुछ दान हो जाने पर बड़ी प्रसन्नता से वह कहता है, "ख़ूब हुआ, मेरे पास जो कुछ था वह अब ऐसे ख़ज़ाने में जाकर दाख़िल हुआ जहाँ न इसका नाश हो सकता है और न अपवित्र कामों में इसका व्यय हो सकता है।"

इसके उपरान्त भिन्न भिन्न देशों के नरेश अपने अपने वस्त्र

और रत्न राजा को भेंट करते हैं जिससे उसका द्रव्यालय फिर से परिपूर्ण होता है।

महादानभूमि के पूर्व ओर दोनों नदियों के सङ्गम में प्रत्येक दिन सैकड़ों मनुष्य स्नान और प्राणत्याग करते हैं। इस देश के लोगों का विश्वास है कि जो कोई स्वर्ग में जन्म लेना चाहे वह केवल एक दाना चावल का खाकर उपवास करे और फिर सङ्गम में डूब मरे तो अवश्य देवकोटि में जन्म पावे। उन लोगों का कहना है कि इस जल में स्नान करने से महापातक धुल जाते हैं। इस कारण अनेक प्रान्तों के और बहुत दूर दूर के देशों के लोग झुंड के झुंड यहाँ आते हैं। सात दिन तक निराहार रह कर उपवास करते हैं और फिर अपने जीवन को समाप्त कर देते हैं। यहाँ तक कि बन्दर और पहाड़ी मृग भी नदी के निकट आकर इकट्ठा होते हैं, उनमें से कितने ही स्नान करके चले जाते हैं, और कितने उपवास कर प्राणत्याग करते हैं!

एक समय जब शिलादित्य राजा ने यहाँ दान किया था उन दिनों एक बन्दर नदी से कुछ दूर एक वृक्ष के नीचे रहता था। उसने चुपचाप भोजन परित्याग कर दिया था और कुछ दिनों में उपवास के कारण वह मर गया था।

योगाभ्यास करनेवाले अन्यधर्मावलम्बी पुरुषों ने नदी के मध्य में एक ऊँचा खम्भा बना रखा है। जब सूर्य्यास्त होने को होता है तब ये योगी लोग उस खम्भे पर चढ़ जाते हैं तथा एक पैर और एक हाथ से उस खम्भे में चिपट कर विलक्षण रीति से अपना दूसरा हाथ और पैर बाहर फैला देते हैं। सूर्य की ओर नेत्र तथा मुख करके सूर्यास्त हो जाने तक इसी प्रकार अधर में लटके रहते हैं तथा अंधकार हो

जाने पर नीचे उतर आते हैं। कई दर्जन योगी यहाँ इस प्रकार अभ्यास करनेवाले हैं, बहुत से तो वर्षों से यही साधना कर रहे हैं। इनको विश्वास है कि ऐसा करने से जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जावेंगे।

इस देश से दक्षिण-पश्चिम रवाना होकर हम एक बड़े जङ्गल में पहुँचे जो भयानक पशुओं और बनैले हाथियों से भरा हुआ था। ये हिंसक पशु झुंड के झुंड आकर घेर लेते हैं और यात्रियों को बेढब परेशान करते हैं। इसलिए जब तक बहुत से लोगों का झुंड न हो जावे इस मार्ग से जाना जान पर खेलना है।

लगभग ५००[1] ली चल कर हम 'क्यावशङ्गमी' प्रदेश में पहुँचे।

कियावशङ्गमी[2] (कौशाम्बी)

इस राज्य का क्षेत्रफल ६,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल ३० ली है। यहाँ की भूमि उत्तम पैदावार के लिए बहुत प्रसिद्ध है, चावल और ईख बहुत होता है। प्रकृति बहुत गरम है; लोग कठोर और क्रोधी हैं। ये लोग विद्योपार्जन करते

[1] हुइली के अनुसार वास्तविक दूरी ५० ली होनी चाहिए परन्तु राजधानी की दूरी अवश्य १५० ली है।

[2] जनरल कनिंघम साहब लिखते हैं, प्रयाग से लगभग ३० मील यमुना के किनारे कौशाम्बी नगर नामक प्राचीन गाँव ही कौशाम्बी है। कौशाम्बी का वर्णन रामायण में भी आया है और श्रीहर्ष अथवा शिलादित्य के दरबारी कवि बाण-रचित रत्नावली नाटक का घटना-स्थल भी यही है।

हैं और धार्मिक जीवन और धार्मिक बल प्राप्त करने में बहुत दत्तचित्त रहते हैं। दस संघाराम हैं जो उजड़े और सुनसान पड़े हैं। हीनयान-सम्प्रदायी संन्यासी केवल ३०० के लगभग हैं। कुल पाँच देवमन्दिर हैं जिनके उपासकों की संख्या बहुत है।

नगर के भीतर एक प्राचीन स्थान में एक विशाल विहार ६० फ़ीट ऊँचा है। इसके भीतर बुद्धदेव की मूर्त्ति, जो चन्दन की लकड़ी पर खोद कर बनाई गई है, पत्थर के सुन्दर छत्र के नीचे स्थापित है, और उदायन-नरेश की कीर्त्ति की द्योतक है। इस मूर्ति का बड़ा भारी चमत्कार यह है कि समय समय पर इसमें से प्रकाश निकला करता है। अनेक देशों के राजाओं ने इस मूर्ति को उठाकर ले जाने का बहुत प्रयत्न किया और, यद्यपि कितनों ने अपना बल भी लगाया परन्तु सबके सब विफलमनोरथ ही हुए। इस कारण उन लोगों ने इसकी नक़ल[1] बनवा कर अपने यहाँ स्थापित की है तथा वे लोग उस नक़ली मूर्ति को ही असली कह कर लोगों को धोखा देते हैं, परन्तु वास्तव में असली मूर्ति यही है।

जिस समय भगवान् तथागत पूर्ण ज्ञानी होकर अपनी माता को धर्मोपदेश देने स्वर्ग पधारे और तीन मास तक वहीं रहे थे उस समय उदायन राजा को भक्ति के आवेश में

[1] इस चन्दन की मूर्ति की एक नक़ल पेकिन के निकट एक मन्दिर में पाई गई है जिसका वर्णन बील साहब ने अपनी यात्रा में किया है। तथा उसका चित्र भी अपनी पुस्तक पर छाप दिया है। कौशाम्बी-नरेश उदायन का वर्णन कालिदास ने भी अपने मेघदूत ग्रंथ में किया है।

यह इच्छा हुई कि भगवान् की कोई मूर्ति ऐसी होती जिसका दर्शन मैं उनकी अनुपस्थिति में कर सकता। तब उसने मुद्गल्यायन-पुत्र से प्रार्थना की कि आप अपने योगबल से किसी शिल्पी को स्वर्ग भेज दीजिए और वह बुद्ध भगवान् के सम्पूर्ण अङ्गों का भलीभाँति निरीक्षण करके एक उत्तम मूर्ति चन्दन पर खोद कर बनावे।

जब तथागत भगवान् स्वर्ग से लौट कर आये तब वह चन्दन पर खोदी हुई मूर्ति अपने स्थान से उठी और भगवान् के चरणों पर गिर कर दंडवत् करने लगी। बुद्धदेव ने बड़ी प्रसन्नता से आशीर्वाद देते हुए कहा कि 'हे मूर्ति तुझसे आशा है कि तू विरोधियों को सुधारने में श्रम करेगी और बहुत दिनों तक धर्म का वास्तविक मार्ग लोगों को बताती रहेगी।'

विहार से पूर्व कोई १०० क़दम की दूरी पर गत चारों बुद्धों के चलने-फिरने और बैठने इत्यादि के चिह्न पाये जाते हैं, तथा उसके निकट ही एक कुवाँ और स्नानगृह है जो बुद्धदेव के काम में आता था। कूप में तो अब भी जल है परन्तु स्नानगृह का विनाश हो गया।

नगर के अन्तर्गत दक्षिण-पूर्व के कोने में एक प्राचीन स्थान था जिसका भग्नावशेष अब तक वर्तमान है। यहाँ पर महात्मा घोशिर रहता था। मध्य में बुद्धदेव का एक विहार और एक स्तूप तथागत भगवान् के नख और बालों सहित है, तथा उनके स्नानगृह का खंडहर भी वर्त्तमान है।

संघाराम के दक्षिण-पूर्ववाले दो खंड के बुर्ज के ऊपरी भाग में ईंटों की एक गुफा है जिसमें वसुबंधु बोधिसत्व रहा करता था। इस गुफा में बैठ कर उसने विद्यामात्र

सिद्धि-शास्त्र को, हीनयान-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को खंडन करने और विरोधियों का मुखमर्दन करने के लिए बनाया था।

संघाराम के पूर्व ओर एक आम्रवाटिका में उस मकान की टूटी-फूटी दीवार और बुनियाद का दर्शन अब भी होता है जिसमें रहकर असङ्ग बोधिसत्व ने 'हिनयङ्गशिङ्ग क्रियाव' नामक शास्त्र को लिखा था।

नगर के दक्षिण-पश्चिम आठ नौ ली की दूरी पर एक विषैले नाग का निवासभवन पत्थर का बना हुआ है। इस नाग को परास्त करके बुद्धदेव ने अपनी परछांई को यहाँ पर छोड़ दिया था। यद्यपि इस स्थान की यह कथा बहुत प्रसिद्ध है परन्तु अब उस परछांई के दर्शन नहीं होते।

इसके निकट ही एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ २०० फीट ऊँचा है जिसके पास ही दूसरा स्तूप बुद्धदेव के नख तथा बालोंसहित है, और तथागत भगवान् के इधर-उधर चलने-फिरने के बहुत से चिह्न भी वर्तमान हैं। रोग से पीड़ित शिष्य लोग इस स्थान पर आकर रोगमुक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं जिनमें से अनेक अच्छे भी हो जाते हैं।

शाक्य-धर्म का नाश होने पर यही एक ऐसा प्रदेश है जहाँ पर धर्म की जाग्रति बनी रहेगी, इसलिए छोटे से लेकर बड़े तक जितने मनुष्य इस देश की सीमा में पैर धरते हैं वे लौटते समय गद्गद् होकर अवश्य आँसुओं की धारा बहाते हैं।

नागस्थान के पूर्वोत्तर में एक बड़ा भारी वन है। इस वन में होते हुए ७०० ली चल कर हमने गंगा नदी पार की और फिर उत्तर की ओर गमन करते हुए

क्याशी पोलो'[1] नामक नगर में हम पहुँचे। नगर का क्षेत्रफल १० ली के लगभग है तथा निवासी धनी और सुखी हैं।

नगर के पास ही एक प्राचीन संघाराम है जिसकी दीवारों की केवल नींव ही इस समय शेष है। यही स्थान है जहाँ पर धर्मपाल बोधिसत्व ने विरोधियों को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। प्राचीन काल में यहाँ का एक नरेश विरोधियों का बड़ा पक्षपाती था तथा बौद्ध-धर्म का नाश करने की इच्छा से विरोधियों की प्रतिष्ठा करके उत्तेजना देता रहता था। एक दिन उसने विरोधियों में से एक बड़े शास्त्री को बुला भेजा। यह व्यक्ति बड़ा विद्वान्, बुद्धिमान् और धर्म के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्तों को समझने में अत्यन्त कुशल था। इसने एक पुस्तक भी, जिसमें १,००० श्लोक अर्थात् ३२,००० शब्द थे, बनाई थी। इस पुस्तक में उसने बौद्धधर्म पर मिथ्या दोषारोपण करके बड़े कट्टरपने से अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया था। इस पुस्तक को लेकर राजा ने बहुत से बौद्धों को बुला भेजा और आज्ञा दी कि इसमें के लिखे हुए प्रश्नों पर शास्त्रार्थ करो। उसने यह भी कहा कि यदि विरोधी विजयी होंगे तो मैं बौद्ध-धर्म को बरबाद कर दूँगा, और यदि बौद्ध लोग न परास्त होंगे तो इस पुस्तक के बनानेवाले को अपराधी मानकर उसकी जीभ काट लूँगा। इस बात को सुनते ही बौद्ध-समाज भयभीत हो गया कि अब हार होने में कसर नहीं है। सब लोग परस्पर सलाह करने लगे

[1] गोमती नदी के किनारे प्राचीन सुल्तानपुर नगर ही यह स्थान है। सुल्तानपुर का हिन्दू नाम कुशभवनपुर या केवल कुशपुर था (Cunningham)

कि "ज्ञान का सूर्य अस्त होना चाहता है और धर्म का पुल गिरने के निकट है, क्योंकि राजा विरोधियों के पक्ष में है। ऐसी अवस्था में हमको क्या आशा हो सकती है कि हम उनके मुक़ाबिले में विजयी होंगे ? क्या इस दशा में कोई उपाय बचाव का है ?" सम्पूर्ण बौद्ध-मंडली चुप हो गई, किसी की समझ में कोई तदबीर न आई कि क्या करना चाहिए।

धर्मपाल बोधिसत्व की अवस्था यद्यपि इस समय थोड़ी थी परन्तु इसकी सूक्ष्म बुद्धिप्रखरता और चतुरता के लिए बड़ी ख्याति थी, तथा शुद्धचरित्रता के लिए भी वह व्यक्ति अत्यन्त आदरणीय और प्रसिद्ध था। उस समय मंडली में यह विद्वान् भी उपस्थित था। इसने खड़े होकर बड़े ही जोशीले शब्दों में इस प्रकार उत्तर दिया, "यद्यपि मैं मूर्ख हूँ, परन्तु मैं कुछ निवेदन करने की आज्ञा चाहता हूँ। वास्तव में मैं महाराज की आज्ञानुसार उत्तर देने के लिए प्रस्तुत हूँ ; यदि मैं शास्त्रार्थ में जीत जाऊँ तो इसको दैवी सहायता समझूँगा, परन्तु यदि मैं पराजित हो जाऊँगा और सूक्ष्मविषयों का उद्घाटन सम्यक् रीति से न कर सकूँगा तो इसका सम्बन्ध मेरी युवावस्था से होगा। दोनों हालतों में बचाव है, धर्म और बौद्धों की कोई हानि न होगी।" उन लोगों ने उत्तर दिया, "हमको तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार है", तथा राजा की आज्ञानुसार उत्तर देने के लिए उसको नियत किया और वह पुरोहितासन पर आकर बैठ गया।

विरोधी विद्वान् ने अपने दोषमय सिद्धान्तों को उलटे सीधे प्रकार से अपनी बात की रक्षा के लिए प्रकट किया, और अन्त में भली भाँति अपना वक्तव्य समाप्त करके वह उत्तर का आकांक्षी हुआ।

धर्मपाल बोधिसत्व ने उसके शब्दों को लेकर मुसकराते हुए उत्तर दिया, "मैं जीत गया; मैं दिखला दूँगा कि किस प्रकार इसने विरुद्ध सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिए मिथ्या विवाद से काम लिया है, तथा इसके झूठे मत को सिद्ध करनेवाले इसके वाक्य किस प्रकार गड़बड़ हैं।"

विरोधी ने कुछ जोश के साथ कहा, "महाशय! आसमान पर न चढ़िए, यदि आप जैसा कहते हैं वैसा ही कर देंगे तो अवश्य आप विजयी होंगे। परन्तु सत्यता के साथ प्रथम मेरे मूल के अर्थों को प्रकट कीजिए।" धर्मपाल ने उसके मूल सिद्धान्तों को लेकर उसके प्रत्येक शब्द और वाक्य को, बिना किसी प्रकार की भूल किये और भाव को बदले, अच्छी तरह प्रदर्शित कर दिया।

विरोधी आदि से अन्त तक उसके उत्तर को सुन कर सन्न रह गया तथा अपनी जिह्वा काटने के लिए उद्यत ही था कि धर्मपाल ने समझाया, "यदि तुमको पश्चात्ताप है, तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि तुम अपनी जिह्वा ही को काट डालो। अपने सिद्धान्तों को बदल डालो, बस यही सच्चा पश्चात्ताप है।" फिर उसने उसको धर्म का वास्तविक रूप समझाया जिसको उसके अन्तःकरण ने स्वीकार कर लिया, और वह सत्य का अनुगामी हो गया। राजा ने भी अपने विरोध का परित्याग कर दिया और पूरे तौर से बौद्ध-धर्म का भक्त बन गया।

इस स्थान के पास एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि इसकी दीवारें टूट फूट गई हैं तो भी यह २०० फ़ीट ऊंचा है। यहाँ पर बुद्धदेव ने छः मास तक धर्मोपदेश किया था। इसी के निकट बुद्धदेव के चलने

फिरने के चिह्न भी हैं तथा एक स्तूप, उनके नख और बालों सहित, बना हुआ है।

यहाँ से १७०-१८० ली उत्तर दिशा में चल कर हम 'पीसोकिया' राज्य में पहुँचे।

पीसोकिया (विशाखा[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल ४,००० ली और राजधानी का १६ ली है। अन्नादि इस देश में जिस प्रकार अधिक होते हैं उसी प्रकार फल फूल की भी बहुतायत है। प्रकृति कोमल और उत्तम है तथा मनुष्य शुद्ध और धर्मिष्ठ हैं। ये लोग विद्याभ्यास करने में परिश्रमी और धार्मिक कामों के सम्पादन करने में बिना विलम्ब योग देनेवाले हैं। कोई २० संघाराम ३,००० संन्यासियों के सहित हैं जो हीनयान-सम्प्रदाय की सम्मतीय संस्था का प्रतिपालन करते हैं। कोई पचास देवमन्दिर और अगणित विरोधी उनके उपासक हैं।

नगर के दक्षिण में सड़क के बाईं ओर एक बड़ा संघाराम है। इस स्थान में देवाश्रम अरहट ने 'शीह शिनलन' नामक शास्त्र लिखकर इस बात का प्रतिवाद किया है कि व्यक्ति रूप में अहम कुछ नहीं है। गोप अरहट ने भी इस स्थान पर 'शिङ्ग कियोइउशीहलन' नामक ग्रंथ को बना कर इस बात का प्रतिवाद किया है कि व्यक्ति विशेष रूप में अहम ही सब कुछ है। इन सिद्धान्तों ने अनेक विवादग्रस्त विषयों को खड़ा कर दिया है। धर्मपाल बोधिसत्व ने भी यहाँ पर

[1] कनिंघम साहब निश्चय करते हैं कि यह प्रदेश साकेत, या फ़ाहियान का साची, है जो ठीक अयोध्या या अवध के सदृश है।

सात दिन में हीनयान-सम्प्रदाय के एक सौ विद्वानों को परास्त किया था।

संघाराम के निकट एक स्तूप २०० फ़ीट ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ है। प्राचीन काल में बुद्धदेव ने छः वर्ष तक यहाँ निवास और धर्मोपदेश करके अनेक मनुष्यों को अपना अनुयायी बनाया था। स्तूप के निकट ही एक अद्भुत वृक्ष ६-७ फ़ीट ऊँचा लगा हुआ है। कितने ही वर्ष व्यतीत होगये परन्तु यह ज्यों का त्यों बना हुआ है, न घटता है और न बढ़ता है। किसी समय में बुद्धदेव ने अपने दाँतों को स्वच्छ करके दातुन को फेंक दिया था। वह दातुन जम गई और उसमें बहुत से पत्ते निकल आये, वही यह वृक्ष है[1]। ब्राह्मणों और विरोधियों ने अनेक बार धावा करके इस वृक्ष को काट डाला परन्तु यह फिर पहिले के समान पल्लवित हो गया।

इस स्थान के निकट ही चारों बुद्धों के आने जाने के चिह्न पाये जाते हैं, तथा नख और बालों सहित एक स्तूप भी है। पुनीत स्थान यहाँ पर एक के बाद एक बहुत फैले चले गये हैं, तथा जङ्गल और झीलें भी बहुतायत से हैं।

यहाँ से पूर्वोत्तर ५०० ली चलकर हम 'शीसाहलोफुसिह-नाइ' राज्य में पहुँचे।

[1] इस वृक्ष का वृत्तान्त फ़ाहियान ने सांची के वर्णन में दिया है, और यही कारण है जिससे कनिंघम साहब विशाख को साकेत या अयोध्या निश्चय करते हैं।

छठा अध्याय

चार प्रदेशों का वर्णन—(१) शीलोफुशीटी (२) कइपीलो-फुस्सीटो (३) लानमो (४) कुशीनाकइलो

शीलोफुशीटी (श्रावस्ती[1])

श्रावस्ती राज्य का क्षेत्रफल ६,००० ली है। मुख्य नगर उजाड़ और जनशून्य हो रहा है। इसका क्षेत्रफल कितना था यह निश्चय नहीं हो सकता, परन्तु राज्यभवन की दीवारें जो उसकी सीमा को घेरे हुए थीं और अब टूट-फूट गई हैं उनसे निश्चय होता है कि राज्यभवन का क्षेत्रफल २० ली के लगभग था। यद्यपि नगर एक प्रकार से उजाड़ और जनशून्य है तो भी थोड़े से निवासी अब भी हैं। अन्नादि की उपज

[1] श्रावस्ती नगर धर्मपट्टन भी कहलाता है। जनरल कनिंघम साहब निश्चय करते हैं कि उत्तर कोशल में अयोध्या से ५८ मील उत्तर दिशा में राप्ती नदी के दक्षिणी किनारे पर सहेट-महेट नाम का गांव ही श्रावस्ती है। सन् १६१०-११ ई० में इस गांव के टीलों की खुदाई होने से भी जनरल साहब का विचार सत्य प्रमाणित हो गया कि बहराइच ज़िले का सहेट-महेट ही श्रावस्ती है। हुएन सांग पूर्वोत्तर दिशा में ५०० ली की दूरी बतलाता है इससे विदित होता है कि वह सीधे रास्ते से नहीं गया। विपरीत इसके, फ़ाहियान उत्तर दिशा और आठ योजन की दूरी कहता है जो दोनों ठीक हैं। इस स्थान का वृत्तान्त हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण, महाभारत, भागवत पुराण इत्यादि में भी आता है कि युवनाश्व के पौत्र और श्राव के पुत्र श्रावस्त ने इस नगर को बसाया था।

अच्छी होती है। प्रकृति उत्तम और स्वभावानुकूल है तथा मनुष्य शुद्ध आचरणवाले और धर्मिष्ठ हैं। यहाँ के लोग विद्याभ्यास और धर्म-कर्म में दत्तचित्त हैं। कई सौ संघाराम हैं जो अधिकतर उजाड़ हैं, तथा बहुत थोड़े लोग अनुयायी होकर सम्मनीय संस्था का अध्ययन करते हैं। देवमन्दिर १०० हैं जिनमें असंख्य विरुद्ध धर्मावलम्बी उपासना करते हैं। भगवान् तथागत के समय में प्रसेनजित[1] राजा इस प्रदेश का स्वामी था।

प्राचीन राजधानी के अन्तर्गत प्रसेनजित राजा के निवास-भवन इत्यादि की थोड़ी बहुत नींव अब तक है, तथा इसके निकट ही एक भग्न स्थान के ऊपर एक छोटा सा स्तूप बना हुआ है। पहले इस भग्न स्थान पर प्रसेनजित राजा ने भगवान् बुद्धदेव के लिए सद्धर्म महाशाला नामक विशाल भवन बनवाया था। कालान्तर में उस भवन के धराशायी हो जाने पर यह स्तूप स्मारक स्वरूप बना दिया गया है।

इस स्थान के निकट ही एक और भग्नावशेष पर छोटा सा स्तूप बना हुआ है। यह वह स्थान है जहाँ पर प्रसेनजित राजा ने बुद्धदेव की चाची 'प्रजापती भिक्षुनी' के रहने के

[1] अशोक अवदान में प्रसेनजित की वंशावली इस प्रकार है:—बिम्बिसार (ई० प्र० ५४०–५१२), उसका पुत्र अजातशत्रु (५१२ ई० प्र०), उसका पुत्र उदयभद्र (४८० ई० प्र०), उसका पुत्र मुंडा (४६० ई० प्र०), उसका पुत्र काकवर्णिन (४५६ ई० प्र०), उसका पुत्र सहालिन, उसका पुत्र तुलकुची, उसका पुत्र महामंडल (३७५ ई० प्र०) उसका पुत्र प्रसेनजित, उसका पुत्र नन्द, उसका पुत्र बिन्दुसार (२९५ ई० प्र०), उसका पुत्र सुसीम।

लिए विहार बनवाया था। इसके पूर्व में भी एक और स्तूप उस स्थान पर बना है जहाँ पर सुदत्त[1] का निवास-भवन था।

सुदत्त के मकान के निकट ही एक और स्तूप उस स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर अङ्गुलिमाल्य ने अपने विरुद्ध धर्म को परित्याग करके बौद्ध धर्म को अङ्गीकार किया था अङ्गुलि-माल्य श्रावस्ती की एक अधम जाति का नाम है। सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा करना इनका काम है. यहाँ तक कि जब अधिक पागलपन सवार होता है तब ये लोग नगर और ग्राम के मनुष्यों को भी मारने लगते हैं और उनकी अँगुलियों से माला बनाकर सिर में धारण करते हैं। ऊपर जिस अङ्गुलिमाल्य का उल्लेख किया गया है वह अधम एक समय अपनी माता को मारने और उसकी अँगुलियों से माला बनाने के लिए उद्यत हो गया था। भगवान् बुद्धदेव करुणा से प्रेरित होकर उसको शिक्षा देने के लिए उसके पास गये। अङ्गुलिमाल्य बुद्धदेव को दूर से आते देखकर बड़ी प्रसन्नता से कहने लगा, "अब मेरा जन्म स्वर्ग में अवश्य होगा क्योंकि हमारे प्राचीन धर्माचार्यों का वाक्य है कि जो बौद्ध को मारेगा अथवा अपनी माता का वध करेगा उसका जन्म ब्रह्म-लोक में होगा।"

इसके उपरान्त उसने अपनी माँ से कहा कि "हे बुड्ढी! जब तक मैं इस श्रमण का वध करूँगा केवल तब तक के लिए मैं तुझको छोड़ देता हूँ।" यों कह कर

[1] सुदत्त का नाम अनाथपिण्डाद भी लिखा है, अर्थात् अनाथ और दीन पुरुषों का मित्र।

और एक छुरी लेकर वह बुद्धदेव पर झपटा। बुद्धदेव इस अवस्था में भी शान्ति के साथ पदसञ्चालन करते हुए चले जाते थे, परन्तु वह बड़ी तेज़ी से झपटता हुआ इन पर आ पहुँचा। बुद्ध भगवान् ने उससे कहा, "क्यों तुम अपनी स्वाभाविक उत्तम प्रकृति को परित्याग करके निकृष्ट वासना को स्थिर रखते हुए उसी के पालन करने में तत्पर हो?" नहीं मालूम इन शब्दों में क्या शक्ति थी जिनको सुनते ही वह अपनी नीचता को समझ गया और बुद्ध देव की भक्ति करके वास्तविक धर्म के लिए प्रार्थना करने लगा। सत्य धर्म पर आरूढ़ होकर परिश्रम करने के प्रसाद से उसको बहुत शीघ्र अरहट अवस्था प्राप्त होगई।

नगर के दक्षिण ५ या ६ ली पर जेतवन है। यह वह स्थान है जहाँ पर प्रसेनजित राजा के प्रधान मंत्री अनाथ-पिण्डाद अथवा सुदत्त ने बुद्ध देव के लिए एक विहार बनवाया था। प्राचीन काल में यहाँ एक संघाराम भी था, परन्तु आज-कल यह सब उजाड़ है। पूर्वी फाटक के दाहिने और बाएँ ७० फ़ीट ऊँचे स्तम्भ बनाये गये हैं। बाँई ओर के खम्भे पर एक चक्र का चित्र खोद कर बनाया गया है, और दाहिनी ओर के स्तम्भ की चोटी पर बैल का चित्र है। यह दोनों स्तम्भ अशोक राजा के बनवाये हुए हैं। पुरोहितों के रहने के जितने स्थान थे सब गिर गये, केवल उनकी नींवें बाक़ी हैं, तथा एक कोठरी ईंटों की बनी हुई मध्य खंडहर में अव-शेष है, जिसमें बुद्धदेव का चित्र बना है।

प्राचीन काल में जब तथागत भगवान् त्रायस्त्रिंशस स्वर्ग में अपनी माता को उपदेश देने के लिए पधारे थे उस समय प्रसेनजित राजा ने यह सुन कर कि उदायन नृपति ने

बुद्धदेव की एक मूर्ति चन्दन की बनवाई है, यह चित्र इस स्थान पर बनवाया था।

महात्मा सुदत्त बड़ा दयालु और बुद्धिमान् पुरुष था। जिस प्रकार उसने असंख्य द्रव्य एकत्रित किया था उसी प्रकार वह दानी भी था। मुहताज और दुखी पुरुषों की मदद करने, और अनाथ तथा अपाहिज लोगों पर दया दिखाने ही के कारण लोग उसको, जब वह जीवित था तभी से, 'अनाथपिण्डाद' कहने लगे थे। बुद्धदेव के धार्मिक ज्ञान को सुन कर उसके हृदय में बड़ी भक्ति उत्पन्न होगई और उसी भक्ति के आवेश में आकर उसने बुद्धदेव के निमित्त एक विहार बनवाने का संकल्प किया, और बुद्धदेव से प्रार्थी हुआ कि इसके ग्रहण करने के लिए कृपा करके पधारें। बुद्धदेव ने शारिपुत्र को आज्ञा दी कि वह जाकर समुचित सम्मति इत्यादि से उसकी सहायता करे। इन दोनों का विचार हुआ कि जेतवाटिका की भूमि ऊँची और उत्तम होने के कारण विहार बनाने के लिए बहुत उपयुक्त है, इस कारण राजकुमार से चलकर और अपना विचार निवेदन करके आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। राजकुमार ने इनके निवेदन पर हँसी से कहा, "यदि तुम भूमि को सोने से ढक दो तो मैं अवश्य उस भूमि को बेच दूँगा।"

सुदत्त इस आज्ञा को सुनकर प्रसन्न होगया। तुरन्त अपने खज़ाने को खोल कर भूमि को द्रव्य से ढकने लगा, तो भी थोड़ी सी भूमि ढकने से बाकी रह गई। राजकुमार ने उससे कहा कि इसको छोड़ दो, परन्तु उसने कहा कि "बुद्ध-धर्म का क्षेत्र सच्चा है, उसमें भलाई का बीज मैं

अवश्य वपन करूँगा"। इसके उपरान्त उसने उस भूमि में, जहाँ पर वृक्ष आदि न थे, एक विहार बनवाया।

बुद्ध भगवान् ने 'आनन्द' को बुला कर कहा कि 'भूमि सुदत्त की है जो उसने खरीदी है, और वृक्षावली जेत ने दी है, इस कारण दोनों के मन का भाव समान है और वे दोनों पुण्य के अधिकारी हैं। अब भविष्य में इस स्थान का नाम जेतबाग और अनाथपिण्डाद-वाटिका होगा।'

अनाथपिण्डाद-वाटिका के उत्तर-पूर्व एक स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर तथागत भगवान ने, एक रोगी भिक्षु को जल से स्नान कराया था। प्राचीन काल में, जब तथागत भगवान संसार में थे, एक रोगी भिक्षु था जो अपने दुख से दुखी होकर एक शून्य स्थान में अकेला पड़ा रहता था। बुद्ध भगवान् ने उसको दुखी देख कर पूछा, "तुम किस दुख से पीड़ित होकर इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हो"? उसने उत्तर दिया, "मैं स्वभावतः बड़ा ही बेपरवाह और आलसी था, कभी भी मैंने किसी रोगी पुरुष पर ध्यान नहीं दिया (अर्थात् सेवा नहीं की) और अब जब मैं रोगी हो गया हूँ तो मेरी ओर भी कोई दृष्टि उठा कर नहीं देखता (अर्थात् सेवा नहीं करता।") तथागत भगवान् ने उस पर दया करके उत्तर दिया, "हे मेरे पुत्र! मैं तुझ पर निगाह करूँगा।" इसके उपरान्त बुद्धदेव ने उसकी ओर झुक कर उसके शरीर को अपने हाथ से छू दिया जिससे तुरन्त उसका रोग दूर हो गया। फिर उसको द्वार के बाहर लाकर और एक चटाई पर बिठा कर उसके शरीर को अपने हाथ से धोया और उसके कपड़ों को बदल दिया।

इसके उपरान्त बुद्ध भगवान् ने उस भिक्षु को आज्ञा दी

कि 'आज की मिती से तू मेहनती हो जा और सब कामों के लिए स्वयं प्रयत्न किया कर।' इस आज्ञा को सुनकर उसको अपने आलसीपन पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ तथा भगवान् की आज्ञा का उसने कृतज्ञता और प्रसन्नतापूर्वक पालन किया।

अनाथपिंडाद वाटिका के उत्तर-पश्चिम एक छोटा सा स्तूप है। जहाँ पर मुद्गल पुत्र की आध्यात्मिक शक्ति शारिपुत्र के कमरबन्द को उठाने में असमर्थ और व्यर्थ हो गई थी। प्राचीन काल में एक बार भगवान् बुद्धदेव, देवता और मनुष्यों की समाज में अनवतप्त झील के किनारे बैठे हुए थे। उस समय केवल शारिपुत्र ही उपस्थित नहीं था। बुद्धदेव ने मुद्गलपुत्र को बुलाकर आज्ञा दी कि शारिपुत्र से कहो शीघ्र आवे। इस आज्ञा को पाकर मुद्गलपुत्र वहाँ गया।

शारिपुत्र उस समय अपने धार्मिक वस्त्र को सुधार रहा था। मुद्गलपुत्र ने उससे कहा कि बुद्धदेव भगवान् आज-कल अनवतप्त झील के किनारे ठहरे हुए हैं और मुझको तुम्हारे बुलाने के लिए भेजा है।

शारिपुत्र ने उत्तर दिया, "एक मिनट ठहर जाओ, मैं अपना वस्त्र सुधार कर अभी आपके साथ चलता हूँ।" मुद्गलपुत्र ने उत्तर दिया, "यदि तुम देर करोगे तो मैं अपनी आध्यात्मिक शक्ति से तुमको तुम्हारे मकान सहित वहाँ सभा में उठा ले जाऊँगा।"

शारिपुत्र ने अपने कमरबन्द को लेकर भूमि पर फेंक दिया और कहा, "अब मेरा शरीर इस स्थान से तभी हिलेगा जब तुम अपनी शक्ति से इस कमरबन्द को उठा लोगे।"

मुद्गलपुत्र ने उस कमरबन्द को उठाने में अपना सम्पूर्ण आध्यात्मिक बल लगा दिया परन्तु उसको हिला भी न सका, यहाँ तक कि भूमि हिल गई। इसके उपरान्त अपने आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा वह उस स्थान पर आया जहाँ बुद्धदेव बैठे थे। वहाँ पहुँच कर क्या देखता है कि शारिपुत्र पहले से वहाँ उपस्थित है और मजलिस में बैठा है। मुद्गलपुत्र ने एक लम्बी साँस लेकर कहा कि "अब मुझको मालूम हुआ कि जादूगर की शक्ति ज्ञानी की शक्ति के बराबर नहीं होती[1]।"

स्तूप के निकट ही एक कूप है जिसमें से तथागत भगवान् अपनी आवश्यकता के लिए जल लिया करते थे। इसी के निकट एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है जिसमें तथागत भगवान् का शरीरावशेष बन्द है। यहाँ पर और भी बहुत से स्थान हैं जहाँ पर बुद्धदेव के इधर-उधर चलने-फिरने और धर्मोपदेश करने के चिह्न बने हैं। इस स्थान की इन्हीं सब बातों की स्मृति के लिए यहाँ पर एक स्तम्भ और एक स्तूप बना हुआ है। इस स्थान पर बड़े बड़े अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित होते रहते हैं, जिनके कि भय से इस स्थान की सीमा सुरक्षित है। किसी समय दैवी गान की मधुर ध्वनि कर्णकुहर में प्रवेश करती है और किसी समय दैवी सुगन्धि की सुवास चारों ओर भर जाती है। ऐसे कई प्रकार के चमत्कार दिखाई देते हैं। यहाँ के सम्पूर्ण चिह्नों (वे चिह्न

[1] दूसरे शिष्यों की अपेक्षा मुद्गलपुत्र में आश्चर्य के काम (जादूगरी) करने की अधिक शक्ति थी, और शारिपुत्र बहुत बड़ा ज्ञानवान् था।

जो धार्मिक सत्ता को प्रकट करते हैं) का पूरे तौर पर वर्णन करना कठिन है।

अनाथपिंडाद के संघाराम के पीछे समीप ही एक स्थान है जहाँ पर ब्रह्मचारियों ने एक वेश्या को मार कर उसका दोष बुद्ध भगवान् पर मढ़ना चाहा था। इन दिनों भगवान् तथागत की शक्ति दसगुनी थी,[१] वे निर्भय और पूर्ण ज्ञानी थे, मनुष्यों और देवताओं में आदरणीय तथा विद्वानों और महात्माओं में पूजनीय थे। भगवान् की इस अलौकिक प्रभुता से जलकर विरोधियों ने परस्पर सलाह करके यह निश्चय किया कि "हम लोग उनके साथ कोई ऐसी घृणित कार्यवाही करें जिससे समाज में वे निन्दित हो सकें।" इस प्रकार निश्चय करके उन्होंने एक वेश्या को प्रलोभन और द्रव्य देकर इस बात पर ठीक किया कि वह बुद्धदेव का धर्मोपदेश सुनने के लिए आया करे। उसके आने का हाल जब सब लोगों पर अच्छी तरह विदित हो गया तब एक दिन उन लोगों ने चुपचाप उस वेश्या को मार डाला और उसके शरीर को एक वृक्ष के नीचे गाड़ दिया। फिर क्रोधित व्यक्ति के समान बहाना बनाकर सब वृत्तान्त राजा से जाके कह सुनाया। राजा ने जाँच की आज्ञा दे दी। उस वेश्या का शव जेतवन से ढूँढ़ कर निकाला गया। अब तो विरोधी चिल्ला चिल्लाकर कहने लगे, "देखो, यह गौतम

[१] दस प्रकार की शक्तियों के प्राप्त करने के कारण बुद्धदेव का नाम 'दसबल' भी था। (देखो Burnouf Lotus, P. 781 and Hardy, Manual of Budhism, P. 394).

श्रमण[1] सदा सन्तोष और सदाचार पर व्याख्यान दिया करता है, परन्तु अब भेद खुल गया। इसने उस वेश्या के साथ का अपना गुप्त संबन्ध छिपाने के लिए ही उसको मार डाला, जिसमें वह किसी पर प्रकट न कर सके। परन्तु अब इस व्यभिचार और रक्तपात के सामने उसके सदाचार और सन्तोष को कहाँ स्थान मिलेगा?" उस समय देवताओं ने आकाश में उपस्थित होकर यह आकाशवाणी की, "यह विरोधियों की घृणित करतूत है।"

संघाराम पूर्व की ओर १०० कदम की दूरी पर एक बड़ी और गहरी खाई है। यह वह स्थान है जहाँ पर देवदत्त ने[2] बुद्धदेव को विषैली औषधि देकर मारना चाहा था और इस घृणित चेष्टा के फल से वह नरकगामी हुआ था। देवदत्त द्रोनोदन राजा का पुत्र था। इसने बारह वर्ष तक परिश्रम करके ८०,००० धर्म के मुख्य श्लोकों को कण्ठाग्र कर लिया था। इसके उपरान्त वह लालच में फँसकर दैवी शक्ति प्राप्त करने का अभिलाषी हुआ और बहुत से दुष्टों को अपना साथी बनाकर इस प्रकार कहने लगा, "मुझमें बुद्धदेव के

[1] यह बुद्ध के गोत्र का नाम है, और कदाचित शाक्यवंश के पुरोहित के गोत्रानुसार उत्तरी भारत की पुस्तकों में बुद्धदेव की अप्रतिष्ठा के भाव से लिखा गया है।

[2] देवदत्त बुद्धदेव का भाई और उनके पितृव्य द्रोनोदन का पुत्र था। यह भी कहा जाता है कि वह बुद्धदेव का साला अर्थात् बुद्धदेव की स्त्री यशोधरा का भाई था। पहले उसकी इच्छा बौद्ध-समाज में अग्रगण्य बनने की हुई थी परन्तु इस मनोरथ के विफल होने पर वह बुद्धदेव के प्राणों का गाहक हो गया था।

समान ३० गुण हैं। बहुत से अनुयायी मेरे सहायक हैं जिनकी संख्या बुद्धदेव के अनुयायियों से कुछ ही कम होगी। फिर और कौन सी बात है जिसमें मेरी और बुद्धदेव की असमानता है?" इस प्रकार विचार करके वह सच्चे शिष्यों को धोखा देने लगा परन्तु शारिपुत्र और मुद्गलपुत्र जो बुद्धदेव की आज्ञा के पूर्ण भक्त थे और जिनमें स्वयं बुद्ध भगवान् ने धार्मिक बल भरा था, धर्म का उपदेश देकर शिष्यों को भटकने से बचाते रहे। एक दिन देवदत्त अपनी मलीनता से बुद्धदेव को मारने के लिए नखों में विष लगा कर अतिथि के समान आया। अपनी इस घृणित इच्छा को पूर्ण करने के लिए वह बहुत दूर से इस स्थान तक आया था, परन्तु ज्योंहीं वह यहाँ पहुँचा भूमि फट गई और वह सदेह नरक में चला गया।

इसके दक्षिण में एक और बड़ी खाईं है जहाँ पर कुकाली[1] भिक्षुनी ने तथागत को व्यर्थ कलंकित करके नरक का रास्ता लिया था।

कुकाली खाईं से ८०० पग दक्षिण की ओर एक और बड़ी तथा गहरी खाईं है। इस स्थान पर एक ब्राह्मण की कन्या चंश्चा[2] तथागत को व्यर्थ कलंक लगाकर सजीव नरक में धस गई थी। बुद्ध भगवान् मनुष्यों और देवताओं

[1] कुकाली को कोकाली और गोपाली भी कहते हैं, यह देवदत्त की अनुयायिनी थी।

[2] इस स्त्री के इतिहास के लिए, जिसको चिञ्चा या चिञ्चमना भी कहते हैं, देखो Hardy, Manual of Budhism तथा फाहियान अध्याय २०

की भलाई के लिए धर्म के परमोत्तम सिद्धान्तों का उपदेश करते थे। इस बात को विरोधियों की एक स्त्री न सहन कर सकी। उसने देखा कि बुद्ध भगवान् एक बड़े भारी समाज में बैठे हैं और लोग उनकी बड़ी भक्ति और पूजा करते हैं: इस बात पर उसने विचार किया, "मैं आज ही इस गौतम की सब कीर्ति को मिट्टी में मिला दूँगी जिससे मेरे आचार्यों की प्रतिष्ठा बनी रहे।" वह एक लकड़ी के टुकड़े को अपने पेट में बाँधकर उस सभा में गई जहाँ बुद्धदेव बैठे थे, और पुकार कर कहने लगी, "यह तुम्हारा उपदेशक मुझसे गुप्त सम्बन्ध रखता है जिससे मेरे गर्भ में शाक्य-वंश का बालक है।" विरोधियों ने तो इस पर विश्वास कर लिया परन्तु बुद्धिमान् समझ गये कि यह झूठा कलङ्क है। उस समय देवाधिपति शक्र लोगों के सन्देह का निराकरण करने के लिए एक सफ़ेद चूहे के स्वरूप में उसके वस्त्र में घुस गये और उस बंधन को जिससे वह लकड़ी का टुकड़ा बँधा हुआ था काट दिया। वह टुकड़ा ज़मीन पर इस ज़ोर से गिरा कि उसके शब्द से लोग घबड़ा गये। वास्तविक बात प्रकट हो गई और सब लोग प्रसन्न होगये। समाज में से एक आदमी ने दौड़ कर लकड़ी के उस गोले को हाथ में उठा लिया और ऊँचा करके उस स्त्री को दिखा कर पूछा, "दुष्टा! क्या यही तेरा बच्चा है"? उसी समय भूमि फट गई और वह स्त्री सबसे निकृष्ट अवीची नरक में जाकर अपनी उचित करनी को पहुँची।

ये तीनों खाढ़ियाँ[1] बहुत गहरी हैं, परन्तु जब वृष्टि के

[1] ये खाइयां कनिंघम साहब की खोज में आगई हैं।

कारण ग्रीष्म और शरद् ऋतु में सब झीलों और तड़ागों में लबालब जल भरा होता है, इनमें तब भी एक बूँद भी जल नहीं दिखाई पड़ता।

संघाराम के पूर्व ६०–७० पग की दूरी पर एक विहार ६० फीट ऊँचा बना हुआ है, जिसमें पूर्वाभिमुख बैठी हुई बुद्ध भगवान् की एक मूर्ति है। बुद्ध भगवान् ने यहाँ पर विरोधियों से शास्त्रार्थ किया था। इससे पूर्व की ओर एक देवमन्दिर विहार के समान लम्बाई और ऊँचाई का बना हुआ है। सूर्योदय के समय इस देवमन्दिर की छाया विहार तक नहीं पहुँचती, परन्तु सूर्यास्त के समय विहार की परछाईं मन्दिर को ढक लेती है।

इस विहार से तीन चार ली दूर पूर्वदिशा में एक स्तूप बना हुआ है। यह वह स्थान है जहाँ पर शारि पुत्र ने विरोधियों से शास्त्रार्थ किया था। जिन दिनों सुदत्त ने राजकुमार जेत से बुद्धभगवान् का विहार बनाने के लिए वाटिका खरीदी थी और शारि-पुत्र उस धर्मिष्ठ को अपनी सम्मति से सहायता दे रहा था, उसी अवसर पर विरोधियों के छः विद्वानों ने आकर उसको घेरा और उसके सिद्धान्तों का खंडन करना चाहा। शारि-पुत्र ने समयानुसार उचित उत्तर देकर उन लोगों को परास्त किया था। इसके पास एक विहार और उसके सामने एक स्तूप बना हुआ है। इस स्थान पर तथागत ने विरोधियों को परास्त करके विशाखा[1] की प्रार्थना को स्वीकार किया था।

[1] विशाखा नामक स्त्री ने बुद्ध भगवान् से विहार बनाने की प्रार्थना की थी।

विशाखा की प्रार्थना स्वीकृत होने के स्थान पर जो स्तूप बना है उसके दक्षिण में वह स्थान है जहाँ पर से विरुद्धक राजा शाक्यवंश का नाश करने के लिए सेना लाकर भी—बुद्धदेव को देख कर—हटा ले गया था। सिंहासन पर बैठते ही विरुद्धक राजा को अपनी पुरानी अप्रतिष्ठा[1] का स्मरण हुआ और इसलिए शाक्यवंश को नाश करने के निमित्त वह बड़ी भारी सेना लेकर चढ़ाई करने का प्रबंध करने लगा। जब सब सामान ठीक हो गया और ग्रीष्मऋतु की गरमी भी कुछ कम हुई तब उसने अपनी सेना को आगे बढ़ाया। एक भिक्षु ने जाकर बुद्ध को यह सब वृत्तान्त सुनाया। वे इस समाचार को पाते ही एक सूखे वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। विरुद्धक राजा बुद्धदेव को बैठे हुए देखकर मार्ग ही में कुछ दूर पर रथ से उतर पड़ा और निकट आकर बड़ी भक्ति से प्रणाम करके सामने खड़ा हो गया। फिर उसने विस्मित होकर पूछा, "भगवन ! यहाँ पर बहुत से हरे भरे और बड़े बड़े सघन छायादार वृक्षों के होते हुए भी आप क्यों इस सूखे वृक्ष के नीचे बैठे हैं, जिसमें एक भी पत्ता सूखने से नहीं रह गया है?" भगवान् ने उत्तर दिया, "मेरा वंश वृक्ष की पत्तियों और डालियों के समान है, जब उसका ही विनाश होना चाहता है तब उस वंश में उत्पन्न एक व्यक्ति विशेष पर कैसे छाया हो सकती है।" राजा ने कहा, "मालूम होता है भगवान् बुद्ध-

[1] विरुद्धक राजा प्रसेनजित के वीर्य और शाक्य लोगों की एक लौंडी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसने शाक्य लोगों से अपने विवाह के लिए उनके वंश की एक स्त्री की याचना की तथा उन लोगों ने उसके साथ छल किया था।

देव अपने वंश से प्रेम करके यह चाहते हैं कि मेरा रथ लौट जावे।" यह कहकर उसने जोश के साथ बुद्धदेव की ओर देखा और सेना को लौटाकर अपने देश को चला गया।

इस स्थान के निकट एक और स्तूप है; यह वह स्थान है जहाँ पर शाक्य-वंश की कन्यायें वध की गई थीं। विरुद्धक राजा ने शाक्य-वंश का सत्यानाश करके ५०० शाक्य-स्त्रियों को पकड़ कर अपने रनिवास में ले लिया, अर्थात् उसकी विजय का यही महत्त्व था। वह बालिकायें क्रोध और घृणा से भरकर राजा और उसके घर को गालियाँ देती हुई उसकी आज्ञा मानने से साफ़ इनकार करने लगीं। राजा ने उनके वचनों पर क्रुद्ध होकर आज्ञा दी कि सबकी सब मार डाली जायँ। राजा के सेवकों ने उनके हाथ और पैर काट कर सबको एक खंदक में डाल दिया। तब शाक्य-कन्याओं ने दुख से पीड़ित होकर बुद्ध भगवान् को बुला भेजा। बुद्धदेव ने उनके कष्ट और दुख को अभ्यन्तर चक्षु से विचार कर एक भिक्षु को आज्ञा दी कि "मेरा वस्त्र लेकर शाक्य-बालिकाओं के पास जा, और उनको सत्य-धर्म का उपदेश दे। अर्थात् पंच वासनाओं का बंधन, पाप कर्मों से पुनर्जन्म का दुख, किसी प्रिय के वियोग होने का कष्ट, और जन्म-मरण के परिणाम इत्यादि का तात्पर्य उन लोगों को अच्छी तरह पर समझा दे"। शाक्य-बालिकायें बुद्ध भगवान् की शिक्षा श्रवण करके अपने अज्ञान से छूट गईं और दुखों से मुक्त होकर तथा धर्म के नेत्र पाकर पवित्र हो गईं, और सुख से अपना शरीर छोड़ कर स्वर्ग को चली गईं। देवराज शक्र ने ब्राह्मण का स्वरूप धर कर उनके शरीरों का अन्तिम संस्कार किया तथा लोगों ने उनके चरित्रों को अपनी पुस्तकों में सादर स्थान देकर अपनी लेखनी को पवित्र किया।

इस हत्याकांड के स्मारक स्वरूप स्तूप के निकट ही एक बड़ी भारी झील सूखी पड़ी है। यह वह स्थान है जहाँ पर विरुद्धक राजा सशरीर नरक को गया था। लोगों ने देखा कि वही शाक्य-बालिकायें जेत वन में आकर भिक्षुओं से कहने लगीं कि "विरुद्धक राजा का अब अन्तकाल आ पहुँचा, सात दिन के अंतर में आपसे आप अग्नि निकलेगी और राजा को भस्म कर देगी"। राजा इस भविष्यद्वाणी को सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गया। सातवें दिन, किसी हानि के न होने से उसको प्रसन्नता हुई और खशी से भर कर उसने अपने रनिवास को झील के किनारे चलने का हुक्म दिया। और स्वयं भी वहाँ जाकर मदिरा पीते और गाते बजाते हुए उनके साथ क्रीड़ा करने लगा। परन्तु उसका भय नहीं गया, वह डरता ही रहा कि कदाचित् आग न निकल पड़े। इस कारण वह जल के भीतर चला गया, उसी समय अकस्मात् लहरें फटने लगीं और अग्नि की ज्वाला पानी के भीतर से निकल कर राजा की छोटी नाव में, जिस पर वह सवार था, लपट गई। राजा अपना दण्ड भुगतने के लिए सशरीर और अकेला नरक को चला गया।

संघाराम के उत्तर पश्चिम ३ या ४ ली की दूरी पर हम आप्तनेत्रवन नामक जङ्गल में पहुँचे। इस स्थान पर तथागत भगवान् तपस्या करने के लिए आये थे जिसके अनेक चिह्न वर्तमान हैं। और भी कितने महात्माओं के यहाँ पर तपस्या करने के स्थान हैं। इन सब स्थानों पर लोगों ने ब्योरेवार शिलालेख लिखकर लगा रक्खे हैं तथा कहीं कहीं पर स्तूप भी बनाये गये हैं।

प्राचीन समय में ५०० डाकुओं का झुण्ड इस देश में

रहता था जो इधर उधर गाँवों और नगरों में तथा देश की सीमा पर लूट मार किया करते थे। प्रसेनजित राजा ने उन सबको पकड़ कर उनकी आँखें निकलवा लीं और उनको एक सघन वन में छुड़वा दिया। डाकू लोग व्यथा से पीड़ित होकर बुद्धभगवान् का स्मरण करने लगे और दया के भिखारी हुए। तथागत उन दिनों जेतवन में थे: उन्होंने उनकी करुणा-जनक प्रार्थना को अपने आध्यात्मिक बल से सुन लिया, तथा दयालु होकर हिमालय पहाड़ की मन्द और औषधियों से भरी हुई वायु को उस स्थान में ऐसे प्रकार से चला दिया कि वह वायु उन अन्धों के नेत्रों में भर गई। उन लोगों ने जैसे ही नेत्र खोल कर देखा तो बुद्ध भगवान को सामने खड़ा पाया। इस घटना से उन लोगों के हृदय में भक्ति तथा ज्ञान का संचार हुआ। प्रसन्नतापूर्वक बुद्धदेव की पूजा करके वे सब लोग अपने अपने घर गये। जाते समय अपनी अपनी लाठियों को वे लोग भूमि में गाड़ते गये थे। उन्हीं लाठियों ने जड़ पकड़ कर जो वृक्ष उत्पन्न किये उन वृक्षों के वन का नाम आप्तनेत्रवन हुआ।

राजधानी के उत्तर-पश्चिम १६ ली की दूरी पर एक प्राचीन नगर है। भद्रकल्प में जब मनुष्यों की आयु २०,००० वर्ष की होती थी उस समय इसी नगर में काश्यप बुद्ध का जन्म हुआ था। नगर के दक्षिण में एक स्तूप है, यह उस स्थान पर है जहाँ काश्यप बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता से भेंट की थी।

नगर के उत्तर में एक स्तूप है जिसमें काश्यप बुद्ध का सम्पूर्ण शरीर बन्द है। ये दोनों स्तूप अशोक राजा के बनवाये ए हैं। इस स्थान से दक्षिण-पूर्व लगभग ५०० ली चलकर हम कइपीलो फास्सीटी प्रदेश में पहुँचे।

कइपीलो फास्सीटी (कपिलवस्तु[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ४००० ली है। इस राज्य में कोई दस नगर हैं जो सबके सब उजाड़ और बरबाद हैं, तथा राजधानी भी बुरी अवस्था में है। राजधानी का ठीक ठीक क्षेत्रफल निश्चय नहीं किया जा सकता, परन्तु राज-भवन की सीमा नापने से उसका क्षेत्रफल १५ या १६ ली होता है। राज-भवन की चहारदीवारी ईंटों की बनी हुई थी, जिसकी नींवें अब भी मज़बूत और कुछ ऊँची हैं। इसको उजड़े बहुत दिन हो गये। दो एक मुहल्ले कुछ आबाद हैं। कोई बड़ा राजा नहीं है; प्रत्येक नगर का अलग अलग शासक है। भूमि उत्तम और उपजाऊ होने से समयानुसार जोती बोई जाती है। प्रकृति उत्तम और मनुष्य आचरण के लिहाज़ से कोमल और सुशील हैं। एक हज़ार से अधिक उजड़े हुए संघाराम हैं। केवल राज्यस्थान के निकटवाले सङ्घाराम में ३००० (अथवा ३०) बौद्ध हीनयान-सम्प्रदाय के सम्मतीय संस्थानुयायी हैं।

दो देवमन्दिर हैं जिनमें अनेक वर्णाश्रम के लोग उपासना करते हैं। राज-भवन के भीतर टूटी फूटी दीवारों की बहुत सी नींवें पाई जाती हैं। ये सब राजा शुद्धोदन के निवास-

1 बुद्धदेव का जन्म-स्थान यहीं देश है। कपिलवस्तु प्रदेश घाघरा और गंडक नदियों के मध्य की भूमि का नाम है जो फ़ैज़ाबाद से लेकर इन दोनों नदियों के सङ्गम तक फैला चला गया है। इसका ठीक ठीक क्षेत्रफल ५५० मील है। रास्तों के भेद से ६०० मील से अधिक होगा परन्तु हुएन सांग ४,००० ली के लगभग लिखता है। मि०

भवन[1] की हैं, तथा इनके ऊपर अब एक विहार बनाया गया है जिसके भीतर राजा की मूर्ति है। इसी के निकट एक और खँडहर महामाया रानी[2] के शयनगृह का है, जिसके ऊपर एक विहार बनाया गया है और रानी की मूर्ति बनी है।

इसके पास एक विहार उस स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर बोधिसत्व भगवान आध्यात्मिक रूप से अपनी माता के गर्भ में पधारे थे। इस विहार में इसी दृश्य का चित्र बनाया गया है। महास्थवीर सस्थावाले कहते हैं कि बोधिसत्व

कारलायल ने पता लगाकर निश्चय किया है कि फ़ैज़ाबाद से २५ मील पूर्वोत्तर बस्ती ज़िले में भुइला नामक ग्राम ही प्राचीन काल में राजधानी था। यदि यह सत्य है तो हुएन सांग ने श्रावस्ती से कपिलवस्तु तक की जो दूरी लिखी है वह बहुत अधिक है।

[1] इस स्थान पर जो चीनी भाषा का 'चिङ्ग' शब्द लिखा है उसका अर्थ निज का भवन, खास भवन, भी हो सकता है। मि० कारलाइल साहब लिखते हैं कि इस भवन की बाबत मेरा विचार है कि यह चहारदीवारी के दक्षिणी भाग में था। जब भवन बिलकुल नष्ट हो गया तब उसकी स्मृति में विहार बनाया गया है, जिसमें हुएन सांग के समय में राजा की मूर्ति थी।

[2] मि० कारलाइल ने एक टीले को खुदवाया था जिसकी बाबत उनको शयन-गृह होने का शक हुआ था। यदि हम इमारत की लम्बाई इत्यादि (७१ वर्ग फ़ीट) पर ध्यान दें तो मालूम होता है कि इसमें राजा-रानी दोनों रहते थे। इसकी बड़ी बड़ी पुरानी ईंटों से निश्चय होता है कि यही स्थान था जिसका वर्णन हुएन सांग ने किया है।

आषाढ़ महीने की ३० वीं रात्रि में गर्भवासी हुए, जो कि हमारे पाँचवें महीने की १५ वीं तिथि है। तथा दूसरे लोग उसी मास की २३ वीं तिथि का होना निश्चय करते हैं जो हमारे पाँचवें मास की ८ वीं तिथि होती है।

गर्भवासवाले भवन के उत्तर-पूर्व में एक स्तूप उस स्थान पर बना है जहाँ पर असित ऋषि ने राजकुमार का भावी फल[1] बताया था (अर्थात् जन्म-पत्र बनाया था)। बोधिसत्व के अवतीर्ण होने के दिन अनेक शुभसूचक घटनायें हुई थीं। शुद्धोदन राजा ने सब ज्योतिषियों को बुलाकर पूछा कि "इस बालक के भाग्य में कैसा सुख दुख है। सत्य सत्य बात स्पष्ट रीति से बताइए।" उन लोगों ने उत्तर दिया, "प्राचीन महात्माओं के सिद्धान्तानुसार इस बालक के भाग्यवान् होने के सम्पूर्ण लक्षण हैं। यदि यह गृहस्थ-जीवन में रहेगा तो चक्रवर्ती महाराज होगा, और यदि घर छोड़ देगा तो बुद्ध[2] होगा।"

[1] बौद्ध-पुस्तकों में असित ऋषि का जन्मपत्र बनाना बहुत प्रसिद्ध घटना है। इसका वृत्तान्त मि० र्‍हीस ने ancient India नामक पुस्तक में बहुत सुन्दर रीति से लिखा है। असित-ऋषि की बाबत मि० कारलाइल का विचार है कि यह ईंटों का बना हुआ था। महामाया के शयन-गृह से ४०० फ़ीट की दूरी पर उत्तर दिशा में था। सम्भव है यही हो, परन्तु वास्तव में जन्मपत्र राजभवन के भीतर बनाया गया था।

[2] अर्थात् पूर्ण ज्ञानी होगा। घर छोड़ने से तात्पर्य योगी संन्यासी होने से है। बुद्धचरित के ४५ वें श्लोक में इनके शरीर के शुभ लक्षण और ४६ वें श्लोक में भावी फल का उल्लेख है।

इसी समय असित ऋषि बहुत दूर से आकर द्वार[1] पर उपस्थित हुआ और राजा से भेंट करने का सन्देशा भेजा। राजा प्रसन्न होकर मिलने के लिए उठ दौड़ा और बड़ी भक्ति से भेंट करके एक बहुमूल्य सिंहासन पर लाकर उसे बैठाला। इसके उपरान्त उसने बड़ी विनय से निवेदन किया "आज महर्षि का मेरे ऊपर कृपा करके पदार्पण करना किसी असाधारण अभिप्राय से भरा हुआ है।" महर्षि ने उत्तर दिया, "मैं देवताओं के भवन में शान्ति के साथ विश्राम कर रहा था कि अकस्मात् मैंने देव-समाज को प्रसन्नता से नाचते देखा। मैंने पूछा कि 'आज इतना बड़ा आनन्द-व्यापार क्यों हो रहा है?' इस पर उन लोगों ने उत्तर दिया, 'हे महर्षि! तुमको जानना चाहिए कि आज जम्बूद्वीप में शाक्य-वंश के शुद्धोदन राजा की बड़ी रानी माया के गर्भ से एक राजकुमार का जन्म हुआ है, जो सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करके पूरा महात्मा होगा।' इस बात को सुन कर मैं उस बालक का दर्शन करने आया हूँ, मुझको शोक है कि इस पुनीत फल[2] के समय तक मेरी आयु मेरा साथ न देगी।

नगर के दक्षिणी फाटक पर एक स्तूप उस स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर राजकुमार ने शाक्यवंशीय अन्य कुमारों से बदाबदी करके एक हाथी को उठाकर फेंक

[1] इससे स्पष्ट है कि जहाँ पर स्तूप बनाया गया है वह वास्तव में राज-भवन का कोई भाग था।

[2] इसके दो अर्थ हो सकते हैं—अर्थात् बालक का बुद्ध होकर पुनीत फल प्राप्त करने का समय, अथवा उसके उपदेशों से स्वयं अरहट होकर पुनीत फल प्राप्त करना।

दिया था[1]। एक दिन अखाड़े में राजकुमार सब लोगों को पछाड़ कर अकेले विजयी हुए थे (अर्थात् मल्ल-विद्या के दाँव पेंच और शारीरिक पुष्टि में कोई भी कुमार उनकी समानता नहीं कर पाया।) महाराज शुद्धोदन भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। जिस समय महाराज सब लोगों से पुत्र के विजयी होने की बधाई पाकर नगर को लौटनेवाले थे उसी समय हाथीवान हाथी को लिये हु० नगर के बाहर हो रहा था और दूसरी ओर से देवदत्त, जो सदा से अपनी शक्ति का पशुओं के समान दुरुपयोग करनेवाला था, फाटक में घुस रहा था। उसने हाथीवान से पूछा कि "इस सजे सजाये हाथी पर कौन सवार होगा?" उसने उत्तर दिया. "राजकुमार इसी क्षण नगर को लौटनेवाले हैं, इस कारण मैं उनके पास जा रहा हूँ।" देवदत्त ने पागलपन से उस हाथी को पकड़कर घसीटा और उसके मस्तक में चोट देकर पेट में ऐसे ज़ोर से लात मारी कि हाथी मर कर गिर पड़ा जिससे कि रास्ता बन्द होगया। कोई भी व्यक्ति उसको रास्ते से हटा नहीं सकता था इस कारण आने जानेवाले अपनी अपनी तरफ़ रुके खड़े थे। उसी समय नन्द ने आकर पूछा कि "हाथी को किसने मारा है?" लोगों ने उत्तर दिया.

[1] यह स्थान नगर के दक्षिणी फाटक पर होना चाहिए, न कि राजभवन की सीमा के भीतर। हाथी फेंकने की कथा इस प्रकार है कि जब हाथी गिर पड़ा और फाटक का मार्ग अवरुद्ध होगया तब नन्द ने उसे सड़क से एक किनारे खींच कर डाल दिया, परन्तु राजकुमार ने उठा कर खाई के पार फेंका. अतएव यह स्तूप खाई के भीतरी भाग में होना चाहिए।

"देवदत्त ने"। तब नन्द ने उसको खींच कर मार्ग के एक ओर डाल दिया। थोड़ी देर बाद महाराज कुमार भी उस स्थान पर आये और उन्होंने भी पूछा कि "किसने मूर्खतावश हाथी को मारा है?" लोगों ने उत्तर दिया, "देवदत्त ने इसको मार कर रास्ते में ढेर कर दिया था, और नन्द ने एक किनारे हटा कर रास्ता साफ़ कर दिया।" राजकुमार ने उस हाथी को ऊँचा उठा कर नगर की खाई के पार फेंक दिया। जिस स्थान पर हाथी गिरा वहाँ पर एक बड़ा गड्ढा हो गया, जिसको लोग हस्तीगर्त[1] कहते हैं।

इसी के पास एक विहार बना हुआ है जहाँ पर राजकुमार का चित्र बनाया गया है। इसी के निकट एक और विहार है जहाँ पर राजकुमार और राजकुमारी का शयन-गृह था। इसके भीतर यशोधरा और राहुल (पुत्र) के चित्र बने हुए हैं। इसी के पास एक और विहार बना है जिसमें बालकों के पाठ सीखने के चित्र बने हैं। इससे प्रकट होता है कि राजकुमार की पाठशाला इसी स्थान पर थी।

नगर के दक्षिण-पूर्व के कोने पर एक विहार बना है जिसमें राजकुमार का घोड़े की सवारी का चित्र है। यही स्थान है जहाँ से उन्होंने नगरपरित्याग किया था। चारों फाटकों के बाहर एक एक विहार बना हुआ है जिनमें, वृद्ध पुरुष, रोगी पुरुष, मृत पुरुष और श्रमण के चित्र बने हुए हैं[2]।

[1] भुइला की खाई के दक्षिण में लगभग ३४० फ़ीट का एक तालाब है जो अब भी हाथीकुंड के नाम से प्रसिद्ध है। जनरल कनिंघम का विश्वास है कि यही हस्तीगर्त है।

[2] इन्हीं चार प्रकार के पुरुषों को देखकर बुद्ध के चित्त से वैराग्य

इन्हीं स्थानों पर राजकुमार ने, जब वह सैर के लिए बाहर जा रहे थे, उन लोगों को देख कर—जिनके ये चित्र हैं—वैराग्य धारण किया था और संसार और उसके सुखों से घृणा करके सारथी को घर लौटने का हुक्म दिया था।

नगर के दक्षिण ओर ५० ली की दूरी पर एक प्राचीन नगर है जिसमें एक स्तूप बना हुआ है। यही स्थान है जहाँ पर क्रकुच्छन्द बुद्ध का जन्म भद्रकल्प में हुआ था, जब कि मनुष्यों की आयु ६०,००० वर्ष की होती थी[1]।

इस नगर के निकट दक्षिण दिशा में एक स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर यह बुद्धदेव सिद्धावस्था प्राप्त करके अपने पिता से मिले थे, तथा नगर के दक्षिण-पूर्व में एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर तथागत का शरीरावशेष रक्खा है। इसके सामने पत्थर का एक खम्भा ३० फ़ीट ऊँचा बना हुआ है जिसके सिरे पर सिंह की मूर्ति बनी है[2]। यह स्तम्भ अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इसके चारों ओर बुद्ध भगवान् के निर्वाण का वृत्तान्त अंकित है।

उत्पन्न हुआ था। मि० कारलायल नगर के बाहरी भाग में चार टीलों को जो चारों ओर हैं, इन विहारों की भूमि निश्चय करते हैं।

[1] भद्रकल्प के पाँचों बुद्धों में क्रकुच्छन्द प्रथम बुद्ध था। इस बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु के दक्षिण-पश्चिम एक योजन (आठ मील) पर होनी चाहिए, मि० कारलायल का उस स्थान से ७½ मील उत्तर-पश्चिम नग्र नामक स्थान निश्चय करना ठीक नहीं है। फ़ाहियान श्रावस्ती से इस स्थान पर आया था और यहाँ से ८ मील उत्तर चलकर और फिर आठ मील पूर्व दिशा में चलकर वह कपिलवस्तु को पहुँचा था।

[2] मि० कारलायल को जब वह 'नग्र' में थे, एक स्तम्भ का केवल

ककुच्छन्द बुद्ध के नगर के पूर्वोत्तर में लगभग ३० ली चलकर हम एक प्राचीन राजधानी में पहुँचे। यहाँ पर एक स्तूप कनक मुनि बुद्ध के स्मारक में बना है। यह वह स्थान है जहाँ पर भद्रकल्प में, जब मनुष्यों की आयु ४०,००० वर्ष की होती थी, इस बुद्ध का जन्म हुआ था[1]।

नगर के निकट पूर्वोत्तर दिशा में एक स्तूप उस स्थान पर बना है जहाँ पर यह बुद्ध देव सिद्धावस्था प्राप्त करके अपने पिता से मिले थे। इससे कुछ दूर उत्तर दिशा में एक और स्तूप है जिसके भीतर बुद्ध देव का शरीर है, तथा इसके सामने के भाग में एक पत्थर का स्तम्भ २० फ़ीट ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इसके शिरोभाग पर सिंह की मूर्ति है। इस स्तम्भ पर बुद्ध देव के निर्वाण समस्त वृत्तान्त अंकित है।

नगर के उत्तर-पूर्व में लगभग ४० ली दूर एक स्तूप बना है। यह वह स्थान है जहाँ पर एक समय राजकुमार वृत्त

तलभाग पाया था। उनका अनुमान हुआ कि इसी स्थान पर यह स्तम्भ होगा परन्तु स्तम्भ उनको न मिला; अतः लोगों को इसका इतिहास कुछ भी मालूम नहीं था। वास्तव में उन लोगों की अनजानकारी ठीक है, क्योंकि जिस स्थान का उल्लेख हुएन सांग ने किया है वहाँ से इस स्थान का फ़ासला १६ या १८ मील है।

[1] भद्रकल्प के पाँचों बुद्धों में यह दूसरा है। इसका जन्म-स्थान कपिलवस्तु से एक योजन पश्चिम कनकपुर नामक ग्राम में मि० कारलायल ने निश्चय किया है। इस स्थान की दूरी इत्यादि फ़ाहियान और हुएन सांग के वर्णन से ठीक मिलती है।

की छाया में बैठकर खेतों की जोताई का निरीक्षण कर रहे थे, और बैठे ही बैठे ध्यान करते हुए समाधि को प्राप्त हो गये थे। राजा ने देखा कि राजकुमार वृक्ष की छाया में बैठे ध्यान में मग्न हैं, साथ ही इसके उन्होंने यह भी देखा कि सूर्य की धूप उनके चारों ओर फैल गई है परन्तु वृक्ष की छाया उन पर से नहीं हटी है। राजकुमार के इस अद्भुत चरित्र को देख कर राजा के चित्त में बड़ी भक्ति उत्पन्न हो गई थी।

राजधानी के उत्तर-पश्चिम की ओर सैकड़ों हज़ारों स्तूप बने हुए हैं। इस स्थान पर शाक्य-वंश के लोग वध किये गये थे। विरूढ़क राजा ने शाक्य लोगों को परास्त करके उनके वंश के ६,६६० मनुष्यों को बन्दी करके वध करा दिया था[1]। उन लोगों के शरीर लकड़ी के समान एक स्थान पर ढेर कर दिये गये थे। इनका रुधिर बह कर एक झील में भर गया था। उस समय देवताओं ने लोगों के चित्तों को प्रेरित करके उनका अन्तिम संस्कार कराया था।

जिस स्थान पर यह वध-लीला हुई थी, उसके दक्षिण-पश्चिम में चार छोटे छोटे स्तूप बने हैं। यह वह स्थान है जहाँ पर शाक्य-वंश के चार मनुष्यों ने सेना का सामना किया था। पहले जब प्रसेनजित राजा हुआ उसने शाक्य-वंश से विवाह सम्बन्ध करके नाता जोड़ना चाहा, परन्तु शाक्य लोगों ने उससे घृणा की, क्योंकि वह उनका सजातीय न था। इसलिए उन लोगों ने धोखा देकर एक दासी कन्या उसको दे दी। प्रसेनजित राजा ने उसको

[1] 'भटा' नामक स्थान ही, जो भुइला से पश्चिमोत्तर ८ मील है, वधस्थल निश्चय किया जाता है।

अपनी पटरानी बनाया जिसके गर्भ से कुछ समय के उपरान्त एक बालक उत्पन्न हुआ जिसका नाम विरुद्धक राजा हुआ। विरुद्धक की इच्छा हुई कि वह अपने मामा के यहाँ जाकर उन लोगों के नियमानुसार विद्याध्ययन करे। नगर के दक्षिणी भाग में पहुँचकर और एक नवीन बना हुआ उपदेशभवन देख कर उसने अपने रथ को रोक लिया, और जैसे ही वह उस स्थान में जाने लगा शाक्य लोगों ने उसको यह कह कर नहीं जाने दिया कि "हे नीचकुलोत्पन्न ! इस मकान में तू जाने का साहस मत कर, यह शाक्य-वंशियों का बनाया हुआ भवन बुद्धदेव के रहने योग्य है।"

जब विरुद्धक सिंहासन पर बैठा, वह अपनी प्राचीन अप्रतिष्ठा का बदला लेने के लिए सेना-सहित चढ़ दौड़ा और इस स्थान पर आ पहुँचा। उस समय शाक्यवंश के चार व्यक्ति एक नाले को जोत रहे थे। उन लोगों ने सेना का सामना किया तथा इस वीरता से वे लोग लड़े कि सेना को भागते ही बन पड़ा। वे लोग हँसी ख़ुशी नगर को गये। सब हाल जान कर उन लोगों के सजातीय पुरुषों ने उनके विषय में कहा कि 'इनका वंश ऐसा प्रतिष्ठित है कि जिसमें संसार पर शासन करनेवाले बहुत दिनों तक होते रहे हैं परन्तु उन्हीं विशुद्ध महाराजों के माननीय वंशजों में (अर्थात् इनमें) क्रोध और निर्दयता का प्रवेश हुआ, जिससे इन्होंने निरंकुश होकर सेना का संहार किया। इन लोगों के ऐसा करने से हमारे वंश पर कलङ्क लग गया। यह कह कर उन वीरों को उन लोगों ने घर से निकाल दिया[1]।

[1] समझ में नहीं आता है कि यह बात क्या है। उन वीरों की

ये चारों वीर इस प्रकार निकाले जाकर उत्तर दिशा में हिमालय पहाड़ को चले गये। उनमें से एक वमपान, एक उद्यान, एक हिमतल और एक शाम्बी (कौशाम्बी ?) का अलग अलग राजा हुआ। इन लोगों का राज्य पीढ़ी दर पीढ़ी बहुत समय तक स्थिर रहा[1]।

वीरता तो संसार भर में सराहनीय हुई, फिर क्या कारण जो शाक्य-वंशवालों ने उनका अनादर करके देश से निकाल दिया ? मालूम होता है यहाँ कुछ भ्रम है, जिसको न तो फ्रेञ्च लोग अनुवाद करते समय ठीक समझ सके और न अँगरेज़ लोग। शाक्य-वंशजों का यह विचार कि उनका जन्म पवित्र राजकुल में हुआ है इस कारण उनको किसी को, यहाँ तक कि जो चढ़ाई करके उनका सिर भी काट लेवे उसको भी, न मारना चाहिए—उचित नहीं है। सम्भव है इतनी बड़ी विजय प्राप्त करके ये चारों घमंड में आगये हों और अपने परिवार-वालों को तुच्छ दृष्टि से देखने लगे हों, और इसी पर इनको देश-निकाला दे दिया गया हो, जिसका कि फल यह हुआ कि विरूद्धक राजा ने फिर चढ़ाई करके और शाक्य-वंश को परास्त करके जो कुछ कार्य किया उसका उल्लेख पिछले पृष्ठ में किया गया है। हमारा विचार है कि इन चारों ने जो इतनी बड़ी विजय प्राप्त की वह बुद्धदेव के उस आध्यात्मिक बल और शील का फल था जिसका परिचय उन्होंने पिछले पृ० में विरूद्धक राजा को एक सूखे वृक्ष के नीचे बैठ कर दिया था, जिससे कि वह अपनी सेना हटा ले गया था। बुद्धदेव का स्नेह इन चारों पर तथा इनके वंशजों पर सदा बना रहा जिसका वृत्तान्त प्रथम भाग के तीसरे अध्याय में उत्तरसेन राजा के वृत्तान्त में आचुका है।

[1] इन चारों के देश-निकाले का हाल मैक्समूलर साहब ने 'संस्कृत-साहित्य के प्राचीन इतिहास' नामक अपनी पुस्तक में लिखा

नगर के दक्षिण में तीन चार ली दूर न्यग्रोध वृक्षों का एक बाग है जिसमें एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यही स्थान है जहाँ पर शाक्य तथागत सिद्धावस्था प्राप्त करके अपने देश में लौटने पर पिता से मिले थे और उनको उन्होंने धर्मोपदेश दिया था। शुद्धोदन राजा को जब यह समाचार विदित हुआ कि तथागत कामदेव को जीत कर देशाटन करते हुए लोगों को सत्यधर्म का उपदेश दे रहे हैं और उन्हें अपना शिष्य बना रहे हैं तब उनके हृदय में भी बुद्ध देव के दर्शन और उनका समुचित सत्कार करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई, तथा उन्होंने भगवान् को बुलाने के लिए निम्नलिखित सन्देश भेजा। "तुमने प्रथम ही इस बात का वचन दे रक्खा था कि जब तुम सिद्धावस्था प्राप्त करके बुद्ध हो जाओगे तब अवश्य अपने घर आओगे, परन्तु तुम्हारी वह प्रतिज्ञा अब तक पूरी नहीं हुई, इसलिए अब समय आगया है कि तुम कृपा करके मुझसे भेंट करो।' दूत ने जाकर राजा की इच्छा को बुद्धदेव से निवेदन किया जिस पर उन्होंने उत्तर दिया, "सात दिन के पश्चात् मैं अपनी जन्मभूमि के दर्शन करूँगा।" दूत ने लौट कर जब यह समाचार राजा को सुनाया तब राजा ने प्रसन्न होकर अपनी प्रजा को आज्ञा दी कि सब रास्ते झाड़ बुहार कर पानी से छिड़के जावें और सुगंधित वस्तुओं तथा फूल-मालाओं से सुसज्जित किये जावें। फिर राजा अपने सरदारों के सहित रथ पर सवार होकर नगर के बाहर ४० ली तक गया और

है। उद्यान-नरेश और नाग-कन्या का वृत्तान्त भाग १, अध्याय ३ में आया है।

वहाँ पर उनके शुभागमन की प्रतीक्षा करने लगा। जिस समय तथागत भगवान् उस स्थान पर आये उस समय उनके साथ बड़ी भारी भीड़ थी। आठ वज्रपाणि उनकी रक्षा के लिए चारों ओर से घेरे हुए थे और चार स्वर्गीय नरेश आगे आगे चलते थे। कामलोक के देवतों के सहित देवराज शक्र बांई ओर तथा रूपलोक के देवसमाज को लिये हुए ब्रह्मा दाहिनी ओर थे। बहुत से भिक्षु संन्यासी पंक्ति बाँधे हुए बुद्धदेव के पीछे थे। इस प्रकार श्री बुद्ध भगवान् नक्षत्रावली के मध्य में चन्द्रमा के समान स्थित होकर अपनी प्रबल आध्यात्मिक शक्ति से तीनों लोकों को विकम्पित करते और अपने मुख के प्रकाश से सप्त प्रकाशों को मलीन करते तथा वायु को चीरते हुए अपनी जन्मभूमि में आ पहुँचे[१]। राजा और उनके मन्त्री इत्यादि बुद्धदेव से भेंट मिलाप करके राजधानी को लौट गये परन्तु बुद्ध भगवान् न्यग्रोध-वाटिका में ठहर गये।

संघाराम के पास थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान पर बना है जहाँ तथागत भगवान् ने एक बड़े वृक्ष के नीचे पूर्वाभिमुख बैठ कर अपनी मौसी से काषाय वस्त्र[२] ग्रहण किया था।

[१] सप्तप्रकाशों से तात्पर्य सूर्य, चन्द्र और बड़े बड़े पञ्च ग्रहों से है, तथा वायु चीरने से तात्पर्य आकाशगामी होने से है। देश को जाते समय का जो कुछ समारोह हुएन साङ्ग ने लिखा है वह सब बौद्ध इतिहासों में देखकर लिखा है।

[२] इस वस्त्र की बाबत अनुमान है कि यह वही है जिसको महा-काश्यप बुद्ध ने मैत्रेय भगवान् के लिए कुक्कुटपाद पर्वत में रख दिया था। बुद्धदेव की मौसी महा प्रजापती सब शिष्य स्त्रियों में प्रधान थी।

नगर के पूर्वी द्वार के निकट सड़क के वाम भाग में एक स्तूप उस स्थान पर बना है जहाँ पर राजकुमार सिद्धार्थ (यह बुद्ध का मातृ-पितृ-दत्त नाम है) कला-कौशल का अभ्यास करते थे।

फाटक के बाहरी भाग में एक मन्दिर ईश्वर देव का है। मन्दिर के भीतर पत्थर की कुबड़ी मूर्ति उन्नत-शिर बैठी हुई है। राजकुमार बचपन में इस मन्दिर के भीतर गये थे। एक दिन राजा शुद्धोदन राजकुमार को देख कर लुम्बिनी वाटिका[1] से लौटे हुए आ रहे थे। इस मन्दिर के निकट पहुँच कर उनको विचार हुआ कि यह मन्दिर अपने अनेकानेक अद्भुत चमत्कारों के लिए बहुत प्रसिद्ध है, शाक्य-बच्चे इस देवता की शरण में आकर जो कुछ याचना करते हैं अवश्य पाते हैं। इस कारण हमको भी अपने राजकुमार को लाकर यहाँ पूजन करना चाहिए। उसी समय एक दाई बालक को गोद में लिये हुई आ पहुँची और जैसे ही मन्दिर में गई कि मूर्ति स्वयं उठकर राजकुमार का अभिवादन करने लगी तथा राजकुमार के चले आने पर फिर अपने स्थान पर स्वयं बैठ गई।

नगर के दक्षिणी फाटक के बाहर सड़क के वाम भाग में एक स्तूप उस स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर राजकुमार ने शाक्य बालकों से बदाबदी करके कला-कौशल में उसको जीत लिया था। तथा अपने तीरों से लोहे की एक ढाल को छेद दिया था।

[1] इसी वाटिका में बुद्धदेव का जन्म हुआ था, सुप्रबुद्ध की स्त्री के नामानुसार, जिसकी कन्या बुद्ध की माता मायारानी थी, इस वाटिका का नामकरण हुआ था।

यहाँ से ३० ली दक्षिण-पूर्व एक छोटा स्तूप है। इस स्थान पर एक झील है जिसका जल दर्पण के समान स्वच्छ है। राजकुमार ने जिस समय लोहे की ढाल का तीर से छेदन किया था उस समय उनका तीर ढाल को पार करता हुआ पार तक भूमि में समा गया था, और उससे स्वच्छ जल की धारा प्रकट हो गई थी, इस कारण लोग इसको 'सरकूप' कहते हैं। रोगी पुरुष इसका जल पी करके अधिकतर आरोग्य हो जाते हैं इस कारण यहाँ पर बहुत दूर दूर से लोग आते हैं, और जाते समय थोड़ी सी मिट्टी अपने साथ ले जाते हैं। रोगी के पीड़ास्थल पर इस मृत्तिका का लेप किया जाता है. इस उपचार से अनेक लोग अच्छे हो जाते हैं।

सरकूप के उत्तर-पश्चिम लगभग ८० या ९० ली चल कर हम लुम्बिनी वाटिका में गये। यहाँ पर शाक्य लोगों के स्नान का तड़ाग है जिसका जल दर्पण के समान स्वच्छ और चमकीला है। इस जल के ऊपर अनेक फूल खिले हुए हैं।

इसके उत्तर २४-२५ पग पर एक अशोक वृक्ष है जो इन दिनों सूख गया है। इसी स्थान पर वैशाख मास शुक्ल पक्ष की अष्टमी को बोधिसत्व ने जन्म धारण किया था जो हिसाब से हमारे तीसरे मास की आठवीं तिथि हुई। स्थावीर संस्थावाले कहते हैं कि जन्म वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की पन्द्रहवीं तिथि को हुआ था, जो हमारे हिसाब से तीसरे मास की १५ वीं तिथि हुई। इसके पूर्व में एक स्तूप अशोक राजा का बनाया हुआ उस स्थान पर है जहाँ पर दो नागों ने राजकुमार के शरीर को स्नान कराया था। राजकुमार जन्म लेते ही चारों ओर बिना किसी प्रकार की सहायता के सात पग चले थे। उन्होंने यह भी कहा था कि "मैं ही केवल

स्वर्ग और भूमि का स्वामी हूँ, अब आगे कभी मेरा जन्म न होगा।" इस पग-संचालन के समय जहाँ जहाँ उनका पैर पड़ा था वहाँ वहाँ बड़े बड़े कमल-फूल निकल आये थे। इसके अतिरिक्त दो नाग भी निकले और अधर में ठहर कर एक ने ठंढे जल और दूसरे ने गरम जल की धार अपने मुख से छोड़ कर राजकुमार को स्नान कराया।

इस स्तूप के पूर्व में दो सोते स्वच्छ जल के हैं जिनके निकट दो स्तूप बने हुए हैं। यही स्थान है जहाँ पर दोनों नाग भूमि से बाहर निकले थे। जिस समय बोधिसत्व का जन्म हुआ था उस समय नौकर तथा घरवाले नवजात बालक के स्नान के लिए जल लेने दौड़े, तथा उसी समय जल से भरे हुए दो सोते रानी के सामने प्रकट हो गये। एक में ठंढा और एक में गरम जल था जिससे बालक नहलाया गया था।

इसके दक्षिण में एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर देवराज शक्र ने बोधिसत्व को गोद में लिया था। जिस समय राजकुमार का जन्म हुआ था देवराज इन्द्र ने आकर बालक को गोद में उठा लिया, और देवलोक के विशुद्ध वस्त्र को धारण कराया था।

इसी स्थान के निकट और भी चार स्तूप हैं जहाँ पर स्वर्गलोक के अन्य चार राजाओं ने आकर बोधिसत्व को गोद में लिया था। जिस समय माता के दक्षिण पार्श्व से बोधिसत्व का जन्म हुआ, उस समय चारों राजाओं ने उनको सुनहरे रङ्ग के सूती वस्त्र से परिवेष्टित करके सोने की चौकी पर बैठाया और फिर माता को देकर यह कहा कि "हे रानी! ऐसे भाग्यवान् पुत्र को उत्पन्न करके वास्तव में

तू प्रसन्न होगी।" यदि देवता उस अवसर पर प्रसन्न हुए तो मनुष्यों को क्यों न विशेष प्रसन्न होना चाहिए।

इन स्तूपों के निकट ही एक ऊँचा पत्थर का स्तम्भ है जिसके ऊपर घोड़े की मूर्ति बनी है। यह स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। कुछ समयोपरान्त एक दुष्ट नाग की दुष्टता से यह स्तम्भ बीच से टूट कर गिर गया था। इसके निकट ही एक छोटी सी नदी दक्षिण-पूर्व की ओर बहती है। यहाँ के लोग इसको तैल-नदी कहते हैं। यही धारा है जिसको देवताओं ने बालक उत्पन्न होने के उपरान्त रानी के स्नान के लिए स्वच्छ और चमकीले जल से भरा हुआ प्रकट किया था। अब यह नदी के स्वरूप में होगई है, तो भी जल में चिकनाहट मौजूद है।

यहाँ से लगभग ३०० ली पूर्व चलकर और एक भयानक तथा निर्जन वन को पार करके हम 'लनयो' राज्य में पहुँचे।

लनमो (रामग्राम)

लनमो[१] राज्य अनेक वर्षों से उजाड़ है। इसके क्षेत्रफल का कुछ ठीक हिसाब नहीं है। नगर सब नष्ट-भ्रष्ट होगया, केवल थोड़े से निवासी रह गये हैं!

प्राचीन राजधानी के दक्षिणपूर्व में एक स्तूप ईंटों का है

[१] लनमो शब्द केवल 'राम' शब्द का सूचक है, परन्तु यह देश का नाम है। रामग्राम प्राचीन राजधानी था। 'महावंशो' ग्रंथ में 'रामगामो' के धातु-स्तूप का वर्णन है। इसकी पुष्टि हुएन सांग और फ़ाहियान ने भी की है; इस कारण रामग्राम शब्द निश्चय किया गया। यह नगर कहाँ पर था इसका ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सका। देखो Anc. Geog. P. 420.

इसकी उँचाई १०० फ़ीट से कम है। प्राचीन समय में तथागत के निर्वाण प्राप्त करने पर इस देश के एक प्राचीन नरेश ने उनके शरीर में से कुछ भाग लाकर बड़ी प्रतिष्ठा से इस स्तूप को बनवाया था। प्रायः अद्भुत दृश्य यहाँ पर दिखाई देते हैं तथा दैवी प्रकाश समय समय पर चारों ओर निकलने लगता है।

स्तूप के पास एक झील है जिसमें से कभी कभी एक नाग निकलकर बाहर आता है और अपने बाहरी सर्प-स्वरूप को परित्याग करके स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा करता है। जङ्गली हाथी झुंड के झुंड आते हैं और बहुत से फूल लाकर इस स्थान पर चढ़ाते हैं। किसी गुप्त शक्ति की प्रेरणा से अब तक इनकी सेवा बराबर जारी है। प्राचीनकाल में अशोक राजा ने सात देशों के नरेशों के बनवाये हुए स्तूपों को खुलवा कर बुद्धदेव के शरीरावशेष को हस्तगत कर लिया था। इसी अभिप्राय से वह इस देश में भी आया था। यहाँ आकर ज्योंही उसने हाथ लगाया त्योंही स्थान के भावी नाश का विचार करके तथा ब्राह्मण का स्वरूप बनाकर नाग अशोक राजा के पास गया और प्रणाम करके कहने लगा, "महाराज! आप बौद्ध-धर्म के बड़े भक्त हैं तथा धर्म-ज्ञान के क्षेत्र में आपने असंख्य पुण्य के बीजों का वपन किया है। मेरी प्रार्थना है कि आप थोड़ी देर के लिए रथ से उतर कर मेरे निवासस्थान तक पधारने की कृपा करें।" राजा ने पूछा, "तुम्हारा स्थान कहाँ है? क्या निकट है?" ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "मैं इस झील का नागराज हूँ, मैंने सुना है कि महाराज पुण्य के सबसे बड़े क्षेत्र को प्राप्त करने के अभिलाषी हैं, इस कारण मेरी प्रार्थना है कि आप मेरे भवन को

पधार कर उसे पुनीत करें।" राजा उसकी प्रार्थनानुसार उसके स्थान पर गया, थोड़ी देर बैठने के बाद नाग ने आगे बढ़कर राजा से निवेदन किया, "मैंने अपने पाप कर्मों से इस नागतन को पाया है; बुद्धदेव के शरीर की धार्मिक सेवा करके मैं अपने पापों को छुड़ाना चाहता हूँ।" यह कहकर उसने अपनी पूजा की सामग्री राजा को दिखलाई[1]। अशोक देखकर घबड़ा गया। उसने कहा, "पूजा का यह ठाठ मनुष्यों में दुर्लभ है।" नाग ने उत्तर दिया, "यदि ऐसा है तो क्या महाराज स्तूप के तोड़ने का प्रयत्न परित्याग कर देंगे?" राजा ने यह देखकर कि उसकी सामर्थ्य नागराज के बराबर नहीं है स्तूप के खोलने से हाथ उठाया। जहाँ पर वह नाग झील से बाहर निकला था उस जगह इसी अभिप्राय का एक लेख लगा हुआ है।

इस स्तूप के पड़ोस में थोड़ी दूर पर एक संघाराम थोड़े से संन्यासियों सहित बना है। उनका आचरण आदरणीय तथा शुद्ध है। एक श्रमण सम्पूर्ण जमात का प्रबंध करता है। जब कोई संन्यासी दूर देश से चलकर यहाँ आता है तब ये लोग बड़े आव भगत से उसका सत्कार करते हैं तथा तीन दिन तक अपने यहाँ रखकर चारों प्रकार[2] की आवश्यक वस्तुएँ उसको भेंट देते हैं।

इस स्थान का प्राचीन इतिहास इस प्रकार है कि प्राचीन काल में कुछ भिक्षु बहुत दूर से भ्रमण करते हुए इस स्थान

[1] इस स्थान पर अँगरेज़ी मूल पुस्तक में कुछ भ्रम है, इस कारण फ़ाहियान का भाव लेकर यह वाक्य लिखा गया।

[2] भक्ष्य, पेय, वस्त्र, ओषधि।

पर स्तूप की पूजा करने के लिए आये। यहाँ पहुँचने पर उन लोगों ने देखा कि हाथियों के झुंड के झुंड इस स्थान पर आते और जाते हैं। कितने ही अपनी सूँड़ों में वृक्षों की पत्तियाँ और डालियाँ लाते हैं और कितनों ही की सूँड़ों में स्वच्छ जल भरा होता है, तथा कितने ही अनेक प्रकार के फूल लाकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार इस स्तूप की पूजा करते हैं। भिक्षु लोग यह तमाशा देखकर चकित होगये, उनके हृदय भक्ति से भर गये। उनमें से एक ने अपने भिक्षु-धर्म का परित्याग करके इस स्थान पर रह कर स्तूप की सेवा करने का संकल्प किया, और अपने इस विचार को दूसरों पर इस प्रकार प्रकट किया, "मैं इस स्थान के दृश्यों को देखकर विचार करता हूँ तो यही मालूम होता है कि वर्षों तक संन्यासियों के सत्सङ्ग में रहने से जो लाभ मुझको हुआ है उससे भी अधिक यहाँ का प्रभाव है। स्तूप में बुद्धभगवान् का शरीरावशेष अपने गुप्त और पवित्र बल से हाथियों के झुंड को आकर्षित करता है जिससे वे लोग भगवान के शरीर की पूजा-अर्चना करते हैं। इसलिए मेरे लिए यह बहुत उत्तम होगा कि मैं इस स्थान पर रहकर अपने शेष जीवन को व्यतीत करूँ और हाथियों के साथ मुक्ति प्राप्त करूँ।" उन लोगों ने उत्तर दिया, "यह बहुत श्रेष्ठ विचार है, हम लोग अपने महान्-पातकों से कलुषित हैं, हमारा ज्ञान इस पुनीत कर्म की बराबरी नहीं कर सकता इसलिए तुम्हारी सुगति के लिए यह बड़ा सुन्दर अवसर है, इस काम में जो कुछ तुमसे हो सके प्रयत्नपूर्वक करो।"

उसने अपने संकल्प पर दृढ़ होकर सब लोगों का साथ छोड़ दिया तथा प्रसन्नतापूर्वक अपने शेष जीवन को इस

स्थान पर एकान्त वास करने के लिए अर्पण कर दिया। फूँस की एक पुण्यशाला बनाकर उसी में वह रहने लगा और स्तूप की भूमि झाड़ बुहार कर और नदियों के जल से शुद्ध करके अनेक प्रकार के फूलों से पूजा करने लगा। इसी प्रकार अपने विचार पर अटल होकर सेवा-पूजा करते हुए उसने अनेक वर्ष व्यतीत किये।

निकटवर्ती राजा लोग उसकी भक्ति को देखकर उसकी बड़ी प्रतिष्ठा करने लगे तथा धन द्रव्य से सत्कार करके सब लोगों ने मिलकर एक संघाराम बनवा दिया तथा उस श्रमण से उस संघाराम का अधिष्ठाता बनने की प्रार्थना की। उस समय से लेकर अब तक यही प्रथा प्रचलित है, अर्थात् एक श्रमण इस संघाराम का अधिपति होता आया है।

इस संघाराम के पूर्व में लगभग १०० ली की दूरी पर एक विकट वन में हम एक बड़े स्तूप तक पहुँचे। यह स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इसी स्थान पर राजकुमार ने, नगर परित्याग करने के उपरान्त, अपने बहुमूल्य वस्त्र और हार आभूषणादि परित्याग करके सारथी[1] को घर लौट जाने की आज्ञा दी थी। राजकुमार आधी रात के समय घर से निकल कर सवेरा होने से पहले ही इस स्थान पर पहुँचे थे, तथा अपने भविष्य कर्तव्य की ओर तन मन समर्पण करते हुए उन्होंने कहा था, "अब मैं कारागार से मुक्त हुआ, अब मेरी बेड़ियाँ टूटीं।" इसके उपरान्त अपने रथ से उतर कर और मुकुट में से रत्नमणि निकाल कर सारथी से इस प्रकार कहा, "यह रत्न लो और लौट

[1] सारथी का नाम चण्डक था।

कर मेरे पिता से मेरा गृह-सम्बन्ध परित्याग करने का समाचार कहा। मैं उनसे किसी प्रकार विरोधी बन कर नहीं जा रहा हूँ, बल्कि कामदेव को जीतने, अनित्यता का नाश करने, तथा अपने जर्जरित जीवन के छिद्रों को बन्द करने के अभिप्राय से वैराग्य ले रहा हूँ।"

चण्डक ने उत्तर दिया, "मेरा चित्त विकल हो रहा है, मुझको सन्देह है कि किस प्रकार घोड़े को बिना उसके सवार के मैं ले जा सकूँगा"? राजकुमार ने बहुत मधुर वाणी से उसको समझाया जिससे कि उसको ज्ञान हो गया और वह लौट गया।

स्तूप के पूर्व में जहाँ चण्डक विदा हुआ था एक वृक्ष जम्बू का लगा हुआ है जिसकी पत्तियाँ और डालें गिर गई हैं, परन्तु तना अब तक खड़ा है। इसके निकट ही एक स्तूप बना हुआ है। यह वह स्थान है जहाँ पर राजकुमार ने अपने बहुमूल्य वस्त्र को मृगचर्म से बने हुए वस्त्र से बदल लिया था। राजकुमार ने यद्यपि अपने अधोवस्त्र बदल कर और बाल काट कर तथा बहुमूल्य रत्नादि परित्याग करके वैराग्य ले लिया था तोभी एक वस्त्र का भार उनके शरीर पर वर्तमान था। इस वस्त्र की बाबत राजकुमार ने कहा, "अभी मेरी इच्छा बड़ी प्रबल है, इसको किस प्रकार बदल सकूँगा"। इसी समय, शुद्धावास देव मृगचर्म पहिरे हुए बधिक का स्वरूप धारण करके और धनुष तथा तरकस लेकर राजकुमार के सामने आया। राजकुमार ने अपने वस्त्र को हाथ में लेकर उससे पुकार कर पूछा, "हे बधिक! मैं अपने वस्त्र को तुमसे परिवर्तन किया चाहता हूँ, तुमको स्वीकार है?" बधिक ने उत्तर दिया, "अवश्य"। राजकुमार ने अपने वस्त्र को बधिक के

हवाले किया। वह उसको लेकर तथा देवस्वरूप धारण करके आकाश-मार्ग से अन्तरिक्षगामी हुआ।

इस घटना के स्मारकवाले स्तूप के निकट ही एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यह वह स्थान है जहाँ पर राजकुमार ने बाल बनवा दिये थे। राजकुमार ने चण्डक से छुरी लेकर अपनी जुल्फों को अपने हाथ से काट डाला था। देवराज शक्र उन बालों को पूजा करने के लिए स्वर्ग को ले गया। इसी समय शुद्धावास देव छुरा लिये हुए नाई का स्वरूप धारण करके राजकुमार के सामने आया। राजकुमार ने उससे पूछा, "क्या आप बाल बना सकते हैं? कृपा करके मेरे सिर को मूँड़ दीजिए।" देव ने उनके बालों को मूँड़ दिया।

जिस समय राजकुमार वैराग्य धारण करके वनवासी हुए उस समय का निश्चय ठीक ठीक नहीं है। कोई कहता है कि राजकुमार की अवस्था उस समय उन्नीस वर्ष की थी और कोई उन्तीस वर्ष की बतलाते हैं। परन्तु यह निश्चय है कि उस दिन तिथि वैशाख मास शुक्ल पक्ष की अष्टमी थी जो हमारे हिसाब से तृतीय मास की पन्द्रहवीं[1] तिथि हुई।

मुडन क्रियावाले स्तूप के दक्षिण-पूर्व में १८० या १९० ली चलकर हम न्यग्रोध-वाटिका नामक स्थान में, जो जङ्गल के बीचों बीच में है पहुँचे। इस स्थान पर एक स्तूप ३० फीट ऊँचा बना है। प्राचीन समय में जब तथागत भगवान् का अन्त काल हुआ और उनका शरीरावशेष विभक्त कर लिया गया था उस समय ब्राह्मण लोग, जिनको कुछ नहीं मिला था,

[1] कुछ भूल है, पन्द्रहवीं नहीं, आठवीं होनी चाहिए।

स्मशान को गये और चिता-स्थान की भस्म इत्यादि बटोर कर अपने देश को ले गये। उन लोगों ने उस भस्म इत्यादि पर अपने देश में स्तूप बना कर पूजा की थी, वही यह स्तूप है। उस समय से लेकर अब तक इस स्थान पर कभी कभी अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित हो जाया करते हैं। रोगी पुरुष इस स्थान पर आकर प्रार्थना और पूजा करने से अधिकतर आरोग्य हो जाते हैं।

इस भस्म स्तूप के पास एक संघाराम है जहाँ पर गत चारों बुद्धों के उठने बैठने के चिह्न हैं।

इस संघाराम के दाहिने और बायें कई सौ स्तूप बने हैं, जिनमें एक स्तूप सबसे ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि यह अधिकतर टूट फूट कर बरबाद हो गया है तो भी इसकी उँचाई इस समय लगभग १०० फ़ीट है।

इस स्थान के उत्तर-पूर्व की ओर हम एक विकट जङ्गल में गये जिसके मार्ग बड़े बीहड़ और भयानक थे, तथा जङ्गली बैल, हाथियों के झुण्ड और शिकारी तथा डाकुओं के कारण यात्रियों को अनेक प्रकार के कष्ट होते थे। इस जङ्गल को पार करके हम 'किउशी नाकयीलो' राज्य में पहुँचे।

किउशी नाकयीलो (कुशीनगर)

इस राज्य की राजधानी[1] बिलकुल ध्वस्त हो गई तथा इसके

[1] इस देश की राजधानी के नाम भिन्न भिन्न पाये जाते हैं; अर्थात् कुशीनगर, कुशी नगरी, कुशनगर, कुशी ग्रामक, और कुशी नारा इत्यादि। गोरखपुर से पूर्व ३५ मील पर कसिया नामक ग्राम को जनरल कनिंघम और मि० विल्सन ने कुशी नगर निश्चय किया

नगर और गाँव प्रायः जनशून्य और उजाड़ हैं। प्राचीन ईंटों की दीवारें, जिनकी अब केवल बुनियादें बाक़ी रह गई हैं; राजधानी के चारों ओर लगभग १० ली के घेरे में थीं। नगर में निवासी बहुत थोड़े हैं तथा मुहल्ले उजाड़ और खँड़हर हो गये हैं। नगर के द्वार के पूर्वोत्तरवाले कोने में एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यहाँ पर पहले चुण्डा[1] का भवन था जिसके मध्य में एक कुवाँ है। यह कुवाँ बुद्धदेव की पूजा करने के समय तुरन्त खोदा गया था। यद्यपि यह वर्षों तक उमड़ उमड़ कर बहता रहा है तो भी इसका जल मीठा और शुद्ध है।

नगर के उत्तर-पश्चिम मे ३ या ४ ली दूर, अजित नदी के उस पार अर्थात् पश्चिमी तट पर, शालवाटिका में हम पहुँचे। शालवृक्ष हमारे यहाँ के हृह वृक्ष के समान कुछ हरापन लिये हुए सफ़ेद छाल का वृक्ष होता है। इसकी पत्तियाँ चमकीली और चिकनी होती है। इस बाग़ में चार वृक्ष बहुत ऊँचे हैं जो बुद्धदेव के मृत्युस्थान को सूचित करते हैं[2]।

है तथा छोटी गंडकी नदी ही प्राचीन काल की हिरण्यवती नदी होगी ऐसा भी अनुमान है।

[1] चुण्डा एक गृहस्थ था जिसने बुद्धदेव को अपने घर पर बुलाकर अन्तिम भेट समर्पण की थी।

[2] इतिहासों में प्रायः दो शाल वृक्ष लिखे हैं, और अजंटा की गुफा में बुद्धनिर्वाण के दृश्य का जो चित्र बना है उसमें भी दो ही वृक्ष दिखलाये गये हैं।

यहाँ पर ईंटों से बना हुआ एक विहार है। इसके भीतर बुद्धदेव का एक चित्र निर्वाण दशा का बना हुआ है। सोते पुरुष के समान उत्तर दिशा में सिर करके बुद्ध भगवान् लेटे हैं। विहार के पास एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि यह खँडहर हो रहा है तो भी २०० फ़ीट ऊँचा है। इसके आगे एक स्तम्भ खड़ा है जिस पर तथागत के निर्वाण का इतिहास है। वृत्तान्त तो पूरा लिख दिया गया है परन्तु तिथि, मास और संवत् आदि नहीं हैं।

लोगों के कथनानुसार निर्वाण के समय तथागत भगवान की ८० वर्ष की अवस्था थी। वैशाख मास शुक्लपक्ष की पन्द्रहवीं तिथि को उनका निर्वाण हुआ था। यह तिथि हमारे हिसाब में तीसरे मास की पन्द्रहवीं हुई। परन्तु सर्वास्तिवादी कहते हैं कि उनका देहावसान कार्तिक मास के शुक्लपक्ष की आठवीं तिथि को हुआ था। यह हमारे नवें महीने की आठवीं तिथि होती है। भिन्न भिन्न सम्प्रदाय भिन्न भिन्न रीति से मृत्यु का काल निश्चित करते हैं। कोई उनको मरे हुए १,२०० वर्ष से अधिक बताता है, कोई १,३०० वर्ष से अधिक। कुछ लोग और भी अधिक बढ़ाकर १,५०० वर्ष से अधिक अनुमान करते हैं, और कुछ लोग कहते हैं कि ९०० वर्ष तो हो गये परन्तु १,००० वर्ष से अधिक नहीं हुए।

विहार की बगल में थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस जगह है जहाँ कि बुद्ध भगवान ने अपने किसी पूर्व जन्म में, जब वह धर्म का अभ्यास कर रहे थे, तीतर पक्षी का शरीर धारण किया था, और उस जाति के पक्षियों के राजा हुए थे, और वन में लगी हुई अग्नि को शान्त कर दिया था। प्राचीनकाल में इस स्थान पर एक बड़ा भारी सघन वन था जिसमें अनेक

प्रकार के पशु और पक्षी अपने अपने घोंसले और मांदें बनाकर रहा करते थे। एक दिन अकस्मात् बड़ी भारी आँधी इस ज़ोर से आई कि वन में आग लग गई और उसकी प्रचंड ज्वाला चारों ओर फैलने लगी। उस समय एक तीतर भी इस वन में रहता था जो इस भयानक विपद् को देख दया और करुणा से प्रेरित होकर एक झील में उड़कर गया और उसमें ग़ोता लगाकर पानी भर लाया तथा अपने परों को फटफटाकर उस अग्नि पर छिड़क दिया। उस पक्षी की इस दशा को देखकर देवराज शक्र उस स्थान पर आये और पूछने लगे, "तुम क्यों ऐसे मूर्ख हो गये हो जो अपने परों को फटफटा फटफटाकर थकाये डालते हो? एक बड़ी भारी आग लगी हुई है, जो वन के घास पात और वृक्षों को भस्म कर रही है, ऐसी दशा में तुम्हारे समान छोटा जीव क्योंकर इस ज्वाला को शान्त कर सकेगा?" पक्षी ने पूछा, "आप कौन हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं देवराज इन्द्र हूँ।" पक्षी ने उत्तर दिया, "देवराज शक्र में बड़ी सामर्थ्य है, आप जो कुछ चाहें कर सकते हैं, आपके सामने इस विपद् का नाश होना कुछ कठिन नहीं, आप इसको उतनी ही शीघ्र दूर कर सकते हैं जितनी देर में मुट्ठी खोली और बन्द की जाती है। इसमें आपकी कोई बड़ाई नहीं है कि यह दुर्घटना इसी तरह बनी रहे; परन्तु, इस समय आग चारों ओर बड़े ज़ोर से लग रही है, इस कारण अधिक बातचीत करने का अवसर नहीं है।" यह कहकर वह फिर उड़ गया और जल लाकर अपने परों से छिड़कने लगा। तब देवराज ने अपने हाथ में जल लेकर अग्नि पर छोड़ दिया जिससे कि अग्नि शान्त होगई, धुआँ जाता रहा और सब पशुओं की

रक्षा हो गई। इस कारण इस स्तूप का नाम अब तक अग्निनाशक स्तूप प्रसिद्ध है।

इसकी बगल में थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान पर बना है जहाँ पर बोधिसत्व ने, जब वे धर्माचरण का अभ्यास कर रहे थे, एक मृग का शरीर धारण करके कुछ जीवों को बचा लिया था। अत्यन्त प्राचीन समय का वृत्तान्त है कि इस स्थान पर एक विकट वन था; उस वनस्थली में जो घास-फूँस उगा हुआ था उसमें एक दिन आग लग गई, जिससे वनवासी पशु, पक्षी विकल हो गये। क्योंकि सामने की ओर बड़े वेग से एक नदी बह रही थी और पीछे की ओर आग लगी हुई थी बचकर जायँ तो किधर जायँ। सिवा इस बात के कि नदी में कूद पड़ें और कोई तदबीर न थी। कुछ पशु नदी में कूद पड़े परन्तु वह शीघ्र ही डूब कर मरने लगे। उनकी इस दशा पर एक मृग को बड़ी दया आई। वह उनको बचाने की इच्छा से नदी में कूद पड़ा और पशुओं को अपनी सहायता से पार पहुँचाने लगा। यद्यपि लहरों के वेग से थपेड़ खाते खाते उसका सारा शरीर हिल गया और हड्डियाँ तक टूट गईं परन्तु वह अपनी सामर्थ्य भर जीवों को बचाता ही रहा। उसकी दशा बहुत बुरी होगई। वह नदी में अब अधिक नहीं ठहर सकता था कि एक पीड़ित खरगोश किनारे पर आया, यद्यपि मृग बहुत विकल हो रहा था तो भी उसने धैर्य धारण करके उस खरगोश को भी आराम से उस पार पहुँचा दिया। इस कार्य में अब उसका सम्पूर्ण बल जाता रहा और वह थक कर नदी में डूब गया। देवताओं ने उसके शरीर को लेकर यह स्तूप बनाया।

इस स्थान के पश्चिम में थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान पर बना है जहाँ पर सुभद्र का शरीरपात हुआ था। सुभद्र वास्तव में बड़ा विद्वान ब्राह्मण था. उसकी अवस्था १२० वर्ष की हो गई थी। इस अधिक अवस्था के कारण उसका ज्ञान भी बहुत परिवर्द्धित हो गया था। इस बात को सुनकर कि बुद्धदेव अब निर्वाण प्राप्त करनेवाले हैं वह दोनों शाल[1] वृक्षों के निकट जाकर आनन्द से कहने लगा, "भगवान अब निर्वाण प्राप्त करना चाहते हैं. परन्तु मुझको कुछ ऐसा सन्देह घेरे हुए हैं जिससे मैं विकल हूँ, कृपा करके मुझको कुछ प्रश्न उनसे कर लेने दीजिए।" आनन्द ने उत्तर दिया, "अब उनका समय निकट आगया है, कृपया इस अवस्था में उनको न छेड़िए।" उसने उत्तर दिया, "मैं सुनता हूँ बुद्ध का संसार में मिलना कठिन है, उसी प्रकार सत्य धर्म भी संसार में दुर्लभ है, और मैं अपने सन्देहों से विकल हूँ, इस कारण मुझको जाने दीजिए, आप भय न कीजिए"। उसी समय वह बुलाया गया और सामने जाते ही उसने पूछा, "बहुत से लोग हैं जो अपने को आचार्य कहते हैं, इन सबके सिद्धान्त भी अलग अलग हैं; तथा सभी जनसाधारण को सन्मार्ग पर लाने का दावा करते हैं; हे गौतम! क्या आपको उनके सिद्धान्तों की थाह मिल गई है?" बुद्धदेव ने उत्तर दिया, "मैं उनके सब सिद्धान्तों को

[1] इस प्रसङ्ग में दो ही शालवृक्षों का उल्लेख है। हुएन सांग के समय में जो चार वृक्ष वर्तमान थे वे बाद को लगाये गये थे यही मानना पड़ेगा, और कदाचित् बुद्ध भगवान् के सिर की ओर दो और पैर की ओर दो वृक्ष इस तरह से चार वृक्ष लगाये गये होंगे।

जानता हूँ।" इसके उपरान्त उन्होंने सुभद्र को सत्य धर्म का उपदेश दिया।

सुभद्र शुद्ध चित्त और विश्वास से सत्यधर्म को सुनकर भक्त होगया तथा उसने प्रार्थना की कि मैं भी आपके शिष्यों में सम्मिलित किया जाऊँ। तथागत ने उत्तर दिया, "क्या तुम ऐसा करने में समर्थ हो? विरोधियों तथा अन्यमतावलम्बियों को, जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण किया है, यह आवश्यक है कि चार वर्ष तक अपने आचरण को शुद्ध रखकर परीक्षा देते रहें। यदि उनका व्यवहार और वार्तालाप शुद्ध तथा निष्कपट मिलेगा तब वे मेरे धर्म में सम्मिलित हो सकेंगे। परन्तु तुम मनुष्य-समाज में रहकर भी लोगों की शिक्षा पर विचार करते रहे हो इस कारण तुमको संन्यास लेने में कोई कठिनता नहीं है।"

सुभद्र ने कहा, "भगवान् बड़े दयालु और क्षमाशील हैं। आपमें पक्षपात का लेश भी नहीं है। क्या आप मुझको चार वर्षवाले तीनों प्रकार के प्रारम्भिक अभ्यास से क्षमा करते हैं?" बुद्ध ने उत्तर दिया, "जैसा मैंने पहले कहा है कि यह तो उसी समय हो गया जब तुम मानव समाज में थे"।

सुभद्र ने उसी समय संन्यास धारण करके घर से सम्बन्ध परित्याग कर दिया, तथा बड़े परिश्रम के साथ शरीर और मन को शुद्ध करके, और सब प्रकार के सन्देहों का निवारण करके बहुत थोड़े समय के उपरान्त अर्थात् मध्य रात्रि के व्यतीत होते होते पूर्ण अरहट की दशा को प्राप्त हो गया। इस प्रकार शुद्ध होकर वह बुद्ध भगवान् के निर्वाण-काल की प्रतीक्षा न कर सका बल्कि समाज के मध्य में अग्नि धातु की समाधि लगा कर और अपनी आध्यात्मिक शक्ति को प्रदर्शित

करते करते पहले ही निर्वाण को प्राप्त हो गया। इस तरह पर यह अन्तिम शिष्य और प्रथम निर्वाण प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ठीक उसी तरह पर हुआ जिस प्रकार वह खरगोश सबसे अन्त में बचाया गया था, जिसका वृत्तान्त ऊपर अभी लिखा गया है।

सुभद्र-निर्वाण के स्तूप की बगल में एक स्तूप उस स्थान पर है, जहाँ पर वज्रपाणि बेहोश होकर गिर पड़ा था। दयावान जगदीश्वर, लोगों की आवश्यकतानुसार कार्य करके और संसार को सत्यधर्म में दीक्षित करके, जिस समय निर्वाण के आनन्द को प्राप्त करने के लिए दोनों शाल-वृक्षों के नीचे उत्तर की ओर सिर किये हुए लेटे उस समय मल्ल लोग, जिनके हाथ में गदा थी और जो गुप्तरूप से उनके साथ रहते थे, बुद्ध भगवान् के निर्वाण को देख कर बहुत दुखित हो गये और चिल्ला चिल्ला कर कहने लगे, "हा! भगवान् तथागत हमको परित्याग करके निर्वाण प्राप्त कर रहे हैं, अब कौन आश्रय देकर हमारी रक्षा करेगा? यही विषबाण हमारे हृदय को छेद रहा है, तथा शोक की ज्वाला भभक रही है। हा! इस दुख का कोई इलाज नहीं है।" यह कह कर वे लोग अपनी हीरक गदाओं को फेंक कर भूमि में बेसुध गिर पड़े और बड़ी देर तक पड़े रहे। इसके उपरान्त वे लोग उठकर भक्ति और प्रेम से परस्पर कहने लगे, "जन्म मरण के समुद्र से पार करने के लिए अब कौन हमको नौका प्रदान करेगा? इस अज्ञान-निशा के अंधकार में कौन हमको प्रकाश देकर सन्मार्ग पर ले जावेगा?"

इस स्तूप की बगल में जहाँ पर मल्ल (वज्रपाणि) बेसुध होकर गिरे थे—एक और स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर बुद्ध-

निर्वाण के पश्चात् सात दिन तक वे लोग धार्मिक कृत्य करते रहे थे। जब तथागत भगवान का अन्त समय निकट आया तब एक बड़ा भारी प्रकाश चारों ओर फैल गया। मनुष्य और देवता उस स्थान पर एकत्रित होकर अपने शोक को प्रदर्शन करते हुए परस्पर कहने लगे, "जगत्पति बुद्ध भगवान अब निर्वाण प्राप्त कर रहे हैं, जिससे मनुष्यों का आनन्द नष्ट हो रहा है. अब कौन संसार को आश्रय देगा?" उस समय बुद्ध भगवान ने सिंह-चर्म पर दाहिनी करवट होकर उस जन-समुदाय को इस प्रकार उपदेश दिया, "हे लोगो! मत शोक करो। यह कदापि न विचारो कि तथागत सदा के लिए संसार से विदा हो रहा है; उसका धर्म-कार्य सदा सजीव रहेगा, उसमें कुछ फेरफार नहीं हो सकता; अपने आलस्य को परित्याग करो और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए जितना शीघ्र हो सके प्रयत्न करो।"

उस समय रोते और सिसकारी भरते हुए भिक्षुओं से अनिरुद्ध[1] ने कहा, "हे भिक्षु लोगो! शान्त हो जाओ, इस प्रकार मत शोक करो कि देवता तुम पर हँसें।" फिर मल्ल लोगों ने पूजन करके यह इच्छा प्रकट की कि भगवान् केशव को सोने की रथी पर चढ़ा कर स्मशान ले जाना चाहिए। उस समय अनिरुद्ध ने उन्हें यों कह कर ठहराया कि 'देवता

[1] अनिरुद्ध का ठीक ठीक निश्चय करना कठिन है—कि अनिरुद्ध बुद्धदेव का भाई, अर्थात अमृतोदन का पुत्र था, अथवा मूल पुस्तक में वर्णित अनिरुद्ध बुद्ध भगवान् की मृत्यु के समय कोई सेवक था।

लोग सात दिन तक भगवान के शव की पूजा करने की इच्छा रखते हैं।"

तब देवताओं ने सच्चे हृदय से भक्तिपूर्वक भगवान् का गुण गान करते हुए परमोत्तम सुगंधित स्वर्गीय पुष्प लेकर उन के शव का पूजन किया।

जिस स्थान पर रथी रोकी गई थी उसके पास एक स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर महामाया रानी ने बुद्ध के लिए शोक प्रकट किया था[1]।

जिस समय भगवान् का प्राणान्त होगया और उनका शरीर रथी पर रख दिया गया उस समय अनिरुद्ध स्वर्ग में गया और माया रानी से उसने कहा कि "संसार का पवित्र और अप्रतिम स्वामी विदा हो गया।"

माया इसको सुनते ही शोक से साँस लेने लगी और अपने स्वर्गीय शरीर से दोनों शालवृक्षों के निकट आई। वहाँ पर भगवान् के संघाती वस्त्र और पात्र तथा दंड को पहिचान कर छाती से लगाने के उपरान्त बेसुध होकर गिर पड़ी। जब उसको होश आया तब चिल्ला चिल्ला कर कहने लगी कि "मनुष्यों और देवताओं का आनन्द समाप्त होगया! संसार के नेत्र जाते रहे! सन्मार्ग पर ले जानेवाले के बिना सर्वस्व नष्ट होगया।"

उस समय तथागत के प्रभाव से सोने की रथी स्वयं खुल गई, चारों ओर प्रकाश फैल गया, तथा भगवान् ने उठकर और दोनों हाथ जोड़ कर माता को प्रणाम किया और

[1] एक चित्र से पता लगता है कि स्वर्ग से महामाया को अनिरुद्ध निर्वाणस्थल पर लाया था।

कहा, "हे माता ! आप बहुत दूर चल कर आई हैं, आपका स्वर्गीय जीवन परमपुनीत है, आपको शोक न करना चाहिए।"

आनन्द ने अपने शोक को दबाकर पूछा कि "भगवन् ! यदि मुझसे लोग प्रश्न करेंगे तो मैं क्या बताऊँगा।" भगवान् ने उत्तर दिया कि "तुमको यह कहना चाहिए कि बुद्ध के शरीरावसान होने के उपरान्त उनकी प्यारी माता स्वर्ग से उतर कर दोनों शालवृक्षों के निकट आई थी, बुद्ध भगवान् ने लोगों को मातृ-पितृ-भक्ति की शिक्षा देने के लिए रथी से उठकर उनको हाथ जोड़कर प्रणाम किया था और धर्मोपदेश दिया था।"

नगर के उत्तर में नदी के पार ३०० पग चलकर एक स्तूप मिलता है। यह वह स्थान है जहाँ पर तथागत भगवान के शरीर का अग्नि-संस्कार किया गया था। कोयला और भस्म के संयोग से इस स्थान की भूमि अब भी श्यामतायुक्त पीली है। जो लोग सच्चे विश्वास से यहाँ पर खोज करते हैं और प्रार्थना करते हैं वे तथागत भगवान् का कुछ न कुछ अवशेष अवश्य प्राप्त करते हैं।

तथागत भगवान् के शरीरान्त होने पर देवता और मनुष्यों ने बड़ी भक्ति से बहुमूल्य सप्त धातुओं की एक रथी बनाई और एक सहस्र वस्त्रों में उनके शरीर को लपेट कर सुगंधित वस्तु और फूलों को ऊपर से डाल दिया, तथा सबके ऊपर एक और ओढ़ना डाल कर बहुमूल्य छत्र से आभूषित कर दिया। फिर मल्ल लोग उस रथी को उठाकर ले चले और उत्तर दिशा में हिरण्यवती नदी पार करके श्मशान में पहुँचे। इस स्थान पर सुगंधित चन्दनादि लकड़ियों

मे चिता बनाई गई और उस चिता पर बुद्ध भगवान् का शव सुगंधित तैल और घृत इत्यादि डालकर भस्म किया गया। बिलकुल जल जाने पर भी दो वस्त्र ज्यों के त्यों अवशेष रहे—एक वह जो शरीर में चिपटा हुआ था, और दूसरा वह जो सबसे ऊपर ओढ़ाया गया था। बाल और नख भी अग्नि मे नहीं जले थे। इन सबको लोगों ने संसार की भलाई के लिए विभक्त कर लिया था। चिता-भूमि की बगल ही में एक और स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर बुद्ध भगवान् ने काश्यप के निमित्त अपने पैरों को खोल कर दिखलाया था। जिस समय चिता पर बुद्धदेव की रथी रखी गई और उस पर घृत तैल इत्यादि छोड़कर अग्नि लगाई गई तब अग्नि बुझ गई। उस समय जितने उपस्थित लोग थे सब सन्देह और भय से विकल होने लगे। तब अनिरुद्ध ने कहा, "हमको काश्यप के आगमन की प्रतीक्षा अवश्य करनी चाहिए।"

उसी समय काश्यप अपने ५०० शिष्यों के सहित वन से कुशीनगर को आये और आनन्द से पूछा, "क्या मैं भगवान् तथागत का शरीरावलोकन कर सकता हूँ?" आनन्द ने उत्तर दिया, "हज़ार वस्त्रों में परिवेष्टित करके और एक विशाल रथी में बन्द करके ऊपर से चन्दनादि सुगन्धित लकड़ियाँ रख कर हम लोग अग्नि दे रहे हैं, अब यह बात कैसे सम्भव है"? उसी समय बुद्धदेव ने अपने पैरों को रथी के बाहर निकाला। उस चरण के चक्र पर अनेक प्रकार के चिह्नों को देख कर काश्यप ने आनन्द से पूछा, "ये चिह्न कैसे हैं?" आनन्द ने उत्तर दिया, "जब भगवान् का शरीरान्त हुआ और देवता तथा मनुष्य विलाप करने लगे उस समय उन लोगों

के अश्रुबिन्दु चरण पर गिरे थे जिससे ये चिह्न[1] बन गये हैं।"

काश्यप ने पूजन तथा चिता की प्रदक्षिणा करके बुद्ध भगवान् की स्तुति की। उसी समय आपसे आप चिता में आग लग गई और उनका शरीर अग्निसात हो गया है।

बुद्ध भगवान् मृत्यु के बाद तीन बार रथी में से प्रकट हुए थे, प्रथम बार उन्होंने अपना हाथ निकाल कर आनन्द से पूछा था, "क्या सब ठीक हो गया ?" दूसरी बार उन्होंने उठकर अपनी माता को ज्ञान दिया था, और तीसरी बार अपना पैर निकाल कर महा काश्यप को दिखलाया था।

जिस स्थान पर पैर निकाला गया था उसके पास एक और स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इसी स्थान पर आठ राजाओं ने शरीरावशेष को विभक्त किया था। सामने की ओर एक स्तम्भ लगा हुआ है जिस पर इस घटना का वृत्तान्त लिखा है।

अन्तकाल होने पर जब बुद्ध का अन्तिम संस्कार समाप्त हो गया तब आठों देशों के राजाओं ने अपनी सेना सहित एक सात्त्विक ब्राह्मण (द्रोण) को भेजकर कुशीनगर के मल्लों से कहलाया कि "मनुष्यों और देवताओं का नायक इस देश में मृत्यु को प्राप्त हुआ है, हम उसके शरीरावशेष में भाग लेने के लिए बहुत दूर से आये हैं।" मल्लों ने उत्तर दिया, "तथागत भगवान कृपा करके इस देश में पधारे और यहीं पर—संसार के रक्षक, और सब जीवों को पिता समान प्यारे—

[1] विनय में लिखा है कि ये चिह्न स्त्रियों के आंसुओं से बन गये थे, जो पैरों के निकट बैठकर रोती थीं।

उन बुद्ध भगवान् का शरीरपात हुआ, इस कारण हमीं लोग उनके शरीरावशेष की पूजा करने के अधिकारी हैं। आपका आना व्यर्थ है, आपको भाग नहीं मिलेगा।" जब राजा लोगों को यह विदित हुआ कि मल्ल लोग नम्रता से भाग नहीं देंगे तब उन्होंने दूसरी बार दूत भेज कर यह कहलाया, "तुमने हमारी प्रार्थना को अस्वीकार किया है इस कारण अब हमारी सेना तुम्हारे निकट पहुँचना चाहती है।" ब्राह्मण ने जाकर उनको समझाया, "हे मल्लो ! विचारो तो, कि परम दयालु बुद्ध भगवान् ने किस प्रकार सन्तोष के साथ धर्म का साधन किया है, उनकी कीर्ति अनन्तकाल तक बनी रहेगी। तुम भी इसी प्रकार सन्तोष करके बुद्धावशेष को आठ भागों में बाँट दो, जिसमें सब लोग पूजा-सेवा करके सुगति लाभ कर सकें। युद्ध करने का तुम्हारा विचार ठीक नहीं है, शस्त्रसंघर्षण करने से क्या लाभ होगा?" मल्ल लोगों ने इन वचनों की प्रतिष्ठा करके बुद्धावशेष का आठ भागों में विभाजन कर दिया।

तब देवराज शक्र ने कहा कि 'देवताओं को भी भाग मिलना चाहिए, हमारे स्वत्व के लिए रोक टोक उचित नहीं है।'

अनवतप्त, मुचिलिन्द और इलापत्र नागों का भी ऐसा ही विचार हुआ, उन लोगों ने कहा, "हमको भी शरीरावशेष में से भाग मिलना चाहिए, नहीं तो हम बलपूर्वक लेने का प्रयत्न करेंगे, जो तुम लोगों के लिए कदापि अच्छा न होगा"। ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "झगड़ा न करो।" फिर उसने बुद्धावशेष को तीन भागों में बाँट दिया, अर्थात् एक देवताओं का भाग, एक नागों का भाग, और जो एक भाग शेष बचा वह

मनुष्यों के आठों राजाओं में विभक्त हो गया। देवताओं और नागों के सम्मिलित हो जाने से नरेशों को भाग प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई पड़ी थी।

विभाग होने के स्थलवाले स्तूप से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग २०० ली चलकर हम एक बड़े ग्राम में पहुँचे। इस ग्राम में किसी समय एक बड़ा प्रतिष्ठित और धनवान् ब्राह्मण रहता था। वह पंच विद्याओं में पंडित होकर सम्पूर्ण सत्य साहित्य का ज्ञाता और त्रिपिटक का भी पंडित हो गया था। अपने मकान के निकट ही उसने संन्यासियों के रहने के लिए एक भवन अलग बनवा दिया था, तथा इसको सर्वाङ्ग सुसज्जित करने में उसने अपना सम्पूर्ण धन लगा दिया था। यदि कोई संन्यासी भ्रमण करता हुआ उस रास्ते आ निकलता था तो वह उसको विनयपूर्वक अपने निवास-भवन में ठहराता और हर प्रकार से उसका सत्कार करता था। संन्यासी लोग उसके स्थान पर एक रात्रि से लेकर सात दिन पर्यन्त निवास किया करते थे।

उन्हीं दिनों राजा शशाङ्क बुद्ध-धर्म से द्रोह करके बौद्धों को पीड़ित करने लगा। उसके भय से संन्यासी लोग इधर-उधर भाग गये और वर्षों इसी दशा में रहे। परन्तु वह ब्राह्मण अपने प्राणों की परवाह न करके बराबर उन लोगों की सेवा करता रहा। एक दिन मार्ग में उसने देखा कि एक श्रमण जिसकी भौंहें जुड़ी हुई और सिर मुँड़ा हुआ है, एक दंड हाथ में लिये हुए चला आ रहा है। ब्राह्मण उसके पास दौड़ गया और भेंट करके पूछा कि "आपका आना किधर से हो रहा है?" क्या आप कृपा करके मुझ दीन की कुटी को अपने चरणों की रज से पवित्र करेंगे तथा मेरी

की हुई तुच्छ सेवा स्वीकार करेंगे ?" श्रमण के इनकार न करने पर उसे अपने घर ले जाकर ब्राह्मण ने चावलों की खीर उसके अर्पण की, श्रमण ने उसमें से एक ग्रास मुँह में रक्खा, परन्तु मुँह में रखते ही उसने लम्बी साँस लेकर उसको फिर अपने भिक्षा-पात्र में उगल दिया। ब्राह्मण ने नम्रतापूर्वक पूछा कि 'क्या श्रीमान किसी कारण से मेरे यहाँ रात्रि-वास नहीं करना चाहते, अथवा, भोजन रुचिकर नहीं है ?' श्रमण ने बड़ी दयालुता से उत्तर दिया, "मुझको संसार में धर्म के क्षीण होने का शोक है, परन्तु मैं भोजन समाप्त कर लूँ तब इस विषय में अधिक बातचीत करूँगा"। भोजन समाप्त होने पर वह अपने वस्त्रों को ऐसे समेटने लगा मानो चलने पर उद्यत हो। ब्राह्मण ने पूछा, "आपने तो कहा था कि वार्तालाप करेंगे, परन्तु आप चुप क्यों हैं ?" श्रमण ने उत्तर दिया, "मैं भूल नहीं गया हूँ, परन्तु तुमसे बातचीत करते मुझको कष्ट होता है; तथा, उस दशा को सुनकर तुमको भी सन्देह होगा। इसलिए मैं थोड़े शब्दों में कहे देता हूँ। मैंने जो लम्बी साँस भरी थी वह तुम्हारे भोजन के लिए न थी, क्योंकि सैंकड़ों वर्ष हो गये जब से मैंने ऐसा भोजन नहीं किया है। जब तथागत भगवान् संसार में वर्तमान थे और राजगृह के निकट वेनुवन विहार में निवास करते थे उस समय मैं उनकी सेवा करता था। मैं उनके पात्रों को नदी में धोता था और घड़ों में जल भर लाता था, तथा मुँह हाथ धोने के लिए पानी दिया करता था। मुझको शोक है कि उस समय के जल के समान तुम्हारा दिया हुआ दूध मीठा नहीं है। इसका कारण यही है कि देवता और मनुष्यों का धार्म्मिक विश्वास अब घट

गया है और इसी लिए मुझको शोक हुआ था।" ब्राह्मण ने पूछा, "क्या यह सम्भव और सत्य है कि आपने बुद्ध भगवान् का दर्शन किया है?" श्रमण ने उत्तर दिया, "क्या तुमने बुद्ध भगवान् के पुत्र राहुल का नाम नहीं सुना है? मैं वही हूँ, और सत्य धर्म की रक्षा के अभिप्राय से निर्वाण को प्राप्त नहीं होता हूँ"।

यह कहकर श्रमण अन्तर्धान हो गया। ब्राह्मण ने उस कोठरी को झाड़-बुहार और लीप-पोत कर शुद्ध करके उसमें राहुल का चित्र बनवाया, जिसको वह वैसे ही पूजा-सेवा करता रहा जैसे कि मानो राहुल प्रत्यक्ष उपस्थित हो।

एक वन में होकर ५०० ली जाने के उपरान्त हम पञ्चो-लोनीस्सी राज्य में पहुँचे।

———

सातवाँ अध्याय

पाँच प्रदेशों का वृत्तान्त (१) पश्रोलोनीस्सी (२) चेनचू (३) फिशीलई (४) फोलीशी (५) निपोलो

पश्रोलोनीस्सी (वाराणसी या बनारस)

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली है। राजधानी की पश्चिमी सीमा पर गंगानदी बहती है। इसकी लम्बाई १८-१९ ली और चौड़ाई ५-६ ली है। इसके भीतरी द्वार कंघी के दाँतों के समान बने हैं[1]। आबादी घनी और मनुष्य धनवान हैं, तथा उनके घरों में बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह रहता है। लोगों का आचरण कोमल और सभ्य है; वे विद्याभ्यास में दत्तचित्त रहते हैं। अधिकतर लोग विरुद्ध धर्मावलम्बी हैं; बौद्ध-धर्म के अनुयायी बहुत थोड़े हैं। प्रकृति कोमल, पैदावार अधिक, वृक्ष फलफूल संयुक्त, और घने घने जंगल सर्वत्र पाये जाते हैं। लगभग ३० संघाराम और ३,००० संन्यासी हैं, और सबके सब सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। लगभग १०० मन्दिर और १०,००० विरुद्ध-धर्मावलम्बी हैं जो सबके सब महेश्वर का आराधन करते हैं। कुछ अपने बालों को मुँड़ा डालते हैं और कुछ बालों को बाँधकर जटा बनाते हैं, तथा वस्त्र

[1] मालूम होता है कि लोहे की छड़ों से कंघी के समान द्वार बने होंगे।

परित्याग करके दिगम्बर रहते हैं और शरीर में भस्म का लेप करते हैं। ये बड़े तपस्वी होते हैं तथा बड़े कठिन कठिन साधनों से जन्म-मृत्यु के बंधन से छूटने का प्रयत्न करते हैं।

मुख्य राजधानी में २० देव-मन्दिर हैं जिनके मंडप और कमरे इत्यादि पत्थर और लकड़ी से, सुन्दर प्रकार की चित्रकारी इत्यादि खोदकर, बनाये गये हैं। इन स्थानों में वृक्षों की घनी छाया रहती है और पवित्र जल की नहर इनके चारों ओर बनी हुई है। महेश्वर देव की मूर्ति १०० फ़ीट से कुछ कम ऊँची तांबे की बनी हुई है। इसका स्वरूप गम्भीर और प्रभावशाली है तथा यह सजीव सी विदित होती है।

राजधानी के पूर्वोत्तर बरना नदी के पश्चिमी तट पर अशोक राजा का बनवाया हुआ १०० फ़ीट ऊँचा एक स्तूप है। इसके सामने पत्थर का एक स्तम्भ कांच के समान स्वच्छ और चमकीला है; इसका तल भाग बर्फ़ के समान चिकना और चमकदार है। इसमें प्रायः छाया के समान बुद्धदेव की परछांईं दिखलाई पड़ती है।

बरना नदी से पूर्वोत्तर की ओर लगभग १० ली चलकर हम एक संघाराम में आये। इस संघाराम का नाम मृगदाव[1] है। चहारदीवारी तो इसकी एक ही है परन्तु भाग आठ कर दिये गये हैं। इस संघाराम के ऊपरी खंड के मंडप,

[1] मृगदाव बहुधा मृगवाटिका भी कहलाता है। यह वह स्थान है जहां पर बुद्धदेव ने पहले-पहल पांच संन्यासियों को धर्मोपदेश दिया था।

छज्जे और बरामदे बहुत मनोहर हैं। कोई १५०० संन्यासी इसमें निवास करके सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। बड़ी चहारदीवारी के भीतर एक संघाराम २०० फीट ऊँचा है जिसकी छत पर सोने से मढ़ा हुआ एक आम्रफल का चित्र है। इस संघाराम की बुनियादें और सीढ़ियाँ पत्थर की हैं, परन्तु मंडप और आले आदि ईंटों के बने हैं। चारों ओर कोई सौ आले लगातार बने हुए हैं जिनमें से प्रत्येक में बुद्धदेव की एक सोने की मूर्ति है, और विहार के मध्य में बुद्ध भगवान की एक मूर्ति तांबे की बनी हुई है। इस मूर्ति की ऊँचाई मनुष्य के बराबर है, और ऐसा मालूम होता है मानों खड़े होकर धर्म का चक्र संचलित[१] कर रहे हैं।

विहार के दक्षिण-पश्चिम में पत्थर का एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि यह खंडहर हो रहा है तो भी जो कुछ दीवारें बाकी हैं उनकी ऊँचाई १०० फीट, अथवा इससे कुछ अधिक है। इसके सामने पत्थर का एक स्तम्भ ७० फीट ऊँचा बना हुआ है। इसका पत्थर साफ़, चिकना और चमकीला है। जो लोग यहाँ पर प्रेम और उत्साह से प्रार्थना करते हैं वे अपनी भावनानुरूप अच्छा या

[१] चक्र-धर्म या उपदेश का चिह्न है। बनारस के निकट का वह स्थान जहाँ पर बुद्धदेव ने धर्मोपदेश दिया था सारनाथ कहलाता है। जनरल कनिंघम साहब का विचार है कि यह शब्द सारङ्गनाथ (मृगों का राजा) का अपभ्रंश है। बुद्धदेव खुद भी किसी समय में मृग के स्वरूप में थे और कदाचित् यह नाम उससे सम्बन्ध रखता हो।

बुरा चित्र अवश्य देखते हैं। पूर्ण ज्ञानी होने के उपरान्त बुद्धदेव ने इसी स्थान पर से धर्म का चक्र सञ्चलित करना प्रारम्भ किया था।

इस स्थान की बगल में थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर अज्ञात कौंडिन्य आदि अपनी तपस्या को छोड़कर बुद्ध के साथ हो लिये थे, और फिर उनका साथ छोड़कर इस स्थान पर आकर तपस्या में लीन हुए थे[1]।

इसके पास एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर ५०० प्रत्येक बुद्ध एक ही समय में निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इसके अतिरिक्त तीन और स्तूप हैं जहाँ पर गत तीनों बुद्धों के उठने बैठने के चिह्न पाये जाते हैं।

इस अन्तिम स्थान के पास एक स्तूप उस स्थान पर बना है जहाँ पर मैत्रेय बोधिसत्व को अपने बुद्ध होने का विश्वास हुआ था। प्राचीनकाल में जिन दिनों तथागत भगवान राजगृह में गृद्धकूट पहाड़ पर निवास करते थे उन्होंने भिक्षुओं से कहा था "भविष्य में जब इस जम्बूद्वीप में सब ओर शान्ति विराजमान होगी और मनुष्यों की आयु ८०,००० वर्ष की होगी उस समय एक ब्राह्मण मैत्रेय नामक उत्पन्न होगा, जिसका शरीर शुद्ध और सोने के समान रङ्ग-वाला तथा चमकीला होगा। वह ब्राह्मण घर छोड़कर

[1] अज्ञात कौडिन्य इत्यादि पांचों योगी उरविल्व स्थान तक बुद्ध के साथ रहकर छः वर्ष तक निराहार व्रत करते रहे थे। एक दिन उन्होंने देखा कि नन्दा ने बुद्धदेव को खीर लाकर दी है, इस बात से उन्होंने विचार किया कि बुद्धदेव धर्म-भ्रष्ट हो गये, और इसी लिए वे लोग उनका साथ छोड़कर मृगवाटिका में चले आये।

संन्यासी हो जायगा और पूर्ण बुद्ध की दशा प्राप्त करके मनुष्यों के उपकारार्थ धर्म के त्रिपिट्टक का उपदेश करेगा। उस उपदेश से उन्हीं लोगों का कल्याण होगा जो अपने चित्त में मेरे धर्म के वृक्ष को स्थान देकर उसका पालन-पोषण करते रहे होंगे। जिस समय उनके चित्त में त्रिपिट्टक की भक्ति उत्पन्न होगी—फिर चाहे वह मेरे पहले से शिष्य हों या न हों, चाहे मेरी आज्ञा का पालन करते हों या नहीं,—उस उपदेश से वे सुशिक्षित होकर परममुक्ति और ज्ञान का फल प्राप्त करेंगे। जिन पर मेरे धर्म का प्रभाव पड़ चुका है वे जब त्रिपिट्टक के पूर्ण अनुयायी बन जायँगे तब उनके द्वारा दूसरे भी इस धर्म के शिष्य होंगे।"

उसी समय बुद्धदेव के इस भाषण को सुनकर मैत्रेय अपने आसन से उठे और भगवान से पूछा, "क्या मैं वास्तव में मैत्रेय भगवान हो सकता हूँ?" तथागत ने उत्तर दिया, "ऐसा ही होगा, तुम इस फल को प्राप्त करोगे, और—जैसा मैंने अभी कहा है—तुम्हारे उपदेश का यही प्रभाव होगा।"

इस स्थान के पश्चिम में एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर शाक्य बोधिसत्व को बुद्ध होने का विश्वास हुआ था। भद्रकल्प के मध्य में जब मनुष्यों की आयु २०,००० वर्ष की थी, कश्यप बुद्ध संसार में प्रकट हुए थे और बड़े बड़े ज्ञानियों के अन्तःचक्षु खोलकर धर्म के चक्र का संचालन करते हुए प्रभापाल बोधिसत्व से उन्होंने भविष्यद्वाणी की थी कि 'भविष्य में जब मनुष्यों की आयु घटकर १०० वर्ष रह जायगी तब यह बोधिसत्व बुद्ध दशा को प्राप्त करके शाक्य मुनि के नाम से प्रसिद्ध होगा।

इस स्थान के निकट दक्षिण दिशा में गत चारों बुद्धों

के उठने बैठने आदि के चिह्न हैं। यह स्थान नीले पत्थरों से बनाया गया है जिसकी लम्बाई ५० पग और ऊँचाई ७ फीट है। ऊपरी भाग में टहलती हुई अवस्था में तथागत भगवान की एक मूर्ति है। यह मूर्ति मनोहर और दर्शनीय है। शिर के ऊपरी भाग में चोटी के स्थान पर बालों की गूँथ बड़े विलक्षण प्रकार से लटकाई गई है। इस मूर्ति में आध्यात्मिक शक्ति और दैवी प्रभाव विलक्षण रीति से सुस्पष्ट होते रहते हैं।

संघाराम की चहारदीवारी के भीतर कई सौ स्तूप और कुछ विहार आदि मिलाकर असंख्य पुनीत चिह्न हैं। हमने केवल दो तीन का विवरण दे दिया, सम्पूर्ण का विस्तृत वृत्तान्त देना बहुत कठिन है।

संघाराम के पश्चिम में स्वच्छ जल की एक झील २०० क़दम के घेरे में है। इस झील में तथागत भगवान समय समय पर स्नान किया करते थे। इसके पश्चिम में एक बड़ा तड़ाग लगभग १८० पग का है, इस स्थान पर तथागत भगवान भिक्षा की थाली धोया करते थे।

इसके उत्तर में एक झील १५० पग के घेरे में और है जहाँ पर तथागत ने अपने वस्त्र धोये थे। इन तीनों जलाशयों में एक एक नाग निवास करता है। जिस प्रकार जल अथाह और मीठा है उसी प्रकार देखने में स्वच्छ और चमकीला है। पापी मनुष्य यदि इनमें स्नान करते हैं तो घड़ियाल (कुम्भीर) आकर अनेकों को मार खाते हैं परन्तु पुण्यात्मा मनुष्यों को स्नान करते समय कुछ भय नहीं होता।

जिस जलाशय में तथागत भगवान ने अपना वस्त्र धोया था उसके निकट एक बड़ा भारी चौकोर पत्थर रक्खा

हुआ है जिस पर काषाय वस्त्र के चिह्न अब तक वर्तमान हैं। पत्थर पर, वस्त्र की बुनावट के समान लकीरें ऐसी सुस्पष्ट बनी हुई हैं मानों खोद कर बनाई गई हों। धर्मिष्ठ और विशुद्ध पुरुष बहुधा यहाँ आकर भेंट पूजा किया करते हैं, परन्तु जिस समय विरोधी अथवा पापी मनुष्य इसको हीन दृष्टि से देखते हैं, अथवा अपमानित करना चाहते हैं, उसी समय जलाशय का निवासी नागराज आँधी-पानी उठाकर उनको पीड़ित कर देता है।

झील के पास थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ बोधिसत्व ने अपने अभ्यास काल में छः दाँतवाले गज-राज का शरीर धारण किया था। इन दाँतों के लालच में एक शिकारी, तपस्वी योगी के समान रूप बनाकर और धनुष लेकर, शिकार की आशा में बैठ गया। उस काषाय वस्त्र की प्रतिष्ठा के लिए गजराज ने अपने दाँतों को तोड़कर उस शिकारी के हवाले कर दिया।

इस स्थान के बगल में थोड़ी ही दूर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ बोधिसत्व ने अपने अभ्यास-काल में इस बात पर बहुत दुखित होकर कि लोगों में सभ्यता कम है एक पक्षी का रूप धरा और एक श्वेत हाथी व एक बन्दर के पास जाकर पूछा, "तुम दोनों में से किसने इस न्यग्रोध वृक्ष को सबसे पहले देखा?" जो कुछ वास्तविक बात थी उसके अनुसार उन दोनों ने उत्तर दिया। तब अवस्थानुसार उस पक्षी ने उनको क्रमबद्ध किया[1]। इस कार्य का शुभफल धीरे-

[1] समझ में नहीं आता है इस वाक्य का क्या अभिप्राय है। मूल चीनी पुस्तक में कुछ गड़बड़ है।

धीरे चारों ओर इस तरह फैल गया कि लोगों में ऊँच-नीच के पहचानने का ज्ञान होगया। तथा गृहस्थ और संन्यासी उनके आचरण का अनुसरण करने लगे।

इस स्थान से थोड़ी दूर पर एक जङ्गल में एक स्तूप है। प्राचीन-काल में इस स्थान पर देवदत्त और बोधिसत्व नामक मृग-जाति के दो राजाओं ने एक मामला तय किया था। किसी समय में यहाँ पर बड़ा भारी जङ्गल था, जिसमें मृगों के दो यूथ,—जिनमें से प्रत्येक में ५०० मृग थे—रहा करते थे। उसी समय देश का राजा मैदान और जलाशयों में शिकार खेलता हुआ इस स्थान पर पहुँचा। मृग राजा बोधिसत्व ने उसके पास जाकर निवेदन किया, "महाराज! एक तो आपने अपने शिकार-स्थान के चारों ओर आग लगवा दी है, ऊपर से अपने बाणों से मेरी जातिवालों को आप मारते हैं। इससे मुझको भय है कि सवेरा होते होते सब मृग बिना आहार के विकल होकर भूखे मर जायँगे। इसलिए प्रार्थना है कि आप अपने भोजन के लिए नित्य एक मृग ले लिया कीजिए। आपकी आज्ञा होने से मैं आपके पास उत्तम और पुष्ट मृग पहुँचा दिया करूँगा और हमारी जाति के लोग कुछ अधिक दिन तक जीवित रह सकेंगे।" राजा इस शर्त पर प्रसन्न हो गया और अपने रथ को लौटा कर घर चला गया। उस दिन से बारी बारी से दोनों यूथ एक एक मृग देने लगे।

देवदत्त के झुंड में एक मृगी गर्भवती थी, अपनी बारी आने पर उसने अपने राजा से कहा, "मैं तो मरने के लिए उद्यत हूँ परन्तु मेरे बच्चे की बारी अभी नहीं आई है।"

राजा (देवदत्त) ने क्रोधित होकर उत्तर दिया, "ऐसा कौन है जिसको जीवन प्यारा नहीं है।"

मृगी ने बड़ी लम्बी साँस लेकर उत्तर दिया, "ऐ राजा! जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ है उसका मारना न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता।"

इसके उपरान्त मृगी ने अपनी दुख-कथा को बोधिसत्व से निवेदन किया। बोधिसत्व मृगराजा ने उत्तर दिया, "वास्तव में बड़े शोक का स्थान है। माता का चित्त क्यों न उसके लिए दुखित होवे जो अभी सजीव नहीं हुआ है (अर्थात् गर्भ में है). अस्तु तेरे स्थान पर आज मैं जाऊँगा और प्राण दूँगा।"

जो लोग उस रास्ते से होकर निकले थे और इस समाचार को जानते थे उन्होंने राजमहल में जाकर सबसे कहा कि "मृगों का बड़ा राजा आज नगर में आता है।" राजधानी के छोटे बड़े सभी आदमी देखने के लिए दौड़े।

राजा ने इस समाचार को असत्य समझा, परन्तु द्वारपाल ने जब उसको विश्वास दिलाया कि वह द्वार पर उपस्थित है तब उसको निश्चय हुआ, उसने मृगराज को बुला कर पूँछा, "तुम यहाँ क्यों आये हो?"

मृगराज ने उत्तर दिया, "झुंड में एक बड़ी मृगी गर्भवती है, उसकी आज बारी थी। परन्तु मेरा हृदय इस बात को सहन न कर सका कि बच्चा जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ है उसके साथ मारा जावे: यही कारण है कि मैं उसके स्थान पर अपना प्राण देने आया हूँ।"

राजा ने इसको सुन कर बड़े शोक से उत्तर दिया. "वास्तव में मेरा शरीर मनुष्य का है, परन्तु मैं मृगतुल्य हूँ; और तुम्हारा शरीर मृग का होने पर भी मनुष्य के समान है"। फिर उसने दया करके उस मृग को छोड़ दिया तथा

उसी दिन से वह नित्य की हत्या भी बन्द होगई और वह वन भी मृगों के ही अर्पण कर दिया गया। इसी कारण से यह मृगों को दिया हुआ वन उस दिन से "मृग वन[1]" कहलाता है।

इस स्थान को छोड़ कर और संघाराम से दो तीन ली दक्षिण पश्चिम चलकर एक स्तूप ३०० फ़ीट ऊँचा मिलता है। इसके आस पास भी बहुत सा स्थान घेर कर एक ऊँची इमारत बनाई गई है, जिसमें बहुमूल्य वस्तुएँ जड़ी गई हैं और अनेक प्रकार की चित्रकारी खोद कर पत्थर लगाये गये हैं। इसमें आलों की क़तारें नहीं बनाई गई हैं; और यद्यपि शिखर के ऊपर शलाका लगी हुई है परन्तु उसमें घंटियाँ नहीं लटकती हैं। इसके निकट ही एक और छोटा स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर अज्ञात कौंडिन्य इत्यादि पाँच मनुष्यों ने बुद्ध भगवान के अभिवादन से मुख मोड़ा था। आदि में जब सर्वार्थसिद्ध[2] अपनपा भूलकर और धर्म के जिज्ञासु बनकर पहाड़ों में बसने के लिए और घाटियों में तपस्या करने के लिए नगर से निकल गये थे, उस समय शुद्धोदन राजा ने तीन स्वजातीय पुरुषों को और दो मातुलों को यह आज्ञा दी कि 'मेरा पुत्र सर्वार्थसिद्ध ज्ञान सम्पादन करने के लिए घर से निकल गया है; इस समय वह अकेला पहाड़ों और मैदानों में घूम रहा होगा, अथवा वन में एकान्तवास करता होगा। इसलिए मेरी आज्ञानुसार

[1] इसी को आम तौर पर मृगदाव कहते हैं जिसका वर्णन पहले किया गया है; यही सारनाथ या सारङ्गनाथ है।

[2] यह बुद्धदेव का पैत्रिक नाम है।

तुम लोग जाकर पता लगाओ कि वह कहाँ रहता है और उसको सहायता दो। इस काम के करने में तुम लोग अपनी मेहनत में कुछ कसर न रखना, क्योंकि तुम्हारा सम्बन्ध उससे बहुत पास का है।" पाँचों आदमी आज्ञानुसार साथ साथ जाकर देश-विदेश में ढूँढ़ने लगे।

वे पाँचों आदमी जब ढूँढ़ते ढूँढ़ते उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पर राजकुमार थे तब उनमें से दो पुरुष जो कठिन तपस्या के विरोधी थे राजकुमार को देखकर कहने लगे कि "इस प्रकार की तपस्या सन्मार्ग से विपरीत है, क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति सुखपूर्वक साधन करने से होती है, परन्तु राजकुमार कठिन तपस्या कर रहा है, इस कारण हम उसके साथ नहीं रहेंगे।" यह विचार कर वे दोनों चले गये और ज्ञान की प्राप्ति के लिए अलग रहने लगे। राजकुमार ने छः वर्ष तक[1] तपस्या करके भी जब ज्ञान को नहीं पाया तब अपने व्रत को छोड़ कर खीर (जो कन्या ने दी थी) खाने पर प्रस्तुत हो गया कि कदाचित् ऐसा ही करने से परम ज्ञान प्राप्त हो जावे। तब उन तीन आदमियों ने इस बात पर शोक करते हुए कहा, "इसका ज्ञान अब परिपक्व होने ही को था, परन्तु सब नष्ट होगया; छः वर्ष की कठिन तपस्या एक दिन में मिट्टी हो गई।" वे तीनों आदमी वहाँ से उठकर उन दोनों आदमियों को ढूँढ़ने निकले, जो पहले से अलग थे, कि उनसे भी इस विषय में सम्मति ली जाय। उन लोगों

[1] दक्षिणी पुस्तकों से बुद्धदेव के तपस्या करने का काल ७ वर्ष निकलता है, अथवा सात वर्ष तक कामदेव बोधिसत्व पर हमला करता रहा परन्तु उसका कुछ वश न चला।

को पाकर वे तीनों बड़े दुख से कहने लगे कि "राजकुमार सर्वार्थसिद्ध ने शून्य घाटियों में निवास करने के लिए राज-भवन परित्याग कर दिया था, तथा रत्न और वस्त्र हटा कर मृग-चर्म को धारण किया था, यह पुरानी बात हम लोगों की जानी हुई है। यहाँ आकर देखा तो उनको सत्य धर्म और उसके फल को प्राप्त करने के लिए पूर्ण बल और बुद्धि के सहित कठिन तपस्या करते पाया। परन्तु अब उन्होंने उस तपस्या को भी छोड़ दिया है और एक गड़रिये की कन्या के हाथ से खीर को ग्रहण किया है। हमारा विचार है कि अब वह कुछ नहीं कर सकते"।

उन दोनों आदमियों ने उत्तर दिया, "वाह साहब! आपने अब जाना कि राजकुमार पागल सरीखा है! अजी, जब वह अपने मकान में रहता था और आदर-सत्कार के साथ सब प्रकार के आनन्द का उपभोग करता था उस समय पागल-पन ही के कारण तो वह अपने चक्रवर्ती राज्य को छोड़कर नीच और निकृष्ट पुरुषों के समान जीवन व्यतीत करने के लिए निकल भागा। उसके विषय में अधिक विचार करना अनावश्यक है, वरंच उसका नाम-मात्र स्मरण होने से दुख पर दुख उमड़ आता है।"

इधर बुद्धदेव का यह वृत्तान्त है कि वह पूर्ण ज्ञान सम्पादन करके देवता तथा मनुष्यों के अधिपति होगये और नैर-अंजना नदी में स्नान करके बोधिवृक्ष के नीचे आसीन होकर विचारने लगे कि किसको विशुद्ध धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना चाहिए। उनका ध्यान राम के पुत्र उद्र की ओर गया कि यह व्यक्ति तपस्या करके नैवसंज्ञा समाधि की

अवस्था[1] तक पहुँच चुका है, इसको यदि उपदेश दिया जाय तो अवश्य फलीभूत होगा और यह उसको ग्रहण भी शीघ्र कर लेगा।

उसी समय देवताओं ने आकाशवाणी करके सूचित किया कि सात दिन हुए राम के पुत्र उद्र का देहान्त हो गया। तथागत ने शोक करते हुए कहा कि "वह विशुद्ध धर्म के श्रवण और ग्रहण करने के लिए उत्सुक था, और वह शीघ्र शिष्य भी हो जाता परन्तु शोक! हमसे भेट न हो सकी!"

संसारी मनुष्यों की ओर दत्तचित्त होकर तथागत भगवान फिर विचारने लगे कि अब और कौन व्यक्ति है जिसको सबसे पहले धर्मोपदेश दिया जाय। उन्होंने विचार किया कि 'आराद्कालाम' योग सिद्ध होकर अकिंचव्यायतन[2] अवस्था को प्राप्त होगया है, वह अवश्य सर्वोत्तम सिद्धान्तों के सिखलाये जाने योग्य है। उसी समय देवताओं ने फिर सूचित किया कि 'इसको भी मरे पाँच दिन[3] होगये।"

तथागत भगवान को उसके अपूर्ण ज्ञान पर फिर शोक हुआ, तथा पुनः विचार करके उन्होंने कहा कि मृगदाव में पाँच मनुष्य हैं, जो अवश्य सर्वप्रथम उपदेश को ग्रहण करेंगे। यह विचार कर तथागत भगवान बोधिवृक्ष के नीचे से उठे तथा अपने प्रकाश से दिशाओं को प्रकाशित करते

[1] जिस समाधि में मनुष्य संज्ञाहीन हो जाता है।

[2] योगी की पूर्ण सिद्धावस्था को अकिंचव्यायतन अवस्था कहते हैं।

[3] ललित विस्तर में तीन दिन लिखे हुए हैं परन्तु बुद्ध-चरित्र में कुछ भी समय नहीं लिखा है।

हुए अनुपम छवि को धारण किये हुए मृगदाव में पहुँचे और उन पाँचों आदमियों को धर्मोपदेश देने के लिए निकट गये। वे लोग[1] इनको दूर से देखकर कहने लगे, "अरे वह देखो सर्वार्थसिद्ध आते हैं। वर्षों तपस्या करने पर भी सत्त्व-सिद्धि लाभ नहीं हुई तब धैर्यच्युत होकर हमारे पास आते हैं, परन्तु हमको इस समय चुप रहना चाहिए—यहाँ तक कि उनकी अभ्यर्थना के लिए अपनी जगह से हटना भी न चाहिए।"

तथागत भगवान अपने मनोहर स्वरूप से संसार को विमोहित करते हुए ऐसी रीति से धीरे धीरे उनके निकट गये कि वे लोग अपनी प्रतिज्ञा को भूल गये तथा बड़ी भक्ति से उठकर दण्डवत् करते हुए उनके चरणों में गिर पड़े। तथागत भगवान ने शनैः शनैः उनको विशुद्ध धर्म का उपदेश देकर कृतार्थ किया। विश्राम के दो समय[2]

[1] बुद्धचरित्र में इन पाँचों आदमियों के नाम कौण्डिन्य, दशबाल, काश्यप, बाष्प, अश्वजित और भद्रिक लिखे हुए हैं। परन्तु ललित-विस्तर में 'दशबाल' के स्थान पर 'महानाम' लिखा है।

[2] विश्राम का काल वर्षा-ऋतु है, जिन दिनों शिष्य लोग अपना पर्य्यटन बन्द करके एक स्थान पर ठहरे रहते थे। परन्तु विचार करने से विदित होता है कि यह नियम उस समय तक बौद्धों में प्रचलित नहीं था, क्योंकि विनय-ग्रन्थ में बौद्ध लोगों पर इस बात का दोषारोपण किया गया है कि वे लोग प्रावृत्-काल (वर्षा-ऋतु = आषाढ़, श्रावण) में भी पर्यटन किया करते हैं। हां बुद्ध भगवान से पहले अन्य धर्मावलम्बियों में इस नियम का प्रचार अवश्य था।

समाप्त होने पर वे लोग पुनीत फल के अधिकारी हो गये।

मृगदाव के पूर्व दो या तीन ली चलकर हम एक स्तूप के पास पहुँचे जिसके निकट लगभग ८० क़दम के घेरे में एक शुष्क जलाशय है। इस जलाशय का एक नाम 'प्राणरक्षक' और दूसरा नाम 'प्रभावशाली वीर' है। इस स्थान का प्राचीन इतिहास इस प्रकार है:—बहुत समय व्यतीत हुआ जब एक योगी संसार का परित्याग करके इस जलाशय के निकट एक झोपड़ी बनाकर निवास करता था। इस योगी की सिद्धाई बहुत प्रसिद्ध थी। अपनी आध्यात्मिक शक्ति से वह पत्थरों के टुकड़ों को रत्न बना देता था तथा आदमियों और पशुओं को जिस स्वरूप में चाहे परिवर्तित कर सकता था। परन्तु आकाशगमन करने की सामर्थ्य उसमें नहीं हो सकी थी जैसी कि ऋषि लोगों में होती है। इस कारण उसने बड़े बड़े ऋषियों की जीवनी और कर्तव्यों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। अपने इस अध्ययन से उसको मालूम हुआ कि "बड़े बड़े ऋषि वही हैं जिनको मृत्यु के जीतने की सामर्थ्य है, और वे अपने इस प्रभाव से अगणित वर्ष जीवित रह सकते हैं; यदि किसी को इस विद्या के जानने की इच्छा है तो वह इस प्रकार काम प्रारम्भ करे, पहले दस फीट के घेरे की एक वेदी बना उसके एक कोने में एक वीर, धर्मिष्ठ, साहसी और परिश्रमी व्यक्ति को हाथ में एक लम्बी तलवार देकर बैठा दे, और उसको आज्ञा दे कि वह शाम से सबेरे तक इस प्रकार चुपचाप बैठा रहे कि साँस तक का शब्द न निकलने पावे। फिर वह व्यक्ति जिसको ऋषि होने की कामना होवे एक लम्बी छुरी हाथ में लेकर वेदी के मध्य

में आसीन हो जावे और बहुत ख़बरदारी के साथ मंत्रों का पाठ करे। प्रातःकाल होते ही उसको ऋषि अवस्था प्राप्त हो जावेगी तथा उसके हाथ की छुरी आपसे आप एक रत्नजटित तलवार बन जावेगी। उस समय वह आकाश में गमन कर सकेगा और ऋषियों का भी अधिपति हो जायगा। उसकी सब कामनाएँ उस तलवार के हिलाते ही पूरी हो जायँगी। फिर उसको न बुढ़ापा होगा न कोई रोग, और न वह कभी मरेगा।" ऋषि होने की इस तरकीब को पाकर वह प्रसन्न होगया और इस काम को साधन करने के लिए एक वीर पुरुष की तलाश करने लगा। बहुत दिनों तक बड़े परिश्रम से वह खोज करता रहा परन्तु जैसा चाहिए था वैसा आदमी न मिला। एक दिन अकस्मात् एक नगर में उसने देखा कि एक आदमी बड़े करुणाजनक शब्दों में रोता हुआ चला जारहा है। योगी को उसकी शकल देखते ही मालूम होगया कि यह व्यक्ति अवश्य कामलायक है। बड़ी प्रसन्नता से उसके निकट जाकर उसने पूछा, "तुमको क्या दुख है जिसके लिए इस तरह रो रहे हो?" उसने उत्तर दिया, "पहले मैं बड़ा ग़रीब और दुखी पुरुष था, मुझको अपने भरण-पोषण के लिए जितना कुछ कष्ट उठाना पड़ता था वह मैं ही जानता हूँ। एक आदमी ने मेरी यह दशा देखकर और मुझको ईमानदार समझकर पाँच साल के लिए नौकर रख लिया। उसने मेरे दुखों को दूर करने का वचन भी दिया था इसलिए मैं भी सब प्रकार का कष्ट और परिश्रम उठाकर उसकी सेवा करता रहा। जैसे ही पाँच वर्ष पूरे हुए उसने एक बहुत ही छोटी भूल के लिए मुझको कोड़े लगाकर निकाल बाहर किया। मुझको मेरी मेहनत का एक

पैसा भी नहीं मिला, यही कारण है कि मैं बहुत दुखी और विकल हूँ। अफ़सोस! मेरी दशा पर दया करनेवाला संसार में कोई भी नहीं है।"

योगी ने उसको आश्वासन देकर और अपनी कुटी में लाकर जलाशय में स्नान कराया तथा सुन्दर स्वादिष्ट भोजन, उत्तम नवीन वस्त्र और ५०० अशर्फी देकर विदा किया और यह कह दिया कि जब यह समाप्त हो जावे तब फिर निःसंकोच होकर चले आना और जो कुछ आवश्यक हो ले जाना। इस प्रकार उस योगी ने अनेक बार उसकी सहायता करके उसको ऐसा सुखी किया कि जिससे उसका चित्त उसकी कृतज्ञता के पाश में बँध गया। यहाँ तक कि वह उन भलाइयों के बदले अपनी जान तक दे देने के लिए उद्यत हो गया। योगी को जब यह भली भाँति विश्वास हो गया कि यह व्यक्ति अब पूरे तौर से आधीन हो गया है और जो कुछ इससे कहा जायगा उसको अवश्य स्वीकार कर लेगा, तब उसने उससे कहा कि "मुझको एक साहसी व्यक्ति की आवश्यकता है, मैंने वर्षों तलाश करके और बड़े भाग्य से तुमको पाया है, तुम्हारे समान चतुर और सुघड़ व्यक्ति दूसरा नहीं है, इसलिए मेरी प्रार्थना है कि तुम एक रात भर के लिए मेरा साथ दो और मुँह से एक शब्द भी न निकालो।"

उस वीर ने उत्तर दिया, "चुपचाप साँस रोककर बैठा रहना कौन बड़ी बात है? मैं आपके लिए जान तक दे देने में नहीं हिचक सकता।" उसकी बात को सुनकर योगी ने तुरन्त एक वेदी बनाकर अपने अनुष्ठान का प्रारम्भ किया, जो जो वस्तुएँ आवश्यक थीं सब दिन भर में इकट्ठी कर ली

गई तथा रात्रि होने पर दोनों मनुष्य अपने अपने काम में नियमानुसार लग गये। योगी अपने स्थान पर बैठ कर मंत्रों का पाठ करने लगा और वीर भी तलवार लेकर अपने स्थान पर जा बैठा। तड़का होने में थोड़ी ही सी कसर बाकी थी कि वह वीर एकाएक चिल्लाने लगा। उसके चिल्लाते ही आकाश से अग्नि बरसने लगी और चारों ओर चिनगारी मिला हुआ धुवाँ मेघ के समान छा गया।

वह योगी उसी क्षण उसको झील के भीतर दबोच ले गया। जब इस घटना से उसकी रक्षा हो गई और उसका चित्त कुछ ठिकाने हुआ तब योगी ने उससे पूछा कि 'मैंने तो तुमको मना कर दिया था फिर भी तुम क्यों चिल्ला उठे?'

वीर ने उत्तर दिया, "आपकी आज्ञानुसार आधी रात तक तो मैं चुपचाप पड़ा रहा, उस समय तक मुझको कोई अद्भुत बात नहीं दिखाई पड़ी। इसके उपरान्त मेरी दशा बदल गई। मुझको ऐसा मालूम हुआ कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। जो कुछ मेरी जीवनी थी तथा जो कुछ काम मैंने किये थे वे सब एक एक करके मेरे सामने आने लगे। मैंने देखा कि आप मेरे पास आये हैं और मुझको ढाढ़स दे रहे हैं, परन्तु मैंने कृतज्ञतावश आपको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर के उपरान्त मेरा पुराना स्वामी मेरे पास आया और क्रोध के आवेश में उसने मुझको मार डाला। मैं मर कर प्रेत होगया। यद्यपि मरते समय मुझको बहुत कष्ट हुआ था परन्तु, क्योंकि मैं आपसे प्रतिज्ञा कर चुका था इस कारण साँस तक न ले सका। इसके उपरान्त मैंने देखा कि दक्षिण भारत में एक ब्राह्मण के घर मेरा जन्म हुआ है और लोग मेरा पालन-पोषण कर रहे हैं। इन सब अवस्थाओं में मुझको अनेक कष्ट

होते रहे परन्तु मैं आपकी आज्ञानुसार चुपचाप सहन करता रहा, कभी एक शब्द भी मुख से न निकाला। कुछ दिनों के उपरान्त मेरा विद्यारम्भ कराया गया और युवा होने पर विवाह भी हो गया। मेरे एक पुत्र भी उत्पन्न होगया और माता-पिता का देहान्त भी होगया, परन्तु इन सब अवसरों पर मेरा मुख बन्द ही रहा। मुझको सदा आपकी दयालुता का ध्यान बना रहता था और मैं शान्ति के साथ सुख और दुख को झेलता चला जाता था। मेरे इस अनोखे ढंग से मेरे घर-वाले और नातेदार बहुत दुखी रहते थे। एक दिन जब मेरी अवस्था ६५ वर्ष के ऊपर हो चुकी थी, मेरी स्त्री ने मुझसे कहा कि तुमको बोलना पड़ेगा, नहीं तो मैं तुम्हारे लड़के को मारे डालती हूँ। उस समय मुझको विचार हुआ कि मैं अब वृद्ध होगया मुझमें अब इतनी शक्ति भी नहीं रही कि दूसरा पुत्र उत्पन्न कर सकूँ, इस कारण मैं अपने लड़के को बचाने के लिए चिल्ला उठा।"

योगी ने शोक करते हुए कहा कि यह सब भूतों की माया थी। मुझसे बड़ी भूल हुई जो मैंने पहले से इसका प्रबन्ध नहीं कर लिया। उस वीर को अपने स्वामी का काम बिगड़ जाने का बड़ा दुख हुआ और उस दुख से दुखी होकर उसने अपने प्राण त्याग दिये।

इसी झील में ले जाकर उस योगी ने उस वीर की रक्षा अग्नि से की थी इस कारण इसका नाम 'प्राणरक्षक' हुआ। तथा स्वामी की सेवा और भक्ति करते हुए उस वीर ने इस स्थान पर प्राण त्याग किया था इस करण इसका दूसरा नाम 'वीरवाली झील' हुआ।

इस झील के पश्चिम में एक स्तूप तीन जानवरों का है।

इस स्थान पर बोधिसत्व ने अभ्यास-काल के दिनों में अपने शरीर को भस्म कर दिया था। कल्प के आरम्भ में तीन पशु अर्थात् एक लोमड़ी, एक खरगोश और एक बन्दर इस जंगल में निवास करते थे। यद्यपि इन तीनों की प्रकृति भिन्न भिन्न थी परन्तु वास्तव में वे परस्पर परम मित्र थे और बोधिसत्व दशा का अभ्यास करते थे। एक दिन देवराज शक्र इन तीनों की परीक्षा के लिए एक बूढ़े मनुष्य का स्वरूप बनाकर इस स्थान पर आये और उन तीनों को सम्बोधन करके पूछा कि 'तुम लोगों को कुछ कष्ट और भय तो नहीं है?' उन्होंने उत्तर दिया, "हम लोगों को कोई दुख नहीं है, हम लोग बड़ी प्रसन्नता से कालयापन करते हैं, जहाँ हमारी इच्छा होती है विश्राम करते हैं, जहाँ इच्छा होती है सैर करते हैं। हम लोगों में परस्पर मेल भी बहुत है, इस कारण हम लोग बहुत सुखी हैं"। वृद्ध पुरुष ने उत्तर दिया, "हे मेरे बच्चे! इसी बात को सुनकर कि तुम लोग बड़े प्रेम और मेल-जोल से रहते हो मैं बहुत दूर चलकर तुम्हारे पास आया हूँ। तुम लोगों के प्रेम के सामने मैंने अपनी वृद्धावस्था और पौरुष-हीनता का भी कुछ विचार नहीं किया और तुमसे मिलने यहाँ तक चला आया, परन्तु इस समय मैं क्षुधा से बहुत पीड़ित हूँ। अब बताओ तुम लोग कौनसी वस्तु मुझको खाने के लिए दे सकते हो?" उन्होंने उत्तर दिया, "आप थोड़ी देर का अवकाश दीजिए, हम लोग जाकर भोजन का प्रबन्ध किये लाते हैं"। यह कहकर वे तीनों अभिन्नमतावलम्बी भोजन की तलाश में निकले, यद्यपि इन तीनों का अभिप्राय एक ही था परन्तु भोजन प्राप्त करने का ढंग अलग अलग था। लोमड़ी एक नदी में घुस गई और उसमें से एक बड़ी मछली पकड़

लाई, और बन्दर ने जंगल में जाकर अनेक प्रकार के फल और फूलों को इकट्ठा किया तथा दोनों अपनी अपनी भेंट लेकर उस वृद्ध के निकट पहुँचे। यद्यपि खरगोश ने इधर-उधर बहुत दौड़-धूप की परन्तु उसको कुछ भी नहीं मिला और वह खाली ही लौट आया। बुड्ढे आदमी ने उससे कहा कि "मुझको मालूम होता है तुम्हारा मेल इन दोनों—लोमड़ी और बन्दर—से नहीं है। मेरी इस बात की सत्यता इसी से प्रकट है कि वे दोनों तो मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता से भोजन का प्रबन्ध कर लाये परन्तु तुम खाली ही लौट आये, तुमने मुझको कुछ भी लाकर न दिया।" खरगोश को यह बात सुनकर बड़ा शोक हुआ। उसने बन्दर और लोमड़ी से कहा कि "भाई यहाँ पर एक ढेर लकड़ियों का इकट्ठा कर दो तो मैं भी कुछ भेंट कर सकूँगा।" उन दोनों ने उसकी आज्ञानुसार इधर-उधर से लाकर लकड़ी और घास का ढेर लगा दिया और जब वह ढेर अच्छी तरह पर जलने लगा तब खरगोश ने कहा कि "हे महाशय! मैं एक छोटा और अशक्त जन्तु हूँ। यह बात मेरी सामर्थ्य से बाहर है कि मैं आपके लिए भोजन प्राप्त कर सकूँ, परन्तु मेरा यह शरीर अवश्य आपकी क्षुधा को मिटा देगा।" यह कहकर वह अग्नि में कूद पड़ा और भस्म हो गया। तब वृद्ध पुरुष ने अपने असली स्वरूप को प्रकट करके और उसकी हड्डियों को बटोर कर बड़े सन्तप्त हृदय से लोमड़ी और बन्दर को सम्बोधन करके कहा, "मैं इसकी वीरता पर मुग्ध होगया हूँ। इसने वह काम किया जो आज तक किसी धर्मिष्ठ से न हो सका था। इस कारण मैं इसको चन्द्रमा की मूर्ति में स्थान देता हूँ जिसमें इसकी कीर्ति का कभी नाश न हो।" इसी सबब से लोग अब भी कहा करते हैं कि चन्द्रमा में

चौगड़े (खरगोश) का वास है। इसी घटना को लेकर लोगों ने इस स्थान पर यह स्तूप बनवाया है[१]।

इस देश को छोड़ कर और गंगा पार ३०० ली चलकर हम 'चेनचू' देश में गये।

चेनचू (ग़ाज़ीपुर[२])

इस राज्य का क्षेत्रफल २,००० ली के लगभग है। इसकी राजधानी जो गंगा के किनारे पर है लगभग १० ली के घेरे में है। निवासी सुखी और सम्पत्ति-सम्पन्न हैं तथा नगर और ग्राम बहुत निकट निकट बसे हुए हैं। भूमि उत्तम और उपजाऊ है तथा नियमानुसार बोई जोती जाती है। प्रकृति कोमल और उत्तम है तथा मनुष्य आचरण के शुद्ध और ईमानदार होने पर भी, स्वभाव के क्रोधी और असहनशील हैं। इनमें से कितने ही अन्यधर्मावलम्बी और कितने ही बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। कोई दस संघाराम हैं जिनमें १,००० से भी कम हीनयान-सम्प्रदायी साधु निवास करते हैं। भिन्न-धर्मावलम्बियों के कोई २० मन्दिर हैं जिनमें अनेक मतावलम्बी अपनी अपनी प्रथानुसार उपासना किया करते हैं।

राजधानी के पश्चिमोत्तरवाले संघाराम में एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। भारतीय इतिहास से

[१] इसी कथानक को लेकर एक जातक बना है जिसमें चौगड़े का विस्तृत वृत्तान्त लिखा हुआ है।

[२] कनिंघम साहब इस स्थान का निश्चय बनारस से ठीक ४० मील पूर्व गंगा नदी के किनारे ग़ाज़ीपुर नामक क़सबे के साथ करते हैं। इसका प्राचीन हिन्दू नाम गर्जपुर था।

पता चलता है कि इस स्तूप में बहुत-सा बौद्धावशेष रक्खा है। प्राचीन काल में बुद्ध भगवान् ने इस स्थान पर निवास करके सात दिन तक देव-समाज को धर्म का उपदेश किया था।

इसके अतिरिक्त गत तीनों बुद्धों के बैठने और चलने फिरने के भी चिह्न वर्तमान हैं।

इसके निकट ही मैत्रेय बोधिसत्त्व की मूर्ति बनी हुई है। यद्यपि इसका आकार छोटा है परन्तु प्रभाव बड़ा भारी है, जिसका कि परिचय समय समय पर बड़ी विलक्षणता से प्रकट होता रहता है।

मुख्य नगर के पूर्व २०० ली चलकर हम एक संघाराम में पहुँचे जिसका नाम 'अविद्धकर्ण' है[1]। यद्यपि इसकी लम्बाई चौड़ाई अधिक नहीं है परन्तु बनावट बहुत सुन्दर है। इसके बनाने में बहुत द्रव्य और कारीगरी से काम लिया गया है। साधु गम्भीर और सुयोग्य हैं तथा अपने कर्तव्य का पालन बहुत समुचित रीति से करते हैं। यहाँ का इतिहास

[1] हुएन सांग ने जो दूरी लिखी है उससे मालूम होता है कि यह स्थान उस स्थान पर होगा जहाँ पर आज-कल बलिया नगर बसा हुआ है। बलिया के पूर्व में एक मील पर बीकापुर नामक एक गांव है। जनरल कनिंघम साहब की राय है कि यह शब्द अविद्धकर्णपुर का अपभ्रंश है। सम्भव है यह वही विहार हो जिसको फ़ाहियान ने जन-शून्य लिखा है, परन्तु चीनी शब्द क्आङ्करी (जिसका अर्थ जङ्गल है) से जनरल साहब बृहदारण्य का तात्पर्य निकालते हैं, और 'विद्धकर्ण' शब्द उसी से बिगड़ कर बना हुआ निश्चय करते हैं। जनरल साहब की राय कहां तक ठीक है इसका निश्चय करना कठिन है।

इस प्रकार है कि प्राचीन काल में दो या तीन श्रमण हिमालय पहाड़ के उत्तरवाले तुषार-प्रदेश में निवास करके, धर्म और विद्या का अध्ययन बड़े परिश्रम से करते थे। इन लोगों के सिद्धान्तों में कुछ भेद न था तथा प्रत्येक दिन उपासना और पाठ के समय ये लोग कहा करते थे कि धर्म के विशुद्ध सिद्धान्त बहुत गुप्त हैं, बिना अच्छी तरह पर विचार किये—केवल मौखिक वार्तालाप से—उनकी थाह नहीं मिल सकती। बुद्ध भगवान के जो कुछ पुनीत चिह्न हैं वे स्वयं विलक्षण प्रकाश से प्रकाशित हैं, इस कारण हम लोगों को चलकर उनके दर्शन करने चाहिएँ और इस यात्रा में जो कुछ हमको अनुभव हो उसका वृत्तान्त अपने अन्य मित्रों पर भी प्रकट करना चाहिए।

यह विचार करके वे दोनों तीनों साधु अपना अपना धर्म-दण्ड लेकर यात्रा के लिए चल खड़े हुए। परन्तु भारतवर्ष में आकर जिस सङ्घाराम के द्वार पर वे लोग गये वहाँ से अनादर सहित निकाले गये, क्योंकि वे लोग सीमान्त प्रदेश के निवासी थे। कहीं पर भी उनको स्थान न मिला कि जहाँ ठहर कर आँधी-पानी और भूख-प्यास के कष्टों से बचकर वे लोग आराम पाते। सारे क्लेशों के उनका शरीर सूखा कर अस्थि-मात्र रह गया और मुख पीला पड़कर श्रीहीन हो गया। इस तरह से घूमते घूमते एक दिन उनकी भेंट इस देश के राजा से हुई, जो अपने राज्य में दौरा कर रहा था।

इन लोगों को देखकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा, "हे महात्माओ! आप लोग किस देश से आते

हैं ? आपके कान क्यों नहीं छिदे[1] हैं ? और आपके वस्त्र मटीले रङ्ग के क्यों हैं ?" श्रमणों ने उत्तर दिया, "हम लोग तुषार-प्रदेश के निवासी हैं। परमोत्तम सिद्धान्तों के भक्त होकर और सांसारिक बन्धनों को लात मार कर हम लोग विशुद्ध धर्म का अनुसरण कर रहे हैं और पुनीत बुद्धावशेष के दर्शनों के लिए आये हैं, परन्तु शोक ! कि हमारे पापों ने हमको इस लाभ से वञ्चित कर दिया है। भारतीय श्रमण हमको आश्रय नहीं देते हैं, इस कारण विवश होकर हम लोग अपने देश को लौट जायँगे। परन्तु हमारी यात्रा अभी समाप्त नहीं हुई है इसलिए अनेक मानसिक और शारीरिक कष्टों को सहन करते हुए भी हम लोग अपने सङ्कल्प पर दृढ़ हैं।"

राजा इन शब्दों को सुनकर बहुत दुखित हुआ तथा दयार्द्र होकर उसने इस स्थान पर इस मनोहर सङ्घाराम को बनवाया और एक लेख इस अभिप्राय का लिखकर लगा दिया कि "मैं अकेला संसार का स्वामी हूँ, मेरा यह प्रभाव त्रिपिटक (बुद्ध, धर्म और सङ्घ) की कृपा का फल है। इसी से लोग मेरा आदर करते हैं। मनुष्यों का अधिपति होने के कारण बुद्ध भगवान् की आज्ञानुसार मेरा यह आवश्यक धर्म है कि मैं उन लोगों की रक्षा और सेवा करूँ जो धार्मिक वस्त्र से आच्छादित हैं। मैंने इस सङ्घाराम को केवल विदेशियों की सेवा के लिए निर्माण किया है। मेरे इस सङ्घाराम में कोई भी ऐसा साधु, जिसके कान छिदे हुए होंगे, न निवास कर सकेगा।" इसी कारण से इस स्थान का नाम अविद्धकर्ण पड़ गया है।

[1] अविद्धकर्ण नाम पड़ने का यही कारण है।

अविद्धकर्ण सङ्घाराम के दक्षिण-पूर्व की ओर लगभग १०० ली चलकर और गङ्गा के दक्षिण में जाकर हम 'महाशार' नगर[1] में पहुँचे। इस नगर के सब निवासी ब्राह्मण हैं जो बौद्ध धर्म से प्रेम नहीं करते। परन्तु यदि किसी श्रमण से उनकी भेंट हो जाती है तो वे लोग पहले उसकी विद्या की परीक्षा करते हैं, यदि वह वास्तव में पूर्ण विद्वान होता है तो उसका आदर करते हैं।

गङ्गा के उत्तरी तट पर[2] नारायण देव का एक मन्दिर है। इसका सभा-मण्डप और शिखर बड़ी कारीगरी और लागत से बनाया गया है। देवता की मूर्ति बड़ी कारीगरी के साथ पत्थर की बनाई गई है। यह आदमी के क़द के बराबर है। इस मूर्ति में जो जो अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित होते रहते हैं उनका वर्णन करना कठिन है।

इस मन्दिर के पूर्व में लगभग ३० ली चलकर एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ मिलता है जिसका आधे से अधिक भाग भूमि में धँसा हुआ है। इसके अगले भाग में एक शिला-स्तम्भ लगभग २० फ़ीट ऊँचा लगा हुआ है जिसके ऊपरी भाग में सिंह की मूर्ति बनी हुई है। इस स्तम्भ पर राक्षसों के परास्त करने का वृत्तान्त खुदा हुआ

[1] 'महाशार' नगर मारटीन साहब की राय में, आरा के पश्चिम में ६ मील पर 'मशार' नामक गांव है।

[2] कनिंघम साहब का विचार है कि यात्री ने रेवलगञ्ज के निकट गङ्गा को पार किया होगा, जो मशार के उत्तर ठीक १६ मील के फ़ासले पर है, और जो गङ्गा और घाघरा के संगम के कारण पवित्र माना जाता है।

है। प्राचीन काल में इस स्थान पर बहुत से राक्षस निवास किया करते थे। वे अपने बल और सामर्थ्य से मनुष्यों को मारकर उनका मांस और रक्त भक्षण कर लिया करते थे। इनके इन अत्याचारों से इस प्रान्त के सब मनुष्य अत्यन्त भयभीत और विकल हो गये थे। तब प्राणीमात्र पर दया करनेवाले तथागत भगवान् ने इस स्थान के मनुष्यों की दुर्दशा पर तरस खाकर अपने प्रभाव से उन राक्षसों को अपना शिष्य बनाया था। उन राक्षसों ने भी भगवान् की शरण लेकर (क्वाईई[1]) हिंसा का परित्याग कर दिया था।

राक्षसों ने उनसे शिक्षा ग्रहण करके बड़ी भक्ति के साथ भगवान् की प्रदक्षिणा की, फिर एक पत्थर लाकर बुद्ध भगवान् से प्रार्थी हुए कि कृपा करके इस पर बैठ जाइए और विशुद्ध धर्म का उपदेश इस प्रकार दीजिए कि हम लोग अपने मन और विचारों को अधीन कर सकें। राक्षसों का रक्खा हुआ पत्थर अब तक मौजूद है। विरोधियों ने उसके हटाने का बहुत प्रयत्न किया, यहाँ तक कि १०,००० मनुष्यों ने एक साथ उसको हटाना चाहा परन्तु वह तिल-मात्र भी न सरका। स्तूप के दाहिने और बाएँ दोनों ओर सघन वृक्ष और स्वच्छ तड़ाग सुशोभित हैं, इनका ऐसा प्रभाव है कि निकट आते ही सब दुख भाग जाता है।

उस स्थान के पास ही, जहाँ राक्षस चेले हुए थे, बहुत से सङ्घाराम बने हुए हैं जो अधिकतर अब खँडहर हो गये हैं;

[1] चीनी शब्द 'क्वाईई' और संस्कृत के 'शरण' शब्द में कुछ अन्तर नहीं है, और इसी शब्द को लेकर जनरल कनिंघम साहब का विचार है कि इस ज़िले का नाम 'सारन' हो गया है।

तो भी कुछ साधु उनमें निवास करते हैं। ये महायान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व में लगभग १०० ली चलकर हम एक टूटे फूटे स्तूप के निकट पहुँचे जिसका दस बीस फीट ऊँचा भाग अब तक वर्तमान है। प्राचीन काल में तथागत के निर्वाण प्राप्त करने पर उनके शरीरावशेष को आठ नरेशों ने बाँट लिया था। विभाग करनेवाले ब्राह्मण ने अपने शहद लगे हुए घड़े में भर भरकर सबका भाग बाँटा था, और आप अन्त में घड़ा लेकर चला गया था। अपने देश में पहुँचकर उसने उस पात्र के भीतर का चिपटा हुआ अवशेष खुरचकर एक स्तूप बनवाया, तथा उस पात्र को भी प्रतिष्ठा देने के लिए स्तूप के भीतर रख दिया था। इसी लिए इस स्तूप का नाम 'द्रोण-स्तूप[1]' है। इसके कुछ दिनों बाद अशोक राजा ने स्तूप को तोड़ कर बुद्धावशेष और उस घड़े को निकाल लिया और प्राचीन स्तूप के स्थान पर एक नवीन और बड़ा स्तूप बनवा दिया। अब तक उत्सव के दिन इसमें से बड़ा प्रकाश निकला करता है।

[1] द्रोण-स्तूप (जिसको टर्नर साहब 'कुम्भन-स्तूप' कहते हैं) अजातशत्रु राजा का बनवाया हुआ है (देखो अशोकावदान), और कदाचित् 'देगवार' ग्राम के निकट कहीं पर था। इसका नाम स्वर्णवट स्तूप भी है। ब्राह्मण का नाम द्रोण, द्रोह या दौन भी लिखा मिलता है। 'द्रोण' शब्द चीनी भाषा के 'पइङ्ग' शब्द के समान है, जिसका अर्थ घड़ा या पात्र होता है। जुलियन साहब 'द्रोण' शब्द का अर्थ पैमाना करते हैं और इसी लिए 'पइङ्ग' शब्द को कर्क समझते हैं, परन्तु इसका अर्थ घड़ा या पात्र भी है, बल्कि इस अवस्थाविशेष में ब्राह्मण का घड़ा।

यहाँ से पूर्वोत्तर की ओर चलकर और गंगा नदी पार करके लगभग १४० या १५० ली की दूरी पर हम 'फयीशीली, प्रदेश में पहुँचे।

फयीशीली (वैशाली[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग पाँच हज़ार ली है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है फल और फूल बहुत अधिक होते हैं, विशेष कर आम्र और मोच (केला) के फल, तथा लोग इनकी क़दर भी बहुत करते हैं। प्रकृति स्वाभाविक और सह्य है, तथा मनुष्यों का आचरण शुद्ध और सच्चा है। ये लोग धर्म से प्रेम और विद्या की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। विरोधी और बौद्ध दोनों मिल-जुलकर रहते हैं। कई सौ सङ्घाराम यहाँ पर थे परन्तु सबके सब खँडहर हो गये हैं, जो दो चार बाक़ी भी हैं उनमें या तो साधु नहीं हैं, और यदि हैं तो बहुत कम।

[1] यात्री ने गङ्गा नहीं बल्कि गण्डक नदी पार की होगी जो द्रोण-स्तूप या देगवारा से लगभग १२ मील है, और इसलिए गंडक के पूर्व में 'वैशाली' होगा, जिसको जनरल कनिंघम साहब वर्तमान 'बशाड़' गांव निश्चय करते हैं। यहां अब भी एक डीह है जिसको लोग राजा विशाल का गढ़ कहते हैं। यह स्थान देगवार से उत्तर-पूर्व २३ मील पर है। वैशाली स्थान वृज्जी या वज्जी जाति के लोगों का मुख्य नगर था। ये लोग उत्तर-प्रदेश से आकर इस प्रान्त में बस गये थे। इनका अधिकार उत्तर में पहाड़ के नीचे से दक्षिण में गङ्गा के किनारे तक और पश्चिम में गण्डक से लेकर पूर्व में महानदी तक था। ये लोग यहां पर कब आये और कितने प्राचीन हैं इसका पता नहीं; परन्तु बौद्ध-पुस्तकों के निर्माण का जो काल है वही इनका भी है। चीनी ग्रन्थकारों ने भी इनका उल्लेख किया है।

दस बीस मन्दिर देवताओं के हैं जिनमें अनेक मतानुयायी उपासना करते हैं।

वैशाली का प्रधान नगर अत्यन्त अधिक उजाड़ है। इसका क्षेत्रफल ६० से ७० ली तक और राजमहल का विस्तार ४ या ५ ली के घेरे में है। बहुत थोड़े से लोग इसमें निवास करते हैं। राजधानी के पश्चिमोत्तर ५ या ६ ली की दूरी पर एक सङ्घाराम है। इसमें कुछ साधु रहते हैं। ये लोग सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

इसके पास एक स्तूप उस स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर तथागत भगवान ने विमल कीर्ति को सूत्र का उपदेश दिया था, तथा एक गृहस्थ के पुत्र रत्नाकर तथा औरों ने एक बहुमूल्य छत्र बुद्धदेव के अर्पण किया था। इसी स्थान पर शारिपुत्र तथा अन्य लोगों ने अरहट दशा को प्राप्त किया था।

इस अन्तिम स्थान के दक्षिण-पूर्व में एक स्तूप वैशाली के राजा का बनवाया हुआ है। बुद्ध भगवान के निर्वाण के पश्चात् इस स्थान के किसी प्राचीन नरेश ने बुद्धावशेष का कुछ भाग पाया था. और उसी के ऊपर उसने यह अत्यन्त बृहद् स्तूप निर्माण कराया[1]।

[1] लिच्छवी के लोगों ने भाग पाया था और स्तूप को बनवाया था। साँची के दृश्य में यह स्तूप दिखाया गया है। इसमें के मनुष्यों की सूरत से प्रकट होता है कि वे लोग उत्तरीय जातिवाले थे। इनके बाठ और वाद्य-यन्त्रादि भी उसी प्रकार के हैं जैसे यूची लोगों के वृत्तान्त में पाये जाते हैं। पाली भाषा की तथा उत्तर देशीय बौद्धों की पुस्तकों में लिखा है कि लिच्छवी लोगों का रङ्ग जैसा साफ़ था वैसे ही उनके वस्त्रादि

भारतीय इतिहास से विदित होता है कि पहले इस स्तूप में बहुत सा शरीरावशेष था। अशोक राजा ने उसको खोलकर उसमें से निकाल लिया और केवल एक भाग रहने दिया था। इसके पश्चात् इस देश के किसी नरेश ने द्वितीय बार इस स्तूप को खुदवाना चाहा था परन्तु उसके हाथ लगाते ही भूमि विकम्पित हो उठी, जिससे वह नरेश भयभीत होकर चला गया।

उत्तर-पश्चिम में एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है जिसके पास एक पत्थर का स्तम्भ ५० या ६० फ़ीट ऊँचा बना हुआ है। इसके शिरोभाग में सिंह[1] की मूर्ति बनी हुई है। इस स्तम्भ के दक्षिण में एक तड़ाग (मर्कटह्रद) है जिसको बन्दरों ने बुद्ध भगवान् के लिए बनाया था। तथागत भगवान जब तक संसार में रहे तब तक बहुधा यहाँ पर आकर निवास किया करते थे। इस तड़ाग के दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर बुद्ध भगवान् का भिक्षा पात्र लेकर बन्दर लोग वृक्ष पर चढ़ गये थे और उसको शहद से भर लाये थे।

इसके दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर बन्दरों ने शहद लाकर बुद्धदेव के अर्पण[2] किया

भी थे। इन सब बातों पर ध्यान देने से यही विदित होता है कि ये लोग यूची जाति के थे।

[1] लिच्छवि लोग सिंह कहलाते थे इस कारण कदाचित् यह सिंह भी उनकी जाति का बोधक हो।

[2] इस घटना का भी एक चित्र साँची में पाया गया है। यह एक स्तम्भ पर बना हुआ है जो वैशाली लोगों की कारीगरी का नमूना है।

था। तड़ाग के पश्चिमोत्तर कोण में एक बन्दर की मूर्ति अब भी बनी हुई है।

संघाराम के उत्तर-पूर्व में ३ या ४ ली की दूरी पर एक स्तूप उस स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर विमलकीर्ति[1] का मकान था। इस स्थान पर अनेक अद्भुत दृश्य दिखलाई देते हैं।

इसके निकट ही एक समाधि बनी है[2] जो केवल ईंटों का ढेर है। कहा जाता है कि यह ढेर ठीक उस स्थान पर है जहाँ पर रुग्नावस्था में विमलकीर्ति ने धर्मोपदेश दिया था।

इसके निकट ही एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर रत्नाकर का निवास-भवन था।

इसके निकट एक स्तूप और है। यह वह स्थान है जहाँ पर आम्रकन्या[3] का प्राचीन वासस्थल था। इसी स्थान पर बुद्ध की चाची और अन्य भिक्षुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया था।

संघाराम के उत्तर में ३ या ४ ली की दूरी पर एक स्तूप

[1] विमलकीर्ति वैशाली का निवासी और बौद्धधर्म का माननेवाला था। यद्यपि पुस्तकों में उसका वृत्तान्त बहुत थोड़ा मिलता है परन्तु तो भी ऐसा मालूम होता है कि उसने चीन की यात्रा की थी।

[2] कदाचित् यह समाधि किसी वजन जातिवाले चेतयानी या यक्ष चेतयानी की होगी जिसका वृत्तान्त महाग्रों तथा अन्य स्थानों में मिलता है।

[3] यह एक वेश्या थी जिसका नाम अम्बपाली भी था। इसके जन्मादि का इतिहास Manual of Buddhism में लिखा है।

उस स्थान पर है जहाँ पर तथागत भगवान् आकर उस समय ठहरे थे, जब वह मनुष्यों और किन्नरों[1] को साथ लिये हुए निर्वाण प्राप्त करने कुशीनगर को जाते थे। यहाँ से थोड़ी दूर पर उत्तर-पश्चिम दिशा में एक और स्तूप है। इसी स्थान से बुद्धदेव ने अन्तिम बार वैशाली नगरी का अवलोकन किया था। इसके दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक विहार है जिसके सामने एक स्तूप बना हुआ है। यह वह स्थान है जहाँ पर आम्रकन्या का बाग़ था. जिसको उसने बुद्धदेव को अर्पण कर दिया था।

इस बाग़ के निकट ही एक स्तूप उस स्थान पर बना हुआ है जिस स्थान पर तथागत भगवान् ने अपनी मृत्यु का समाचार प्रकट किया था। पूर्व काल में जब बुद्धदेव इस स्थान पर निवास करते थे तब उन्होंने 'आनन्द' से यह कहा था, "वे लोग जिनको चारों प्रकार का आध्यात्मिक बल प्राप्त है, कल्पपर्यन्त जीवित रह सकते हैं, फिर तथागत की मृत्यु का कौन सा काल निश्चय हो सकता है ?" बुद्धदेव ने यही प्रश्न तीन बार आनन्द से पूछा परन्तु 'आनन्द' 'मार' के वशीभूत हो रहा था इस कारण उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। इसके उपरान्त आनन्द अपने स्थान से उठकर जङ्गल में चला गया और वहाँ जाकर चुपचाप विचार करने लगा। उसी समय 'मार' बुद्धदेव के निकट आया और कहने लगा, "आपको

[1] किन्नर कुबेर के यहाँ गानेवाले कहलाते हैं; जिनका मुख घोड़े के समान बताया जाता है। साँची के चित्रों में इन लोगों का भी स्वरूप बना हुआ है। जिस पत्थर पर यह चित्रकारी बनी है वह पत्थर वैशाली ही का है।

संसार में रहते और लोगों को धर्मोपदेश देते और शिष्य करते बहुत दिन हो गये। जिन लोगों को आपने जन्ममरण के बन्धन से मुक्त कर दिया है उनकी संख्या बालू के कणों के बराबर है। अतएव अब उचित समय आ गया कि आप निर्वाण के सुख को प्राप्त करें।" तथागत भगवान् ने बालू के कुछ कण अपने नाखून पर रख कर 'मार' से पूछा, "मेरे नख पर के कण संसार भर की मिट्टी के बराबर हैं या नहीं ?" उसने उत्तर दिया, "पृथ्वी भर की धूल परिमाण में इन कणों से अत्यन्त अधिक है।" तब बुद्ध भगवान ने उत्तर दिया, "जिन लोगों की रक्षा की गई है उनकी संख्या मेरे नख पर के कणों के बराबर है, और जो अब तक सन्मार्ग पर नहीं लाये गये हैं उनकी संख्या पृथ्वी के कणों के तुल्य है, तो भी तीन मास के उपरान्त मैं शरीर त्याग करूँगा।" मार इसको सुनकर प्रसन्न होगया और चला गया।

इसी समय आनन्द ने जङ्गल में बैठे हुए अकस्मात् एक अद्भुत स्वप्न देखा और बुद्ध भगवान् के निकट आकर उसका वृत्तान्त इस प्रकार निवेदन किया—"मैं जङ्गल में बैठा ध्यान कर रहा था कि मैंने एक अद्भुत स्वप्न देखा। मैंने देखा कि एक बड़ा भारी वृक्ष है जिसकी डालें और पत्तियाँ बहुत दूर तक फैली हुई हैं, और खूब सघन छाया कर रही हैं। अकस्मात् एक बड़ी भारी आँधी आई और वह वृक्ष पत्तियों और डालियों समेत ऐसा उखड़ गया कि उसका चिह्न भी उस स्थान पर न रह गया। शोक! मुझको मालूम होता है कि भगवान् अब शरीर त्याग करनेवाले हैं। मेरा चित्त शोक से विकल हो रहा है। इसलिए मैं आपसे पूछने आया हूँ कि क्या यह सत्य है ? क्या ऐसा होनेवाला है ?"

बुद्ध भगवान ने उत्तर दिया, "आनन्द ! मैंने तुमसे पहले ही प्रश्न किया था परन्तु तुम 'मार' के ऐसे वशीभूत हो रहे थे कि तुमने कुछ उत्तर ही नहीं दिया। मेरे संसार में वर्तमान रहने की प्रार्थना तुमको उसी समय करनी चाहिए थी। 'मार राजा' ने मुझ पर बहुत दबाव डाला और मैंने उसको वचन दे दिया, तथा समय भी निश्चित कर दिया, इसी सबब से तुमको ऐसा स्वप्न हुआ।"

इस स्थान के निकट एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर हज़ार पुत्रों ने अपने माता-पिता का दर्शन किया था। प्राचीन काल में एक बहुत बड़ा ऋषि था जो घाटियों और गुफाओं में अकेला निवास किया करता था, केवल वसन्त ऋतु के दूसरे मास में वह शुद्ध जलधार में स्नान करने के लिए बाहर आता था। एक दिन वह स्नान कर रहा था कि एक मृगी जल पीने के लिए आई। वह मृगी उसी समय गर्भवती होगई जिससे एक कन्या का जन्म हुआ। इस बालिका की सुन्दरता ऐसी अनुपम थी कि जिसका जोड़ मानव-समाज में नहीं मिल सकता था; परन्तु इसके पैर मृग के से थे। ऋषि ने उस बालिका को ले लिया और अपने स्थान पर लाकर उसका पालन किया। एक दिन जब वह कन्या सयानी होगई, उस ऋषि ने उससे कहा कि कहीं से थोड़ी अग्नि ले आ। वह बालिका इस काम के लिए किसी दूसरे ऋषि के स्थान पर गई परन्तु जहाँ जहाँ उसका पैर पड़ा वहाँ वहाँ भूमि में कमल पुष्प का चित्र अंकित हो गया। दूसरा ऋषि इस तमाशे को देखकर हैरान हो गया। उसने उस कन्या से कहा, "मेरी कुटी के चारों ओर तू प्रदक्षिणा कर, तब मैं तुझको अग्नि दूँगा।" वह कन्या उसकी आज्ञा का पालन करके

और अग्नि लेकर अपने स्थान को लौट गई। उसी समय ब्रह्मदत्त राजा शिकार के लिए आया हुआ था। उसने भूमि में कमल के चित्र देख कर इस बात की खोज की कि ये चित्र क्योंकर बन गये। उन चिह्नों को देखता हुआ वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ वह कन्या थी। कन्या की सुन्दरता को देखकर राजा भौंचक होकर मन और प्राण से उस पर मोहित हो गया और येन केन प्रकारेण उसको अपने रथ में बैठा कर चल दिया। ज्योतिषियों ने उसके भाग्य का भविष्य इस प्रकार बतलाया कि इसके एक हज़ार पुत्र उत्पन्न होंगे। राजा तो इस समाचार से बहुत प्रसन्न होगया परन्तु उसकी अन्य रानियाँ उससे जलने लगीं। कुछ दिनों बाद उसके गर्भ से कमल का एक पुष्प उत्पन्न हुआ जिसमें हज़ार पँखुडियाँ थीं, और प्रत्येक पँखुड़ी पर एक बालक बैठा हुआ था। दूसरी रानियों ने इस बात पर उसकी बड़ी निन्दा की और यह कह कर कि "यह अनिष्ट घटना है" उस फूल को गंगा जी में फेंक दिया, वह भी धार के साथ बह गया।

उज्जियन का राजा एक दिन शिकार के लिए जा रहा था। नदी के किनारे पहुँच कर उसने देखा कि एक सन्दूक पीले बादल से लपटा हुआ उसकी ओर बहता चला आ रहा है। राजा ने उसको पकड़ लिया और खोल कर देखा तो उसमें हज़ार लड़के मिले। राजा उनको अपने घर लाया और बड़े चाव से उनका पालन-पोषण करने लगा। थोड़े दिनों में वे सब सयाने होकर बड़े बलवान् हुए। इन लोगों की वीरता के बल से वह अपना राज्य चारों ओर बढ़ाने लगा, तथा अपनी सेना के सहारे उसको इतना बड़ा साहस होगया कि वह इस देश (वैशाली) को भी जीतने के लिए उद्यत होगया।

ब्रह्मदत्त राजा इसको सुनकर बहुत भयभीत हुआ। उसको यह बात अच्छी तरह मालूम थी कि उसकी सेना चढ़ाई करनेवाले राजा का सामना कदापि नहीं कर सकेगी। इस कारण उसको बड़ी चिन्ता होगई कि क्या उपाय करना चाहिए। परन्तु मृग-पद बालिका अपने चित्त में जान गई कि ये लोग उसके पुत्र हैं। उसने जाकर राजा से कहा कि "जवान लड़के सीमा पर आ पहुँचना चाहते हैं परन्तु आपके यहाँ के सब छोटे बड़े लोग साहसहीन हो रहे हैं, यदि आज्ञा होवे तो आपकी दासी कुछ कर दिखावे, वह इन आगन्तुक वीरों को जीत सकती है।" राजा को उसकी बात पर विश्वास न हुआ और उसकी घबड़ाहट ज्यों की त्यों बनी रही। मृग-कन्या वहाँ से चलकर नगर की सीमा पर पहुँची और चहारदीवारी के ऊपर चढ़ कर चढ़ाई करनेवाले वीरों का रास्ता देखने लगी। वे हज़ारों वीर अपनी सेना समेत आगये और नगर को घेरने लगे। उस समय मृग-कन्या ने उनको सम्बोधन करके कहा, "विद्रोही मत बनो! मैं तुम्हारी माता हूँ, और तुम मेरे पुत्र हो।" उन लोगों ने उत्तर दिया, "इस बात का क्या प्रमाण है?" मृग-कन्या ने उसी समय अपने स्तन को दबा कर हज़ार धाराएँ प्रकट कर दीं और वे धाराएँ, उसके दैवी बल से, उन लोगों के मुख में प्रवेश कर गईं।

इस बात को देख कर वे प्रसन्न होगये और युद्ध को बन्द करके अपने कुटुम्बियों और सजातियों में जाकर मिल गये। दोनों राज्यों में प्रेम होगया तथा प्रजा आनन्दित होगई।

इस स्थान के निकट एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ बुद्ध भगवान ने टहल टहल कर भूमि में चिह्न बनाया, और उपदेश देते समय लोगों को सूचित किया कि "प्राचीन

काल में इसी स्थान पर मैं अपनी माता को देख अपने परिवारवालों मे जा मिला था। तुमको मालूम होगा कि वे हज़ार वीर ही इस भद्रकल्प के हज़ार बुद्ध हैं।" बुद्ध भगवान् ने जिस स्थान पर अपना यह 'जातक' वर्णन किया था उसके पूर्व की ओर एक डीह पर एक स्तूप बना हुआ है। इसमें से समय समय पर प्रकाश निकला करता है तथा जो लोग प्रार्थना करते हैं उनकी मनोकामना पूर्ण होती है। उस उपदेश-भवन के भग्नावशेष अब तक वर्तमान हैं जहाँ पर बुद्ध भगवान् ने समन्त मुख धारणी[1] तथा अन्यान्य सूत्रों का प्रकाशन किया था।

इस उपदेश-भवन के पास ही थोड़ी दूर पर एक स्तूप है जिसमें आनन्द का आधा शरीर[2] रक्खा हुआ है।

इसके निकट ही और भी अनेक स्तूप हैं जिनकी ठीक संख्या निश्चित नहीं हो सकी। यहाँ पर एक हज़ार प्रत्येक बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। वैशाली नगर के भीतरी भाग में तथा उसके बाहर चारों ओर इतने अधिक पुनीत स्थान हैं कि उनकी गिनती करना कठिन है। परन्तु अब सबकी हालत खराब है, यहाँ तक कि जंगल भी काट डाले गये और झीलें भी जलहीन हो गईं। किसी वस्तु का ठीक ठीक पता नहीं

[1] यह ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र' का एक भाग है। परन्तु इस ग्रन्थ की प्राचीनता उतनी अधिक नहीं मालूम होती जितना अधिक पुराना बुद्धदेव का समय निश्चित किया जाता है। सैमुअल बील साहब की यही राय है।

[2] आनन्द के शरीर के विभाग का वृत्तान्त फ़ाहियान की पुस्तक अ० २६ में देखो।

लगता; केवल डीह और टीले वर्तमान हैं, जो हज़ारों वर्ष से नष्ट होते होते और प्राकृतिक फेरफार सहते सहते इस दशा को प्राप्त हुए हैं।

मुख्य नगर से पश्चिम-उत्तर की ओर लगभग ५० या ६० ली चलकर हम एक स्तूप के निकट पहुँचे। यह विशाल स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर लिच्छवी लोग बुद्धदेव से अलग हुए थे[1]। तथागत भगवान् जब वैशाली से कुशीनगर को जाते थे, तब लिच्छवी लोग यह सुनकर कि बुद्धदेव अब शरीर त्याग करेंगे रोते और चिल्लाते हुए उनके पीछे उठ दौड़े। बुद्ध भगवान् ने उनके प्रेम को विचार कर, कि शाब्दिक आश्वासन से ये लोग शान्त नहीं होंगे, अपने आध्यात्मिक बल से एक गहरी और बड़ी भारी नदी, जिसके किनारे बहुत ऊँचे थे, मार्ग में प्रकट कर दी। लिच्छवी लोगों को इस तीव्र गामिनी धारा का पार करना कठिन होगया। वे लोग इस आकस्मिक घटना से ठहर तो गये परन्तु उनका दुख और भी अधिक बढ़ गया। इस समय बुद्ध भगवान् ने उनको धीरज बँधाने के लिए स्मारक-स्वरूप अपना पात्र वहीं पर छोड़ दिया।

वैशाली नगर से उत्तर-पश्चिम दो सौ ली या इससे कुछ कम दूरी पर एक प्राचीन नगर है जो आज-कल प्रायः उजाड़ हो रहा है। बहुत थोड़े लोग इसमें निवास करते हैं। इस नगर के भीतर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर किसी अत्यन्त प्राचीन समय में बुद्ध भगवान् निवास करते थे। इसका

[1] इसका भी विशेष वृत्तान्त फ़ाहियान की पुस्तक अध्याय २४ में देखो।

वृत्तान्त जातक बुद्धदेव ने मनुष्यों, देवताओं और बोधिसत्वों को इस प्रकार सुनाया था। उन्होंने कहा था कि 'मैं पूर्वकाल में इस नगर का राजा था। मेरा नाम महादेव था तथा सम्पूर्ण संसार पर मेरा आधिपत्य था। अपनी घटती के चिह्न[1] देखकर और यह विचारकर कि शरीर का कोई ठिकाना नहीं है मुझे वैराग्य होगया, जिस सबब से कि राज्य और सिंहासन का परित्याग करके और संन्यासी होकर मैं तपस्या करने लगा था।'

नगर से दक्षिण-पूर्व १४ या १५ ली चलकर हम एक बड़े स्तूप के निकट पहुँचे। यह वह स्थान है जहाँ पर सात सौ साधुओं और विद्वानों की सभा[2] हुई थी। बुद्ध निर्वाण के ११० वर्ष पश्चात् वैशाली के भिक्षुओं ने शिष्य धर्म के नियमों को तोड़ कर बुद्ध-सिद्धान्तों को बिगाड़ डाला था। उस समय 'यशद आयुष्मत' कौशल देश में, सम्भोग आयुष्मत मथुरा में, रेवत आयुष्मत हान जो (कन्नौज?) में, शाल आयुष्मत वैशाली में और पूजा सुमिर आयुष्मत शालोलीफो (सलीरभ?) देश में, निवास करते थे। ये सब विद्वान् अरहट एक से एक बढ़ कर तीनों विद्याओं के जाननेवाले और तृपिटक के भक्त थे तथा जो कुछ जानना चाहिए उसको आनन्द की शिष्यता में जानकर बहुत प्रसिद्ध हुए थे।

[1] सबसे प्रथम घटती के चिह्न सिर में सफ़ेद बाल दिखाई पड़े थे, जिनको देखकर महादेव ने पुत्र को राज्य देकर वन का रास्ता लिया था।

[2] इस सभा का नाम 'द्वितीय बौद्ध-सभा' है। इसके विशेष वृत्तान्त के लिए देखो 'विनयपिटक' जि० १।

वैशालीवालों की धृष्टता पर खिन्न होकर यशद ने सब विद्वान और महात्माओं को वैशाली में सभा करने के लिए बुला भेजा। सब लोग आकर एकत्रित हो गये परन्तु सात सौ की संख्या पूर्ण होने में फिर भी एक व्यक्ति की कमी रह गई। उसी समय, फुसी सुशीलो (पूजासुमिर) ने अपने अन्तःचक्षु से यह विचार कर कि सब महात्मा लोग सभा में आ चुके हैं और पुनीत धर्म के कार्य का सम्पादन करना चाहते हैं, अपने आध्यात्मिक प्रभाव से सभा में पहुँच कर उस कमी को पूरा कर दिया।

तब सम्भोग आयुष्मत सबको दण्डवत् करके और अपनी दाहिनी छाती खोल कर सभा के बीच में खड़ा होगया। उसने चिल्ला कर कहा, "सब सभासद् चुप हो जायँ और भक्तिपूर्वक मेरी बातों पर विचार करें। हमारे धर्मेश्वर बुद्ध भगवान हम लोगों की सब प्रकार रक्षा करके निर्वाण को प्राप्त हो गये। यद्यपि उस समय से लेकर अब तक अनेक वर्ष और मास व्यतीत हो गये हैं परन्तु तो भी उनके शब्द और उपदेश अब तक जीवित हैं। अब आज-कल वैशाली के भिक्षु लोग उनकी आज्ञा को बिगाड़ रहे हैं और धार्मिक नियमों में भूल कर रहे हैं। सब मिलाकर दस विषय हैं, जिनमें उन लोगों ने बुद्धदेव के वचनों का उल्लङ्घन किया है। हे विद्वान महात्माओ! आप उन भूलों को अच्छी तरह जानते हैं और उस धुरंधर विद्वान् आनन्द की शिक्षा से भी भली भाँति अभिज्ञ हैं। इसलिए हम सबका धर्म है कि बुद्धदेव की भक्ति करते हुए उनके पवित्र आदेशों का फिर से निरूपण करें।"

सम्पूर्ण सभासद् इस बात को सुनकर दुखित हो गये।

उन लोगों ने वैशालीवालों को बुला भेजा और 'विनय' के अनुसार उन पर धर्मोल्लङ्घन का दोष लगा कर और उनके बिगाड़े हुए नियमों को दूर करके पवित्र धर्म के नियमों को नवीन रूप से स्थापित किया।

इस स्थान से ८० या ९० ली दक्षिण दिशा में जाकर हम श्वेतपुर नामक संघाराम में पहुँचे। इसकी दुमञ्ज़िली इमारत पर गोल गोल ऊँचे ऊँचे शिखर आकाश से बातें करते हैं। यहाँ के साधु शान्त और आदरणीय हैं, तथा महायान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। इसके पार्श्व में चारों गत बुद्धों के उठने बैठने आदि के चिह्न बने हुए हैं।

इन चिह्नों के निकट एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ उस स्थान पर है जहाँ पर बुद्धदेव ने दक्षिण दिशा में मगधदेश को जाते हुए, उत्तरमुख खड़े होकर वैशाली नगरी को नज़र भर कर देखा था, और सड़क पर, जहाँ से खड़े होकर उन्होंने देखा था, इस दृश्य के चिह्न हो गये थे।

श्वेतपुर संघाराम के दक्षिण-पूर्व में लगभग ३० ली की दूरी पर गंगा के दोनों किनारों पर एक एक स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर महात्मा आनन्द का शरीर दो राज्यों में विभक्त हुआ था। आनन्द तथागत भगवान् के वंश का था। वह उनके चचा का पुत्र[1] था। वह बहुत योग्य शिष्य, सब सिद्धान्तों का जाननेवाला तथा प्रतिभासम्पन्न सुशिक्षित व्यक्ति था। बुद्ध भगवान् के वियोग होने पर महाकाश्यप का स्थानापन्न और धर्म का रक्षक भी वही बनाया गया था। तथा वही व्यक्ति मनुष्यों का सुधारक और धर्मोपदेशक

[1] आनन्द राजा शुक्लोदन का पुत्र था।

नियत किया गया था। उसका निवास-स्थान मगधदेश के किसी जङ्गल में था। एक दिन इधर-उधर घूमते हुए उसने क्या देखा कि एक श्रमण एक सूत्र का ऊटपटांग पाठ कर रहा है जिससे कि सूत्र के अनेक शब्द और वाक्य अशुद्ध हो गये हैं। आनन्द उस सूत्र को सुनकर दुखी हुआ। वह बड़े प्रेम से उस श्रमण के पास गया, और उसकी भूल दिखा कर उसने उसे बतलाया कि इसका ठीक ठीक पाठ इस प्रकार है। श्रमण ने हँस कर उत्तर दिया, "महाशय ! आप वृद्ध हैं, आपका शब्दोच्चारण अशुद्ध है। मेरा गुरु बड़ा विद्वान् है, उसने वर्षों परिश्रम करके अपनी विद्वत्ता को परिपुष्ट किया है तथा मैंने स्वयं जाकर उससे ठीक ठीक उच्चारण और पाठ सीखा है, इससे मेरे पाठ में भूल नहीं है।" आनन्द वहाँ से चुप होकर चला गया परन्तु उसको बड़ा शोक हुआ। उसने कहा "यद्यपि मेरी बहुत अवस्था हो चुकी है तो भी मनुष्यों की भलाई के लिए मेरी इच्छा थी कि और अधिक दिन संसार में रहकर सत्य-धर्म की रक्षा करूँ और लोगों को धर्माचरण सिखलाऊँ, परन्तु अब मनुष्य पापी हो चले हैं; इनको सिखला कर सन्मार्ग पर लाना कठिन है। इसलिए अब अधिक दिन ठहरना बेफ़ायदा ही होगा।" यह विचार कर वह मगधदेश को परित्याग करके वैशाली नगर की ओर रवाना हुआ। जिस समय वह नाव में बैठ कर गंगा नदी उतर रहा था उसी समय मगधनरेश, यह सुन कर कि आनन्द अब संसार परित्याग करेंगे, बहुत दुखित होकर और झटपट रथ पर सवार होकर सेना-समेत गंगा नदी के दक्षिणी तट पर पहुँच गया और दूसरी तरफ़ से वैशाली-नरेश भी आनन्द का आना सुनकर बड़े शोक के

साथ द्रुतगति से उससे मिलने के लिए उठ दौड़ा। उसकी भी अगणित सेना गंगा के दूसरे किनारे (उत्तरी किनारे) पर पहुँच गई। दोनों सेनाओं का मुक़ाबिला हो गया तथा दोनों ओर से अस्त्र-शस्त्र और ध्वजा-पताका धूप में चमकने लगीं। आनन्द, यह भय खाकर कि दोनों सेनायें लड़ मरेंगी और व्यर्थ को बड़ा भारी संग्राम हो जायगा, अपने शरीर को नाव में से उठा कर अधर में जा पहुँचा, और वहाँ पर अपने अद्भुत चमत्कार को दिखा के निर्वाण को प्राप्त हो गया। लोगों ने देखा कि अधर में लटका हुआ आनन्द का शरीर भस्म हो गया और उसकी हड्डियाँ दो भाग होकर भूमि पर गिर पड़ीं, अर्थात् एक भाग नदी के दक्षिणी किनारे पर और दूसरा भाग उत्तरी किनारे पर। दोनों राजा अपना अपना भाग उठाकर अपनी अपनी सेना के समेत आनन्द के शोक में रोते हुए लौट गये, और अपने अपने स्थान में जाकर उन्होंने ने उन भागों पर स्तूप बनवाये।

यहाँ से ५०० ली के लगभग पूर्वोत्तर दिशा में जाकर हम फोलीशी देश में पहुँचे।

फोलीशी (वृज्जी[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल ४,००० ली है। यह देश पूर्व से पश्चिम तक अधिक फैला हुआ है परन्तु उत्तर से दक्षिण की

[1] यह देश उत्तर-भारत में था, इसको लोग समवृज्जी भी कहते हैं। वृज्जी अथवा समवृज्जी लोगों की सम्मिलित आठ जातियां थीं जिनमें से एक लिच्छवीय भी थे, जिनका वर्णन वैशाली के वृत्तान्त में आया है। ये लोग भारत के उत्तर से आकर बहुत प्राचीन समय में

ओर संकीर्ण है। भूमि उपजाऊ और उत्तम है, तथा फल और फूल बहुत होते हैं। प्रकृति शीतल तथा मनुष्य फुरतीले और मेहनती हैं। अधिकतर लोग भिन्नधर्मावलम्बी हैं, केवल थोड़े से मनुष्य बुद्ध-धर्म पर विश्वास करनेवाले हैं। कोई दस संघाराम हैं जिनमें १,००० से कुछ कम संन्यासी, हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों का अनुसरण करनेवाले रहते हैं। देवताओं के बीसों मन्दिर हैं तथा उनके उपासक भी अगणित हैं। राजधानी का नाम चेनशुन[१] है। यह उजाड़ दशा में है। यद्यपि अब भी इसमें ३,००० के लगभग मकान बने हैं परन्तु इसकी अवस्था एक ग्राम या छोटे कसबे से अधिक नहीं है।

नदी के पूर्वोत्तर एक संघाराम है जिसमें साधु तो थोड़े हैं, परन्तु हैं सब शुद्ध, विद्वान् और सच्चरित्र।

यहाँ से पश्चिम दिशा में नदी के किनारे किनारे चलकर हम एक स्तूप के निकट पहुँचे जो ३० फ़ीट ऊँचा है। इसके दक्षिण की ओर एक गहरी खाई है, बुद्ध भगवान् ने इस स्थान पर कुछ मछुवों को अपना शिष्य बनाया था। प्राचीन काल में ५०० मछुवे यहाँ पर मिल-जुल कर मत्स्य पकड़ रहे थे कि अकस्मात् एक बड़ा भारी मत्स्य उनके जाल में फँस गया जिसके कि अठारह सिर और प्रत्येक सिर में दो नेत्र थे। उन मछुओं ने उस मत्स्य को मार डालना चाहा, परन्तु

यहाँ पर बस गये थे, परन्तु कुछ दिनों के बाद मगध-नरेश अजातशत्रु ने इनको फिर निकाल बाहर किया था।

[१] मारटीन साहब इस शब्द का सम्बन्ध जनक और मिथिला की राजधानी जनकपुर से मानते हैं। (Memoire P. 368)

तथागत भगवान् जो उन दिनों वैशाली में थे, और इस स्थान के सारे दृश्य को अपने अन्तःचक्षु से देख रहे थे, अत्यन्त दयालु होकर और इस अवसर को लोगों की शिक्षा के लिए बहुत उपयुक्त समझ कर तथा मनुष्यों का हृदयान्धकार दूर करने के मिस, अपनी सभा से बोले, "वृज्जी प्रदेश में एक बड़ा भारी मत्स्य है, मैं मछुवों को बुद्धिमान् बनाने के लिए उसकी रक्षा किया चाहता हूँ; इस वास्ते तुम लोगों को भी यह अवसर हाथ से न खोना चाहिए।"

उनकी इस आज्ञा पर सम्पूर्ण सभा अपने आध्यात्मिक बल से बुद्ध भगवान के साथ साथ वायुगामी होकर नदी के तट पर जा पहुँची। बुद्ध भगवान् साधारण रीति से जाकर मछुवों के पास बैठ गये और कहने लगे, "इस मत्स्य को मत मारो, मेरी शक्ति से इस मत्स्य को अपने जन्म-जन्मान्तर का ज्ञान हो जावेगा और यह मनुष्यों की बोली में अपनी सब कथा सुना देगा जिससे संसार को बहुत लाभ होगा।" इसके उपरान्त त्रिकालदर्शी तथागत भगवान ने, उस मत्स्य से पूछा, "अपने पूर्वजन्मों में तूने क्या पातक किया था जिससे तू जन्म-जन्मान्तर में भटकता हुआ इस वर्तमान योनि को प्राप्त हुआ है?" मत्स्य ने उत्तर दिया, "प्राचीन काल में, अपने पुण्य-प्रताप से मेरा जन्म एक पवित्र कुल में हुआ था। उस वंश की प्रतिष्ठा का गर्व करके मैं दूसरे मनुष्यों को अपमानित किया करता था तथा अपनी विद्वत्ता पर भरोसा करके सब पुस्तकों और नियमों को तुच्छ समझते हुए बौद्ध लोगों को बुरे शब्दों में गाली दिया करता था, तथा साधुओं की तुलना गदहे, घोड़े अथवा हाथी आदि पशुओं से करके उनकी हँसी उड़ाया करता था। इन्हीं सबके बदले में मुझको वर्तमान

अधम शरीर प्राप्त हुआ है। परन्तु, धन्यवाद है! अपने पूर्व-जन्मों में मैंने कुछ ऐसे पुण्य कर रक्खे हैं जिनके फल से मेरा जन्म अब ऐसे समय मे हुआ जब बुद्ध भगवान् संसार में वर्तमान हैं। उन्हीं कर्मों के फल से मैं आपका दर्शन और आपकी पुनीत शिक्षा प्राप्त करके, और अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करके सुगति प्राप्त करूँगा।"

तथागत भगवान् ने आवश्यकतानुसार शिक्षा देकर उसको अपना शिष्य बना लिया। बुद्ध भगवान् ने उसको जो कुछ उपदेश दिया उसका यह फल हुआ कि उस मत्स्य का अज्ञान जाता रहा और उसने अपने मत्स्य-शरीर को परित्याग करके स्वर्ग में जन्म पाया। अपने स्वर्गीय शरीर तथा पूर्वापर कर्मों का विचार करके उसके हृदय में बुद्ध भगवान् की बड़ी भक्ति उत्पन्न हो गई। वह सब देव-मण्डली को साथ लेकर बुद्ध भगवान् की पूजा करने के लिए आया। दंडवत् तथा प्रदक्षिणा करके और उत्तमोत्तम पुष्पों की वृष्टि करके वह अपने लोक को फिर वापस गया। इसके उपरान्त बुद्ध भगवान् ने इस घटना पर विचार करने की आज्ञा देकर और उन मल्लुओं को धर्मोपदेश देकर अपना शिष्य बना लिया। उन लोगों ने ज्ञान प्राप्त करके बड़ी भक्ति से बुद्धदेव की पूजा करने के उपरान्त अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करते हुए अपने जालों को छिन्न भिन्न कर डाला तथा नावों को तोड़ ताड़ कर भस्म कर दिया। धर्म की शरण लेने से उनके आचरण भी धार्मिक हो गये, तथा विशुद्ध सिद्धान्तों पर अभ्यास करके वे लोग सांसारिक बंधनों से छूट गये और परम पद के भागी हुए।

इस स्थान के पूर्वोत्तर में लगभग १०० ली जाने पर हम

एक प्राचीन नगर में पहुँचे। जिसके पश्चिम और अशोक राजा का बनवाया हुआ लगभग १०० फीट ऊँचा एक स्तूप है। इस स्थान पर बुद्धदेव ने छः मास तक धर्मोपदेश करके देवताओं को शिष्य किया था। इसके उत्तर में १४० या १५० कदम पर एक छोटा स्तूप है। यहाँ पर बुद्धदेव ने शिष्य लोगों के लिए कुछ नियमों का सङ्कलन किया था। इसके पश्चिम में थोड़ी दूर पर एक स्तूप है जिसमें बुद्धदेव के नख और बाल हैं। प्राचीन काल में बुद्ध भगवान् इस स्थान पर निवास किया करते थे. तथा निकटवर्ती ग्रामों और नगरों के मनुष्य आकर धूप, आरती, तथा फूल पत्ती इत्यादि से उनकी पूजा-अर्चा किया करते थे।

यहाँ से १,४०० या १,५०० ली चल कर और कुछ पहाड़ों को पार करके, तथा एक घाटी में होकर हम निपोलो-प्रदेश में पहुँचे।

निपोलो (नैपाल)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली है तथा इसकी स्थिति हिमालय पहाड़ के अन्तर्गत है। राजधानी का क्षेत्रफल लगभग २० ली है। पहाड़ और घाटियाँ शृंखलाबद्ध मिली हुई चली गई हैं। अन्न आदि तथा फल-फूल भी यहाँ होते हैं। लाल ताँबा, याक और जीवजीव पक्षी भी यहाँ होता है। वाणिज्य-व्यवसाय में ताँबे के सिक्के का प्रचार है। प्रकृति ठंडी और बर्फीली है तथा मनुष्य असत्यवादी और बेईमान हैं। इनका स्वभाव कठोर और भयानक है। ये लोग प्रतिज्ञा अथवा सत्य का कुछ भी विचार नहीं करते। इन लोगों की सूरत निकम्मी और बेढङ्गी होती है। पढ़ने-लिखने का तो प्रचार नहीं है

परन्तु ये लोग चतुर कारीगर अवश्य हैं। विरोधी और बौद्ध मिले-जुले निवास करते हैं तथा इन लोगों के संघाराम और देवमन्दिर पास पास बने हुए हैं। कोई २,००० सन्यासी हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी हैं। विरोधियों तथा अन्यान्य जातियों की संख्या अनिश्चित है। राजा जाति का क्षत्रिय तथा लिच्छवि-वंश का है। इसका अन्तःकरण स्वच्छ तथा आचरण शुद्ध और सात्विक है, और बौद्ध-धर्म से इसको बहुत प्रेम है।

थोड़े दिन हुए तब इस देश में अंशुवर्म्मन[1] नामक एक राजा बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान हो गया है। इसके प्रभाव और विद्या-प्रेम की कीर्ति चारों ओर फैल गई थी तथा इसने स्वयं भी शब्द-विद्या पर एक उत्तम ग्रंथ लिखा था।

राजधानी के दक्षिण-पूर्व एक छोटा सा चश्मा और कुंड है। यदि इसमें अङ्गारा फेंका जावे तो तुरन्त ज्वाला प्रकट हो जाती है। अन्यान्य वस्तुएँ भी, डालने पर, जल कर कोयला हो जाती हैं।

[1] प्रिंसेप साहब ने चीनी पुस्तकों के आधार पर नेपाल-वंश में शिवदेव के बाद ही अंशुवर्म्मन् का नाम लिखा है, जिसका समय वह ४७० ई० निश्चय करते हैं। राइट साहब की सूची में शिवदेव का नाम नहीं है और अंशुवर्मन् का नाम सर्वप्रथम लिखा हुआ है। शिवदेव के एक लेख में अंशुवर्मन् एक वीर सर्दार अथवा सेनापति लिखा हुआ है। सम्भव है अपनी वीरता से वह राजा हो गया हो। दूसरे लेखों में जो संवत ३९ और ४५ के हैं उसको राजा लिखा है। किंवदन्तियों के आधार पर यह पुराने राजा का दामाद और विक्रमादित्य का सहयोगी बताया जाता है, परन्तु हुएन सांग का हवाला देकर

यहाँ से वैशाली देश को लौट कर और दक्षिण दिशा में गंगा पार करके हम मोकइटो प्रदेश में पहुँचे।

सेमुअल बील साहब इसका समय ५८० से ६०० ई० तक निश्चय करते हैं; साथ ही इसके, शिवदेव के लेखवाले संवत् को हर्ष-संवत् मानते हैं। इन संवतों को हर्ष-संवत् मानने से ईसवी सन् ६४४-६५२ होगा, तब तो हुएन सांग के समय में शिवदेव का वर्तमान होना मानना पड़ेगा, क्योंकि हुएन सांग ६२९ ई० में भारतवर्ष में आया था। इस कारण यह विक्रमी संवत् ही है, और यह विक्रमादित्य के समय में था, यही ठीक मालूम होता है। यह भी कहा जाता है कि अंशुवर्मन् ही ने शिवदेव के नाम से राज्य किया था; तथा उसका उत्तराधिकारी जिष्णुगुप्त बताया जाता है, जिसका लेख सं० ४८ का पाया गया है। अंशुवर्मन् की बहिन भोग-देवी सूरसेन को विवाही गई थी और भोग्यवर्मन् और भाग्य-देवी की माता थी।

———

दूसरा भाग।

आठवाँ अध्याय।

(मगधदेश पूर्वार्द्ध)

मगधदेश का क्षेत्रफल लगभग ५,००० ली है। बड़े बड़े नगर विशेष आबाद नहीं हैं, परन्तु क़सबों की आबादी अवश्य घनी है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है, तथा अनाज अच्छा उत्पन्न होता है। यहाँ पर विशेष प्रकार का चावल उत्पन्न होता है जिसका दाना बड़ा सुगन्धित और सुस्वादु होने के अतिरिक्त रङ्ग में भी बड़ा चमकीला होता है। इसका नाम 'महाशालि' तथा 'सुगन्धिका' बताया जाता है। अधिकतर भूमि नीची और तर है इसलिए मनुष्यों के बसने के निमित्त क़सबे आदि ऊँची भूमि पर बनाये गये हैं। ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास के उपरान्त सम्पूर्ण देश में पानी भर जाता है, जो शरद ऋतु के द्वितीय मास तक भरा रहता है। इन दिनों लोगों का आवागमन केवल नौका-द्वारा होता है। मनुष्यों का आचरण शुद्ध और सात्विक है। यहाँ गरमी ख़ूब पड़ती है। यहाँ के लोग विद्योपार्जन में बहुत दत्तचित्त रहते हैं तथा बौद्ध-धर्म के विशेष भक्त हैं। कोई ५० संघाराम १०,००० साधुओं सहित हैं जिनमें अधिकतर लोग महायान-सम्प्रदायी हैं। अनेक प्रकार के विरुद्धमतावलम्बियों के

कोई दस देव-मन्दिर हैं। इन लोगों की संख्या अत्यन्त अधिक है।

गङ्गा नदी के दक्षिण में एक प्राचीन नगर लगभग ७० ली के घेरे में है। यद्यपि यह बहुत दिनों से उजाड़ हो रहा है परन्तु मकानात अब भी अच्छे अच्छे बने हुए हैं। प्राचीन काल में जब मनुष्यों की आयु बहुत अधिक होती थी इस नगर का नाम कुसुमपुर था। क्योंकि राजमहल में फूलों की विशेष अधिकता थी। पीछे से जब मनुष्यों की आयु हज़ारों वर्ष ही की रह गई तब इसका नाम बदल कर पाटलिपुत्र हो गया[1]।

आदि काल में यहाँ पर एक ब्राह्मण बड़ा बुद्धिमान और अद्वितीय विद्वान् रहता था। हज़ारों आदमी उससे शिक्षा ग्रहण करने आते थे। एक दिन सब विद्यार्थी मैदान में सैर और आनन्द कर रहे थे कि उनमें से एक कुछ मलीन और खिन्नचित्त हो गया। उसके साथियों ने उससे पूछा, "मित्र तुमको क्या रंज है जो अनमने हो रहे हो?" उसने उत्तर दिया, "मैं पूर्ण युवावस्था को पहुँच गया तथा बलवान् भी हो गया, परन्तु तो भी मैं इधर-उधर शून्य छाया के समान फिरा करता हूँ। कितने महीने और साल व्यतीत होगये,

[1] हुएन सांग इस नगर की स्थिति बहुत प्राचीन मानता है और इस बात में दिओदोरोस (Deodoros) से सहमत है, जो इस नगर को हरकलस (Herakles) का बसाया हुआ मानता है। बौद्धों की पुस्तकों में यह केवल ग्राम लिखा हुआ है; अर्थात् पाटली ग्राम को, बुद्धदेव के समकालीन अजातशत्रु ने, वृजी लोगों की वृद्धि को स्थगित करने के लिए, विशेषरूप से परिवर्द्धित किया था।

परन्तु मेरा जो धर्म था वह पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ। इन्हीं बातों को विचार कर मैं दुखी हो रहा हूँ।"

इस बात को सुनकर उसके साथियों ने खिलवाड़ सा करते हुए उससे कहा, "तब तो हम तुम्हारे लिए अवश्य एक भार्या और उसके सम्बन्धी तलाश करेंगे।" इसके उपरान्त उन्होंने दो मनुष्यों को वर का माता-पिता और दो को कन्या का माता-पिता बनाया, तथा वे लोग पाटली-वृक्ष के नीचे बैठे थे इस कारण उस वृक्ष को उन्होंने दामाद का वृक्ष बताया[1]। तत्पश्चात् उन्होंने कुछ फल और शुद्ध जल लेकर विवाह-सम्बन्धी अन्यान्य रीतियों को करके विवाह की लग्न को नियत किया। उस नियत समय पर कल्पित कन्या के कल्पित पिता ने फूलों समेत वृक्ष की एक डाली लाकर विद्यार्थी के हाथ में दे दी और कहा, "यही तुम्हारी अर्द्धाङ्गिनी है; इसको प्रसन्नता से अङ्गीकार करो।" विद्यार्थी का चित्त उसको पाकर आह्लादित हो गया। सूर्यास्त के समय सब विद्यार्थी अपने स्थान को लौटने के लिए उद्यत हुए परन्तु उस युवा विद्यार्थी ने प्रेम-पाश में बँधकर उसी स्थान पर रहना निश्चित किया।

सब लोगों ने उससे कहा, "अजी यह सब दिल्लगी थी: उठो, हमारे साथ चलो, यहाँ जङ्गल में रहने से हमको भय है कि जङ्गली जन्तु तुमको मार डालेंगे।" परन्तु विद्यार्थी ने

[1] अर्थात् उन्होंने वृक्ष को विद्यार्थी का श्वसुर निश्चय किया, जिसका तात्पर्य यह है कि उसका विवाह वृक्ष की कन्या-पाटलीपुष्प से होनेवाला था।

जाना पसन्द नहीं किया। वह वहीं वृक्ष के नीचे ऊपर तथा इधर-उधर फिरने लगा।

सूर्य्यास्त होने पर एक अद्भुत प्रकाश उस मैदान में फैल गया तथा वीणा और बाँसुरी के स्वर में मिले हुए गाने का मधुर शब्द सुनाई पड़ने लगा, और भूमि पर बहुमूल्य फ़र्श बिछ गया। तदनन्तर अकस्मात् एक वृद्ध पुरुष जिसका स्वरूप बड़ा सुन्दर था लाठी टेकता हुआ आता दिखाई पड़ा तथा एक वृद्धा भी एक कुमारी को साथ लिये हुए उसके साथ थी।

इनके आगे आगे बाजे गाजे सहित उत्तम उत्तम वस्त्र आभूषण धारण किये बड़े ठाठ बाट से जनसमूह चला आ रहा था। निकट पहुँच कर बुड्ढे ने कुमारी को दिखाकर विद्यार्थी से कहा, "यही तुम्हारी प्यारी स्त्री है।" सात दिन उस युवा विद्यार्थी को उस स्थान पर गाने बजाने और आनन्द मनाने में बीत गये, जब उसके साथी विद्यार्थी, इस बात का सन्देह करके कि कदाचित् उसको जङ्गली पशुओं ने मार डाला होगा, उसकी अवस्था देखने के लिए उस स्थान पर आये तो उन्होंने क्या देखा कि उसके चहरे से प्रसन्नता की आभा निकल रही है और वह वृक्ष की छाया में अकेला बैठा हुआ है। उन लोगों ने उससे लौट चलने के लिए फिर भी बहुत कुछ कहा परन्तु उसने नम्रता के साथ इनकार कर दिया।

कुछ दिनों बाद एक दिन वह स्वयं ही अपनी इच्छा से नगर में आया। अपने सम्बन्धियों से भेंट मुलाकात और प्रणाम आशीर्वाद करने के पश्चात् उसने अपनी सब कथा आदि से अन्त तक उन्हें सुनाई। इस वृत्तान्त को सुनकर

वे सब लोग बड़े आश्चर्य से उसके साथ जङ्गल में गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वह फूलवाला वृक्ष एक सुन्दर मकान बन गया है और सब प्रकार के नौकर चाकर इधर से उधर अपने अपने काम में लगे घूम रहे हैं। वृद्ध पुरुष ने उनके निकट आकर बड़ी नम्रता के साथ उनसे भेंट की तथा गाने-बजाने के समारोह के सहित उनके खान-पान का प्रबंध और उनका आदर-सत्कार किया। इसके उपरान्त विदा होकर वे लोग नगर को लौट आये और जो कुछ उन्होंने देखा अथवा पाया था उसका समाचार चारों ओर प्रकट किया।

साल समाप्त होने पर स्त्री के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय उस विद्यार्थी ने अपनी पत्नी से कहा, "मेरा विचार अब लौट जाने का है, परन्तु तुम्हारा वियोग मुझसे सहन नहीं हो सकेगा, और यदि यहाँ रहता हूँ तो हवा और धूप तथा सरदी-गरमी का दुख इस मैदान में बहुत कष्ट देगा।"

स्त्री ने यह सुनकर सब समाचार अपने पिता से जाकर कहा। वृद्ध पुरुष ने युवा विद्यार्थी को बुलाकर पूछा, "जब आनन्द और सुख के साथ तुम रह सकते हो, तब क्या कारण है जो तुम चले जाना चाहते हो! मैं तुम्हारे लिए एक मकान बनवाये देता हूँ, तब तो जङ्गल का कुछ विचार और कष्ट न रहेगा?" यह कहकर उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी और दिन भी समाप्त नहीं होने पाया था कि मकान बनकर तैयार होगया।

जब प्राचीन राजधानी कुसुमपुर बदली जाने लगी[1] तब

[1] इससे प्रतीत होता है कि कुसुमपुर उसी स्थान पर नहीं था जहाँ पर पाटलिपुत्र था। राजगृही अजातशत्रु की राजधानी थी

यही स्थान नवीन राजधानी के लिए पसन्द किया गया। यहाँ पर पहले से ही सुन्दर मकान उस युवा के नाम से बना हुआ था, इस कारण इसका नाम पाटलिपुत्रपुर (अर्थात् पाटली-वृक्ष के पुत्र का नगर) हो गया।

प्राचीन राजभवन के उत्तर में एक पाषाण-स्तम्भ बीसियों फ़ीट ऊँचा है। यह वह स्थान है जहाँ पर अशोक राजा ने एक नरक बनवाया था। तथागत के निर्वाण प्राप्त करने के सौवें वर्ष यहाँ पर एक अशोक[1] नामक राजा हो गया है, जो बिम्बसार राजा का प्रपौत्र था। इसने अपनी राजधानी राजगृही को बदल कर पाटली बनाई थी, और प्राचीन नगर के चारों ओर रक्षा के लिए बाहरी दीवार बनवाई थी।

जिसने पाटलिपुत्र को प्रभावशाली बनाया था। दूसरे स्थान पर यह लिखा हुआ है कि अशोक ने राजगृही को परिवर्तन करके पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया था। यह राजा बिम्बसार का प्रपौत्र बतलाया जाता है इस कारण अजातशत्रु का पौत्र होता है। वायुपुराण में लिखा है कि कुसुमपुर या पाटलिपुत्र अजातशत्रु के पौत्र उदयाश्व का बसाया हुआ है, परन्तु महावंश-ग्रंथ में उदय अजातशत्रु का पुत्र लिखा हुआ है।

[1] हुएन सांग इस स्थान पर अशोक के लिए अर्थवाचक शब्द 'ओशुकिया' लिखता है, जिस पर डाक्टर ओल्डेन वर्ग बहुत वाद विवाद से निश्चय करते हैं कि यह धर्माशोक नहीं है, बरञ्च काला शोक है (देखो विनयपिट्टक जि० १ भूमिका पृ० ३२)। परन्तु मूल पुस्तक में एक नोट है जिससे मालूम होता है कि चीनी शब्द 'ऊयाव' का संस्कृत स्वरूप 'ओशुकियो' होता है। इस प्रथम शब्द का अर्थ है शोकरहित अर्थात अशोक।

इसकी नींव, यद्यपि तब से अनेक वंश समाप्त होगये, अब भी वर्तमान है। संघाराम, देवमन्दिर और स्तूप जो खँडहर होकर धराशायी होगये हैं उनकी संख्या सैकड़ों है। केवल दो या तीन कुछ अच्छी दशा में वर्तमान हैं। प्राचीन राजभवन[1] के उत्तर में गंगा के किनारे एक छोटा क़सबा है जिसमें लगभग १,००० घर हैं।

राजा अशोक जब सिंहासनारूढ़ हुआ था तब बहुत निर्दयता से शासन करता था। प्राणियों को दुख देने के लिए उसने एक नरकस्थान भी बनवाया था, जिसके चारों ओर ऊँची दीवारें और विशाल बुर्ज़ थे। इसके भीतर धातु गलानेवाली बड़ी बड़ी भट्ठियाँ बनी थीं; और पैनी धारवाले हँसुवे आदि सब प्रकार के वेदना-दायक शस्त्र, जिनका होना नरक में बताया जाता है, रक्खे थे। उसने एक बड़े निर्दय पुरुष को उस नरक का अध्यक्ष नियत किया था। पहले-पहल वही लोग इस स्थान पर दण्ड देने के लिए लाये जाते थे जो राज्य भर में किसी प्रकार का अपराध करते थे; परन्तु पीछे से तो यह ढंग होगया कि जो कोई उस स्थान के निकट होकर निकल गया वही पकड़ कर मार डाला गया! जो कोई इस स्थान पर आगया कभी जीता जागता लौट कर न गया!!

किसी समय एक श्रमण, जो थोड़े ही दिनों से धर्माचरण में प्रवृत्त हुआ था, भिक्षा माँगने के लिए नगर को जा रहा था। वह इस स्थान के निकट होकर निकला और पकड़ कर नरक में पहुँचाया गया। अध्यक्ष ने उसके वध किये जाने का हुक्म

[1] इससे तात्पर्य कदाचित् कुसुमपुर 'पुष्पभवन' से है, अथवा प्राचीन नगर पाटलिपुत्र के राजभवन से।

दिया। श्रमण ने, भयभीत होकर, अपनी पूजा और पाठ के लिए थोड़े से समय की प्रार्थना की। साथ ही इसके, उसी क्षण उसने यह भी देखा कि एक आदमी जंज़ीरों से बाँधकर लाया गया और तुरन्त हाथ पैर काट कर चूने से भरे हुए एक कुंड में पटक दिया गया। उस कुंड में उसका शरीर इतना अधिक कुचला और पीसा गया कि उसका सर्वाङ्ग चुरमुर होकर उसी गारे में मिल गया।

श्रमण को यह देखकर बड़ा शोक हुआ। उसको पूर्ण विश्वास होगया कि संसार की सब वस्तुएँ अनित्य हैं। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसकी दशा बदल गई और वह अरहट के पद को प्राप्त हो गया। नरकाधीश ने उससे कहा, "अब तुम्हारी बारी है।" श्रमण अरहट हो चुका था, जन्म-मरण की शक्ति उसको बंधन में नहीं डाल सकती थी। इस कारण, यद्यपि वह खौलते हुए कढ़ाह में डाला गया, परन्तु वह उसके लिए तड़ाग-जल के समान शीतल होगया। लोगों ने देखा कि कढ़ाह के ऊपर एक कमल का फूल खिला हुआ है और जिसके ऊपर वह अरहट बैठा है। नरकाधीश इस तमाशे को देखकर घबड़ा गया। उसने झटपट एक आदमी को राजा के पास यह समाचार कहने के लिए दौड़ाया। राजा स्वयं दौड़ आया और इस दृश्य को देखकर बड़ी प्रार्थना के साथ अरहट की प्रशंसा करने लगा।

अध्यक्ष ने राजा से कहा, "महाराज, आपको भी मरना चाहिए।" राजा ने पूछा, "क्यों?" उसने उत्तर दिया, 'महाराज ने आज्ञा दी थी कि जो कोई इस नरक के भीतर आजाय वह मारा जाय, उसमें यह शर्त नहीं थी कि यदि राजा जाय तो छोड़ दिया जाय।

राजा ने उत्तर दिया, "बेशक यह आज्ञा थी, और बदली नहीं जानी चाहिए, परन्तु जब यह नियम बनाया गया था तब तुम क्या इस नियम से अबाध्य रक्खे गये थे? तुमने बहुत दिनों तक घातपना किया है, आज मैं इसको समाप्त किये देता हूँ।" यह कह कर उसने अपने सेवकों को हुक्म दिया; उन्होंने पकड़ कर उसको कढ़ाह में डाल दिया। उसके मरने पर राजा वहाँ से चला गया। उस नरक की दीवारें खोद डाली गईं कुंड पाट दिये गये और उस भयानक दण्ड-विधान का उस दिन से अन्त हो गया।

इस नरक के दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक स्तूप है। इसका अधोभाग भूमि में धँस गया है और यह कुछ टेढ़ा भी हो गया है, जिससे निश्चय है कि यह शीघ्रही खँडहर हो जायगा। परन्तु अभी तक शिखर ज्यों का त्यों बना हुआ है। यह (स्तूप) नक़्क़ाशी किये हुए पत्थर से बनाया गया है और इसके चारों ओर कठघरा लगा हुआ है। यह ८४,००० स्तूपों में से पहला स्तूप है जिसको अशोक राजा ने अपने पुण्य-प्रभाव से अपने राजभवन के मध्य में बनवाया था। इसमें एक चिङ्ग (यह एक माप है) तथागत भगवान का शरीरावशेष रक्खा है। अद्भुत दृश्य इस स्थान पर बहुधा प्रदर्शित होते रहते हैं और दैवी प्रकाश समय समय पर फूट निकलता है।

राजा अशोक, नरक का नाश करके, उपगुप्त-नामक एक महात्मा अरहट की शरण हुआ जिसने समुचित रीति से, तथा जिस तरह पर उसको विश्वास करा सका उस तरह पर, उपदेश करके धर्म का ठीक मार्ग बतला दिया, और उसे अपना शिष्य कर लिया। राजा ने अरहट से प्रतिज्ञा की, "मेरे पूर्व जन्म के पुण्यों को धन्यवाद है जिनके प्रभाव से

मुझको राजासत्ता प्राप्त हुई है, परन्तु मेरे पातकों ने मुझको बुद्ध के दर्शन करके शिष्य होने से वंचित रक्खा इसलिए अब मेरी आन्तरिक इच्छा यही है कि मैं उनके पवित्र शरीरावशेष की उच्चतम प्रतिष्ठा करने के लिए स्तूपों को बनवाऊँ।"

अरहट ने कहा, "मेरी भी यही इच्छा है कि महाराज ने जो संकल्प रत्नत्रयी की रक्षा का किया है उसके पूरा करने में आपकी अन्तरात्मा सदा लगी रहे और आपका पुण्य इस कार्य में सहायक हो।" इसके उपरान्त उसने, यही ठीक समय जानकर बुद्ध भगवान् की भविष्यद्वाणी की कथा उसे सुनाई जिसको सुनकर राजा को पृथ्वी भर में स्तूप बनाकर पूजा करने की कामना होगई। तब राजा ने अपने उन सब देवों को बुलाया जिनको उसने पहले ही से अपने अधीन कर रक्खा था और उनको आज्ञा दी, "धर्मेश्वर (बुद्धदेव) भगवान् की रक्षणशक्ति, आध्यात्मिक गुण तथा विशुद्ध इच्छानुसार, और अपने पूर्व जन्मों के पुण्य-प्रभाव से मैं अद्वितीय प्रभुता-शाली कार्य सम्पादन करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि बुद्ध भगवान के पवित्र शरीरावशेषों की उपासना को सुलभ करने के लिए विशेष ध्यान दूँ। इसलिए तुम सब देव लोग अपने सम्मिलित शक्ति से इस कार्य में सहमत होकर, सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में आदि से अन्त तक बुद्ध भगवान् के शरीराव-शेष के लिए स्तूपों का निर्माण करो। इस कार्य में उद्देश्य का पुण्य मेरा है, और सम्पादन का पुण्य तुम लोगों का होगा। इस परमोत्तम धार्मिक कृत्य से जो कुछ लाभ होगा वह मैं नहीं चाहता कि केवल एक मनुष्य के ही हिस्से में रहे, इस कारण तुम सब जाकर एक एक स्तूप बनाकर ठीक करो,

उसके पश्चात् जो कुछ करना होगा वह फिर बतलाया जावेगा।"

इस आज्ञा को पाकर वे सब देव लोग स्थान स्थान पर जाकर बड़ी चतुरता से स्तूप बनाने लगे। काम के समाप्त हो जाने पर वे लोग राजा के पास लौट आये और प्रार्थी हुए कि अब क्या आज्ञा है। अशोक राजा ने आठों देशों के स्तूपों को, जहाँ जहाँ वे बने हुए थे, खोल कर शरीरावशेष का विभाजन कर लिया और उनको देवों के हवाले करके अरहट[1] से निवेदन किया कि "मेरी इच्छा है कि शरीरावशेष सब स्थानों में एक ही समय मे रक्खा जावे। यद्यपि इसके लिए मैं अत्यन्त उत्कंठित हूँ परन्तु कर सकने की कोई तदबीर समझ में नहीं आती।"

अरहट ने राजा को उत्तर दिया, "देवों से कह दो कि अपने अपने नियत स्थान पर चले जावें और सूर्य पर लक्ष रक्खें। जिस समय सूर्य प्रकाशहीन होने लगे और ऐसी दशा को प्राप्त हो जावे मानों हाथ से ढक लिया गया हो बस वही समय स्तूपों में शरीरावशेष रखने का है।" राजा ने इस आदेश को पाकर सब देवों को समझा दिया कि नियत समय की प्रतीक्षा करें।

राजा अशोक सूर्यमंडल को देखकर निश्चित संकेत की प्रतीक्षा करने लगा। इधर अरहट ने मध्याह्न काल में अपने आध्यात्मिक प्रभाव से अपने हाथ को फैला कर सूर्य को ढक दिया। उसी समय देवों ने सब स्थानों में शरीरावशेष को रखकर अपने पुनीत कार्य को पूर्ण किया।

[1] उपगुप्त।

स्तूप के पास थोड़ी दूर पर एक विहार है जिसमें एक पत्थर रक्खा हुआ है। इस पर तथागत भगवान् चले थे। इसके ऊपर अब भी उनके दोनों पैरों के चिह्न बने हुए हैं। ये चरण-चिह्न अठारह इंच लम्बे और छः इंच चौड़े हैं। दाहिने और बाँए दोनों पैरों मे चक्र की छाप है और दसों उँगलियों में मछली और किनारे पर फूल बने हुए हैं। प्राचीन काल में तथागत भगवान् निर्वाण प्राप्त करने के लिए उत्तर दिशा में कुशीनगर को जा रहे थे। उस समय इस पत्थर पर दक्षिण-मुख खड़े होकर और मगध को अवलोकन करके उन्होंने आनन्द से कहा "यह अन्तिम समय है कि निर्वाणप्राप्ति के सन्निकट पहुँच कर और मगध को देखकर मैं अपना चरण-चिह्न इस पत्थर पर छोड़ता हूँ। अब से सौ साल पश्चात् एक अशोक नामक राजा होगा जो इस स्थान पर अपनी राजधानी बनाकर निवास करेगा। वह रत्नत्रयी का रक्षक और देवों का अधिपति होगा।"

राज्यासन पर सुशोभित होकर अशोक ने अपनी राज-धानी इस स्थान पर बसाई और उस छापवाले पत्थर को एक सुन्दर भवन में स्थापित किया। राजभवन के सन्निकट होने के कारण राजा इस पत्थर की बहुधा पूजा किया करता था। उसके पश्चात् निकटवर्ती अनेक राजाओं ने इस पत्थर को अपने देश में उठा ले जाने का प्रयत्न किया, और यद्यपि पत्थर भारी नहीं है परन्तु तो भी वे लोग इसको तिलमात्र भी न हटा सके।

थोड़े दिन हुए शशाङ्क राजा जो बौद्ध-धर्म का सत्यानाश कर रहा था इसी अभिप्राय से इस स्थान पर भी आया। उसकी इच्छा पत्थर पर के पदचिह्न मिटा देने की थी।

उसने इसको टुकड़े टुकड़े कर डाला, परन्तु उसी क्षण यह फिर ज्यों का त्यों हो गया और इस पर की छाप भी ज्यों की त्यों बन गई। तब उसने इसको गङ्गा-नदी में फेंक दिया, परन्तु यह फिर अपने पुराने स्थान पर लौट आया।

पत्थर के निकट ही एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर गत चारों बुद्धों के चलने, फिरने, बैठने आदि के चिह्न बने हुए हैं।

छापवाले विहार के पास थोड़ी दूर पर, लगभग ३० फ़ीट ऊँचा एक बड़ा पाषाण-स्तम्भ है जिस पर कुछ बिगड़ा हुआ लेख है। उसका मुख्य आशय यह है, "अशोक राजा ने धर्म पर दृढ़ विश्वास करके तीन बार जम्बूद्वीप को, बुद्ध, धर्म और संघ की धार्मिक भेंट में अर्पण कर दिया, और तीनों बार उसने धन-रत्न देकर उसे बदल लिया, और यह लेख उसी की स्मृति में लगवा दिया।" यही उस लेख का अभिप्राय है।

प्राचीन राजभवन के उत्तर में पत्थर से बना हुआ एक बड़ा मकान है। बाहर से यह मकान पहाड़ के समान दिखाई पड़ता है और भीतर से पचीसों फ़ीट चौड़ा है। इस मकान को अशोक राजा ने देवों को आज्ञा देकर अपने भाई के लिए, जो कि संन्यासी हो गया था, बनवाया था। अशोक के प्रारम्भिक काल में उसका एक विमातृज भाई था जिसका नाम महेन्द्र[1] था और जिसकी माता एक कुलीन घराने में से थी। इसका ठाठ-बाट राजा से भी बढ़ा-चढ़ा रहता था, तथा

[1] महेन्द्र कदाचित् अशोक का पुत्र भी कहा जाता है। सिंहालियों के इतिहास से विदित होता है कि धर्म्म-प्रचार करने के लिए

यह बड़ा निर्दय, उद्दण्ड और विषयी था। यहाँ तक कि सब लोग इससे कुपित रहा करते थे। एक दिन मंत्री और पुराने पुराने कर्मचारी सर्दार राजा के पास आये और यह निवेदन किया, "आपका घमण्डी भाई बड़ा अत्याचार करता है। मानो वही सब कुछ है और दूसरे लोग उसके सामने कुछ वस्तु हैं ही नहीं। जो शासक निष्पक्ष है तो देश में शान्ति है, और जो प्रजा सन्तुष्ट है तो राजा को भी चैन है; यही सिद्धान्त हम लोगों के यहाँ वंशपरम्परा से चला आता है। हम लोगों की प्रार्थना है कि आप भी हमारे देश के इस नियम को स्थिर रक्खेंगे और जो लोग इसके पलटने की चेष्टा करेंगे उनके साथ न्याय से पेश आवेंगे।" तब अशोक ने रोकर अपने भाई से कहा, "मुझको शासन-भार इस वास्ते मिला है कि मैं प्रजा की रक्षा और उसका पालन करूँ। हे मेरे प्यारे भाई! तुमने मेरे इस प्रेम और दया के नियम को क्यों भुला दिया है? अभी मेरे शासन का श्रीगणेशही हुआ है, ऐसे समय में न्याय के मामले में ढील करना नितान्त असम्भव है। यदि मैं तुमको दंड देता हूँ तो मुझे अपने बड़े लोगों के रुष्ट हो जाने का भय है, और इसके विपरीत यदि मैं तुमको क्षमा करता हूँ, तो प्रजा के असन्तुष्ट होने का भय है।"

महेन्द्र ने सिर झुका कर उत्तर दिया, "मैंने अपने आचरण की ओर ध्यान नहीं दिया और देश के नियमों (क़ानून) का उल्लंघन किया है। मैं अवश्य अपराधी हूँ परन्तु मैं केवल सात दिन के लिए और जीवन-दान माँगता हूँ।"

सबसे पहले वही लङ्का को गया था, (देखो महावंश) परन्तु डाक्टर ओल्डन वर्ग इस वृत्तान्त को सत्य नहीं मानते।

राजा ने इसको स्वीकार कर लिया और उसको एक अन्धकार-पूर्ण कारागार में बन्द करके उसके ऊपर कठिन पहरा बिठा दिया। उसने उसके लिए सब प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ और उत्तम भोजन आदि का प्रबन्ध कर दिया। प्रथम दिन के समाप्त होने पर पहरेवालों ने उसको सूचित किया, "एक दिन बीत गया, अब केवल छः दिन शेष रहे हैं।" अपने अपराधों पर शोक करते और अपने तन मन को दुखी करते हुए छठा दिन समाप्त हुआ, उसी समय उसको धर्म का पुनीत फल प्राप्त हो गया। (अर्थात् वह अरहट-अवस्था को प्राप्त हो गया)। धार्मिक शक्ति प्राप्त करके वह आकाश में पहुँचा और वहाँ पर अपने अद्भुत चमत्कार को प्रकट करता हुआ, सांसारिक बंधनों से अलग होकर बहुत दूर चला गया और पहाड़ों तथा घाटियों में जाकर रहने लगा।

अशोक राजा स्वयं चलकर उसके पास गया और कहा, "हे मेरे भाई! देश के क़ानून को प्रबल बनाये रखने की इच्छा से प्रथम मैं तुमको दंडित करना चाहता था। परन्तु मेरा विचार है कि बिना ही दंड के, अथवा किंचित्-मात्र दंड ही से, तुम इतने बड़े पवित्र और उच्च पद को पहुँच गये। इस दशा को पहुँच कर और संसार से नाता तोड़ कर भी तुम अपने देश में लौट कर चल सकते हो।"

भाई ने उत्तर दिया, "पहले मैं सांसारिक प्रेमपाश में बँधा हुआ था, मेरा मन सुन्दरता और स्वर (गाना) पर मुग्ध था, परन्तु अब मैं इन सबसे अलग हो गया हूँ, मेरा मन पहाड़ों और घाटियों में बहुत सुखी रहता है। मैं संसार को छोड़ देने में और एकान्त-वास करने ही में प्रसन्न हूँ।

राजा ने उत्तर दिया, "यदि तुम अपने चित्त को एकान्त-वास करके ही निस्तब्ध बनाया चाहते हो, तो कोई आवश्यकता नहीं कि पहाड़ी गुफाओं में ही निवास करो। तुम्हारी इच्छानुसार मैं एक मकान बनवाये देता हूँ।"

यह कह कर उसने अपने सब देवों को बुलाया और उनसे कहा, "कल मैं एक बहुत बढ़िया भोज देना चाहता हूँ। मैं तुमको भी न्योता देता हूँ कि तुम सब लोग आओ और अपने साथ अपने बैठने के लिए एक एक बड़ा पत्थर लेते आओ।" देव लोग इस आज्ञा के अनुसार नियत समय पर भोज में पहुँचे। राजा ने उन लोगों से कहा, "यह जो पत्थर श्रेणीबद्ध भूमि पर पड़े हुए हैं इनको तुम बिना प्रयास ही ढेर के समान एक पर एक लगाकर मेरे लिए मकान बना सकते हो।" देव लोगों ने यह आज्ञा पाकर दिन समाप्त होने से पहले ही मकान बना डाला। तब अशोक इस पथरीली कोठरी में निवास करने के लिए अपने भाई को बुलाने के लिए स्वयं चल कर गया।

प्राचीन राजभवन के उत्तर में और नरक के दक्षिण में एक बड़ी भारी पत्थर की नाँद है। अशोक राजा ने यह नाँद अपने देवों को लगा कर बनवाई थी। साधु-लोग जब भोजन करने के लिए निमंत्रित किये जाते थे तब यह नाँद भोजन के काम आती थी।

प्राचीन राजभवन के दक्षिण-पश्चिम में एक छोटा पहाड़ है। इसकी घाटियों और चट्टानों में पचासों गुफायें हैं, जिनको अशोक ने उपगुप्त तथा अन्यान्य अरहटों के लिए देवों के द्वारा बनवाया था।

इसके पास ही एक पुराना बुर्ज़ है जो खँडहर होकर

पत्थरों के ढेरों का टीला बन गया है। एक तड़ाग भी है जिसका स्वच्छ जल काँच के समान लहरों के साथ चमक उठता है। सब स्थान के लोग इस जल को पवित्र मानते हैं। यदि कोई इसमें का जल पान करे, अथवा इसमें स्नान करे, तो उसके पातकों का कलुष बह जाता है, नष्ट हो जाता है।

पहाड़ के दक्षिण-पश्चिम में पाँच स्तूपों का एक समूह है। इनकी बनावट बहुत ऊँची है। आजकल ये खँडहर हो रहे हैं, पर तो भी जो कुछ अवशेष है वह खासा ऊँचा है। दूर से ये छोटी पहाड़ियों के समान दिखाई पड़ते हैं। हर एक के अग्र भाग में थोड़ा मैदान है। उन प्राचीन स्तूपों के ढेर हो जाने पर लोगों ने उनके ऊपर छोटे छोटे स्तूप बना दिये हैं। भारतीय इतिहास से विदित होता है कि प्राचीन काल में, जब अशोक ने ८४,००० स्तूप बनवा डाले तब भी पाँच भाग शरीरावशेष बच रहा। तब अशोक ने पाँच विशाल बृहदाकार स्तूप और बनवाये जो अपनी अलौकिक शक्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध हुए, अर्थात् ये स्तूप तथागत भगवान् के शरीरसम्बन्धी पाँचों आध्यात्मिक शक्तियों[1] को प्रदर्शित करनेवाले हैं। अपूर्ण विश्वासवाले कुछ शिष्य यहाँ की कथा इस प्रकार सुनाते हैं:—'प्राचीन काल में नन्द राजा ने इन पाँचों (स्तूपों) को द्रव्य-कोष के मतलब के लिए

[1] 'तथागत भगवान् का धर्म-शरीर पांच भागों में विभक्त है,' इस वाक्य से उनके पंच स्कंधों का भी विचार हो सकता है जो रूप-स्कंध, वेदना-स्कंध, संज्ञान-स्कंध, संस्कार-स्कंध और विज्ञान-स्कंध है

निर्माण कराया था[1]। इस गप को सुनकर कुछ दिनों बाद 'एक विरोधी राजा, लोभपाश में फँसा, सेना लेकर इस स्थान पर आ चढ़ा। जैसे ही उसने इस स्थान के खोदने में हाथ लगाया वैसे ही भूमि हिल उठी, पहाड़ टेढ़े होगये और मेघों ने सूर्य को घेर कर आच्छादित कर लिया; इसके साथही स्तूपों में से भी एक घोर गर्जना की आवाज़ हुई जिससे कुछ सेना और दूसरे साथी मूर्छित होकर गिर पड़े और घोड़े हाथी भयभीत होकर भाग खड़े हुए। राजा का सारा लालच पल भर में जाता रहा और वह भी भयातुर होकर पलायन कर गया।' यह वृत्तान्त लिखा भी है। इस स्थान के पुजारियों की गप में चाहे कुछ सन्देह किया जा सके परन्तु प्राचीन इतिहास के अनुसार होने के कारण हम इसको सच्चा मानते हैं।

प्राचीन नगर के दक्षिण-पूर्व में एक संघाराम कुक्कुटाराम[2]

[1] यह नन्द महानन्द का बेटा था और महापद्म कहलाता था। यह बड़ा लालची था और शूद्र-जातीय स्त्री के गर्भ से उत्पन्न था। वह सम्पूर्ण पृथ्वी को एक ही छत्र के नीचे ले आया था, (देखो विष्णुपुराण) महावंश में इसको धननन्द लिखा है क्योंकि वह धन संग्रह करने में ही लगा रहता था। हुएन सांग जिस प्राचीन इतिहास का हवाला देता है उससे तो यही ध्वनि निकलती है कि नन्द और अशोक (कालाशोक) एक ही थे।

[2] इस संघाराम का मिलान गया के निकटवाले कुक्कुटपाद गिरि से नहीं होना चाहिए (देखो फ़ाहियान अध्याय ३३ तथा Arah. Survey of India, Vol. XV. P. 4 और 2nd Ant. Vol. XII. P. 327 Ind. Ant. Vol. XII. P. 327 तथा जुलियन का नोट (P. 624, n 1)

है, जिसको अशोक ने उस समय बनवाया था जब उसको पहले-पहल धर्म पर विश्वास हुआ था। धर्म-वृक्ष के आरोपण का प्रथम फलस्वरूप और उसके राज्य-वैभव का प्रदर्शक यह विशाल भवन है। उसने हज़ार संन्यासियों, और इसके दूने गृहस्थों तथा साधुओं के लिए चारों प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ तथा सर्वोपयोगी सब प्रकार की सामग्रियों को इस भवन में भेंट की भाँति संग्रह कर रक्खा था। यह इमारत बहुत दिनों से खँडहर हो रही है तब भी इसकी दीवारें अब तक वर्तमान हैं।

संघाराम के पास आमलक नामी (यह फल भारतवर्ष में दवा के काम में आता है) एक बहुत बड़ा स्तूप बना हुआ है। अशोक राजा एक समय बहुत बीमार होगया था और बहुत दिनों तक रुग्णावस्था में पड़े रहने से उसको अपने जीवन की आशा नहीं रही थी; उस समय पुण्य-सञ्चय करने के लिए उसने अपनी सब अधिकृत सम्पत्ति को दान कर देना चाहा। मंत्री[1] जिसके अधीन सब राज-कार्य का भार था, राजा की इस इच्छा से सहमत न हुआ। कुछ दिनों बाद एक दिन जब वह आमलक फल खा रहा था तब उसने उसका एक टुकड़ा हँसी से राजा के हाथ में रख दिया। उस टुकड़े को लेकर बड़े दुख से उसने मंत्री से पूछा, "इस समय जम्बूद्वीप का राजा कौन है?"

मंत्री ने उत्तर दिया, "केवल श्रीमहाराज।"

राजा ने उत्तर दिया, "ऐसा नहीं है, मैं अब अधिक दिनों

[1] यहाँ पर मंत्रि-मंडल होना चाहिए, यह कथा अश्वघोष के भजनों में भी पाई जाती है।

तक राजा नहीं हूँ, क्योंकि मैं केवल इस फल के टुकड़े को अपना कह सकता हूँ। खेद की बात है कि सांसारिक प्रतिष्ठा और धन स्थिर रखना उतना ही कठिन है जितना कि आँधी के सामने जलते हुए दीपक की रक्षा करना है। मेरा बड़ा भारी राज्य, मेरी प्रतिष्ठा और अप्रतिम कीर्ति मेरे अन्तिम दिनों में मुझसे छिन गई, और मैं एक शक्ति-सम्पन्न मंत्री के हाथ का खिलौना होगया। अब राज्यश्री अधिक दिनों के लिए मेरी नहीं है, केवल यह अर्द्धफल मेरा है।"

यह कहकर उसने एक नौकर को बुलाया और उससे कहा, "यह अर्द्धफल लेकर काकवाटिका के संन्यासियों के पास ले जाओ और उन महात्माओं को भेंट करके यह निवेदन कर दो, 'जो पहले जम्बुद्वीप का महाराज था, वह अब केवल इस अर्द्ध आमलक फल का मालिक रह गया है। वह संन्यासियों के चरणों में गिर कर प्रार्थना करता है कि उसकी इस अन्तिम भेंट को स्वीकार कर लीजिए। जो कुछ मेरे पास था वह सब जाता रहा, केवल मेरे अधिकार में यह तुच्छतम अर्द्धफल अवशेष है। मेरी इस दरिद्र भेंट को दयापूर्वक ग्रहण कीजिए और ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि मेरे धार्मिक पुण्य के बीजों को यह सदा बढ़ाता रहे।"

उन संन्यासियों के मध्य में स्थविर ने खड़े होकर यह कहा "अशोक राजा अपने पूर्व कर्मों के पुण्य से आरोग्य हो जायगा। उसके लोभी मंत्रियों ने ऐसे समय में, जब वह ज्वरग्रसित होकर बलहीन होगया है, उसकी शक्ति को हरण कर लिया है, और उस सम्पत्ति को जो उनकी नहीं है हड़प लेना चाहा है। परन्तु इस अर्द्धफल की भेंट से राजा की आयु बढ़ेगी'। राजा रोगमुक्त होगया और उसने

बहुत कुछ दान संन्यासियों को देकर संघाराम-सम्बन्धी कार्यों के मैनेजर (कर्म्मदान) को फल के बीजों को एक पात्र में भर लेने की आज्ञा दी तथा अपने आरोग्य और दीर्घ-जीवन प्राप्त करने की कृतज्ञता में इस स्तूप को बनवाया।

आमलक स्तूप के पश्चिमोत्तर में एक प्राचीन संघाराम के मध्य में एक स्तूप है। यह घंटा बजानेवाला स्तूप कहलाता है। पहले इस नगर में कोई १०० संघाराम थे। यहाँ के संन्यासी गम्भीर, विद्वान और बड़े ही सच्चरित्र थे। विरोधियों के सब विद्वान् उनके सामने चुप और गूँगे हो जाते थे। परन्तु पीछे से जब वे सब लोग मर गये तब उनके स्थानापन्न लोग उस क्षमता और योग्यता को नहीं पहुँच सके। विपरीत इसके, इस अवसर में विरोधी लोग विद्योपार्जन करके बड़े विद्वान् होगये। उन्होंने एक हज़ार से लेकर दस हज़ार तक अपने पक्षपाती मनुष्यों को संन्यासियों के स्थान में इकट्ठा किया, और संन्यासियों से यह कहा, "अपने घंटे को बजा कर अपने सब विद्वानों को बुलाओ, हम उनसे शास्त्रार्थ करके उनकी मूर्खता को दूर कर देंगे, और यदि हमारी भूल होगी तो हम हार जायँगे"।

इसके उपरान्त उन्होंने राजा से मध्यस्थ होने की प्रार्थना की कि वह दोनों पक्षों की सबलता-निर्बलता का निर्णय करे। विरोधियों के विद्वान् उच्च कोटि के बुद्धिमान् और पूर्ण विद्या-सम्पन्न थे, और बौद्ध यद्यपि संख्या में बहुत थे परन्तु शास्त्रार्थ करने की क्षमता उनमें न थी, इस कारण हार गये।

विरोधियों ने कहा, "हम जीत गये हैं इस कारण आज से किसी संघाराम में सभा करने के निमित्त घंटा न बजाया जाय।" राजा ने इस मन्तव्य को, जो शास्त्रार्थ का फल सम-

भना चाहिए, स्वीकार कर लिया और उनसे सहमत होकर आज्ञा दे दी कि बौद्ध लोग यदि विरुद्धाचरण करेंगे तो अवश्य दण्डित होंगे। बौद्ध लोग लज्जित होकर और विरोधी उनको चिढ़ाते हुए अपने अपने स्थान को चले गये। इस समय से बारह वर्ष तक घंटा बजाना बन्द रहा।

इन दिनों नागार्जुन बोधिसत्व दक्षिण-प्रान्त में एक प्रसिद्ध विद्वान था। अपनी योग्यता के कारण परमोत्तम पद को प्राप्त करके उसने गृहस्थी और उसके सुख को परित्याग कर दिया था। तथा धर्म के सर्वोच्च सिद्धान्तों को पूर्ण रीति से प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करके सर्वोपरि हो गया था। उसका देव नामक एक शिष्य अपनी आध्यात्मिक शक्ति और दूरदर्शिता के लिए बहुत प्रसिद्ध था। इसने कर्म करने के लिए कटिबद्ध होकर कहा, "वैशाली में बौद्ध लोग विरोधियों से शास्त्रार्थ में परास्त होगये हैं, इस समय बारह वर्ष कुछ मास और कुछ दिन व्यतीत हो चुके हैं कि उन्होंने घंटा नहीं बजाया है। मुझको साहस होता है कि विरोधियों के पहाड़ को गिरा कर सत्य धर्म की मशाल को प्रज्वलित कर दूँ।"

नागार्जुन ने कहा, "वैशाली के विरुद्ध धर्मावलम्बी अद्वितीय विद्वान हैं; तुम्हारा उनका कुछ जोड़ नहीं है; मैं स्वयं चलूँगा।"

देव ने उत्तर दिया, "एक सड़े और जर्जरित पेड़ को पीसने के लिए उसको पहाड़ से कुचलने की क्या आवश्यकता है? मुझको जो कुछ शिक्षा प्राप्त हुई है उसके प्रसाद से मुझको इस बात का पूर्ण विश्वास है कि मैं विरोधियों का बोल बन्द कर दूँगा। यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो

आप विरोधियों का पक्ष लीजिए, और मैं आपका खंडन करूँगा। इस बात से यह भी निश्चय हो जायगा कि मेरा जाना ठीक होगा या नहीं।"

इस पर नागार्जुन ने विरोधियों का पक्ष लेकर प्रश्न करना प्रारम्भ किया और देव उसकी युक्तियों को खंडन करने लगा। सात दिन के बाद नागार्जुन हार गया और उसने बड़े खेद के साथ कहा, "झूठ की स्थिरता नहीं होती, झूठी बात को बचाना बहुत कठिन है; तुम जाओ। तुम उन आदमियों को अवश्य परास्त करोगे।"

देव की प्रतिष्ठा का वृत्तान्त वैशाली के विरोधियों को भली भाँति विदित था, इस कारण उन्होंने सभा करके और सबकी सम्मति से राजा के पास जाकर यह निवेदन किया, "महाराज, आपने हमारी सभा में पधारने की कृपा करके बौद्धों को घंटा बजाने से रोक दिया है, अब हमारी प्रार्थना है कि आप यह भी आज्ञा दे दीजिए कि कोई विदेशी श्रमण नगर में न घुसने पावे, नहीं तो वे लोग मिलजुल कर पुरानी आज्ञा के भंग करने का उपाय करेंगे।" राजा ने इस प्रार्थना से सहमत होकर अपने कर्मचारियों को बहुत कड़ाई से आज्ञा दी कि इसका पालन अवश्य किया जावे।

देव यहाँ तक आगया परन्तु नगर में घुसने नहीं पाया। वह आज्ञा के भेद को समझ गया इस कारण अपने काषाय वस्त्र को उतार कर उन्हें तो घास में बन्द किया, और उस घास की गठरी बनाकर अपनी पीठ पर लाद कर नगर की ओर चल दिया और बेखटके भीतर घुस गया। नगर के मध्य में पहुँच कर उसने घास के गट्ठे को एक किनारे पटका

और उसमें से अपने वस्त्र निकाल कर, ठहरने के अभिप्राय से एक संघाराम में गया। वहाँ पर कुछ लोग पहले से ठहरे थे इस कारण उसके लिए जगह न थी, तब वह घंटेवाले मंडप में ठहर गया। सवेरे तड़के उठकर उसने घंटे को बड़े ज़ोर से बजा दिया।

लोग इसको सुनकर अचम्भे में आगये और पता लगाने लगे कि क्या बात है। उस समय उनको विदित हुआ कि रात का आनेवाला नवागत व्यक्ति भिक्षुयात्री है।

थोड़ी देर में यह समाचार चारों ओर फैल गया तथा सब संघारामों में घंटों का तुमुलनाद निनादित हो उठा। राजा ने भी इस शब्द को सुना। उसने अपने आदमियों को पता लगाने के लिए भेजा। वे लोग सब स्थानों पर पता लगाते लगाते इस संघाराम में भी पहुँचे और देव को इस काम का अपराधी ठहराया। देव ने उनको उत्तर दिया "घंटा समाज बुलाने के लिए बजाया जाता है, यदि इससे यह प्रयोजन न निकाला जावे तो फिर इसकी आवश्यकता ही क्या है ?

राजा के लोगों ने उत्तर दिया, "यहाँ के संन्यासियों की मंडली पहले एक बार विवाद करके परास्त हो चुकी है। उस समय यह निर्णय हो चुका है कि घंटा बन्द कर दिया जाय, इस बात को बारह वर्ष से अधिक हो गये।"

देव ने उत्तर दिया, "क्या ऐसा है? तब तो मैं धर्म की दुन्दुभी को फिर से बजाने के लिए तैयार हूँ।"

उन लोगों ने जाकर राजा को समाचार सुनाया कि कोई नया श्रमण आया है जो अपने सहधर्मियों की पुरानी बद-नामी को हटा देना चाहता है।

इसको सुनकर राजा ने सब लोगों को बुला भेजा और यह आज्ञा दी कि अब की बार जो हारे वह अपनी हार प्रकट करने के लिए प्राण त्याग करे।

इस समाचार को सुनकर सब विरोधी लोग अपना झंडा निशान लेकर आ पहुंचे और अपनी अपनी सामर्थ्यानुसार वाद-विवाद करने लगे। प्रत्येक ने अपनी अपनी पहुँच के मुताबिक अपने अपने प्रश्नों को पेश किया। तब देव बोधिसत्व उठकर धर्मासन पर जाके खड़ा हुआ और उन लोगों के विवादों को लेकर शब्द शब्द का खंडन करने लगा। पूरा एक घंटा भी नहीं लगा उसने उन सबके सिद्धान्तों को छिन्न भिन्न कर डाला। राजा और उसके मंत्री बहुत सन्तुष्ट हो गये तथा इस पूज्य स्मारक को उसकी प्रतिष्ठा के लिए निर्मित कराया।

उस स्तूप के उत्तर मे जहाँ पर घंटा बजाया गया था एक प्राचीन भवन है। यह स्थान एक ब्राह्मण का था जिसको राक्षसों ने मार डाला था। इस नगर के बसने के पहले एक ब्राह्मण था जिसने मनुष्यों की पहुँच से बहुत दूर जङ्गल में एक स्थान पर एक कुटी बनाई थी, और वहीं पर उसने सिद्धि-लाभ करने के लिए राक्षसों का बलि प्रदान किया था। इस अन्तरिक्षीय सहायता को प्राप्त करके वह बहुत बढ़ बढ़ कर बातें मारने लगा और बड़े जोश मे आकर विवाद करने लगा। उसकी इन बक्तृताओं का समाचार सारे संसार में फैल गया। कोई भी आदमी किसी प्रकार का प्रश्न उससे करे, वह एक परदे की आड़ में बैठ कर उसका उत्तर ठीक ठीक दे देता था। कोई भी व्यक्ति चाहे कैसाही पुराना विद्वान और उच्च कोटि का बुद्धिमान हो. उसकी युक्तियों का खंडन नहीं

कर पाता था। सब सर्दार और बड़े आदमी उसको देखकर चुप हो जाते और उसको बड़ा भारी महात्मा समझते थे। इसी समय अश्वघोष बोधिसत्व[1] भी वर्तमान था; सम्पूर्ण विषय इसकी बुद्धि के अन्तर्गत थे, तथा तीनों यानों (हीन, महा और मध्य यान) के सिद्धान्त उसके हृदयङ्गम हो चुके थे। वह बहुधा यह कहा करता था, "यह ब्राह्मण बिना किसी गुरु से पढ़े विद्वान हो गया है, इसकी जो कुछ बुद्धि है वह कल्पित है; प्राचीन सिद्धान्तों का इसने मनन नहीं किया है। केवल जङ्गल में वास करके इसने नाम प्राप्त कर लिया है। यह सब जो कुछ करता है वह प्रेतों और गुप्त शक्ति की सहायता से करता है। इस सबब से मनुष्य उसके कहे हुए शब्दों का उत्तर नहीं दे पाते हैं और उसकी प्रसिद्धि को बढ़ाते हुए उसको अजेय बतलाते हैं। मैं उसके स्थान पर जाऊँगा और देखूँगा कि यह क्या बात है, जिससे उसका भेद खुल जाय।

इस विचार से वह उसकी कुटी पर गया और कहा, "मुझको आपके प्रसिद्ध गुणों पर बहुत दिनों से भक्ति है। मेरी प्रार्थना है कि जब तक मैं अपने दिल की बात न समाप्त कर लूँ आप परदे को खुला रक्खें।" परन्तु ब्राह्मण ने बड़े घमंड से परदे को गिरा दिया और उत्तर देने के लिए उसके

[1] यह व्यक्ति बौद्ध धर्म का बारहवाँ रक्षक बताया जाता है। तिब्बतवालों के अनुसार यह मातृजेत के समान था, जिसने बुद्धोपासना के पद बनाये थे। नागार्जुन भी कवि था, इसने 'सुहृद्‌लेख' नामक ग्रन्थ बनाया था और उसको दक्षिण कौशल के नरेश 'सद्वह' को समर्पण किया था।

भीतर बैठ गया, और अन्त तक अपने प्रश्नकर्ता के सामने नहीं आया।

अश्वघोष ने अपने दिल में विचारा कि इसकी सिद्धि जब तक इसके पास रहेगी, तब तक मेरी बुद्धि बिगड़ी रहेगी। इसलिए उसने उस समय बातचीत करना बन्द कर दिया। परन्तु चलते समय उसने कहा, "मैंने इसकी करामात को जान लिया, यह अवश्य परास्त होगा।" वह सीधा राजा के पास चला गया और यह कहा, "अगर आप कृपा करके मुझको आज्ञा दें तो मैं उस विद्वान महात्मा से एक विषय पर बातचीत करूँ।"

राजा ने उसकी प्रार्थना को सुन कर बड़े प्रेम से उत्तर दिया, "तुममें क्या इतनी शक्ति है? जब तक कोई आदमी तीनों विद्या और छहों आध्यात्मिक-शक्तियों में पूर्ण व्युत्पन्न न हो जाय तब तक उससे कैसे शास्त्रार्थ कर सकता है?" तो भी राजा ने आज्ञा दे दी और यह भी कहा कि विवाद के समय मेरा भी रथ पहुँचेगा और मैं स्वयं हार-जीत का निर्णय करूँगा।

विवाद के समय अश्वघोष ने तीनों पिटक के गूढ़ शब्दों का और पञ्च महाविद्याओं के विशद सिद्धान्तों का आदि से अन्त तक अनेक प्रकार से वर्णन किया। इसी विषय को लेकर जिस समय ब्राह्मण अपना मत निरूपण कर रहा था उसी समय अश्वघोष ने बीच में टोक दिया, "तुम्हारे विषय का क्रमसूत्र खंडित हो गया, तुमको मेरी बातों का सिल-सिलेवार अनुसरण करना चाहिए।"

अब तो ब्राह्मण का मुख बन्द हो गया और वह कुछ न

कह सका। अश्वघोष उसकी दशा को ताड़ गया; उसने कहा, "क्यों नहीं मेरी गुत्थी को सुलझाते हो? अपनी सिद्धि को बुलाओ और जितना शीघ्र हो सके उससे शाब्दिक सहायता प्राप्त करो।" यह कह कर उसने ब्राह्मण की दशा को जानने के लिए परदे को उठाया।

ब्राह्मण भयभीत होकर चिल्ला उठा, "परदा बन्द करो! परदा बन्द करो!"

अश्वघोष ने समाप्त करते हुए कहा, "इस ब्राह्मण की कीर्ति का अब अन्त हो चुका। 'कोरी प्रसिद्धि थोड़े दिन' की कहावत ठीक है।"

राजा ने कहा, "जब तक पूर्ण योग्यतावाला आदमी न मिले मूर्ख लोगों की भूल को कौन दिखा सकता है। जो योग्य पुरुष होते हैं वही अपने बड़ों की बड़ाई को स्थिर करते हैं, और छोटे लोगों के मिथ्या आडम्बर को हटा देते हैं। इस प्रकार के लोगों की प्रतिष्ठा और आदर के लिए देश में सदा से नियम चला आया है।"

नगर के दक्षिण-पश्चिम-कोण से निकल कर और लगभग २०० ली[१] चलकर एक प्राचीन और खँडहर संघाराम मिलता है। इसके निकट ही एक स्तूप भी है जिसमें से समय समय पर दैवी प्रकाश और विलक्षण चमत्कार प्रकट होते रहते हैं। इस स्थान पर दूर तथा निकटवर्ती मनुष्यों की, जो भेंट-पूजा करने आते हैं, नित्य भीड़ बनी रहती है।

[१] फ्रेंच अनुवाद में दूरी २०० पग लिखी हुई है। यहां पर मूल पुस्तक में कुछ गड़बड़ है। इस कारण जनरल कनिंघम साहब को भी स्थान के निर्णय में कठिनाई पड़ी है।

वे चिह्न भी बने हुए हैं जहाँ पर गत चारों बुद्ध उठते बैठते और चलते-फिरते रहे थे।

प्राचीन संघाराम के दक्षिण-पश्चिम में लगभग १०० ली पर एक संघाराम तिलडक[1] (तिलाशीकिया) नामक है। इस भवन में चार मंडप तथा तीन खंड हैं। दो दो द्वारों—जो भीतर की तरफ़ खुलते हैं—का बीच देकर ऊँचे ऊँचे बुर्ज़ बनाये गये हैं। यह विम्बसार राजा के अन्तिम वंशज[2] का—जो अपनी दूरदर्शिता और सत्कर्मों के लिए बहुत प्रसिद्ध हो गया है—बनवाया हुआ है। अनेक नगरों के पंडित और बड़े बड़े विद्वान् दूर दूर से यहाँ पर आकर इस संघाराम में विश्राम करते थे। कोई १,००० संन्यासी हैं जो महायान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। मध्यवर्ती द्वारवाली सड़क

[1] 'तिलडक' शब्द कनिंघम साहब ने भी निश्चय किया है, क्योंकि शी० ड, का बोधक है, जैसे 'दण्डक'। इससे दर्शिक और विम्बसार राजा के वंश का अन्तिम पुरुष नागडासक भी माना जा सकता है, परन्तु ठीक निर्णय तिलड्डक ही है। परन्तु आइसिङ्ग कुछ फेर कर 'तिलोचा' लिखता है जो 'तिलडा' का बोधक है। यह तिलडक भवन नालन्दा से पश्चिम तीन योजन अथवा लगभग २१ मील था। अपने अन्तिम वाक्य में हुएन सांग लिखता है कि जब वह यहां आया था तब इसमें एक प्रभावशाली साधु प्रज्ञानभद्र रहता था, और उसके कुछ दिन बाद जब आइसिङ्ग आया तब यहां पर प्रज्ञानचन्द्र था। मैक्समूलर साहब ने तिलडक को सूरत में बताया है। इसको सलवील साहब ग़लत मानते हैं, तथा आइसिङ्ग ने भी ऐसा नहीं लिखा है।

[2] विम्बसार का वंशज नागदाशक था, जिसके बाद नवनन्दों का राज्य होगया था। कदाचित् यह महानन्दित के समान था।

पर तीन विहार बने हुए हैं जो नीचे से ऊपर तक खंड पर खंड बनते चले गये हैं, और सबके ऊपर धातु की फिरकियाँ और घंटिया लगी हुई हैं, जो हवा में नाचा करती हैं। इनके चारों ओर कठघरा लगा हुआ है तथा दरवाज़े, खिड़कियाँ, खम्भे, धन्नियाँ और सीढ़ी सब पर सुन्दर नक़ाशी किया हुआ ताँबा, और उस पर सोने का मुलम्मा चढ़ा हुआ है। मध्यवाले विहार में बुद्ध भगवान् की एक मूर्ति बनाई गई है जो तीस फ़ुट ऊँची है। दाहिनी ओरवाले विहार में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति बनी है, और बाईं ओरवाले विहार में तारा बोधिसत्व[1] की मूर्त्ति है। ये सब मूर्त्तियाँ धातु की बनी हुई हैं। इनका प्रभावशाली स्वरूप देखते ही सब दुख भाग जाते हैं तथा इनके चमत्कार का माहात्म्य दूर ही से यात्रियों को मालूम होने लगता है। प्रत्येक विहार में थोड़ा थोड़ा शरीरावशेष भी रक्खा है जिसमें से अलौकिक प्रकाश निकला करता है तथा समय समय पर अद्भुत दृश्य प्रकट होते रहते हैं।

तिलडक संघाराम के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ६० ली चलकर हम एक नीले-काले संगमरमर के पहाड़ पर पहुँचे जो सघन वन से आच्छादित होकर अन्धकारमय हो रहा है। यहाँ पर पवित्र ऋषियों का वास है, विषैले सर्प और निर्दयी नागों की बाँबियाँ अगणित हैं, बनैले पशु और हिंसक पक्षी भी अधिक संख्या में हैं। चोटी के पृष्ठ भाग पर एक बहुत मनोहर चट्टान है जिसके ऊपर एक स्तूप लगभग १०

[1] तारा देवी तिब्बतवालों में योगाचार-संस्था-द्वारा पूजनीय है। तारावती, दुर्गा का भी स्वरूप है।

फ़ीट ऊँचा बना हुआ है। यही स्थान है जहाँ पर बुद्ध भगवान् ने योगाश्रम में प्रवेश किया था। अपने जन्म धारण करने से पूर्व तथागत भगवान् इस चट्टान पर आये थे, और पूर्ण समाधि में लीन होकर रात्रि भर रहे थे। उस समय देवता और महात्मा ऋषियों ने फूलवर्षा करके तथागत का पूजन किया था, और स्वर्गीय गान-वाद्य इत्यादि से उनका सत्कार किया था, जिससे कि तथागत भगवान् की समाधि टूट गई थी। देवताओं ने उनकी भक्ति प्रदर्शित करते हुए सोने-चाँदी का एक रत्नजटित स्तूप बनवाया था। इस बात को अब बहुत काल व्यतीत हो चुका है इस कारण वे बहुमूल्य वस्तुएं पत्थर हो गई हैं। वर्षों से कोई मनुष्य यहाँ पर नहीं आया है, परन्तु दूर से पहाड़ की तरफ़ दृष्टि डालने से दिखाई पड़ता है कि अनेक प्रकार के बनैले पशु और सर्प इसकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। देवता, ऋषि और महात्मा लोग मिलजुल कर यहाँ पूजन-पाठ किया करते हैं।

पहाड़ की पूर्वी चोटी पर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर से कुछ देर खड़े होकर तथागत ने मगधदेश को देखा था।

पहाड़ के उत्तर-पश्चिम में लगभग ३० ली पर पहाड़ की ढाल में एक संघाराम है। इसके चारों ओर खाँई, ऊँची ऊँची दीवारें तथा बुर्ज, बीच बीच में चट्टानें देकर बनाये गये हैं। महायान-सम्प्रदायी कोई पचास संन्यासी यहाँ पर निवास करते हैं। इस स्थान पर गुणमति बोधिसत्व ने विरोधियों को परास्त किया था। प्राचीन काल में इस पहाड़ पर माधव नामक एक विरोधी निवास करता था, जिसने पहले सांख्य-

शास्त्र का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त किया था। उसने आदि से अन्त तक 'शून्य-विषयक' सिद्धान्तों का जो विरोधियों की पुस्तकों में बहुत प्रबलता से निर्णय किये गये हैं, अध्ययन किया था। उसकी प्रसिद्धि सब प्राचीन विद्वानों से बढ़ गई थी और वह सब मनुष्यों में विशेष पूज्य माना जाता था। राजा भी उसकी बड़ी प्रतिष्ठा करता था और उसको 'देश का ख़ज़ाना' नाम से सम्बोधन करता था। मन्त्री तथा सब लोग उसकी बड़ी प्रशंसा करके उसको गृहस्थ-धर्म का शिक्षक मानते थे। निकटवर्ती देशों के विद्वान लोग भी उसकी विद्वत्ता की प्रतिष्ठा करके उसके ज्ञान का महत्त्व स्वीकार करते थे। अपने बड़े बड़े प्राचीन विद्वानों से तुलना करके वे लोग कहा करते थे कि यह व्यक्ति विद्वत्ता में सर्वोपरि है। इसकी जीविका के लिए दो ग्राम नियत थे जिनके निवासी उसको कर देते थे।

इसी समय में दक्षिण प्रान्त में गुणमति बोधिसत्त्व रहता था जिसने अपने जीवन के प्रभातकाल ही में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त करके युवावस्था में बड़ी बुद्धिमानी के कार्य किये थे। उसने तीनों पिटक के अर्थ को पूर्णतया अध्ययन करके हृदयङ्गम कर लिया था और चारों प्रकार की सत्यता[1] को जान लिया था। उसने सुना कि माधव गुप्त से गुप्त और सूक्ष्म प्रश्नों पर बहुत उत्तमता से विवाद करता है

[1] चारों प्रकार की सत्यता, जो बुद्ध-धर्म की जड़ है:—(१) दुःख की सत्यता। (२) समुदय अर्थात् दौर्भाग्य की वृद्धि। (३) निरोध अर्थात् दुखों का नाश सम्भव है। (४) मार्ग अर्थात् रास्ता।

इस कारण उसने इसको परास्त करके दबा देने का विचार किया। उसने एक पत्र लिखकर अपने चेले के हाथ उसके पास भेजा। उसमें लिखा था, "हमने माधव की योग्यता का समाचार बहुत बार सुना है। इसलिए तुमको उचित है कि बिना परिश्रम का विचार किये हुए अपनी पुरानी पढ़ी हुई विद्या को फिर एक बार पढ़ जाओ, क्योंकि तीन वर्ष के भीतर भीतर मैंने तुमको परास्त करके तुम्हारी प्रतिष्ठा को धूल कर देने का इरादा किया है।"

इसी प्रकार उसने दूसरे और तीसरे वर्ष भी ऐसा ही संदेशा भेजा, और जिस समय वह चलने पर उद्यत हुआ उस समय भी एक पत्र इस आशय का उसके पास भेजा, 'नियत समय व्यतीत होगया। अब तुमको सचेत हो जाना चाहिए, क्योंकि जो कुछ तुम्हारी विद्या है उसको जाँचने के लिए मैं आता हूँ।"

माधव इस समाचार से भयभीत हो गया, उसने अपने शिष्यों और ग्रामवासियों को आज्ञा दे दी : "आज की मिती से किसी श्रमण का आतिथ्य सत्कार न किया जावे, इस आज्ञा को सब लोग पूरे तौर से पालन करें।"

कुछ दिनों बाद गुणमति बोधिसत्व अपना धर्म-दंड लिये हुए माधव के ग्राम में आ पहुँचा, परन्तु ग्राम-रक्षकों ने आज्ञानुसार उसको ठहरने न दिया। अलावा इसके ब्राह्मणों ने उसकी हँसी करते हुए उससे कहा, "इस अनोखे वस्त्र और मुँड़े सिर से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? चलो यहाँ से, दूर हो, तुम्हारे ठहरने के लिए यहाँ पर स्थान नहीं है।"

विरोधी को परास्त करने की इच्छा रखनेवाला गुण-मति बोधिसत्व केवल रात भर ठहरने का प्रार्थी हुआ, उसने

बड़े कोमल शब्दों में कहा, "तुम अपने सांसारिक कामों में लगे हुए अपने को सच्चरित्र मानते हो, और मैं सत्य का आश्रय ग्रहण करके अपने को सच्चरित्र मानता हूँ, हमारा तुम्हारा जीवन-उद्देश्य एक ही है। फिर क्यों नहीं तुम मुझको ठहरने देते हो ?"

परन्तु ब्राह्मण ने कुछ उत्तर नहीं दिया और उसको वहाँ से निकाल दिया। वहाँ से चलकर वह एक विशाल वन में गया जहाँ पर बनैले पशु पथिकों को भक्षण करने के लिए घूमा करते थे। उस समय उस स्थान पर एक बौद्ध भी था जो जङ्गली जन्तुओं और काँटों से भयभीत होकर हाथ में डंडा लिये हुए उसकी तरफ़ लपका। बोधिसत्व से भेट करके उसने कहा, "दक्षिण-भारत में गुणमति नामक एक बोधि-सत्व बड़ा प्रसिद्ध है। वह यहाँ के ग्रामपति से धार्मिक विवाद करने के लिए आनेवाला है। ग्रामपति ने उससे भयभीत होकर बहुत कड़ा हुक्म दे दिया है कि श्रमण लोगों की रक्षा न की जाय और न ठहरने की जगह दी जाय। इस-लिए मुझको भय है कि कहीं कोई विपत्ति उस पर न आपड़े, और इसी लिए मैं आया हूँ कि उसके साथ रहकर उसकी रक्षा करूँ, और उसको सब प्रकार के भय से बचाये रहूँ।

गुणमति ने उत्तर दिया, "हे मेरे परम कृपालु भाई! मैं ही गुणमति हूँ।" बौद्ध ने यह सुन कर बड़ी भक्ति के साथ उससे कहा, "यदि जो कुछ आप कहते हैं सत्य है तो आपको बहुत शीघ्र यहाँ से चल देना चाहिए।" उस जङ्गल को छोड़ कर वे दोनों थोड़ी देर के लिए मैदान में ठहरे। वहाँ पर वह धर्मिष्ठ बौद्ध हाथ में मशाल और कमान लिये हुए दाहिने बाएँ घूम घूम कर उसकी रखवाली करता रहा।

रात्रि का प्रथम भाग समाप्त होने पर उसने गुणमति से कहा, "यह उत्तम होगा कि हम लोग यहाँ से चल दें, नहीं तो लोग यह जान कर कि आप आगये हैं आपके वध का प्रबन्ध करेंगे।"

गुणमति ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए उत्तर दिया, "मैं आपकी आज्ञा को उल्लङ्घन नहीं कर सकता।" इस बात पर वे दोनों राजा के भवन पर गये और द्वारपाल से कहा कि राजा से जाकर निवेदन करो कि एक श्रमण बहुत दूर से चलकर आया है, और प्रार्थना करता है कि महाराज कृपा करके उसको माधव के साथ शास्त्रार्थ करने की आज्ञा दे देवें।

राजा ने इस समाचार को सुनकर बड़े जोश से कहा, "यह मनुष्य कुछ बुद्धिहीन मालूम होता है।" इतना कहकर उसने अपने एक कर्मचारी को आज्ञा दी कि वह माधव के स्थान पर जाकर हमारी आज्ञा की सूचना इस प्रकार देवे, "एक विदेशी श्रमण तुमसे शास्त्रार्थ करने के लिए यहाँ आया है। इसलिए मैंने आज्ञा दे दी है कि शास्त्रार्थ-मंडप लीप-पोत कर ठीक कर दिया जाय। और जो अन्यान्य बातें होंगी वे आपके पधारने पर हो जायँगी तथा दूर और निकट के लोग भी उसी समय बुलाये जायँगे। कृपा करके आप अवश्य पधारिए।"

माधव ने राजा के दूत से पूछा, "क्या वास्तव में दक्षिण-भारत का विद्वान् गुणमति आया है?" उसने कहा, "हाँ वही आया है।"

माधव को यह सुनकर आन्तरिक दुःख तो अवश्य बहुत हुआ परन्तु इस कठिनाई से बचने का कोई उत्तम उपाय वह

नहीं कर सकता था इस कारण वह सभा-मंडप की ओर रवाना हुआ जहाँ पर राजा, मंत्री और जनसमुदाय एकत्रित होकर इस महासभा के लिए उत्कंठित हो रहे थे। पहले गुणमति ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का निरूपण किया और इसी विषय में सूर्यास्त तक व्याख्यान देता रहा। माधव ने कहा, "मैं अधिक अवस्था होने के कारण निर्बल हो रहा हूँ इस कारण मैं इस समय उत्तर नहीं दे सकता। विश्राम कर लेने और अच्छी तरह पर सोच विचार करने के उपरान्त मैं गुणमति के सब प्रश्नों का उत्तर क्रमबद्ध दे दूँगा।" दूसरे दिन प्रातःकाल आकर उसने उत्तर दिया। इसी तरह पर उन दोनों का विवाद छठे दिन तक होता रहा परन्तु छठे दिन माधव के मुख से ख़ून गिरने लगा और वह मर गया। मरते समय उसने अपनी स्त्री को आज्ञा दी "तुम बड़ी बुद्धिमती हो, जो कुछ मेरी अप्रतिष्ठा हुई है उसको भूल मत जाना।" जब माधव का देहान्त हो गया, उसकी स्त्री, असली बात को छिपाकर और बिना उसका अन्तिम क्रिया-कर्म किये, उत्तम पोशाक पहिन कर सभा में गई जहाँ पर शास्त्रार्थ होता था। लोग उसको देखकर हँसी से कहने लगे, 'माधव जो अपनी बुद्धि की बड़ी शेखी मारा करता था गुणमति से शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हो गया है, और उस कसर को पूरा करने के लिए उसने अपनी स्त्री को भेजा है।"

गुणमति ने स्त्री से कहा, "वह व्यक्ति जिसने तुमको विकल कर रक्खा है मेरे द्वारा विकल हो चुका है।"

माधव की स्त्री, मामिला बेढब समझ कर उलटे पैरों लौट गई। राजा ने पूछा, "इन शब्दों में क्या भेद है जिससे यह स्त्री चुप होगई।"

गुणमति ने उत्तर दिया, "शोक है माधव का देहान्त हो गया इसलिए उसकी स्त्री मुझसे शास्त्रार्थ करना चाहती है।"

राजा ने पूछा, "आपने क्योंकर जाना? कृपा करके मुझको समझा कर बताइए।"

तब गुणमति ने उत्तर दिया, 'स्त्री के आने पर मैंने देखा कि उसके मुख पर मुरदे के समान पीलापन छाया हुआ था, तथा उसके मुख से जो शब्द निकलते थे वे शत्रुता से भरे हुए थे। इन्हीं चिह्नों से मैं समझ गया कि माधव मर गया। 'जिसने तुमको विकल कर रक्खा है' ये शब्द उसके पति की ओर इशारा करने के लिए थे।"

इस बात की सत्यता की जाँच के लिए राजा ने दूत भेजा। ठीक पाने पर राजा ने बड़े प्रेम से कहा कि 'बौद्ध-धर्म बहुत गूढ़ है, केवल अपनी ही भलाई के लिए ये लोग बुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते हैं, और न इनकी गुप्त बुद्धि केवल लोगों को चेला बनाकर मूड़ने के लिए है। देश के नियमानुसार आप सरीखे योग्य महात्मा की कीर्ति स्थिर रखने का प्रयत्न होना चाहिए।"

गुणमति ने उत्तर दिया, 'जो कुछ तुच्छ बुद्धि मेरे पास है वह सबकी सब प्राणियों की भलाई के लिए है। जब मैं लोगों की हितकामना के लिए सन्मार्ग प्रदर्शित करने के लिए खड़ा होता हूँ तब सबसे पहले उनके घमंड को तोड़ता हूँ, और पीछे उन पर शिष्य होने का दबाव डालता हूँ। अब मेरी महाराज से यही प्रार्थना है कि इस जीत के बदले में माधव के वंशजों को आज्ञा दी जावे कि हज़ार पीढ़ी तक संघाराम की सेवा करते रहें। ऐसा करने मे आपकी बनाई

पद्धति सैकड़ों वर्ष तक चली जायगी। जिससे आपकी कीर्ति अमर हो जायगी। वे लोग धर्मिष्ठ होकर अपने ज्ञान और धार्मिक कृत्य से देश को शताब्दियों तक लाभ पहुँचाते रहेंगे। उनका भरण-पोषण संन्यासियों के समान होता रहेगा, और जितने लोग बौद्ध-धर्म पर विश्वास करनेवाले हैं सब उनकी प्रतिष्ठा करके लाभ उठावेंगे।"

इसके उपरान्त विजय का स्मारक उसने संघाराम बनाया।

माधव की हार के पीछे छः ब्राह्मण भाग कर सीमान्त-प्रदेश में चले गये और उन लोगों की जो कुछ किरकिरी हुई थी उसका वर्णन करके बड़े बड़े बुद्धिमान् पुरुषों को उन्होंने इकट्ठा किया, और अपनी कलंक-कालिमा को दूर करने के लिए उन्हें ले आये।

राजा के चित्त में गुणमति की बड़ी भक्ति हो गई थी। वह स्वयं चलकर उनके पास गया और इस प्रकार बुलावा दिया, "विरोधी लोग, बिना अपने बल की तुलना किये हुए, आकर जमा हुए हैं और शास्त्रार्थ की दुन्दुभी बजाना चाहते हैं; इसलिए आपसे प्रार्थना है कि कृपा करके उनका मुख-मर्दन कर दीजिए।"

गुणमति ने उत्तर दिया, "क्या हर्ज है, जो लोग शास्त्रार्थ करना चाहते हैं उनको आने दीजिए।"

विरोधियों के विद्वान् बहुत प्रसन्न थे। उन लोगों का कहना था कि आज हम अवश्य जीत लेंगे। विरोधियों ने शास्त्रार्थ आरम्भ करने के लिए बड़े ज़ोर शोर से अपने सिद्धान्तों को पेश किया।

गुणमति बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया, "जो लोग शास्त्रार्थ

करने के लिए आये हैं वे पहले यहाँ से भाग गये थे, और राजा के नौकर थे, इस कारण इनकी कुछ मर्य्यादा नहीं है। ऐसे आदमियों से मेरा शास्त्रार्थ करना कुछ काम का नहीं है। सिंहासन के निकट एक भृत्य बैठा हुआ है जो इस प्रकार के वादानुवाद और शंका-समाधान को सुनता रहा है। ऐसे प्रश्नों का जो कुछ मैं उत्तर देता रहा हूँ, और वादी लोग जो कुछ जटिल से जटिल प्रश्न करते रहे हैं उनको वह भली भाँति जानता है।" यह कह कर गुणमति सिंहासन से उठ खड़ा हुआ और नौकर से कहा, "मेरे स्थान पर बैठ और शास्त्रार्थ कर" इस अद्भुत कार्रवाई से सम्पूर्ण सभा दङ्ग रह गई। वह भृत्य सिंहासन के पास बैठकर विरोधियों के प्रश्नों में जो कुछ जटिलता थी उसकी जाँच करने लगा। उसकी धाराप्रवाह वक्तृता ऐसी साफ़ निकल रही थी जैसे सोते से जल चल रहा हो, और उसकी बातें ऐसी सत्य थीं जैसी कि आकाश-वाणी। तीन ही उत्तर में विरोधी परास्त हो गये और परकटे पक्षी के समान विवश होकर लज्जित होते चले गये। इस विजय से संघाराम में उसके खर्च के लिए बहुत से ग्राम और जनपद लगा दिये गये।

गुणमति के संघाराम से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग २० ली चलकर हम एक शून्य पहाड़ी पर आये जिसके ऊपर शिलाभद्र नामक एक संघाराम है। यह वह संघाराम है जिसको विद्वान् शास्त्री ने, विजय के उपरान्त जो कुछ ग्राम भेंट में मिले थे, उनकी बचत से बनवाया था। इसके निकट ही एक नुकीली चोटी स्तूप के समान खड़ी है जिसमें बुद्ध भगवान् का पुनीत शरीरावशेष रक्खा हुआ है। यह विद्वान शास्त्री समतट राजा का वंशज और

जाति का ब्राह्मण था। यह बड़ा विद्या-प्रेमी था और इसकी कीर्ति भी बड़ी भारी थी। सत्य-धर्म की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण भारतवर्ष में घूमते घूमते वह इस देश में और नालन्दा के संघाराम में पहुँचा। धर्मपाल बोधिसत्व से सामना होने पर और उसके धर्मोपदेश को सुनकर उसका अन्तःकरण खुल गया और उसने शिष्य होने की प्रार्थना की। उसने बड़े बड़े सूक्ष्म प्रश्न[1] किए और इसी सिलसिले में

[1] उसने पूछा कि सब लोगों का अन्तिम परिणाम क्या होता है? इस प्रकार का विचार कि "सब लोगों का निश्चित स्थान" संस्कृत 'ध्रुव' शब्द के समान है। यह समाधि का भी नाम है और निर्वाण के निरूपण करने में भी प्रयोग किया जाता है। बौद्ध लोगों के प्रसिद्ध सूत्र शुरङ्गम का भी यही सिद्धान्त-शब्द है। इस पुस्तक में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने का विचार किया गया है। यह नालन्दा में लिखी गई थी और कदाचित् धर्मपाल की बनाई हुई है। इसी नाम की एक और भी पुस्तक है जिसका कुमारजीव ने अनुवाद किया था और फाहियान ने राजगृही के गृद्धकूट स्थान पर पाठ किया था। यह पुस्तक सन् ७०५ ई० में चीन में गई और वहाँ की भाषा में अनुवादित हुई। उस अनुवाद में लिखा हुआ है कि यह पुस्तक मुर्द्धभिषिक्त-सम्प्रदाय की है और भारतवर्ष से आई है। कोलब्रुक साहब लिखते हैं कि मुर्द्धभिषिक्त लोग एक ब्राह्मण और एक क्षत्रिय कन्या के योग से उत्पन्न हुए थे। इस नामवाली सम्प्रदाय भी इसी प्रकार कदाचित् ब्राह्मणों और बौद्धों का सम्मिश्रण करके बनाई गई हो, अर्थात् उन दोनों के सिद्धान्तों का सार ग्रहण करके एक में मिलाया गया हो। इन दिनों नालन्दा था भी ब्राह्मणों और बौद्धों दोनों ही के पठन-पाठन का मुख्य स्थान। इसलिए सम्भव है यह सम्प्रदाय भी वहीं पर स्थापित हुई हो।

मुक्ति का भी उपाय पूछा। उन सबका उचित उत्तर पाकर वह पूर्ण ज्ञानी हो गया। उस समय के वर्तमान मनुष्यों में बहुत दूर दूर तक उसकी कीर्ति फैल गई।

उन दिनों दक्षिण-भारत में एक विरोधी रहता था जिसने गूढ़ विषयों को मनन करने में, सूक्ष्म तत्वों को ढूँढ़ निकालने में और जटिल से जटिल तथा अंधकाराच्छन्न सिद्धान्तों को सुस्पष्ट करने में बड़ा परिश्रम किया था। धर्मपाल की कीर्ति सुनकर उसके भी चित्त में गर्व उत्पन्न होगया। अथवा, ईर्षा के वशीभूत होकर वह व्यक्ति पहाड़ों और नदियों को पार करता और शास्त्रार्थ की इच्छा से दुन्दुभी बजाता हुआ आ पहुँचा। उसने कहा, "मैं दक्षिण-भारत का निवासी हूँ, मैंने सुना है इस राज्य में एक बड़ा विद्वान् शास्त्री निवास करता है, यद्यपि मैं विद्वान् नहीं हूँ परन्तु उससे शास्त्रार्थ करने आया हूँ।"

राजा ने कहा, "जो कुछ तुम कहते हो वह सत्य है।" इसके उपरान्त उसने एक दूत भेजकर धर्मपाल से यह कहला भेजा, "बहुत दूर से चल कर दक्षिण-भारत का एक निवासी यहाँ पर आया है और आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता है, क्या आप कृपा करके सभा-भवन में पधार कर उससे विवाद करेंगे।"

इस समाचार को पाकर धर्मपाल अपने वस्त्र पहन करके चलने ही को था कि उसी समय शीलभद्र आदिक शिष्य उसके पास आये और पूछा, "आप इतनी जल्दी जल्दी कहाँ को पधार रहे हैं?" धर्मपाल ने उत्तर दिया, "जब से ज्ञान का सूर्य अस्त हो गया[1] और केवल उसके बताये हुए

[1] जब से बुद्ध का देहान्त हो गया।

सिद्धान्तों के दीपक अपना प्रकाश फैला रहे हैं तब से विरोधी पतंगों और चींटियों के समूह के समान उमड़ पड़े हैं, इसलिए मैं उन्हीं को कुचलने के लिए जा रहा हूँ कि जो सामने आकर शास्त्रार्थ करेंगे।"

शीलभद्र ने उत्तर दिया, "मैंने भी बहुत शास्त्रार्थ देखे हैं इस कारण मुझको ही आज्ञा दीजिए कि मैं इस विरोधी को परास्त करूँ।" धर्मपाल उसका वृत्तान्त अच्छी तरह पर जानता था इस कारण उसको शास्त्रार्थ करने का हुक्म दे दिया।

इस समय शीलभद्र की अवस्था केवल ३० साल की थी। सभासद उसके अल्प वय को तुच्छ दृष्टि से देखकर इस बात का भय करने लगे कि कदाचित् यह अकेला उससे शास्त्रार्थ न कर सकेगा। धर्मपाल इस बात को जानकर कि उसके अनुयायियों का चित्त उद्विग्न हो रहा है, आप भी सबको संतुष्ट करने के लिए झटपट सभा में पहुँच गया और कहने लगा, "किसी व्यक्ति की उत्तम बुद्धि की प्रतिष्ठा हम यह कह कर नहीं करते कि उसके दाँत नहीं हैं (अर्थात् दाँतों के हिसाब से आयु का अन्दाज़ा करना कि वृद्ध है अथवा युवक), जैसी कि इस समय हो रही है। मैं विश्वास करता हूँ कि यह विरोधी को अवश्य परास्त करेगा। इस काम के करने में यह अच्छी तरह समर्थ है।"

सभा के दिन दूर तथा पास के अनगिनती मनुष्य आकर इकट्ठे होगये। विरोधी पण्डित ने अपने जटिल प्रश्नों को बड़े ज़ोर शोर के साथ उपस्थित किया। शीलभद्र ने उसके सिद्धान्तों का गम्भीर और सूक्ष्म प्रकार से बहुत ही

अच्छी तरह खंडन किया, यहाँ तक कि विरोधी को कुछ उत्तर न बन आया और वह लज्जित होकर चला गया।

राजा ने शीलभद्र की योग्यता के सत्कारार्थ इस नगर का कुल लगान सदा के लिए उसको दान कर दिया। विद्वान शास्त्री ने इस भेंट को अस्वीकार करते हुए उत्तर दिया, "विद्वान् वही है जो धर्म-वस्त्र धारण करके इस बात पर भी ध्यान रक्खे कि सन्तोष किसको कहते हैं और उसका आचरण किस प्रकार शुद्ध रह सकता है। इसलिए इस नगर को लेकर मैं क्या करूँगा?"

राजा ने उत्तर में निवेदन किया, "धर्मपति अज्ञात स्थान में पहुँच गया है, और ज्ञान का पात्र जलधार में डूब गया है। ऐसी अवस्था में यदि मूर्ख और विद्वान का भेद न किया जायगा तो धार्मिकता प्राप्त करने के लिए विद्वान पुरुषों को किस तरह पर उत्तेजना मिलेगी। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि कृपा करके मेरी भेंट को अङ्गीकार कीजिए।

इस बात को सुनकर उसने अस्वीकार करने के अपने हठ को त्याग दिया और नगर को ग्रहण करके इस विशाल और मनोहर संघाराम को बनवाया। नगर की जो कुछ आमदनी थी वह संघाराम में लग दी गई जिसमें धार्मिक कृत्य के लिए सदा सहायता पहुँचती रहे।

शीलभद्र के संघाराम के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ४० या ५० ली की दूरी पर नीराञ्जना[1] नदी पार करके हम गया-

[1] यह नदी आजकल फल्गू कहलाती है। लीलाञ्जन या नीलाञ्जन नाम केवल पश्चिमी शाखा का है जो गया से पांच मील पर मोहानी नदी में मिल जाती है।

नगर[1] में पहुँचे । यह नगर प्रकृतितः सुदृढ़ है। इसके निवासी संख्या में थोड़े हैं—केवल १,००० के लगभग ब्राह्मणों के परिवार हैं जो एक ऋषि के वंशज हैं। उनको राजा अपनी प्रजा नहीं समझता, और जन-समुदाय में भी उनका बड़ा मान है।

नगर के उत्तर में लगभग ३० ली की दूरी पर एक स्वच्छ जल का झरना है। भारतीय इतिहासों में यह जल अत्यन्त पुनीत कहा जाता है। जो लोग इस जल को पान करते हैं अथवा इसमें स्नान करते हैं उनके बड़े से बड़े पातक नाश हो जाते हैं।

नगर के दक्षिण-पश्चिम ५ या ६ ली चलकर हम गया पर्वत पर आये जिसमें अँधियारी घाटियाँ, झरने और ऊँचे ऊँचे तथा भयानक चट्टान हैं। भारतवर्षवाले प्रायः इस पहाड़ का नाम देवप्रदत्त बतलाते हैं। प्राचीन-काल से इस देश की प्रथा है कि जब राजा का राजतिलक किया जाता है तब वह इस पहाड़ पर आकर कुछ कृत्यों को करके अपने राजा होने की सूचना देता है। उन लोगों का विश्वास है कि ऐसा करने से राजा का राज्य दूर दूर तक फैलेगा और उसकी

[1] आजकल यह स्थान ब्रह्म-गया कहलाता है ताकि बुद्धगया जहाँ पर बुद्धदेव ज्ञानावस्था को प्राप्त हुए थे और इस स्थान का भेद स्पष्ट बना रहे। पटना से गया तक की दूरी आजकल के हिसाब से ६० मील है और हुएन सांग के मार्ग के अनुसार ७० मील होनी चाहिए। यह पटना से पुराने संघाराम की दूरी २०० ली लिखता है, परन्तु यह नहीं मालूम होता कि वह किस दिशा में था इस कारण उसके हिसाब की ठीक ठीक जाँच नहीं हो सकती।

कीर्ति की वृद्धि होगी। पहाड़ की चोटी पर अशोक राजा का बनवाया हुआ एक स्तूप लगभग १०० फ़ीट ऊँचा है। इसमें समय समय पर दैवी चमत्कार और पुनीत व्यापार प्रदर्शित होते रहते हैं। प्राचीन काल में तथागत भगवान् ने इस स्थान पर 'रत्नमेघ' तथा अन्यान्य सूत्रों का संकलन किया था।

गयाद्रि के दक्षिण-पूर्व में एक स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर काश्यप बुद्ध का जन्म हुआ था। इस स्तूप के दक्षिण में दो और स्तूप हैं। ये वे स्थान हैं जहाँ पर गया काश्यप और नदी काश्यप ने अग्निसंपूजकों के समान यज्ञ इत्यादि किया था।

जहाँ पर गया काश्यप ने यज्ञ किया था उस स्थान के पूर्व में एक बड़ी नदी पार करके हम प्राग्बोधि नामक पहाड़ पर आये[1]। तथागत भगवान् छः वर्ष तक तपस्या करके भी जब पूर्ण ज्ञान से वंचित रहे तब तपस्या से हाथ उठा कर खीर को ग्रहण कर लिया था। खीर खाकर पूर्वोत्तर दिशा में जाते हुए उन्होंने इस पहाड़ को देखा जो जनपद से अलग और अंधकाराच्छन्न था। यहाँ आकर उन्होंने ज्ञान प्राप्त करने का विचार किया। पूर्वोत्तर की ओरवाले ढाल से चढ़कर वह चोटी पर गये, उसी समय धरती डोल उठी और पहाड़ हिल गया। उस समय पहाड़ के देवता ने भयभीत होकर बोधिसत्व से इस प्रकार निवेदन किया, "पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह पहाड़ उपयुक्त स्थान नहीं है। यदि यहाँ ठहर कर आप वज्र-

[1] तथागत भगवान् ज्ञान प्राप्त होने के समय इस पहाड़ पर चढ़े थे। इसी सबब से इस पहाड़ का यह नाम पड़ा है।

समाधि को धारण करेंगे तो भूमि विकम्पित और संचलित होकर पहाड़ को आपके ऊपर गिरा देगी।"

तब बोधिसत्व उतरने लगा और दक्षिण-पश्चिमवाले ढाल पर आधाआध में ठहर गया, क्योंकि वहाँ पर एक धारा के सामने चट्टान था जिसमें गुफा बनी हुई थी। वहाँ पर वह आसन मार कर बैठ गया। उस समय भूमि फिर हिल उठी और पहाड़ काँपने लगा। तब पग भर की दूरी से शुद्धवास स्थान का देवता चिल्ला उठा, "तथागत! यह स्थान भी पूर्ण ज्ञान सम्पादन करने के लिए उपयुक्त नहीं है। यहाँ से १४ या १५ ली दक्षिण-पश्चिम में तपस्यास्थान के निकट एक पीपल का वृक्ष है जिसके नीचे एक 'वज्रासन'[1] है। इस आसन पर सभी गत बुद्ध बैठते रहे हैं और सच्चा ज्ञान प्राप्त करते रहे हैं। इसी प्रकार भविष्य में भी जो वैसाही ज्ञान प्राप्त करना चाहें उनको भी उसी स्थान पर जाना चाहिए; इसलिए आपसे भी प्रार्थना है कि वहाँ पर जाइए।

जिस समय बोधिसत्व उस स्थान से चलने लगा उसी समय गुफा में रहनेवाला नाग बाहर निकल आया और कहने लगा, "यह गुफा शुद्ध और बहुत उत्तम है। इस स्थान पर आप अपने पुनीत मन्तव्य को सहज में पूर्ण कर सकते हैं। यदि आप मेरे साथ रहना स्वीकार करेंगे तो आपकी अपरिमित कृपा होगी।"

परन्तु बोधिसत्व यह जान कर कि यह स्थान अभीष्ट

[1] वज्रासन वह आसन या सिंहासन कहलाता है जो कभी नाश न हो सके। जिस स्थान पर सब बुद्धों को ज्ञान प्राप्त हुआ था वह स्थान पृथ्वी का केन्द्र माना जाता है।

प्राप्ति के लिए उपयुक्त नहीं है नाग की प्रसन्नता के लिए अपनी परछाँहीं उस स्थान पर छोड़ कर वहाँ से चल दिये। देवता मार्ग बनाने के लिए आगे आगे चलकर बोधिवृक्ष तक उनके साथ गये।

जिस समय अशोक का राज्य हुआ उसने इस पहाड़ पर ऊँचे नीचे सब स्थानों को, जहाँ जहाँ बुद्धदेव गये थे, ढूँढ़ निकाला और सब स्थानों को स्तूपों तथा स्तम्भों से सुसज्जित कर दिया। यद्यपि इन सबका स्वरूप अनेक प्रकार का है परन्तु दैवी चमत्कार सबमें समान है। कभी कभी इन पर स्वर्गीय पुष्पों की वृष्टि होती है और कभी कभी अन्धकार-पूर्ण घाटियों में प्रकाश की जगमगाहट होने लगती है।

प्रत्येक वर्ष के अन्तिम दिन अनेक देशों के धार्मिक गृहस्थ अपनी धार्मिक भेंट-पूजा के लिए इस पहाड़ पर जाते हैं। वे लोग एक रात्रि ठहर कर लौट आते हैं।

प्राग्बोधि पहाड़ के दक्षिण-पश्चिम में लगभग १४ या १५ ली चलकर हम बोधिवृक्ष तक पहुँचे। इसके चारों ओर ऊँची और सुदृढ़ दीवार ईंटों से बनाई गई है। इसका फैलाव पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बा और उत्तर से दक्षिण की ओर चौड़ा है। इसके कुल क्षेत्रफल की नाप लगभग ५०० क़दम है। प्रसिद्ध पुष्पवाले दुर्लभ वृक्ष अपनी छाया-समेत इसमें मिले हुए हैं तथा भूमि पर 'शा'[1] घास और अन्यान्य छोटी छोटी झाड़ियाँ फैली हुई हैं। मुख्य फाटक नीरांजन नदी की तरफ़ पूर्वाभिमुख है। दक्षिणी द्वार के

[1] यह चीनी शब्द है इसके अर्थ का द्योतक हिन्दी शब्द नहीं मिला।

सामने नदी तट पर सुन्दर पुष्पोद्यान बना हुआ है। पश्चिम की ओर की दीवार में कोई द्वार नहीं है परन्तु यह सब ओर की दीवारों से अधिक दृढ़ है। उत्तरी फाटक खोलने से एक संघाराम में पहुँचना होता है। इस चहारदीवारी के भीतरी भाग में पग पग पर पुनीत स्थान वर्तमान हैं। एक स्थान पर यदि स्तूप हैं तो दूसरे स्थान पर विहार हैं। सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के राजा, महाराजा, तथा बड़े बड़े मनुष्यों ने जिन्होंने इस धर्म में दीक्षित होकर अपने को कृतार्थ किया है, इस स्थान पर आकर स्मृति-स्वरूप इन स्मारकों को बनाया है।

बोधिवृक्ष की चहारदीवारी के मध्य में वज्रासन है। प्राचीनकाल में जिस समय भद्र कल्पविवर्त्त अवस्था को प्राप्त हो रहा था और जिस समय भूमि का उद्गमन हुआ था उसी समय यह आसन भी निकला था। इसके नीचे सोने का चक्र है और ऊपरी भाग भूमि के बराबर और चमकदार है, क्योंकि हीरों से बना हुआ है। इसका क्षेत्रफल लगभग १०० पग है। भद्रकल्प में एक हज़ार बुद्धों ने इस पर बैठ कर वज्र-समाधि को धारण किया था, इसी सबब से इसका नाम वज्रासन है। यही स्थान है जहाँ पर बुद्धदेव को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई थी, इस कारण इसको बोधिमण्डप भी कहते हैं। सम्पूर्ण भूमि के विकम्पित होने पर भी यह स्थान अचल बना रहता है। जिस समय तथागत भगवान् बुद्ध दशा को प्राप्त हो रहे थे और इस स्थान के चारों कोनों पर घूम रहे थे उस समय भूमि हिल उठती थी, परन्तु इस स्थान पर आने से उनको कुछ भी विकार नहीं मालूम हुआ। यह सदा के समान निश्चल ही बना रहा। जिस समय कल्प

की समाप्ति होने लगती है और सत्यधर्म का विनाश हो जाता है उस समय इस स्थान को मिट्टी और धूल आच्छादित कर लेती हैं जिससे यह अधिक दिनों तक दृष्टि से लोप ही बना रहता है।

बुद्धदेव के निर्वाण प्राप्त करने के उपरान्त अनेक देशों के राजा लोग वज्रासन की नाप का वृत्तान्त सुनकर यहाँ पर आये और उन्होंने इसके उत्तर-दक्षिण का निर्णय, कि वास्तव में कहाँ से कहाँ तक होना चाहिए, अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की दो प्रतिमाओं से किया जो एक एक किनारे पर पूर्वाभिमुख बैठी हुई हैं। पुराने पुराने लोग कहा करते हैं कि "जिस समय बोधिसत्व की मूर्तियाँ भूमि में घुस कर अदृश्य हो जावेंगी उस समय बुद्ध-धर्म का भी निश्चय अन्त हो जावेगा"। दक्षिण की तरफ़वाली प्रतिमा आजकल छाती तक भूमि में समा चुकी है। वज्रासन के ऊपरवाला बोधि-वृक्ष ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार का पीपल का वृक्ष होता है। प्राचीनकाल में बुद्ध भगवान के जीवन-पर्य्यन्त इस वृक्ष की उँचाई कई सौ फ़ीट थी। इस समय भी यद्यपि यह कई बार काट कूट डाला गया है तो भी चालीस-पचास फ़ीट ऊँचा है। इसी वृक्ष के नीचे बैठ कर बुद्ध भगवान् ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। इसी कारण इसको 'सम्यक सम्बोधि वृक्ष' कहते हैं। छाल का रङ्ग कुछ पीलापन लिये हुए श्वेत है तथा पत्र और पल्लव काही के रङ्ग के हैं। इसकी पत्तियाँ, चाहे गरमी हो और चाहे सरदी, कभी नहीं गिरतीं, बरञ्च सदा विकाररहित चमकीली और सुहावनी बनी रहती हैं। केवल उस समय जब किसी बुद्ध का निर्वाण हो जाता है सब पत्तियाँ एक-दम से गिर कर थोड़ी ही देर में

फिर नवीन हो जाती हैं। उस दिन (निर्वाणवाले दिन) अनेक देशों के राजा लोग और अगणित धार्मिक पुरुष भिन्न भिन्न स्थानों से आकर हज़ारों और लाखों की संख्या में इस स्थान पर एकत्रित होते हैं। सुगंधित जल और दुग्ध से इसकी जड़ों का सिञ्चन करके गाते-बजाते हुए पुष्प और सुगंधित धूप इत्यादि चढ़ाते हैं। यहाँ तक कि जब दिन समाप्त हो जाता है तब भी रात्रि में मशालें जला कर अपने धार्मिक कृत्य को करते रहते हैं।

बुद्ध-निर्वाण के पश्चात्, जब अशोक राज्यासन पर बैठा तब उसका विश्वास इस धर्म पर नहीं था। बुद्धदेव के पवित्र स्मृति-चिह्नों को नष्ट करने के अभिप्राय से वह सेना-सहित इस स्थान पर वृक्ष का नाश करने के लिए आया। उसने वृक्ष को जड़ से काट डाला। तना, डाली, पत्तियाँ आदि सब टुकड़े टुकड़े करके स्थान से पश्चिम की ओर थोड़ी दूर पर ढेर कर दिये गये। इसके उपरान्त राजा ने एक ब्राह्मण को आज्ञा दी कि वृक्ष में आग उत्पन्न करके यज्ञ का समारम्भ करे। सम्पूर्ण वृक्ष जल कर निर्धूम होने ही पर था कि एका-एक एक दूसरा वृक्ष पहले वृक्ष से दूना उस ज्वाला में से निकल आया। इसके पत्र इत्यादि पक्षियों के पर के समान चमकीले थे इस कारण इसका नाम 'भस्मबोधिवृक्ष' हुआ। अशोक राजा इस चमत्कार को देख कर अपने अपराध पर बहुत पश्चात्ताप करने लगा। उसने प्राचीन वृक्ष की जड़ों को सुगंधित दूध से सिञ्चन किया। दूसरे दिन सबेरा होते ही पहले के समान वृक्ष उग आया। अशोक राजा इस घटना से बहुत ही विचलित हो गया और बुद्ध-धर्म पर उसका विश्वास इतना अधिक बढ़ गया कि वह धार्म्मिक कर्म में

ऐसा लिप्त हुआ कि घर लौटना भूल गया। उसकी स्त्री भी विरोधियों में से थी। उसने गुप्तरूप से एक मनुष्य को भेजा जिसने आकर रात्रि के प्रथम पहर में वृक्ष को फिर से काट कर गिरा दिया। दूसरे दिन सबेरे जब अशोक वृक्ष की पूजा करने के लिए आया तो वृक्ष की दुर्दशा देखकर ही दुखित हुआ। बड़ी भक्ति के साथ प्रार्थना करते हुए वृक्ष की पूजा करके उसने फिर जड़ों को उसी प्रकार सुगंधित दुग्ध इत्यादि से सिञ्चन किया जिससे दिन भर के भीतर ही भीतर वृक्ष फिर नवीन हो गया। अशोक ने इस विलक्षणता को देख कर और अगाध भक्ति में मग्न होकर वृक्ष के चारों ओर ईंटों से १० फीट ऊँची दीवार बनवा दी जो अब तक वर्तमान है। अन्तिम समय में शशाङ्क राजा ने. विरोधियों का अनुयायी होकर, बौद्ध-धर्म पर मिथ्या कलङ्क लगाने के लिए ईर्षावश अनेक संघारामों को खुदवा डाला और बोधिवृक्ष को काट कर गिरा दिया। इतने पर भी उसको सन्तोष नहीं हुआ। उसने पानी के सोते तक भूमि को खुदवा डाला. परन्तु जड़ का अन्त न मिला। तब उसने उसको फुंकवा दिया और ईख के रस से भरवा दिया जिससे सर्वथा इसका नाश हो जावे और चिह्न तक न बच रहे।

कुछ दिनों बाद जब पूर्णवर्म्मा नामक मगध-देश के राजा ने जो अशोक-वंश का अन्तिम नृपति था, इस समाचार को सुना तो वह बहुत दुखित हुआ। उसने कहा "ज्ञान का सूर्य अस्त हो चुका है, उसका स्मारक और कुछ नहीं केवल बोधिवृक्ष था, पर उसको भी इन दिनों लोगों ने विनष्ट कर डाला, धार्मिक जीवन का अब क्या अवलम्ब होगा?" इसी प्रकार विचार करते करते वह शोक-सम्मोहित होकर भूमि पर

गिर पड़ा। इसके उपरान्त उसने एक हज़ार गौओं के दुग्ध से वृक्ष की जड़ों को सिँचवाया, जिससे रात्रि भर में १० फ़ीट ऊँचा वृक्ष निकल आया। इस बात का भय करके कि कदाचित् इसको फिर कोई न काट डाले उसने २४ फ़ीट ऊँची दीवार इसके चारों ओर बनवा दी जो अब भी वृक्ष को घेरे हुए २० फ़ीट ऊँची वर्तमान है।

बोधिवृक्ष के पूर्व एक विहार १६० या १७० फ़ीट ऊँचा है। इसकी नींव की चौड़ाई २० क़दम के लगभग है। सम्पूर्ण इमारत नीली ईंटों की है जिसके ऊपर चूने का पलस्तर है। प्रत्येक खंड में जितने आले हैं उन सबमें सोने की मूर्तियाँ हैं। स्थान के चारों ओर बहुत सुन्दर चित्रकारी और पच्ची-कारी का काम बना हुआ है। किसी किसी स्थान पर तो चित्र मोती जड़ कर बनाये गये हैं। अनेक स्थानों पर ऋषियों की मूर्तियाँ हैं जिनके चारों ओर मुलम्मा किया हुआ ताँबा जड़ा है। पूर्व ओर सिंहपौर है जिसके निकले हुए छज्जे एक पर एक बने हुए, यह सूचित करते हैं कि यह तीन खंड का है। इसके छज्जे, खम्भे, कड़ियाँ और खिड़कियाँ इत्यादि सोने और चाँदी से मढ़ी हुई हैं और बीच बीच में मोती और रत्न इत्यादि जड़ दिये गये हैं। तीनों खण्डों में से गुप्त कोठरियों और अंधकाराच्छन्न तहखानों में जाने का अलग अलग रास्ता है। फाटक के बाहरी ओर दाहिने और बाएँ दोनों तरफ़ दो आले इतने बड़े बड़े हैं जितना बड़ा कोठरी का द्वार होता है। बाएँ ओरवाले आले में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की प्रतिमूर्ति है और दाहिनी ओरवाले में मैत्रेय बोधिसत्व की प्रतिमा है। ये दोनों चाँदी की बनी हुई श्वेत-रङ्ग की हैं और कोई १० फ़ीट ऊँची हैं। जिस स्थान पर यह विहार बना हुआ

है ठीक उसी स्थान पर पहले एक छोटा सा विहार अशोक राजा का बनवाया हुआ था। पीछे से एक ब्राह्मण ने इसको बृहदाकार का बनवाया। आदि में यह ब्राह्मण बुद्ध-धर्म में विश्वास नहीं करता था परञ्च महेश्वर का उपासक था। इस बात को सुनकर कि उसका ईश्वर हिमालय पहाड़ में रहता है वह अपने छोटे भाई के सहित उस स्थान पर महादेव से प्रार्थना करने गया। देवता ने उत्तर दिया. "जो प्रार्थना करके कुछ चाहते हों उनमें कुछ धार्मिक बल भी होना आवश्यक है। यदि तुझ प्रार्थना करनेवाले में पुण्य-बल नहीं है तो न तो तुझको कुछ माँगने का अधिकार है और न मैं कुछ देही सकता हूँ।"

ब्राह्मण ने पूछा, "वह कौनसा पुण्य-कर्म है जिसके करने से मेरी कामना पूर्ण हो सकेगी?"

महादेवजी ने उत्तर दिया "यदि तुम पुण्य की जड़ उत्तम प्रकार से जमाया चाहते हो तो उसके लिए उत्तम क्षेत्र भी तलाश करो। बुद्धावस्था प्राप्त करने का उत्तम स्थान बोधिवृक्ष है। तुम सीधे वहीं पर चले जाओ और बोधिवृक्ष के निकट ही एक बड़ा भारी विहार और एक तड़ाग बनवाओ तथा सब प्रकार की वस्तुएँ धार्मिक कृत्य के लिए भेट कर दो। इस पुण्य-कार्य के करने से अवश्य तुम्हारी कामना पूर्ण होगी।"

ब्राह्मण इस प्रकार की दैवी आज्ञा पाकर और इस आदेश को भक्तिपूर्वक धारण करके लौट आया। बड़े भाई ने विहार बनवाया और छोटे ने तड़ाग। इसके उपरान्त धार्मिक भेट का समारोह करके वे दोनों अपनी कामना के पूर्ण होने की प्रतीक्षा करने लगे। उनकी कामना पूर्ण हुई। वह ब्राह्मण राजा का प्रधान मन्त्री होगया। इस पद पर रहने से जो कुछ

लाभ उसको होता था वह सबका सब वह दान कर देता था। जिस समय विहार उसकी इच्छानुकूल बन कर तैयार होगया उस समय उसने बड़े बड़े कारीगरों को बुला कर आज्ञा दी कि बुद्धदेव की एक मूर्ति उस समय की बना दो जिस समय वह पहले पहल बुद्धावस्था को प्राप्त हुए थे। परन्तु किसी कारीगर ने इस प्रकार की मूर्ति बना देने का वचन नहीं दिया। वर्षों इसी प्रकार व्यर्थ प्रयत्न होता रहा। अन्त में एक ब्राह्मण आया, उसने सब लोगों पर यह प्रकट किया कि मैं अभिलषित मूर्ति बना दूँगा"।

लोगों ने पूछा, "तुमको इस काम के करने के लिए किन किन वस्तुओं की आवश्यकता होगी ?"

उसने उत्तर दिया "विहार के भीतर सुगंधित मिट्टी रख दो और दीपक जला दो, जब मैं भीतर चला जाऊँ तब द्वार बन्द कर दो। उस द्वार को छः महीने बाद खोलना होगा; तब तक वह बन्द रहना चाहिए।"

संन्यासियों ने उसी समय उसकी आज्ञानुसार सब काम कर दिया। परन्तु चार ही महीने के बाद उत्सुक संन्यासियों ने, यह जानने के लिए कि भीतर क्या हो रहा है, द्वार खोल दिया। भीतर उन्होंने क्या देखा कि एक सुन्दर मूर्ति बुद्ध भगवान् की बैठी हुई है[1] जिसका मुख पूर्व की ओर है, और यही मालूम होता है कि स्वयं बुद्धदेव सजीव बैठे हुए हैं। सिंहासन चार फ़ीट दो इंच ऊँचा और बारह फ़ीट पाँच इंच

[1] यह मूर्ति पल्थी मारे बैठी थी, जिसका दाहिना पैर ऊपर था, बायाँ हाथ जाँघ पर रक्खा था और दाहिना हाथ लटक कर भूमि में छू गया था।

विस्तृत था। मूर्ति ११ फ़ीट ५ इञ्च ऊँची, एक जाँघ का दूसरी जाँघ से फ़ासिला ८ फ़ीट ८ इञ्च, और एक कन्धे की दूसरे कन्धे से दूरी ६ फ़ीट २ इंच थी। बुद्धदेव के शरीर में जो कुछ चिह्न इत्यादि थे सब पूरे तौर से बना दिये गये थे। उनका मुखारविन्द बिल्कुल सजीव अवस्था के समान था, केवल मूर्ति की दाहिनी छाती अधूरी रह गई थी। उस स्थान पर किसी व्यक्ति को न देख कर उन लोगों को विश्वास होगया कि यह ईश्वरीय चमत्कार है। उन लोगों ने बहुत कुछ ढूँढ़ खोज भी की परन्तु कुछ पता न लगा। इससे उनका विश्वास और भी अधिक होगया। उसी दिन रात्रि में एक श्रमण आकर उसी स्थान में टिक रहा. वह बहुत ही सच्चे और सीधे चित्त का व्यक्ति था। उसके ऊपर इस सब वृत्तान्त का बड़ा प्रभाव हुआ। उसको रात्रि में स्वप्न हुआ, जिसमें उसने देखा कि एक ब्राह्मण, उसी प्रकार का जैसा उसने मूर्ति बनानेवाले का स्वरूप सुना था, उसके पास आकर कह रहा है, "मैं मैत्रेय बोधिसत्व हूँ, मुझको मालूम था कि उस पुनीत स्वरूप की छवि का अन्दाज़ा कोई कारीगर न कर सकेगा इस कारण मैं स्वयं बुद्धदेव की मूर्ति को बनाने आया था। मूर्ति का दाहिना हाथ इस कारण लटका हुआ है कि जब बुद्धदेव बुद्धावस्था को प्राप्त होने के निकट पहुँचे उसी समय उनको भंग करने के लिए 'मार' भी लालच दिखाता हुआ आ पहुँचा। उस समय भूमि का एक देवता 'मार' के आने का सब हाल बुद्धदेव से निवेदन करके उसके रोकने के लिए आगे बढ़ा। तथागत ने उससे कहा, "मत भयभीत हो! अपने धैर्य से हम उसको दबा देंगे।" मार ने पूछा, 'इस बात की गवाही क्या है? कि आप जीत गये और मैं

हार गया ?" तथागत ने उसी समय अपना हाथ नीचे ले जाकर भूमिस्पर्श करते हुए उत्तर दिया, "यह मेरी गवाह है।" उसी समय एक दूसरा देवता भूमि से प्रकट होकर इस बात का साक्षी हो गया। यही कारण है कि वर्तमान मूर्ति इस तरह की बनाई गई है कि वह यथार्थरूप में बुद्ध भगवान की उस समय की अवस्थाविशेष की द्योतक है।"

वे दोनों भाई (ब्राह्मण) इस पुनीत और आश्चर्योत्पादक समाचार को पाकर बहुत प्रसन्न हो गये। छाती को जहाँ का काम अधूरा रह गया था, उन्होंने रत्नों के एक हार से सुसज्जित, और मस्तक को बहुमूल्य रत्न-जटित मुकुट से सुशोभित कर दिया।

शशाङ्क राजा ने बोधिवृक्ष को काट कर इस मूर्ति को भी तोड़ फोड़ डालना चाहा था, परन्तु इसके सुन्दर स्वरूप पर वह ऐसा मुग्ध हो गया कि चुपचाप अपने साथियों सहित लौट कर चला गया। मार्ग में उसने अपने एक कर्मचारी से कहा, "हमको बुद्धदेव की वह मूर्ति भी हटा देनी चाहिए और उस स्थान पर महेश्वर की मूर्ति स्थापित करनी चाहिए।"

कर्मचारी इस आज्ञा को सुन कर बहुत भयभीत हो गया। उसने बड़े दुख से कहा, "यदि मैं बुद्धदेव की प्रतिमा को नष्ट करता हूँ तो न मालूम कितने कल्प तक मैं दुख भोगता रहूँगा और यदि राजा की आज्ञा से विमुख होता हूँ तो वह मुझको बड़ी निर्दयता से मार कर मेरे परिवार का भी नाश कर देगा। दोनों अवस्थाओं में, चाहे मैं उसकी आज्ञा पालन करूँ या न करूँ, मेरी भलाई नहीं है। इस समय मुझ को क्या करना चाहिए ?"

इसी प्रकार सोच विचार करते हुए उसने अपने एक बड़े विश्वासी आदमी को बुला कर यह समझाया कि मूर्ति-वाली कोठरी में मूर्ति से कुछ हट कर आगे की ओर एक दीवार बनाओ और उस पर महेश्वर भगवान की मूर्ति बना दो। उस व्यक्ति से मारे लज्जा के दिन-दहाड़े यह काम न हो सका इस कारण उसने दीपक जला कर रात्रि में दीवार बनाई और उसके ऊपर महेश्वर-देव का चित्र बना दिया।

काम के समाप्त होने पर जैसे ही यह समाचार राजा को सुनाया गया तो वह अत्यन्त भयभीत हो गया। उसके सम्पूर्ण शरीर में घाव हो गये जिसमें से मांस गल गल कर निकलने लगा और थोड़ी ही देर में वह मर गया। उसी समय उस कर्मचारी ने फिर आज्ञा दी कि परदेवाली वह दीवार तुरन्त खोद डाली जावे। यद्यपि कई दिन दीवार बने हुए हो गये थे परन्तु खोदनेवाले जिस समय उस स्थान पर पहुँचे उनको वह दीपक जलता हुआ मिला।

इस समय भी मूर्ति ठीक उसी भाँति है जैसी कि ईश्वर के पुनीत कारीगरी द्वारा विरचित हुई थी। यह एक तिमिर-पूर्ण कोठरी में स्थापित है जिसमें दीपक और पलीते जला करते हैं। तो भी जो लोग पवित्र स्वरूप का दर्शन करना चाहें वे बिना कोठरी के भीतर गये कदापि दर्शन नहीं कर सकते। शरीर के पुनीत और विशेष चिह्न देखने के लिए यह प्रबन्ध है कि प्रभात समय सूर्य की किरणें एक काँच की सहायता से मूर्ति तक पहुँचाई जाती हैं. उस समय वे चिह्न देखे जा सकते हैं। जो ध्यानपूर्वक उनका दर्शन कर लेते हैं उनका विश्वास पुनीत धर्म की ओर विशेष दृढ़ हो जाता है। तथागत ने पूर्ण ज्ञान (सम्यक सम्बोधि) वैशाख मास के शुक्ल

पक्ष की अष्टमी को प्राप्त किया था, जो हमारे यहाँ के तृतीय मास की आठवीं तिथि हुई। स्थवीर सम्प्रदायवाले वैशाख मास शुक्ल पक्ष की १५ वीं तिथि कहते हैं, जो हमारे यहाँ के तृतीय मास १५ वीं तिथि हुई। तथागत की अवस्था उस समय ३० वर्ष की थी। और कोई कोई ३५ वर्ष की भी बतलाते हैं।

बोधिवृक्ष के उत्तर में एक स्थान है जहाँ पर बुद्धदेव टहले थे। तथागत, पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी, सात दिन तक अपने आसन से नहीं उठे और विचार ही करते रहे। इसके उपरान्त उठ कर बोधिवृक्ष के उत्तर सात दिन तक टहलते रहे। वे उस स्थान पर पूर्व और पश्चिम दिशा में कोई १० क़दम टहले थे। उस समय उनके पग के नीचे चमत्कारपूर्ण फूल उत्पन्न हो गये थे जिनकी संख्या १८ थी। पीछे से यह स्थान कोई तीन फीट ऊँची दीवार से घेर दिया गया है। लोगों का पुराना विश्वास है कि ये पवित्र चिह्न जो दीवार से घिरे हुए हैं मनुष्य की आयु बतला देते हैं। जिस किसी को अपनी आयु जाननी हो वह सबसे पहले भक्तिपूर्वक प्रार्थना करे और फिर उस स्थान को नापे. यदि मनुष्य का जीवन अधिक है तो नाप भी अधिक होगी, और यदि कम है तो नाप भी कम होगी।

जहाँ पर बुद्ध भगवान् टहले थे उसके उत्तर तरफ़ सड़क के बायें किनारे पर एक विहार है जिसके भीतर एक बड़े पत्थर के ऊपर बुद्धदेव की एक मूर्ति, आँखें उठाये हुए ऊपर को देखती हुई, है। इस स्थान पर प्राचीन काल में बुद्धदेव सात दिन तक बैठे हुए बोधिवृक्ष को देखते रहे थे। इस अवसर में उन्होंने पल-मात्र के लिए भी अपनी निगाह को नहीं हटाया

था। वृक्ष के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकाशित करने के लिए ही वे इस प्रकार नेत्र जमाये देखते रहे थे।

बोधिवृक्ष के निकट ही पश्चिम दिशा में एक बड़ा विहार है, जिसके भीतर बुद्धदेव की एक मूर्ति पीतल की बनी हुई है। यह मूर्ति पूर्वाभिमुख बैठी हुई दुर्लभ रत्न इत्यादि से विभूषित है। इसके सामने एक नीला पत्थर पड़ा है जिस पर अद्भुत अद्भुत चिह्न और विचित्र विचित्र चित्र बने हुए हैं। यह पत्थर उस स्थान पर है जहाँ पर बुद्धावस्था प्राप्त करके बुद्ध भगवान, ब्रह्मा राजा के बनाये हुए बहुमूल्य सप्तधातु के भवन में, शक्र राजा के बनवाये हुए सप्त रत्न के सिंहासन पर आसीन हुए थे। जिस समय वह इस प्रकार बैठे हुए सात दिन तक विचार-सागर में मग्न रहे थे उस समय एक विचित्र प्रकाश उनके शरीर से ऐसा प्रस्फुटित होने लगा था जिससे बोधिवृक्ष जगमगा उठा था। बुद्ध भगवान के समय से लेकर अब तक अगणित वर्ष व्यतीत हो गये हैं, इस कारण रत्न इत्यादि सब बदल कर पत्थर हो गये हैं।

बोधिवृक्ष के दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक स्तूप लगभग १०० फीट ऊँचा अशोक राजा का बनवाया हुआ है। बोधिसत्व नीराञ्जन नदी में स्नान करके बोधिवृक्ष की तरफ़ जा रहे थे, उस समय उनको यह विचार हुआ कि बैठने के लिए क्या प्रबन्ध करना होगा उन्होंने निश्चय किया कि दिन निकलने पर कुछ पवित्र घास[1] (कुश) तलाश कर लेनी चाहिए। उसी समय शक्र राजा घसियारे का स्वरूप बना कर

[1] सेमुअल वील साहब ने "Pure rushes" लिखा है जिसका अर्थ नागरमोथा होता है।

और घास की गठरी पीठ पर लादे हुए सड़क पर जाते दिखलाई पड़े। बोधिसत्व ने उनसे पूछा, "क्या तुम अपना घास का यह गट्ठा जो पीठ पर लादे हुए ले जा रहे हो मुझको दे सकते हो?"

बनावटी घसियारे ने इस प्रश्न को सुन कर बड़ी भक्ति के साथ अपनी घास उनको अर्पण कर दी। बोधिसत्व उसको लेकर वृक्ष की तरफ़ चला गया।

इसके निकट ही उत्तर दिशा में एक स्तूप है। बोधिसत्व जिस समय बुद्धावस्था प्राप्त करने के निकट पहुँचे उस समय उन्होंने देखा कि नीलकंठ पक्षी, जो शुभ सूचक कहे जाते हैं, झुंड के झुंड उनके सिर पर उड़ रहे हैं। भारतवर्ष में जितने शकुन विचारे जाते हैं उन सबसे बढ़ कर यह शकुन माना जाता है। इस कारण शुद्धवासस्थान के देवता लोगों ने, संसार के प्रचलित नियमानुसार, अपनी कार्यवाही प्रदर्शित करने के लिए इन पक्षियों को बुद्धदेव के ऊपर से उड़ा कर सब लोगों पर उनकी प्रभुता और पवित्रता का समाचार प्रकट कर दिया था।

बोधिवृक्ष के पूर्व सड़क के दाहें और बाईं दोनों तरफ़ दो स्तूप बने हुए हैं। ये वे स्थान हैं जहाँ पर मार राजा ने बोधिसत्व को लालच दिखाया था। जिस समय बोधिसत्व बुद्धावस्था को प्राप्त होने को हुए उस समय मार राजा ने उनसे जाकर कहा, "तुम चक्रवर्ती महाराजा हो गये, जाओ राज्य करो।" परन्तु बुद्धदेव ने स्वीकार नहीं किया जिस पर वह निराश होकर चला गया। इसके उपरान्त उसकी कन्या बहुत मनोहर स्वरूप बनाकर उनके चित्त को लुभाने के लिए पहुँची। पर बुद्धदेव ने अपने प्रभाव से उसके सुन्दर स्वरूप

और युवापन को बदल कर उसको कुरूप और वृद्धा बना दिया। वह भी लाठी टेकती हुई वहाँ से लौट गई[1]।

बोधिवृक्ष के उत्तर-पश्चिम मे एक विहार है जिसमें काश्यप बुद्ध की प्रतिमा है। यह अपने अद्भुत और पवित्र गुणों के कारण बहुत प्रसिद्ध है। समय समय पर इसमें से अलौकिक आलोक निकलता रहता है। इस स्थान के प्राचीन ऐतिहासिक वृत्तान्तों से विदित होता है कि जो आदमी पूर्ण विश्वास के साथ सात बार इस मूर्ति की प्रदक्षिणा करता है उसको अपने पूर्व जन्मों का वृत्तान्त अवगत हो जाता है कि कहाँ पर जन्म हुआ था और किस अवस्था में वह व्यक्ति रहा था।

काश्यपबुद्ध के विहार से उत्तर-पश्चिम की ओर भूमि में दो गुफाएँ बनी हुई हैं जिनमें भूमि के दो देवताओं के चित्र बने हुए हैं। प्राचीन काल में जिस समय बुद्धदेव पूर्णता को प्राप्त हो रहे थे उस समय मार राजा उनके निकट आकर परास्त हुआ था, जिसके साक्षी ये दोनों देवता हुए थे। इसके उपरान्त लोगों ने अपनी बुद्धि से तथा अपनी सम्पूर्ण कारीगरी को खर्च करके इनके कल्पित चित्रों को बनाया है।

बोधिवृक्ष की दीवार के उत्तर-पश्चिम में एक स्तूप कुंकुम नामक है जो ४० फ़ीट ऊँचा है। वो साउकुट देश के किसी

[1] बुद्धदेव के ऐसे चित्र जिनमें उनको लालच दिखाया गया है अनेक हैं। और सब घटनाओं का वृत्तान्त जो हुएन सांग ने अपनी पुस्तक में लिखा है, तथा गया के विशाल मन्दिर का वृत्तान्त जो लङ्का के राजा ने बनवाया था, डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने अपनी पुस्तक 'बुद्धगया' में विस्तृत रूप से लिखा है।

बड़े सौदागर का बनवाया हुआ है। प्राचीन काल में एक बड़ा भारी सौदागर उस देश में रहता था जो धार्मिक पुण्य प्राप्त करने के लिए देवताओं की यज्ञानुष्ठान आदि द्वारा अर्चना किया करता था। वह बुद्धधर्म से बहुत घृणा किया करता था और 'कर्म तथा उसका फल' इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता था। एक दिन वह अपने साथी व्यापारियों को साथ लेकर दक्षिणी समुद्र के किनारे अपने माल को जहाज़ पर लाद कर दूर देशों में बेचने के लिए प्रस्थानित हुआ। मार्ग में ऐसा विकट तूफ़ान आया कि जिससे वह मार्ग भूल गया और समुद्र की लहरों में पड़ कर चक्कर खाने लगा। तीन वर्ष तक उसकी यही दशा रही। इतने अवकाश में उसके पास जो कुछ भोजन की सामग्री थी वह सब समाप्त हो गई और उसका मुँह मारे प्यास के सूखने लगा (अर्थात् उसके पास पीने के लिए जल भी न रह गया) यहाँ तक कि उन लोगों को सबेरे से संध्या और संध्या से सबेरा काटना कठिन हो गया। उस समय वे सब लोग एकाचित्त होकर अपनी शक्ति भर अपने इष्ट देवताओं को स्मरण करने लगे परन्तु उनके परिश्रम का कुछ भी फल दिखाई न पड़ा। थोड़ी देर में उन्होंने देखा कि एक पहाड़ सामने है जिसकी ऊँची ऊँची चोटियाँ और खड़े चट्टान हैं और ऐसा मालूम होता है कि दो सूर्य उसके ऊपर प्रकाशित हैं। उसको देखकर सौदागर लोग प्रसन्न होगये और एक दूसरे को बधाई देकर कहने लगे "वास्तव में हम लोग भाग्यवान् हैं जो यह पहाड़ दिखाई पड़ा है, यहाँ पर हम लोगों को विश्राम और भोजन इत्यादि प्राप्त हो सकेगा।" उस समय बड़े सौदागर ने कहा, "यह पहाड़ नहीं है यह 'मक्र' मछली है।

यह जो ऊँची ऊँची चोटियाँ और खड़े चट्टान तुम समझ रहे हो वह उसके सिफुने और मूँछें हैं और उसकी चमकदार दोनों आँखें ही दो सूर्य हैं।" उसकी बात समाप्त होने भी नहीं पाई थी कि अकस्मात् जहाज़ के डूबने के लक्षण प्रतीत होने लगे जिसको देख कर 'बड़े सौदागर' ने अपने साथियों से कहा, "हमने लोगों को यह कहते हुए सुना है कि बोधिसत्व उन लोगों की सहायता में अवश्य समर्थ है जो दुःखित होते हैं। इस कारण आओ हम सब लोग मिल कर ऐसे समय में भक्तिपूर्वक उनका नाम स्मरण करें"। इस बात पर वे सब लोग एकस्वर और एकचित्त होकर बुद्धदेव की प्रार्थना करने लगे और उनका नाम पुकार पुकार कर सहायता माँगने लगे। उसी समय वह पहाड़ अन्तर्ध्यान होगया, दोनों सूर्य अदृश्य होगये और अकस्मात् शान्त तथा मनोहर स्वरूपवाला हाथ में दंड धारण किये हुए, आकाशमार्ग से आता हुआ एक श्रमण दिखलाई पड़ा। इसने पहुँच कर उस डूबते हुए जहाज़ को बचा लिया और क्षण भर में उन सबको उनके देश में पहुँचा दिया। वहाँ पर उन लोगों ने अपने विश्वास की दृढ़ता प्रदर्शित करने के लिए और अपने पुण्य की वृद्धि के लिए एक स्तूप बनवाया और उसको नीचे से ऊपर तक केसर के रङ्ग से पुतवा दिया। इस प्रकार अपनी भक्ति को दृढ़ करके अपने साथियों सहित वह सौदागर बुद्ध भगवान् के पवित्र स्थानों की यात्रा के लिए चला। बोधिवृक्ष के निकट पहुँच कर उन लोगों का चित्त ऐसा कुछ रम गया कि किसी को भी लौटने की इच्छा न हुई। एक मास व्यतीत हो जाने पर एक दिन वे लोग कहने लगे, "यहाँ से हमारा देश बहुत दूर है, कितने पहाड़

और नदियाँ बीच में हैं, हमको यह भी नहीं मालूम कि जब से हम यहाँ आये हैं हमारे बनाये हुये स्तूप में किसी ने झाड़ू बुहारी भी की है या नहीं।"

यह कर जैसे ही वे लोग इस स्थान पर आये (जहाँ पर वर्तमान स्तूप है) और अपने स्तूप को पुनः स्मरण करके भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा देने लगे कि उसी समय उन्होंने देखा कि एक स्तूप उनके सामने उपस्थित है। उसके निकट जाकर उन्होंने जो ध्यानपूर्वक देखा तो ठीक वैसा ही पाया जैसा उन्होंने अपने देश में बनवाया था। इसी सबब से इस स्तूप का नाम कुंकुम स्तूप है।

बोधिवृक्ष की दीवार के दक्षिण-पूर्ववाले कोण में एक न्यग्रोध वृक्ष के निकट एक स्तूप है। इसके निकट ही एक विहार है जिसमें बुद्धदेव की एक बैठी हुई मूर्ति है। यही स्थान है जहाँ पर ब्रह्मा ने बुद्धदेव को, जब उन्होंने बुद्धावस्था प्राप्त की थी, पुनीत धर्म के चक्र को संचलित करने का उपदेश दिया था[१]।

[१] जिस समय बुद्धदेव इस सन्देह में पड़े थे कि कौन उनके उपदेश को धारण करेगा उसी समय महलोकपति ब्रह्मा ने आकर बुद्धदेव को धर्म-चक्र संचलित करने का उपदेश दिया था। उन्होंने समझाया था, "जिस प्रकार तड़ाग में नीले और श्वेत फूल दिखाई पड़ते हैं, जिनमें से कितने ही अभी कली ही हैं, कितने ही फूलने पर आ चुके हैं और कितने हो पूर्णतया फूल चुके हैं, उसी प्रकार संसार में भी कितने ही मनुष्य उपदेश देने के योग्य नहीं हैं, कितने ही उपदेश के योग्य बनाये जा सकते हैं और कितने ही सत्य-धर्म को धारण करने के लिए उद्यत हैं।

बोधिवृक्ष की चहारदीवारी के भीतरी भाग में चारों कोनों पर एक एक स्तूप है। प्राचीन काल में तथागत भगवान पुनीत धाम्म को लेकर जब बोधिवृक्ष के चारों ओर घूमे थे, उस समय भूमि विकम्पित हो उठी थी। जिस समय वह वज्रासन पर पधारे उस समय भूमि फिर शान्त होगई थी। चहारदीवारी के भीतरी भाग में इतने अधिक पुनीत स्थान हैं जिनका अलग अलग वृत्तान्त देना अत्यन्त कठिन है।

बोधिवृक्ष के दक्षिण-पश्चिम में चहारदीवारी के बाहर एक स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर उन दोनों ग्वाल-कन्याओं का मकान था जिन्होंने बुद्धदेव को खीर दी थी। इसके निकट ही एक और स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर लड़कियों ने खीर को पकाया था। इसी स्तूप के निकट तथागत ने खीर को ग्रहण किया था। बोधिवृक्ष के दक्षिणी द्वार के बाहर एक तड़ाग कोई ७०० पग के घेरे में बना हुआ है। इसका जल दर्पण के सदृश अत्यन्त निर्मल है। नाग और मछलियाँ इसमें निवास करती हैं। यह वही तालाब है जिसको ब्राह्मण भ्राता ने महेश्वरदेव की आज्ञा से बनवाया था।

इसके दक्षिण में एक और भी तालाब है। तथागत भगवान ने बुद्धावस्था प्राप्त करने के समय स्नान करने की इच्छा की थी, उस समय देवराज शक्र ने बुद्धदेव के वास्ते यह तड़ाग प्रकट किया था।

इसके पश्चिम में एक बड़ा पत्थर उस स्थान पर है जहाँ पर बुद्धदेव ने अपने वस्त्र को धोकर फैलाना चाहा था और देवराज शक्र इस कार्य के लिए इस शिला को हिमालय पहाड़ से ले आये थे। इसके निकट ही एक स्तूप उस स्थान

पर हैं जहाँ पर तथागत ने जीर्ण वस्त्रों को धारण किया था। इसके दक्षिण की ओर जंगल में एक स्तूप उस स्थान पर हैं जहाँ पर दरिद्र वृद्धा स्त्री ने जीर्ण वस्त्र तथागत को अर्पण किये थे और उन्होंने उन्हें स्वीकार किया था।

शक्रवाले तड़ाग के पूर्व में जङ्गल के मध्य मे एक झील नागराज मुचिलिन्द की है। इस झील का जल नीले काले रङ्ग का हैं। इसका स्वाद मधुर और प्रफुल्ल करनेवाला हैं। इसके पश्चिमी तट पर छोटा सा एक विहार बना हुआ है जिसके भीतर तथागत भगवान की मूर्ति हैं। प्राचीन काल में जब तथागत बुद्धावस्था को प्राप्त हुए थे उस समय इस स्थान पर बड़ी शान्ति के साथ बैठे रहे थे और विचार करते हुए यहाँ पर उन्होंने सानन्द सात दिन बिताये थे। उस समय मुचि-लिन्द नागराज अपने शरीर को सात फेरे में उनके शरीर से लपेट कर तथागत की रखवाली, और अपने अनेकों सिर प्रकट करके उनके सिर पर छत्र के समान छाया करता रहा था। इसी कारण झील के पूर्व में नाग का स्थान बना हुआ है।

मुचिलिन्द झील के पूर्ववाले जङ्गल के मध्य में एक विहार के भीतर बुद्धदेव की प्रतिमा अत्यन्त दुर्बल और अशक्त अवस्था की सी हैं। इसके पास वह स्थान है जहाँ पर बुद्धदेव लगभग ७० पग टहले थे। इसकी प्रत्येक ओर पीपल का एक एक वृक्ष है। प्राचीन समय से लेकर अब तक यह नियम चला आता है कि रोगी पुरुष, चाहे धनी हो अथवा दरिद्र, इस मूर्ति में सुगंधित मिट्टी का लेप कर देने से बहुधा अच्छा हो जाता है। यह वह स्थान है जहाँ पर बोधिसत्व ने तपस्या की थी। इसी स्थान पर विरोधियों को परास्त करने के

लिए उन्होंने मार की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए छः वर्ष का व्रत अंगीकार किया था। उन दिनों वह गेहूँ और बाजरे का केवल एक दाना खाते थे जिससे उनका शरीर दुर्बल और अशक्त, तथा मुख कांतिहीन होगया था। जिस स्थान पर बुद्धदेव टहलते थे उसी स्थान पर व्रत से निवृत्त होकर एक वृक्ष की शाखा पकड़ कर खड़े होगये थे।

पीपल के वृक्ष के निकट, जो बुद्धदेव की तपस्या का स्थान है, एक स्तूप बना हुआ है। यह वह स्थान है जहाँ पर अज्ञात कौण्डिन्य आदि पाँचों व्यक्ति निवास करते थे। राजकुमार अवस्था में जब बुद्धदेव ने घर छोड़ा था उस समय कुछ दिन तक वे पहाड़ों और मैदानों में घूमा किये और जङ्गलों तथा जलकूपों के निकट विश्राम किया किये। पीछे से शुद्धोदन राजा ने पाँच व्यक्तियों को उनकी रक्षा और सेवा के लिए भेज दिया था। राजकुमार को तपस्या में लगा हुआ देख कर अज्ञात कौण्डिन्य आदि भी उसी प्रकार की कठिन तपस्या में रत हो गये थे।

इस स्थान के दक्षिण-पश्चिम में एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ बोधिसत्व ने नीराञ्जन नदी में प्रवेश करके स्नान किया था। नदी के निकट ही वह स्थान है जहाँ पर बोधिसत्व ने खीर ग्रहण की थी।

इस स्थान के निकट एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ किसी व्यापारी ने बुद्धदेव को गेहूँ और शहद अर्पण किया था। बुद्ध भगवान विचार में मग्न होकर एक वृक्ष के नीचे आसन (पलथी) मारे बैठे हुए परमानन्द का सुख अनुभव कर रहे थे। सात दिन के उपरान्त वे अपने ध्यान से निवृत्त हुए। उस जंगल के निकट होकर दो व्यापारी जा रहे थे।

उनसे स्थानीय देवताओं ने कहा, "शाक्य-वंश का राजकुमार इस जंगल में निवास करता है; वह अभी कुछ समय हुआ बुद्धावस्था को प्राप्त हुआ है; उञ्चास दिन व्यतीत हो चुके हैं, इस अरसे में ध्यान-धारणा में मग्न रहने के कारण उसने कुछ भी नहीं खाया है। जो कुछ तुम लोगों से हो सके जाकर उसको भेंट करो इससे तुमको बहुत लाभ होगा।"

इस आदेश के अनुसार उन लोगों ने अपनी वस्तुओं में से थोड़ा गेहूँ का आटा और शहद बुद्ध भगवान की भेंट किया और विश्वपूज्य बुद्धदेव ने उसको अंगीकार किया।

जिस स्थान पर व्यापारियों ने यह समर्पण किया था उसके पास एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर चार देव-राजों ने एक पात्र बुद्धदेव को भेंट किया था। जिस समय व्यापारी बुद्ध भगवान को गोधूम और शहद समर्पण करने लगे उस समय उनको ध्यान हुआ कि किस पात्र में मैं इसको ग्रहण करूँ। तुरन्त ही चार देवाधिपति चारों दिशाओं से आ पहुँचे। प्रत्येक के हाथ में एक एक सोने की थाली थी जिनको उन्होंने उनके सामने रख दिया। बुद्धदेव उन थालियों को देखकर चुप हो गये. उन्होंने उनको ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, क्योंकि संन्यासी के लिए ऐसी मूल्यवान वस्तुएँ रखना कलंक है। चारों राजाओं ने सोने की हटा कर चाँदी की थालियाँ, फिर बिल्लौर, अम्बर, माणिक आदि की थालियाँ समर्पण करनी चाहीं परन्तु जगत्पति ने उनमें से किसी को ग्रहण नहीं किया। तब चारों राजा अपने स्थान को लौट गये और अत्यन्त निर्मल नीले रङ्ग के पत्थर के पात्र लाकर बुद्ध-देव के अर्पण किये। इस भेंट को भी बुद्धदेव ने यह कह कर कि 'एक की आवश्यकता है, चार का क्या होगा?' अंगीकार

न करना चाहा, परन्तु प्रेम चारों ही राजाओं का समान था, किसके पात्र को ग्रहण करें और किसके को नहीं। इस कारण उन चारों को जोड़ कर एक पात्र इस तरह बनाया गया कि एक के भीतर एक थाली रख दी गई और वे सब चिपक कर एक पात्र हो गईं। इसी सबब से पात्र के चारों किनारे अलग अलग स्पष्ट विदित होते हैं।

इस स्थान से थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ बुद्धदेव ने अपनी माता को ज्ञानोपदेश दिया था। जिस समय बुद्धदेव पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके 'देवता और मनुष्यों के उपदेशक' इस नाम से प्रसिद्ध हुए, उस समय उनकी माता माया स्वर्ग से उतर कर इस स्थान पर आई थी। बुद्ध भगवान ने उसकी प्रसन्नता और भलाई के लिए समयानुसार उपदेश दिया था।

इस स्थान के निकट ही एक सूखी झील के किनारे एक स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर तथागत ने प्राचीन काल में अपनी प्रभावोत्पादिनी शक्ति का प्रदर्शन करके कुछ मनुष्यों को, जो शिक्षा के उपयुक्त थे, अपना शिष्य बनाया था।

इस स्थान के निकट एक स्तूप है। यहाँ पर तथागत भगवान ने उरविल्व काश्यप को उसके दोनों भाइयों और एक हज़ार साथियों के साथ शिष्य किया था। तथागत ने अपने 'विशुद्ध मार्ग-प्रदर्शक' नियम को सञ्चरित रखते हुए उसको समयानुसार ऐसा उपदेश दिया कि उसके चित्त में इनकी ओर भक्ति उत्पन्न होगई। यहाँ तक कि एक दिन उसके ५०० साथियों ने बुद्ध भगवान के शिष्य होने की अनुमति के लिए उससे प्रार्थना की, इस पर उरविल्व काश्यप ने कहा, "मैं भी अपने भ्रम को परित्याग करके उनका शिष्य

हूँगा।" यह कह कर उन सबको साथ लिये हुए वह उस स्थान पर गया जहाँ पर बुद्धदेव थे, और उनकी कृपा का प्रार्थी हुआ। बुद्धदेव ने उसको उत्तर दिया, "अपने चर्म-वस्त्र को उतार डालो और अपने हवन इत्यादि के पात्रों को फेंक दो।" उन लोगों ने आज्ञानुसार अपनी उपासना की वस्तुओं को नीराञ्जन नदी में फेंक दिया। जब काश्यप ने देखा कि उसके भाई की वस्तुएं नदी की धार में बहती चली जा रही हैं, वह विस्मित होकर अपने चेलों के सहित भाई से मिलने आया। अपने भाई का परिवर्तित स्वरूप और आचरण देख कर उसने भी पीत वस्त्रों को धारण कर लिया। गया काश्यप को जिस समय उसके भाइयों के धर्म-परिवर्तन का समाचार विदित हुआ वह भी जिस स्थान पर बुद्ध भँगवान थे गया और जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए धर्मोपदेश का प्रार्थी हुआ।

जहाँ पर काश्यप बंधुशिष्य हुए थे वहाँ से उत्तर-पश्चिम में एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर बुद्धदेव ने एक भयानक और क्रोधी नाग को, जिसको काश्यप ने बलि दे दिया था, परास्त किया था। बुद्ध भगवान जिस समय इन लोगों को शिष्य करने लगे तो प्रथम इनके उपासना के नियम को उन्होंने हटाया। फिर ब्रह्मचारियों के सहित क्रोधी नाग के भवन में जाकर ठहर रहे। आधी रात व्यतीत होने पर नाग अपने मुख से धुँवा और अग्नि उगलने लगा। उस समय बुद्धदेव ने भी समाधि लगा करके ऐसी अग्नि को उत्पन्न किया जिससे कि लपटें उठकर मकान की छत तक पहुँचने लगीं। ब्रह्मचारी लोग यह भय करके कि अग्नि बुद्धदेव को नाश कर रही है रोने चिल्लाने और सिर को पीटने

हुए उस स्थान पर पहुँचे। तब उरविल्व काश्यप ने अपने साथियों को सन्तुष्ट करने के लिए और उनका भय दूर करने के लिए समझाया, कि "यह जो दिखाई पड़ रही है वह अग्नि नहीं है बल्कि श्रमण नाग को परास्त कर रहा है।" तथागत उस नाग को पकड़ कर और अपने भिक्षापात्र में अच्छी तरह बन्द करके प्रातःकाल उसे हाथ में लिये हुए बाहर आये और अविश्वासियों के चेलों को दिखाया। इस स्मारक के पास एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर ५०० प्रत्येक बुद्ध एकही समय में निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

मुचिलिन्द नाग के तड़ाग के दक्षिण में एक स्तूप उस स्थान का निदर्शक है जहाँ पर बुद्धदेव को प्रलयकारी जल-राशि से बचाने के लिए काश्यप गया था। इसका वृत्तान्त इस प्रकार है कि काश्यप बन्धु यद्यपि शिष्य होगये थे परन्तु दैवी नियमों[1] के विपरीत आचरण करते थे, जिस सबब से दूर तथा निकटवर्ती लोग भी उनके कर्मों का आदर करके उनके उपदेशानुसार कार्य करने लग गये थे। जगदीश्वर भगवान् बुद्धदेव का यह स्वभाव था कि भटके हुओं को पंथ दिखावें, इस कारण इन सब लोगों को (काश्यप और उनके अनुयायियों को) शुभमार्ग पर लाने के लिए उन्होंने बड़े बड़े मेघ आकाश में उत्पन्न करके दूर तक फैला दिये, जिनसे मूसलधार वृष्टि होने लगी और चारों ओर जलामयी ही जलामयी हो गई। भयानक तुङ्ग तरङ्गों ने बढ़कर बुद्धदेव को चारों ओर से घेर लिया परन्तु वह इनसे अलग ही रहे। उस समय काश्यप ने मेघ और वृष्टि को देख कर अपने साथियों से बुलाकर

[1] वह नियम जो बुद्धदेव ने उनको सिखलाकर शिष्य बनाया था।

कहा कि 'जिस स्थान पर श्रमण रहता है वह स्थान भी अवश्य जलमग्न हो गया होगा।''

यह कह कर उनके बचाने के लिए वह एक नाव पर सवार होकर जहाँ पर बुद्धदेव थे गया। वहाँ पर उसने देखा कि बुद्धदेव पानी के ऊपर इस प्रकार टहल रहे हैं मानों पृथ्वी पर चलते हों। उसी समय बुद्धदेव उस जलराशि में गोता मार गये जिससे पानी फटकर गायब होगया और भूमि निकल आई। काश्यप इस प्रभावोत्पादक चमत्कार को देख कर अपने मन में लज्जित होकर लौट गया।

बोधिवृक्ष के पूर्वी फाटक के बाहर दो या तीन ली की दूरी पर एक स्थान अंधनाग का है। यह नाग अपने पूर्वजन्म के पापों के कारण अंधा उत्पन्न हुआ था। जब तथागत भगवान प्राग्बोधि पर्वत से चलकर बोधिवृक्ष के निकट जा रहे थे तब वह इस स्थान के निकट होकर निकले। नाग के नेत्र सहसा खुल गये और उसने देखा कि बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष के पास जा रहा है। उस समय उसने बोधिसत्त्व से कहा. "हे महात्मा पुरुष! आप बहुत शीघ्र बुद्धावस्था को प्राप्त होंगे। मेरे नेत्रों को अन्धकार-ग्रसित हुए अगणित वर्ष व्यतीत हो गये. परन्तु जिस समय संसार में किसी बुद्ध का आविर्भाव होता है उस समय मेरे नेत्र ठीक हो जाते हैं। भद्रकल्प में जब तीनों बुद्ध संसार मे अवतीर्ण हुए थे उस समय भी मेरे नेत्रों में प्रकाश होगया था और मैं देखने लगा था उसी प्रकार इस समय भी. "हे महामहिम! जिस समय आप इस स्थान पर पहुँचे उस समय एकाएक मेरे नेत्र खुल गये. इसलिए मैं जानता हूँ कि आप बुद्धावस्था प्राप्त करेंगे।''

बोधिवृक्ष की दीवार के पूर्वी फाटक के पास एक स्तूप

है। इस स्थान पर मार राजा ने बोधिसत्व को भयभीत करना चाहा था। जिस समय मार राजा को विदित हुआ कि बोधिसत्व पूर्णज्ञान प्राप्त करने के करीब हैं उस समय लोभ-प्रदर्शन और अनेक कला-कौशल करके भी विफलमनोरथ होने पर वह अपने सब गणों को बुलाकर और सेना को अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित करके इस तरह पर चढ़ दौड़ा मानो उनको मारने जाता हो। चारों ओर आँधी चलने लगी, पानी बरसने लगा, बादल गरजने लगे और बिजली चमकने लगी। फिर आग की लपटें उठने लगीं और धूमान्धकार के बादल छा गये। इसके उपरान्त धूल और पत्थर ऐसे बरसने लगे जैसे बरछियाँ चलती हों या धनुषों में से तीर निकल रहे हों। इस दशा को देखकर बुद्धदेव 'महाप्रेम' समाधि में मग्न हो गये जिससे मार राजा के अस्त्र-शस्त्र कमल के फूल हो गये। मार राजा की सेना इस चमत्कार को देखकर भयभीत होकर भाग गई।

यहाँ से थोड़ी दूर पर दो स्तूप देवराज शक्र और ब्रह्मा राजा के बनवाये हुए हैं।

बोधिवृक्ष की चहारदीवारी के उत्तरी फाटक के बाहर महाबोधिनामक संघाराम है। यह सिंहल देश के किसी प्राचीन नरेश का बनवाया हुआ है। इस धाम में ध्यान धारणा के लिए बुर्ज़ों सहित छः कमरे हैं। इसके चतुर्दिक रक्षक-दीवार तीस या चालीस फ़ीट ऊँची है। इस स्थान के बनाने में उच्च कोटि की कारीगरी ख़र्च की गई है तथा इसमें जो चित्रकारी की गई है उसमें रङ्ग बहुत पुष्ट लगाया गया है। बुद्ध भगवान् की मूर्ति सोना और चाँदी के संमिश्रण में, ढालकर, बनाई गई है और बहुमूल्य पत्थर तथा रत्न इत्यादि

से विभूषित है। इसके भीतर के ऊँचे और बड़े बड़े स्तूप बड़े ही मनोहर बने हुए हैं जिनमें बुद्ध भगवान का शरीराव-शेष है। शरीरावशेष में हड्डियाँ हाथ की उँगली के बराबर हैं, जो चिकनी, चमकीली, और निर्मल श्वेत रङ्ग की हैं तथा मांसा-वशेष बड़े मोती के समान कुछ नीलापन लिये हुए लाल रङ्ग का है। प्रत्येक वर्ष उस पूर्णमासी के दिन[1], जिस दिन तथागत भगवान ने अपना चमत्कार विशेषरूप से प्रदर्शित किया था, ये शरीरावशेष सब लोगों के दर्शनों के लिए बाहर लाये जाते हैं। किसी अवसर पर इनमें से प्रकाश निकलने लगता है और कभी कभी आप ही आप पुष्पवृष्टि होने लगती है। इस संघाराम में १,००० से अधिक संन्यासी हैं जो स्थवीर-संस्था के महायान-सम्प्रदाय का अनुशीलन करते हैं। धर्म-विनय का प्रतिपालन ये लोग बड़ी सावधानतापूर्वक करते हैं। इनका आचरण शुद्ध और ठीक होता है।

प्राचीन काल में एक राजा सिंहल देश में, जो दक्षिणी समुद्र का एक द्वीप (टापू) है, राज करता था। यह राजा बौद्धधर्म का भक्त और सच्चा अनुयायी था। एक समय ऐसा हुआ कि उसका भाई, जो बुद्ध का शिष्य (गृहत्यागी) हो गया था समग्र भारत में यात्रा करके बुद्ध भगवान के पुनीत चिह्नों का दर्शन करने के लिए निकला। जिन जिन संघारामों में वह गया वहाँ वहाँ पर विदेशी होने के कारण उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया। यह दशा देखकर वह अत्यन्त खिन्न होकर लौट गया। राजा

[1] भारतवर्ष में बारहवें मास की तीसवीं तिथि और चीन में प्रथम मास पन्द्रहवीं तिथि।

उसको आगे से मिलने के लिए बहुत दूर चलकर गया परन्तु श्रमण इतना अधिक दुःखित था कि उसके मुख से शब्द तक न निकला। राजा ने पूछा, "तुमको क्या कष्ट हुआ है जिससे तुम इतने अधिक दुखी हो ?" श्रमण ने उत्तर दिया, "हम महाराज के राज्य-वैभव पर भरोसा करके संसार की यात्रा के निमित्त घर से निकल कर अनेक दूरस्थ देशों और नवीन नवीन नगरों में गये। गरमी और जाड़े का कठिन कष्ट उठाकर वर्षों घूमा किये परन्तु हमारा यह परिश्रम लोगों की अप्रसन्नताही का कारण हुआ; जिस मनुष्य से मैंने जो कुछ प्रार्थना की उसके बदले में उसने मेरा अपमान और हँसी-ठट्ठा ही किया। इस प्रकार के मानसिक और शारीरिक कष्टों को सहन करके मैं प्रसन्न-चित्त कैसे हो सकता हूँ ?"

राजा ने कहा, "यदि ऐसी बात है तो बताओ क्या करना चाहिए" ?

उसने उत्तर दिया, "मेरी मुख्य और वास्तविक इच्छा यही है कि महाराज सम्पूर्ण भारतवर्ष में संघाराम निर्मित करावें। इस तरह पर पुनीत स्थानों की यात्रा भी आप करेंगे और सारे देश में आपका नाम भी अमर रहेगा। आप का यह काम, आपने अपने पूर्व पुरुषों के हाथ से जो कुछ बड़ाई पाई है उसकी कृतज्ञतासूचक और जो आगे राज्याधिकारी होंगे उनके लिए पुण्य-पथ-प्रदर्शक होगा"।

राजा ने उत्तर दिया, "यह बहुत उत्तम विचार है; इस समय के अतिरिक्त और कभी, मेरा ध्यान जाना कौन कहे, मैंने ऐसे सद्विचार को सुना भी नहीं था।"

यह कह कर उसने अपने देश के अनमोल रत्नों को भारत-नरेश की भेंट में भेजा। राजा ने उस भेंट को पाकर अपने

कर्त्तव्य का विचार और अपने दूर देशस्थ मित्र से प्रेम करके एक दूत के द्वारा कहला भेजा, "मैं इसके बदले में आपका क्या प्रत्युपकार कर सकता हूँ ?"

भारत-नरेश के इस प्रश्न के उत्तर में सिंहल-नरेश ने अपने मंत्री को भेजा, जिसने जाकर महाराजा से इस प्रकार विनय की:—

"महाधिराज भारत-नरेश के चरणों में सिंहल-नरेश अभिवादन करके प्रार्थना करता है कि महाराज की प्रतिष्ठा चारों ओर विस्तृत है तथा आपके द्वारा अनेक दूरस्थ देश लाभवान हो चुके हैं और होते हैं। इस कारण मेरे देश के श्रमण भी आपकी आज्ञाओं का प्रतिपालन और आपके प्रभाव की समीपता चाहते हैं। आपके विशाल देश में पर्य्यटन करके पुनीत स्थानों के दर्शनार्थ मैं अनेक संघारामों में गया परन्तु उनमें कहीं भी मेरा आतिथ्य-सत्कार नहीं किया गया। यहाँ तक कि मैं दुःखित और अपमानित होकर अपने घर लौट आया। इस कारण अब जो भविष्य में यात्री जावेंगे उनके लाभ के लिए मैंने यह उपाय सोचा है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में संघाराम बनवा दूँ जिनमें जाकर ये विदेशी यात्री ठहरें और विश्राम करें। इस कार्य से विदेशी यात्रियों को सुख तो हो होगा इसके अतिरिक्त दोनों राज्य भी प्रेम-सूत्र में बँधे रहेंगे।"

महाराजा ने मंत्री को उत्तर दिया, "मैं तुम्हारे स्वामी को आज्ञा देता हूँ कि तथागत भगवान् ने अपने चरित्र से जिन स्थानों को पुनीत किया है उनमें से किसी एक स्थान में वह संघाराम निर्माण करा लेवें।"

इस आज्ञा को पाकर वह मंत्री महाराजा से विदा होकर

अपने देश को लौट गया और राजा से सब हाल निवेदन किया। मंत्रिमण्डल ने उसका सत्कार और उसके कार्य की बड़ाई करके सब श्रमणों की सभा करके यह पूछा कि कहाँ पर संघाराम बनाया जावे। श्रमणों ने उत्तर दिया, "बोधि-वृक्ष वह स्थान है जहाँ पर सब गत बुद्धों ने परम फल को प्राप्त किया है, और जहाँ से, भविष्य में होनेवाले भी, इस गति को प्राप्त करेंगे, इसलिए इस स्थान से बढ़कर और उपयुक्त स्थान इस कार्य के लिए नहीं है।"

इस निश्चय के अनुसार उन लोगों ने अपने देश से सब प्रकार की सम्पत्ति को भेज कर अपने देश के लोगों के लिए यह संघाराम बनवाया था। यहाँ पर ताँबे के पत्र पर अंकित इस प्रकार आज्ञा लगी हुई है, "बिना भेद-भाव के सबकी सहायता करना बुद्ध-धर्म का उच्चतम सिद्धान्त है। जैसी कुछ अवस्था हो उसके अनुसार दया प्रदर्शित करना प्राचीन महात्माओं का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस समय में, जो राज-वंश का एक अयोग्य व्यक्ति हूँ, इस संघाराम को बनवाकर और पुनीत शरीरावशेष को स्थापित करके आशा करता हूँ कि इनकी प्रसिद्धि भविष्य में बहुत दिन बनी रहेगी और मनुष्य इनके द्वारा लाभवान होते रहेंगे। मैं यह भी आशा करता हूँ कि मेरे देश के साधु लोग भी अबाध्य रूप से इनका लाभ प्राप्त करके इस देश के लोगों में आत्मीय जन के समान सहवास कर सकेंगे। यह अमोघ लाभ वंश-परम्परा के लिए निर्विघ्न स्थिर रहे यही मेरी आंतरिक आकांक्षा है।"

यही कारण है जिससे इस संघाराम में सिंहल-निवासी अनेक साधु निवास करते हैं। बोधिवृक्ष के दक्षिण लगभग १० ली पर इतने अधिक पुनीत स्थान हैं कि उन सबका

नामोल्लेख नहीं किया जा सकता। प्रत्येक वर्ष जिस समय भिक्षु लोग अपने प्रावृट्-विश्राम से निवृत्त होते हैं उस समय हज़ारों और लाखों धार्मिक पुरुष प्रत्येक प्रान्त से यहाँ पर आते हैं। सात दिन तक वे लोग पुष्प-वर्षा कर, सुगन्धित वस्तुओं की धूप देकर तथा बाजा बजाते हुए सम्पूर्ण ज़िले में[1] घूमकर भेंट-पूजा इत्यादि करते हैं। भारत के साधु, बुद्ध भगवान् की पुनीत शिक्षा के अनुसार श्रावण मास के प्रथम पक्ष की प्रतिपदा को 'वास' ग्रहण करते हैं, जो हमारे हिसाब से पंचम मास की सोलहवीं तिथि होती है। और आश्विन मास की द्वितीय पक्ष की १५ वीं तिथि को वे लोग अपना विश्राम परित्याग करते हैं, जो हमारे यहाँ के आठवें मास की १५ वीं तिथि होती है।

भारतवर्ष में महीना का नामकरण नक्षत्रों पर अवलम्बित है। बहुत प्राचीन समय से लेकर अब तक इसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। परन्तु अनेक सम्प्रदायों ने देश के नियमानुसार, एक देश से दूसरे देश का, बिना किसी प्रकार का भेद-भाव दिखलाये हुए दिन मिती का उल्लेख किया है जिससे अशुद्धियाँ उत्पन्न हो गई हैं और यही कारण है कि ऋतु-विभाग करने में एक देश कुछ कहता है तो दूसरा कुछ। इसी लिए कहीं कहीं लोग चौथे मास की सोलहवीं तिथि को 'वास' में प्राप्त होते हैं, और सातवें मास की १५ वीं तिथि को उससे निवृत्त होते हैं।

———

१ वह ज़िला जहाँ पर बुद्धदेव ने तपस्या की थी।

नवाँ अध्याय

(मगधदेश-उत्तरार्द्ध)

बोधिवृक्ष के पूर्व में नीराञ्जन नदी पार करके, एक जङ्गल के मध्य में एक स्तूप है। इसके दक्षिण में एक तड़ाग है। यह वह स्थान है. जहाँ पर 'गन्धहस्ती' (एक हाथी) अपनी माता की सेवा-शुश्रूषा करता रहा था। प्राचीन काल में जिन दिनों तथागत बोधिसत्वावस्था का अभ्यास करते थे वह किसी गन्धहस्ती के पुत्र होकर उत्पन्न हुए थे। और उत्तरी पहाड़ों में निवास करते थे। घूमते घूमते एक दिन वह इस तड़ाग के किनारे आ पहुँचे, और यहीं पर निवास करके मीठे मीठे कमलों की जड़ और स्वच्छ जल ले जाकर अपनी अन्धी माता की सेवा-शुश्रूषा करने लगे। एक दिन एक व्यक्ति अपना घर भूल कर इधर-उधर जंगल में भटक रहा था। ठीक रास्ता न मालूम होने के कारण वह बहुत विकल होगया और बड़ी करुणा से विलाप करने लगा। हस्ती-पुत्र उसके क्रंदन को सुनकर दयावश उसको ठीक रास्ते पर पहुँचा आया। वह मनुष्य अपने ठिकाने पर पहुँच कर तुरन्त राजा के पास पहुँचा और कहा, "मुझको एक ऐसा जङ्गल मालूम है जिसमें एक गन्धहस्ती निवास करता है। यह पशु बड़े मूल्य का है इसलिए आप जाकर उसको अवश्य पकड़ लाइए।[1]"

[1] जनरल कनिंघम साहब लिखते हैं कि स्तूप का भग्नावशेष और जहाँ पर हाथी पकड़ा गया था उस स्थान के स्तम्भ का निचला

राजा उसकी बातों पर विश्वास करके अपनी सेना के सहित उस हाथी को पकड़ने के लिए चला और वही व्यक्ति आगे आगे मार्ग बतलाता चला। जिस समय वह उस स्थान पर पहुँचा और राजा को हाथी बताने के लिए उसने अपना हाथ उठाया, उसी समय उसके दोनों हाथ ऐसे गिर पड़े जैसे किसी ने उन्हें तलवार से काट डाला हो। राजा ने इस आश्चर्य व्यापार को देखकर भी उस हाथी को पकड़ लिया और उसको रस्सियों से बाँध कर अपने स्थान को ले गया। वह शिशु हस्ती (पालतू होने के लिए) बाँधे जाने पर अनेक दिनों तक बिना कुछ भोजन पान के पड़ा रहा। महावत ने सब वृत्तान्त जाकर राजा से निवेदन किया, जिस पर राजा स्वयं उसके देखने के लिए आया और हाथी से कारण पूछने लगा। आश्चर्य! हाथी बोलने लगा!! उसने उत्तर दिया, "मेरी माता अन्धी है, मैं ही उसको भोजन और जल पहुँचाता था; मैं यहाँ पर कठिन बन्धन में पड़ा हूँ इस कारण मेरी माता को इतने दिनों से भोजन इत्यादि प्राप्त न हुआ होगा। ऐसी दशा में यह कब सम्भव है कि मैं सुख-पूर्वक भोजन करूँ?" राजा ने उसके भाव और मन्तव्य पर दयालु होकर उसके छोड़ने की आज्ञा दे दी।

इस तड़ाग के पास एक स्तूप है जिसके सामने एक पाषाण-स्तम्भ लगा हुआ है। प्राचीन काल में काश्यप बुद्ध इस स्थान पर समाधि में मग्न हुए थे। इसी के निकट गत चारों बुद्धों के उठने बैठने आदि के चिह्न हैं।

भाग, नीलाञ्जन नदी के पूर्वी किनारे पर बकरोर स्थान में अब तक वर्तमान है। यह स्थान बुद्धगया से एक मील दक्षिण-पूर्व में है।

इस स्थान के पूर्व मोहो[1] (माही) नदी पार करके हम एक बड़े जङ्गल में पहुँचे जिसमें एक पाषाण-स्तम्भ है। यह वह स्थान है जहाँ पर एक विरोधी परमानन्द अवस्था प्राप्त करके भी नीच प्रतिज्ञा कर बैठा था। प्राचीन काल में उद्रामपुत्र[2] नामक एक विरोधी था जो मेघों से ऊपर आकाश में उड़ने के लिए वनवासी होकर साधना करता था। इस पुनीत अरण्य में उसको पञ्चाध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त हो गई थीं और वह ध्यान के परमतम पद को पहुँच गया था। मगध-नरेश उसके तप की प्रतिष्ठा करके प्रति दिन मध्याह्न काल में भोजन करने के लिए उसको अपने स्थान पर निमन्त्रित किया करता था। उद्रामपुत्र अधर में चढ़ कर वायु-द्वारा गमन करते हुए बिना किसी प्रकार की रुकावट के उसके स्थान पर जाया करता था। मगधराज उसके आने के समय बड़ी सावधानी रखता था और उसके आने पर बड़ी भक्ति से उसे अपने स्थान पर बैठाता था। एक दिन राजा को बाहर जाने की आवश्यकता हुई, उस समय वह इस बात की चिन्ता करने लगा कि अपनी अनुपस्थिति में किसके ऊपर इस कार्य का भार डाला जाय, परन्तु उसके रनिवास में कोई भी ऐसा न निकला जो उसकी आज्ञा पालन करने योग्य होता। परन्तु (उसके सेवकों में) एक छोटी कन्या लज्जा-स्वरूपिणी, शुद्धा-चरणवाली और ऐसी चतुर थी कि राजा का कोई भी

[1] मोहन नदी।

[2] उद्रामपुत्र एक महात्मा होगया है जिसके निकट बुद्धदेव तपस्या करने के पहले गये थे, परन्तु यह निश्चय नहीं है कि यह व्यक्ति जिसको हुएन सांग लिखता है वही है या और कोई।

सेवक उससे बढ़ कर नहीं था। मगधराज ने उसको बुलाया और कहा, "मैं राज्यकार्यवश बाहर जाता हूँ और तुमको एक बहुत आवश्यक कार्य पर नियत करना चाहता हूँ। तुमको चाहिए कि तुम भी बहुत सावधानी के साथ उस कार्य का सम्पादन करो। तुम जानती हो कि प्रसिद्ध ऋषि उद्रामपुत्र, जिसकी सेवा और प्रतिष्ठा बहुत दिनों से मैं भक्तिपूर्वक करता रहा हूँ, मेरे जाने के उपरान्त जब नियत समय पर यहाँ भोजन करने के लिए आवे, तब तुम उसी प्रकार दत्तचित्त होके उसकी सेवा करना जैसे मैं करता हूँ।" इस प्रकार उसको शिक्षा देकर राजा अपने कार्य को चला गया।

वह कन्या उसी प्रकार जैसा राजा ने उसको बतलाया था ऋषि के आने के समय सावधानी से सब कार्य करती रही। जब वह आया तब उसने आदर के साथ उसको आसन पर बैठाया, परन्तु उद्रामपुत्र उस कन्या का स्पर्श होते ही विचलित हो गया—उसके चित्त में दुर्वासना का आविर्भाव हुआ जिससे उसकी सम्पूर्ण आध्यात्मिकता जाती रही। भोजन समाप्त करके चलते समय उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं रह गई कि वह वायु पर चढ़ सके। अपनी यह दशा देखकर उसको बड़ी लज्जा हुई। उसने झूँठी बातें बनाकर कन्या से कहा, "महात्मा पुरुषों के समान मैं समाधि-अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ, मैं वायु पर चढ़कर पल-मात्र में जहाँ चाहूँ वहाँ घूम फिर सकता हूँ। मेरे इस प्रभाव के कारण, मैंने सुना है, देश के लोग मेरे दर्शनों की बड़ी अभिलाषा रखते हैं। प्राचीन नियमानुसार मेरा यह परम धर्म है कि मैं सम्पूर्ण संसार का उपकार करता रहूँ। यदि केवल अपना स्वार्थ देखता रहूँ और दूसरों की ओर ध्यान न दूँ तो लोग मेरी क्या

प्रतीक्षा करेंगे? इस कारण आज मेरी इच्छा है कि द्वार से होकर भूमि पर पग-सञ्चालन करता हुआ लौट कर जाऊँ, और सब लोगों को अपना दर्शन देकर प्रसन्न और सुखी करूँ।"

उस कन्या ने इस आज्ञा को सुन कर इसका समाचार सब स्थानों में झटपट पहुँचा दिया। सैकड़ों आदमी मार्ग झाड़ने बुहारने और छिड़कने में लग गये तथा लाखों मनुष्यों की भीड़ पर भीड़ उसके दर्शन के निमित्त दौड़ पड़ी। रुद्र-रामपुत्र राजभवन से पैदल चलकर अपने आश्रम को चला गया। अपने आश्रम में जिस समय शान्ति के साथ समाधि में मग्न होकर वह अधरगामी होने लगा उस समय उसमें इतनी शक्ति नहीं रह गई कि वह वन की सीमा के बाहर भ्रमण कर सके। साथ ही इसके, जब वह वन में भ्रमण कर रहा था तब उसने देखा कि पक्षी उसके निकट आकर चिल्ला रहे हैं और अपने पर फटफटा रहे हैं। जिस समय वह तड़ाग के किनारे पहुँचा मछलियाँ पानी के बाहर कूदने लगीं और छींटे उड़ा उड़ा कर उस पर डालने लगीं। यह दशा देख कर उसका भाव और का और होकर चित्त अत्यन्त विकल होगया, उसकी सम्पूर्ण सहिष्णुता विलीन होगई तथा उसने क्रोध में आकर यह संकल्प किया, "मेरा जन्म भविष्य में किसी ऐसे भयानक पशु की योनि में होवे जो शरीर में तो लोमड़ी के समान हो परन्तु पक्षियों के सदृश परधारी भी हो, जिससे मैं प्राणियों को पकड़ कर भक्षण कर सकूँ। मेरे शरीर की लम्बाई ३,००० ली और परों का फैलाव १,५०० ली हो और मैं जङ्गलों में घुस कर पक्षियों को और नदियों में घुस कर मछलियों को पकड़ पकड़ कर भक्षण कर सकूँ।"

यह संकल्प करके वह फिर तपस्या में लीन होगया तथा कठिन परिश्रम करके फिर अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होगया। कुछ दिनों के बाद उसका देहान्त हो गया और उसका जन्म 'भुवानि स्वर्ग[1]' में हुआ, जहाँ पर वह अस्सी हज़ार कल्प तक निवास करेगा। तथागत भगवान् ने इसकी बाबत लिखा है कि "उसकी आयु के वर्ष उस स्वर्ग में समाप्त होने पर वह अपनी प्रतिज्ञा का फल प्राप्त करेगा, और अधम शरीर में जन्म लेकर अधम कर्मों में फँसा हुआ कभी भी छुटकारा न पा सकेगा[2]।"

माही नदी के पूर्व हम एक बड़े विकट वन में घुसे और लगभग १०० ली चल कर 'कुक्कुट पादगिरि' तक पहुँचे। इसका नाम 'गुरुपादाः गिरि'[3] भी कहा जाता है। इस पहाड़

[1] अर्थात् अरूप-स्वर्ग में सर्वोपरि स्थान को भुवानि स्वर्ग कहते है। चीनी भाषा में इस स्वर्ग का नाम 'फिसि अङ्क फिफि 'सिअङ्कटिन' है, जिसका अर्थ यह है कि वह स्वर्ग जहां विचार अविचार कुछ नहीं है। पाली में इसको 'नेव सञ्ञाना सञ्ञा' कहते हैं।

[2]अर्थात यद्यपि इस समय वह सर्वोपरि स्वर्ग में वास करता है और ८,०००० महाकल्प तक वहीं पर रहेगा, तो भी भविष्य यन्त्रणा से उसका छुटकारा नहीं हो सकता। इस दृष्टान्त से बुद्धदेव के निर्वाण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है, कि उसको प्राप्त करके मनुष्य किसी प्रकार भी आवागमन के जाल में नहीं फँस सकता।

[3]अर्थात प्रतिष्ठित गुरु का पर्वत; काश्यपपाद केवल भक्ति के लिए जोड़ दिया जाता है, जैसे देवपादाः, कुमारिल पादाः इत्यादि। कदाचित् अपनी बनावट के कारण यह कुक्कुट-पाद कहलाता है, क्योंकि इसकी तीन चोटियाँ कुक्कुट के पैर के समान है। फाहियान इसको

के किनारे बहुत ऊँचे हैं तथा घाटियाँ और रास्ते बड़े दुर्गम हैं। इसके निकट होकर जलधारा बड़े वेग से बहती है और घाटियाँ विकट वन से परिपूर्ण हैं। इसकी नुकीली चोटियाँ, जो तीन हैं, ऊपर वायु-मण्डल में उठी हुई मेघ-मंडल में विलीन हो जाती हैं और स्वर्गीय वाष्प (वर्फ़) से लदी हुई हैं। इन चोटियों के पीछे महा काश्यप निर्वाणावस्था में निवास करते हैं। इनका प्रभाव ऐसा प्रवल है कि लोग नामोच्चारण तक करते हुए झिझकते हैं इस कारण 'गुरुपादाः' कह कर सम्बोधन करते हैं। महाकाश्यप श्रावक था और इतना बड़ा महात्मा था कि 'षडभिज्ञा' (छहो अलौकिक शक्तियाँ) और 'अष्टौविमोक्ष' (आठ प्रकार की मुक्ति) इसको सिद्ध थे। तथागत धर्मप्रचार का काम समाप्त करके जिस समय निर्वाण के सन्निकट हुए उस समय उन्होंने काश्यप से कहा. "अनेकों कल्प तक जन्म-मरण का कष्ट मैंने केवल इस-लिए सहन किया है कि प्राणियों के लिए धर्म के उत्कृष्ट स्वरूप का निर्माण कर दूँ। जो कुछ मेरी वासना थी वह सब परि-

गया के दक्षिण में ३ ली पर लिखता है जो कदाचित् भूल से तीन योजन के स्थान पर हो गया है, और दिशा भी दक्षिण ग़लत है, पूर्व होनी चाहिए। जनरल कनिंघम साहब ने 'कुर किहार' ग्राम को ही स्थान निश्चय किया है। कुक्कुट-पाद पहाड़ी को पटना के निकटवाला कुक्कुट-बाग़ संघाराम समझना भूल है। इस बात का कोई सबूत नहीं है कि इस संघाराम के निकट पहाड़ी थी। और किसी स्थान पर भी इसको कुक्कुट-पाद विहार नहीं लिखा गया है। जुलियन साहब ने और बरनफ़ साहब ने जो प्रमाण दिये हैं उनसे गया के निकट पहाड़ी का होना निश्चय होता है।

पूर्ण हो गई इसलिए अब मेरी इच्छा महानिर्वाण में लिप्त होने की है। मेरे पीछे धर्म पिटक का भार तुम्हारे ऊपर रहेगा। इसमें किसी प्रकार की घटी न होने पावे वरंच ऐसा उपाय करना जिससे उत्तरोत्तर वृद्धि और प्रचार में उन्नति ही होती रहे। मेरी चाची के दिये हुए स्वर्णतन्तु संपूरित काषाय वस्त्र के विषय में मैं तुमको आज्ञा देता हूँ कि इसे अपने पास रक्खो, और जब मैत्रेय बुद्धावस्था को प्राप्त हो जावें तब उनको दे दो। जो लोग मेरे धर्म में व्रती होवें, चाहे वे भिक्षु हों या भिक्षुनी, उपासक हों या उपासिका, उनका प्रथम कर्तव्य यही होगा कि जन्म-मृत्यु-रूपी धारा से बचें, अथवा उसको पार करें।"

काश्यप ने यह आज्ञा पाकर सत्य धर्म की रक्षा के लिए एक बड़ी भारी सभा एकत्रित की। उस सभा के साथ वह बीस वर्ष तक काम करता रहा, परन्तु संसार की अनित्यता पर खिन्न होकर वह मरने की इच्छा से कुक्कुटपाद गिरि की तरफ़ चल दिया। पहाड़ के उत्तरी भाग से चढ़ कर घूम-घुमौवे रास्तों को पार करता हुआ वह दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर पहुँचा, यहाँ पर चट्टानों और करारों के कारण वह आगे न बढ़ सका, इसलिए एक घनी झाड़ी में घुस कर उसने अपने दण्ड से चट्टान को तोड़ कर मार्ग निकाला। इस प्रकार चट्टान को विभक्त करके वह और आगे बढ़ा। थोड़ी दूर जाने पर एक दूसरी चट्टान उसके मार्ग में बाधक हुई, उसने फिर उसी तरह रास्ता बनाया और चलता चलता पूर्वोत्तर दिशा की चोटी पर पहुँचा। वहाँ से तंग रास्तों को पार करता हुआ जिस समय वह तीनों चोटियों के मध्य में पहुँचा उसने बुद्धदेव के काषाय वस्त्र (चीवर) को हाथ में

लेकर और खड़े होकर अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण किया। उस समय तीनों चोटियों ने उठकर उसको घेर लिया। यही कारण है कि ये तीनों ऊपर वायु-मंडल में पहुँची हुई हैं। भविष्य में जब मैत्रेय संसार में आवेंगे और त्रिपिटक का उपदेश करेंगे उस समय अगणित घमंडी उनके सिद्धान्तों का प्रतिवाद करेंगे। उन लोगों को लेकर वह इस पहाड़ पर आवेंगे और जिस स्थान पर काश्यप हैं वहाँ पहुँच कर उस स्थान को झटपट (चुटकी बजाकर) खोल देंगे, परन्तु लोग काश्यप को देख कर और भी गर्वित तथा दुराग्राही हो जावेंगे। उस समय काश्यप, मैत्रेय भगवानको पूर्ण-भक्ति और नम्रता के साथ काषाय वस्त्र दे देंगे। तदुपरान्त वायु में चढ़कर सब प्रकार के आध्यात्मिक चमत्कारों को दिखाते हुए अपने शरीर से अग्नि और वाष्प को उत्पन्न करके निर्वाण को प्राप्त हो जायँगे। उस समय लोग इन चमत्कारों को देखकर अपने घमण्ड को परित्याग कर देंगे और अपने अन्तःकरण का उद्घाटन करके पुनीत फल को प्राप्त करेंगे। यही कारण है कि पहाड़ की चोटी पर स्तूप बना हुआ है। संध्या के समय जिस दिन प्राकृतिक शान्ति का अधिराज्य होता है उस दिन लोगों को दूर से दिखाई पड़ता है कि कोई वस्तु ऐसी प्रकाशित है जैसे मशाल जलती हो। परन्तु यदि पहाड़ पर जाकर देखा जाय तो कुछ भी पता नहीं चलता[1]।

[1] तीन चोटियोंवाले पहाड़ के सम्बन्ध में, जिसका वर्णन हो रहा है, जनरल कनिंघम साहब निश्चय करते हैं कि आज-कल का मुराली पहाड़ ही कुक्कुटपाद, है जो कुरकिहार ग्राम से उत्तर उत्तर-पूर्व में तीन मील

कुक्कुटपाद गिरि से पूर्वोत्तर दिशा में जाकर लगभग १०० ली पर 'बुद्धवन' नामक पहाड़ है जिसकी चोटियाँ और पहाड़ियाँ ऊँची और खड़ी हैं। ऊँची पहाड़ियों के मध्य में एक गुफा है जहाँ पर एक बार बुद्धदेव आकर ठहरे थे। इसके निकट ही एक बड़ा पत्थर पड़ा हुआ है जिस पर देवराज शक्र और ब्रह्मा ने 'गोशीर्षचन्दन[1]' को रगड़ कर तथागत भगवान् के तिलक किया था। पत्थर में से अब भी इसकी सुगंधि आती है। यहाँ पर भी पाँच सौ अरहट गुप्तरूप से निवास करते हैं। जो लोग अपने धर्म में कट्टर होते हैं और इनके दर्शनों की इच्छा करते हैं उनको कभी कभी दर्शन हो भी जाते हैं। किसी समय ये श्रमणों के भेष में गाँव में भिक्षा माँगने निकलते हैं, किसी समय अपनी गुफाओं में प्रवेश करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे लोग समय समय पर जो अपने आध्यात्मिक चमत्कारों के चिह्न छोड़ जाते हैं उन सबका विस्तृत वर्णन करना कठिन है।

बुद्धवन पहाड़ की वनैली घाटी मे पूर्वाभिमुख कोई ३०

पर है। यहाँ पर अब भी मध्यवाली अथवा ऊँची चोटी पर एक चौकोर नींव है जिसके आस पास ईंटों का ढेर है।

[1] सेमुएलबील साहब Ox head sandal wood, लिखते हैं जिसका अनुवाद 'गोशीर्ष चन्दन' किया गया है। इस शब्द के समझने के लिए उन साहब ने बहुत प्रयत्न किया है परन्तु ठीक समझ नहीं सके। मेरे विचार में इस शब्द से तात्पर्य्य 'गोरोचन' से है, जो एक सुगंधित वस्तु है तथा गायों के सिर में निकलती है, और जिसके तिलक का वर्णन पुराणों में प्रायः आया है। तान्त्रिक लोगों के यहाँ इसका अधिक व्यवहार होता है।

ली चलकर हम एक वन में पहुँचे जिसका नाम यष्टीवन है। बाँस जो यहाँ उत्पन्न होते हैं बहुत बड़े बड़े होते हैं। ये पहाड़ी को घेरे हुए सम्पूर्ण घाटी में फैले चले गये हैं। प्राचीन काल में एक ब्राह्मण था, जो यह सुनकर कि शाक्य बुद्ध का शरीर १६ फ़ीट ऊँचा था, बहुत सन्देहान्वित हो गया था। उसको इस बात का विश्वास ही नहीं हुआ था। एक बार वह एक बाँस १६ फ़ीट ऊँचा लेकर बुद्धदेव की उँचाई नापने के लिए आया। परन्तु बुद्धदेव का शरीर उस बाँस के सिरे से और भी १६ फ़ीट ऊँचा हो गया। इस वृद्धि को देखकर वह हैरान हो गया; वह न समझ सका कि ठीक नाप किस प्रकार और क्या हो सकती है। वह उस बाँस को भूमि पर फेंक कर चला गया परन्तु वह बाँस उठकर खड़ा होगया और जम आया। जंगल के मध्य में एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यहाँ पर बुद्धदेव ने देवताओं को अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाये थे और सात दिन तक गुप्त और विशुद्ध धर्म का उपदेश दिया था।

यष्टिवन में थोड़े दिन हुए जयसेन नामक एक उपासक रहता था। यह जाति का क्षत्री और पश्चिमी भारत का निवासी था। यह बहुत ही साधुचित्त और सुशील पुरुष था और जङ्गलों और पहाड़ों में निवास करने में ही सुख मानता था और ऐसे स्थान में रहता था जो एक प्रकार से अप्सराओं की भूमि कहना चाहिए, परन्तु उसका चित्त सदा सत्य ही की परिधि के भीतर भ्रमण करता था। उसने कट्टर लोगों के ग्रंथों तथा अन्य प्रकार की पुस्तकों के गूढ़ सिद्धान्तों का बहुत परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया था। उसके शब्द और विचार शुद्ध, उसके भाव उच्च और उसका स्वरूप शान्त और गम्भीर

था। श्रमण, ब्राह्मण, अन्यान्य मतवाले लोग, राजा, मन्त्री, गृहस्थ और सब प्रकार के उच्च पदाधिकारी उसके पास उसके दर्शन करने और शङ्का-समाधान करने के लिए आया करते थे। उसके शिष्यों की सोलह कक्षायें थीं। यद्यपि उसकी अवस्था लगभग ७० वर्ष के हो चुकी थी तो भी अपने शिष्यों को वह बड़े परिश्रम से पढ़ाया करता था। वह केवल बौद्धों के सूत्रों को पढ़ाता था, दूसरे प्रकार की पुस्तकों की ओर ध्यान नहीं देता था। तात्पर्य यह कि वह दिन-रात जो कुछ शारीरिक तथा मानसिक कार्य करता था वह सब सत्यधर्म ही के लिए होता था।

भारतवर्ष में यह प्रथा है कि सुगन्धित वस्तुएँ डाल कर गारा बनाते हैं और उस गारे से छोटे छोटे स्तूप तैयार करते हैं, जिनकी उँचाई छः या सात इञ्च से अधिक नहीं होती। इन स्तूपों के भीतर किसी सूत्र का कुछ भाग जिसको 'धर्म-शरीर' कहते हैं लिख कर रख देते हैं। जब इन धर्म-शरीरों की संख्या अधिक हो जाती है तब बड़ा स्तूप बनाकर उसके भीतर इन्हें रखते हैं और सदा उसकी पूजा अर्चा किया करते हैं। जयसेन का यह व्यसन हो गया था कि मुख से तो वह अपने शिष्यों को विशुद्ध धर्म सिखला कर धार्मिक बनाता था और हाथों से इस प्रकार के स्तूप बनाया करता था। इस प्रकार धर्माचरण करके उसने उच्चतम और सर्वोत्तम पुण्य को प्राप्त कर लिया था॥ सायंकाल के समय वह मन्त्रों का पाठ करता हुआ पुनीत स्थानों की पूजा-अर्चा करने जाता था, अथवा शान्ति के साथ बैठकर ध्यान में लीन हो जाता था। सोने और भोजन करने के लिए उसको बहुत ही कम समय मिलता था। रात-दिन उसको शिष्य लोग

घेरे रहते थे। इसी अभ्यास के कारण १०० वर्ष की अवस्था होने पर भी उसका शरीर और मन, अशक्त नहीं हुआ। तीस वर्ष तक परिश्रम करके उसने सात कोटि धर्म-शरीर-स्तूप बनाये थे और प्रत्येक कोटि के लिए एक बड़ा स्तूप बनाकर उनको उसके भीतर रख दिया था। इतने बड़े परिश्रम के काम की समाप्ति में अपनी धार्मिक भेंट अर्पण करके उसने अन्य उपासकों को निमंत्रित किया। उन लोगों ने बड़ाई करते हुए उसको बहुत बहुत बधाई दी। इसी समय एक दैवी प्रकाश चारों ओर फैल गया और अद्भुत अद्भुत व्यापार आप ही आप प्रदर्शित होने लगे। उस समय से लेकर अब तक वह दैवी प्रकाश दिखलाई दिया करता है।

यष्टिवन[1] के दक्षिण-पश्चिम में लगभग १० ली दूर एक बड़े पहाड़ के किनारे पर दो तप्तकुण्ड[2] हैं जिनका जल बहुत गरम है। प्राचीन काल में तथागत भगवान् ने इस जल को प्रकट करके स्नान किया था। इनके जल का शुद्ध प्रवाह अब तक जैसा का तैसा वर्तमान है। दूर तथा निकटवर्ती स्थानों के लोग यहाँ आकर स्नान किया करते हैं, जिनमें से बहुधा जीर्ण और असाध्य रोगी अच्छे भी हो जाते हैं। कुंडों के किनारे एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर तथागत ने धर्मोपदेश दिया था।

[1] जनरल कनिंघम साहब लिखते हैं, "बाँस का वन अब भी वर्तमान है जो 'जखतीवन' कहलाता है। यह बुधेन पहाड़ी (बुद्धवन) के पूर्व में है। लोग बहुधा इसमें से बाँस काट कर अपने काम में लाते हैं।

[2] जखतीवन के दक्षिण में लगभग दो मील पर ये दोनों कुंड तपोवन के नाम से प्रसिद्ध हैं।

यष्टिवन के दक्षिण-पूर्व में लगभग ६ या ७ ली चलकर हम एक पहाड़ के निकट पहुँचे। इस पहाड़ के एक ओर करार के सामने एक स्तूप है। यहाँ पर प्राचीन काल में तथागत भगवान् ने प्रावृट्-ऋतु के विश्राम-काल में तीन मास तक देवता और मनुष्यों के उपकारार्थ धर्म का उपदेश दिया था। उन दिनों बिम्बसार राजा धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए आया था, उसने पहाड़ को काट कर चढ़ने के निमित्त सीढ़ियाँ बनवा दी थीं। ये सीढ़ियाँ कोई २० पग चौड़ी तीन या ४ ली की उँचाई तक चली गई हैं[1]।

इस पहाड़ के उत्तर में ३ या ४ ली आगे एक निर्जन पहाड़ी है। प्राचीन काल में व्यास ऋषि इस स्थान पर एकान्तवास करते थे। उन्होंने पहाड़ के पार्श्व को खोद कर एक निवास-भवन बनाया था जिसका कुछ भाग अब भी दृष्टिगोचर होता है। इनके उपदेशों का प्रचार अब भी वर्तमान है। शिष्य लोग उन सिद्धान्तों को सादर ग्रहण करते हैं।

इस निर्जन पहाड़ी के उत्तर-पूर्व में ४ या ५ ली दूर एक और छोटी पहाड़ी है। यह पहाड़ी भी एकान्त में है और इसके पास एक गुफा बनी है। इस गुफा की लम्बाई-चौड़ाई १,००० मनुष्यों के बैठने भर को यथेष्ट है। इस स्थान पर तथागत भगवान् ने तीन मास तक धर्म का निरूपण किया था। गुफा के ऊपर एक बड़ी और सुहावनी चट्टान है जिस पर देवराज शक्र और राजा ब्रह्मा ने गोशीर्ष चन्दन पीस

[1] जनरल कनिंघम इस पहाड़ को हंडिया की १,४६३ फ़ीट ऊँची पहाड़ी निश्चय करते हैं।

कर तथागत के शरीर को चर्चित किया था। इसके ऊपरी भाग में से अब भी सुगन्ध निकलती है।

इस गुफा के दक्षिण-पश्चिमवाले कोण पर एक ऊँची गुफा है जिसको भारतवासी असुरों का भवन कहते हैं। प्राचीन काल में एक पुरुष बड़ा सुशील और जादूगरी के काम में निपुण था। उसने एक दिन अपने साथियों समेत, जिनकी संख्या उसके सहित चौदह हो गई थी, इस ऊँची गुफा में प्रवेश किया। लगभग ३० या ४० ली जाने पर सम्पूर्ण भवन विशद आलोक से आलोकित हो उठा जिसके प्रकाश में उन्होंने देखा कि एक नगर, जिसके चारों ओर दीवार बनी है, सामने है, जिसके भवन आदि जो कुछ दृग्गोचर हो रहे हैं सब सोना-चाँदी रत्न इत्यादि के बने हुए हैं। नगर में प्रवेश करने के लिए आगे बढ़ने पर उन्होंने देखा कि कुछ युवा कुमारिकायें फाटक पर बैठी हैं। उन कुमारियों ने प्रफुल्ल-वदन से उन सबका प्रणामपूर्वक स्वागत किया। थोड़ी दूर और आगे बढ़ कर वे लोग नगर के भीतरी फाटक पर पहुँचे। यहाँ उन्होंने देखा कि दो परिचारिकायें फूल और सुगंधित वस्तुओं को सोने के घड़ों में भरे हुए लिये खड़ी हैं। उन वस्तुओं को लेकर वे इनके पास आईं और कहने लगीं, "आप लोगों को पहले उस सामनेवाले तड़ाग में स्नान करना चाहिए, इसके उपरान्त अपने को इन सुगंधित वस्तुओं से सुवासित और पुष्पों से सुसज्जित करना चाहिए। तब आप लोग नगर के भीतर प्रवेश कर सकते हैं। इसलिए आप लोग जल्दी मत कीजिए। केवल जादूगर इसमें इसी समय जा सकते हैं। इस बात पर शेष तेरह आदमी उसी क्षण स्नान करने चल गये। तड़ाग में प्रवेश करते ही वे लोग

बेसुध हो गये, जो कुछ उन्होंने देखा था सब भूल गये, और यहाँ से उत्तर में तीस चालीस ली दूर, समतल भूमि के एक धान के खेत में बैठे हुए पाये गये।

गुफा के पास एक मार्ग लकड़ी का बना हुआ है जिसकी चौड़ाई १० पग और लम्बाई ४ या ५ ली है। प्राचीन काल में बिम्बसार राजा जिस समय बुद्धदेव का दर्शन करने जा रहा था उसने चट्टानों को काट कर घाटियों का उद्घाटन और करारों को समतल कर नदी के ऊपर यह मार्ग बनाया था। जिस स्थान पर बुद्धदेव रहते थे वहाँ तक ऊँचाई पर चढ़ने के लिए उसने दीवारें बनवा कर और चट्टानों में छेद करके सीढ़ियाँ बनवा दी थीं।

इस स्थान से पूर्व दिशा में पहाड़ों को पार करते हुए लगभग ६० ली दूर हम कुशागारपुर[1] में पहुँचे। यह स्थान मगधराज्य का केन्द्र है। इस स्थान पर देश के प्राचीन नरेश ने अपनी राजधानी बसाई थी। यहाँ पर बहुत उत्तम सुगंधित कुश उत्पन्न होता है इसी लिए इसको कुशागारपुर कहते हैं। ऊँचे ऊँचे पहाड़ इसको चारों ओर से चहारदीवारी के समान घेरे हुए हैं[2]। पश्चिम की तरफ़ एक संकीर्ण दर्रा है और उत्तर की तरफ़ पहाड़ों के मध्य में होकर मार्ग है। नगर पूर्व से पश्चिम तक अधिक विस्तृत है और उत्तर से दक्षिण

[1] जनरल कनिङ्गम साहब लिखते हैं, "कुशागारपुर" मगध की राजधानी थी और इसका नाम राजगृह था, इसको गिरिव्रज भी कहते हैं।

[2] फ़ाहियान भी यही लिखता है कि पाँच पहाड़ियाँ नगर को चहारदीवारी के समान घेरे हुए हैं।

तक कम इसका क्षेत्रफल १५० ली और नगर के भीतरी भाग की चहारदीवारी की हद लगभग ३० ली के घेरे में है। सड़कों के किनारे किनारे 'कनक' नामक वृक्ष लगे हुए हैं। इस वृक्ष के फूल बड़े सुगंधियुक्त और रङ्ग में बड़े मनोहर सोने के समान होते हैं।

राजभवन के उत्तरी फाटक के बाहर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ पर देवदत्त और राजा अजातशत्रु ने सलाह करके एक मतवाला हाथी तथागत भगवान को मारने के लिए छोड़ा था। परन्तु तथागत ने पाँच सिंह अपनी उँगलियों के सिरों से उत्पन्न करके उसको परास्त कर दिया था। उस हाथी का स्वरूप अब भी उनके सामने उपस्थित है।

इस स्थान के पूर्वोत्तर में एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ शारिपुत्र की भेंट अश्वजित् भिक्षु से हुई थी और भिक्षु ने धर्मोपदेश दिया था जिसके आश्रित होकर वह अरहट अवस्था को प्राप्त हुआ था। पहले शारिपुत्र गृहस्थ था; परन्तु बड़ा ही योग्य, शुद्ध चरित्र, और अपने समय का प्रतिष्ठित व्यक्ति था। अपने साथियों के साथ वह प्राचीन सिद्धान्तों को—जो उसको पहले से सिखाये गये थे—मनन किया करता था। एक दिन वह राजगृह नगर को जा रहा था। उसी समय अश्वजित् भिक्षु भी भिक्षा माँगने के लिए नगर में प्रवेश कर रहा था। शारिपुत्र ने उसको देखकर अपने साथी चेलों से कहा, "सामने मनुष्य आ रहा है वह कैसा तेजवान और शान्त है, यदि यह सिद्धावस्था को न पहुँच चुका होता तो कदापि इस प्रकार प्रशान्त स्वरूप न होता। आओ थोड़ा ठहर जायँ और उसको भी आलेने दें, जिसमें उसका हाल मालूम हो।" अश्वजित् अरहट अवस्था को प्राप्त हो चुका था,

उसका मन अचंचल और मुख से धैर्य तथा अविचल पवित्रता का प्रकाश प्रसरित हो रहा था। जिस समय हाथ में धर्मदण्ड लिये हुए वह धीरे धीरे निकट पहुँचा, शारिपुत्र ने उससे पूछा, "हे महात्मा! कहिए आप सुखी और प्रसन्न तो हैं? कृपा करके मुझको यह बता दीजिए कि आपका गुरु कौन है और किस नियम का आप पालन करते हैं जिससे आप सन्तुष्ट और प्रसन्न दिखाई देते हैं"?

अश्वजित् ने उसको उत्तर दिया, "क्या आपने नहीं सुना कि शुद्धोदन राजा के राजकुमार ने अपने पिता के चक्रवर्ती राज्य को परित्याग करके और छहों प्रकार की सृष्टि के लिए करुणा से प्रेरित होकर ६ वर्ष तक तपस्या की थी? वह अब सम्बोधि-अवस्था को पहुँच गया है, और वही मेरा गुरु है। इस धर्म में जन्म-मृत्यु की व्यवस्था का निरूपण है जिसका वर्णन करना कठिन है। जो बुद्ध हैं वे ही बुद्ध लोगों में इसकी थाह पा सकते हैं। मुझ सरीखे मूर्ख और अंधे मनुष्य किस प्रकार इसका वर्णन कर सकते हैं? तो भी मैं बुद्ध-धर्म की प्रशंसा विषयक कुछ वाक्य तुमको सुनाता हूँ। शारिपुत्र उसको सुनकर अरहट-अवस्था का फल पागया[1]।

इस स्थान के उत्तर में थोड़ी दूर पर एक बड़ी गहरी खाई है जिसके निकट एक स्तूप बना हुआ है। यह वह स्थान है जहाँ पर श्रीगुप्त ने खाई में अग्नि को छिपाकर और विषैले चावल देकर बुद्ध भगवान् को मार डालना चाहा था।

[1] उसने जो वाक्य कहा था वह 'फोशोकिङ्ग' नामक पुस्तक में लिखा हुआ है।

उन दिनों विरोधियों में श्रीगुप्त का बड़ा मान था। असत्य सिद्धान्तों के पालन करने में वह कट्टर समझा जाता था। सब ब्रह्मचारियों ने उससे कहा, "देश के लोग गौतम की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। उसके कारण हमारे शिष्यों का भरण-पोषण कठिन हो रहा है। तुम उसको अपने मकान में भोजन करने के लिए निमंत्रित करो और अपने द्वार के सामने एक बड़ी खाई बना कर उसको अग्नि से भर दो तथा ऊपर से लकड़ी के तख्ते बिछा कर अग्नि को बन्द कर दो। इसके अतिरिक्त भोजन में विष मिला दो। यदि वह अग्नि से बच जावेगा तो विष से मर जायगा।"

श्रीगुप्त ने सम्मति के अनुसार विष-मिश्रित भोजन तैयार किया। उस समय नगरनिवासी इस दुष्टता का समाचार पाकर तथागत भगवान् के पास गये और श्रीगुप्त की गुप्त मन्त्रणा का वृत्तान्त निवेदन करके प्रार्थी हुए कि उस मकान में आप न जाइए। भगवान् ने उत्तर दिया, "आप लोग दुखी न हों: तथागत का शरीर इन उपायों से क्लेशित नहीं हो सकता।" तथागत भगवान् निमंत्रण स्वीकार करके उसके स्थान पर गये। जैसे ही उन्होंने देहली पर पैर रक्खा कि खन्दक की आग पानी में परिणत हो गई और उसके ऊपर कमल के फूल खिल आये।

श्रीगुप्त इस चमत्कार को देखकर लज्जित हो गया। उसको भय हो गया कि उसका मंसूबा फलीभूत नहीं होगा। उसने अपने साथियों को कहला भेजा, "कि तथागत अपने प्रभाव-द्वारा अग्नि से तो बच गये परन्तु विष-मिश्रित भोजन अभी रक्खा हुआ है।" बुद्धदेव ने उन चावलों को खाकर

और विशुद्ध धर्म का उपदेश देकर श्रीगुप्त को भी अपना शिष्य कर लिया।

इस अग्निवाली खाई के उत्तर-पूर्व की ओर नगर की एक मोड़ पर एक स्तूप है। यहाँ पर जीवक नामी किसी वैद्यराज ने बुद्धदेव के निमित्त एक उपदेश-भवन बनवाया था जिसके चारों ओर उसने फल फूल वाले वृक्ष लगवा दिये थे। इसकी दीवारों की नींवें और वृक्ष की जड़ों के चिह्न अब तक वर्तमान हैं। तथागत भगवान् बहुधा इस स्थान पर आकर निवास किया करते थे। इस स्थान के बगल में जीवक के निवास-भवन का खंडहर तथा एक प्राचीन कुएँ का गर्त अब तक वर्तमान हैं।

राजभवन के पूर्वोत्तर में लगभग १४ या १५ ली चलकर हम गृध्रकूट पहाड़ पर पहुँचे। उत्तरी पहाड़ के दक्षिणांश ढाल से मिला हुआ यह एक ऊँची और जन-शून्य चोटी के समान है जिसके ऊपर गिद्धों का निवास है। यह एक ऐसे ऊँचे शिखर की भाँति विदित होता है कि जिसके ऊपर आकाश का नीला रङ्ग पड़ कर आकाश और पहाड़ का एक मिलवाँ रङ्ग बन जाता है।

तथागत भगवान् ने लगभग पचास वर्ष जो संसार के मार्ग-प्रदर्शन में व्यय किये थे उनका अधिक भाग इसी स्थान पर व्यतीत हुआ था; तथा विशुद्ध धर्म को परिवर्द्धित स्वरूप इसी स्थान पर प्राप्त हुआ था[1]। विम्बसार राजा धर्म को श्रवण करने के लिए अपरिमित जनसमुदाय लेकर यहाँ

[1] अन्तिम समय के अनेक बड़े बड़े सूत्रों के बारे में कहा जाता है कि वे यहीं पर विरचित हुए थे। लोगों का यहाँ तक विश्वास है कि

आया था। लोग पहाड़ के पदतल से लेकर चोटी तक भर गये थे। उन्होंने घाटियों को समतल और करारों को धराशायी करके दस पग चौड़ी सीढ़ियाँ बनाई थीं जो ५ या ६ ली तक चली गई थीं। मार्ग के मध्य में दो छोटे छोटे स्तूप बने हुए हैं जिनमें से एक 'रथ का उतार' कहलाता है, क्योंकि राजा इस स्थान से पैदल गया था; और दूसरा 'भीड़ की विदा' कहलाता है, क्योंकि साधारण लोगों को राजा ने यहाँ से विदा कर दिया था—उनको अपने साथ नहीं ले गया था। इस पहाड़ की चोटी पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बी और उत्तर से दक्षिण की ओर चौड़ी है। पहाड़ के पश्चिमी भाग पर एक ढालू करार के किनारे एक विहार ईंटों से बना हुआ है। यह ऊँचा, विस्तृत और मनोहर है। इसका द्वार पूर्वाभिमुख है। इस स्थान पर तथागत भगवान बहुधा ठहरा करते और धर्मोपदेश किया करते थे। यहाँ पर उनकी एक मूर्ति, उतनी ही ऊँची जितना ऊँचा उनका शरीर था और उसी ढंग की जैसे कि वह उपदेश कर रहे हों, वर्तमान है।

विहार के पूर्व एक लम्बा सा पत्थर है जिस पर तथागत भगवान् ने टहल टहल कर धर्मोपदेश दिया था। इसी के

इस पहाड़ से और बुद्धदेव से आध्यात्मिक सम्बन्ध था। सम्भव है कि तथागत का अन्तिम समय सिद्धान्तों के विशद स्वरूप के प्रदर्शन में व्यतीत हुआ हो और उनके इस कार्य का यही पहाड़ रङ्गस्थल रहा हो। परन्तु सूत्रों का अधिक भाग, इस स्थान पर प्रकाशित हुआ हो यह सिद्ध नहीं है (देखो फ़ाहियान अध्याय २६); गृध्रकूट शैल गिरि नामक एक ऊँची पहाड़ी का भाग है, परन्तु किसी गुफा का पता वहाँ पर नहीं चला। (जनरल कनिंघम)।

निकट चौदह या पन्द्रह फ़ीट ऊँचा और तीस पग घेरेवाला, एक बड़ा भारी पत्थर पड़ा हुआ है। इसी स्थान पर देवदत्त ने बुद्धदेव को मार डालने के लिए दूर से पत्थर फेंक कर मारा था[1]।

इसके दक्षिण की तरफ़ करार के नीचे एक स्तूप है। इस स्थान पर तथागत ने पूर्वकाल में 'सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र'[2] को प्रकाशित किया था।

विहार के दक्षिण में एक पहाड़ी चट्टान के पास एक विशाल भवन पत्थर का बना हुआ है। इस भवन में तथागत भगवान् ने किसी समय समाधि लगाई थी।

इस भवन के उत्तर-पश्चिम में और इसके ठीक सामने एक बड़ा भारी और विचित्र पत्थर है। इस स्थान पर आनन्द को मार राजा ने भयभीत कर दिया था। जिस समय महात्मा आनन्द इस स्थान पर समाधि में मग्न हो रहे थे उसी समय मार राजा कृष्णपक्ष की अर्द्ध निशा में गृध्र का स्वरूप धारण करके चट्टान पर आ बैठे और अपने पंखों को फड़फड़ा कर और बड़े शब्द से चीत्कार करके आनन्द को भयभीत करने लगे। आनन्द भया-

[1] देवदत्त के पत्थर फेंकने का वृत्तान्त फ़ाहियान (अध्याय २६) में भी लिखा है तथा 'फोशोकिङ्ग' और 'मैनुकल आफ बुद्धिज़्म' आदि पुस्तकों में भी पाया जाता है परन्तु कुछ थोड़ा सा भेद है।

[2] फ़ाहियान 'शुरङ्गम सूत्र' लिखता है और हुएन सांग सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र लिखता है। ये सूत्र बुद्धधर्म के अन्तिम ग्रन्थ हैं और इस स्थान पर विरचित हुए हैं, क्योंकि बुद्धदेव का अन्तिम धर्मोपदेश-स्थल यह पहाड़ ही था।

तुर होकर कर्तव्यविमूढ़ हो गये। उसी समय तथागत भगवान् ने अपने अन्तःकरण से उसकी दशा को जान कर उसको ढाढ़स बँधाने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। उन्होंने पत्थर की दीवार को तोड़ कर और आनन्द के सिर पर हाथ रख कर बड़े प्रेम के साथ कहा, "आनन्द! मार राजा के इस बनावटी स्वरूप से भयभीत मत हो।" आनन्द इस आश्वासन से चैतन्य होगया और उसका चित्त ठिकाने तथा शरीर स्वस्थ हो गया।

यद्यपि सैकड़ों वर्ष व्यतीत होगये हैं तो भी पत्थर पर पक्षी के पदचिह्न और चट्टान में छेद अब भी दिखाई देते हैं।

विहार के पास कई एक पत्थर के भवन[1] हैं जहाँ पर शारिपुत्र तथा अन्यान्य अरहट समाधि में मग्न हुए थे। शारिपुत्र के भवन के सामने एक सूखा और जलहीन कूप है जिसका गर्त अब तक वर्तमान है।

विहार से उत्तर-पूर्व की ओर एक पहाड़ी झरने के मध्य में एक बड़ा और चौड़ा पत्थर है। यहाँ पर तथागत ने अपने काषाय वस्त्र को सुखाया था। वस्त्र के तन्तुओं के चिह्न अब तक इस प्रकार वर्तमान हैं मानों चट्टान पर खोद दिये गये हों।

इसके पास एक चट्टान पर बुद्धदेव का पदचिह्न बना हुआ है जिसके चक्र की लकीरें यद्यपि कुछ कुछ बिगड़ गई हैं तो भी स्पष्ट दिखलाई देती हैं।

उत्तरी पहाड़ की चोटी पर एक स्तूप है। इस स्थान से

[1] कदाचित् गुफाएँ होगी। कनिंघम साहब इनको छोटी छोटी कोठरियाँ समझते हैं, जैसा कि इस वृत्तान्त से पुष्ट भी होता है।

तथागत ने मगध नगर[1] का अवलोकन करके सात दिन तक धर्मोपदेश दिया था।

पहाड़ी नगर के उत्तरी द्वार के पश्चिम ओर एक पहाड़ विपुलगिरि[2] नामक है। देश की किंवदन्ती के आधार पर इस स्थान का वृत्तान्त इस प्रकर प्रसिद्ध है कि "प्राचीन समय में इस पहाड़ की दक्षिणी-पश्चिमी ढाल के उत्तरी भाग में गरम जल के पाँच सौ झरने थे। परन्तु आज-कल केवल दस के लगभग हैं जिनमें से भी कुछ गरम और शेष ठंढे जल के हैं, अत्यन्त तप्त जल का एक भी नहीं"। इन झरनों का वास्तविक उद्गम जो भूमि के भीतर भीतर बहते हुए इस स्थान पर आकर फूट निकले हैं, हिमालय पहाड़ के दक्षिण अनवतप्त[3] झील से है। जल बहुत मीठा और स्वच्छ है तथा स्वाद में ठीक उसी झील के जल के समान है। धारायें (जो

[1] कदाचित् इससे तात्पर्य मगध की राजधानी राजगृह से है।

[2] सेम्मुअल बील साहब चीनी शब्द 'पिपुलो' से 'विपुल' निश्चय करते हैं, जो मि० जुलियन के मत से नहीं मिला। परन्तु कनिंघम साहब इसका ठीक अपभ्रंश 'वैभार' या 'बैभार' मानते हैं जैसा कि उन्होंने राजगिर के नक्शे में वैभार को नगर के उत्तरी फाटक के पश्चिम में लिखा है। यदि इसका अपभ्रंश ठीक है तो यह हुएन सांग के मत से मिलता-जुलता है, विपरीत इसके हुएन सांग जिस प्रकार पिपुलो के दक्षिण-पश्चिम ढाल पर तप्त झरने का होना लिखता है और जिस प्रकार कनिंघम साहब कहते हैं कि राजगृह के तप्त झरने वैभार पहाड़ के पूर्वी पदतल और विपुल के पश्चिमी पदतल पर पाये जाते हैं उससे तो यही सिद्ध होता है कि उच्चारण 'विपुल' ही है।

[3] इसको रावण-हृद भी कहते हैं।

झील से चलती हैं) संख्या में पाँच सौ हैं। ये भूमि के भीतर भीतर अग्निगर्भ के निकट होकर बहती हैं और उसी अग्नि की ज्वाला से जल गरम हो जाता है। अनेक तप्त झरनों के मुख पर गढ़े हुए पत्थर रक्खे हुए हैं जो किसी समय सिंह के समान दिखाई पड़ते हैं और कभी श्वेत हाथी के मस्तक जैसे हो जाते हैं। कभी इनमें मोरी बन जाती है जिसमें से पानी बहुत ऊँचा उछलने लगता है और नीचे रक्खे हुए पत्थर के बड़े बड़े पात्रों में एकत्रित होकर छोटे तड़ाग के समान दिखाई पड़ता है। सब देशों के और सब नगरों के लोग यहाँ पर स्नान करने के लिए आते हैं, जिनको कुछ रोग होता है वे बहुधा अच्छे भी हो जाते हैं। इन झरनों के दाहिनी ओर बाँएँ अनेक स्तूप और विहारों के खंडहर पास पास वर्तमान हैं। इन सब स्थानों में गत चारों बुद्ध आने जाने और उठते बैठते रहे हैं जिनके ऐसा करने के चिह्न अब भी हैं। ये स्थान पहाड़ों से परिवेष्टित और जल इत्यादि से परिपूरित हैं। पुण्यात्मा और ज्ञानी लोग यहाँ आकर निवास किया करते हैं तथा कितने ही ऐसे योगी हैं जो यहाँ पर शान्ति के साथ एकान्त-सेवन करते हैं।

तप्त झरनों के पश्चिम में पत्थर का बना हुआ पिफल-भवन[1] है। तथागत भगवान जिस समय संसार में वर्तमान थे बहुधा इसमें रहा करते थे। गहरी गुफा जो इस भवन के

[1] इस भवन अथवा गुफा का उल्लेख फ़ाहियान ने भी किया है, (अध्याय ३४) वह इसको नवीन नगर के दक्षिण ओर झरनों से ३०० पग पश्चिम में निश्चय करता है। अतएव यह वैभार पहाड़ में होगा। कनिंघम साहब का विचार है कि वैभार और पिपुलो शब्द में भेद नहीं

पीछे है किसी असुर का निवासालय है। इसमें बहुत से समाधि लगानेवाले भिक्षु रहते हैं। प्रायः हम लोग अद्भुत अद्भुत स्वरूप जैसे नाग, साँप और सिंह—इसके भीतर से बाहर निकलते हुए देखा करते हैं। ये जन्तु जिन लोगों की दृष्टि में पड़ जाते हैं उनके नेत्रों में चकाचौंध होने लगती है और वे लोग बेसुध हो जाते हैं। तो भी यह अद्भुत और पवित्र स्थान ऐसा है कि इसमें पुनीत महात्मा निवास करते हैं और यहाँ रहकर अपने भयदायक क्लेश और दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

थोड़े दिन हुए एक पवित्र और विशुद्ध चरित्र भिक्षु होगया है। उसका चित्त एकान्त और शान्त स्थान में निवास करने के लिए उत्कंठित हुआ इसलिए इस गुप्त भवन में निवास करके उसने समाधि का आनन्द लेना चाहा। उसके किसी मित्र ने उसको ऐसा करने से रोकते हुए समझाया कि 'वहाँ पर मत जाओ, वहाँ तुमको अनेक कष्ट मिलेंगे और ऐसे ऐसे विलक्षण दृश्य दिखाई पड़ेंगे कि तुम्हारी मृत्यु अनिवार्य हो जायगी। ऐसे स्थान पर जहाँ निरन्तर मृत्यु का भय हो समाधि का होना सहज नहीं है। यदि तुमको इस बात का निश्चय भी हो कि वहाँ पर जाकर तुमको पश्चात्तापरूपी फल नहीं प्राप्त होगा तो भी तुमको उन घट-

है। यह सम्भव है, परन्तु पिपोलो शब्द का अपभ्रंश प्रायः 'पिप्पल' ही माना जाता है। वर्तमान समय की सोनभद्र गुफा ही यह गुफा समझी जाती है जिसको कनिंघम साहब ने सप्तपर्णी गुफा निश्चय किया है। इस विषय की उलझन पर मि० फर्गुसन का विचार युक्तिसङ्गत और सन्तोषजनक है।

नाओं का स्मरण कर लेना चाहिए जो पूर्वकाल में वहाँ हो चुकी हैं"। भिक्षु ने उत्तर दिया, "नहीं ऐसा नहीं है! मेरा विचार है कि मार देवता को परास्त करके बुद्ध-धर्म का फल प्राप्त करूँ। यदि यही भय है जो तुमने बतलाये हैं तो उनके नाम लेने की भी आवश्यकता नहीं: (अर्थात् वे कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते)।" यह कह कर उसने अपना दण्ड उठा लिया और भवन की ओर प्रस्थानित हो गया। गुफा में पहुँच कर उसने एक वेदी बनाई और रक्षा करनेवाले मंत्रों का पाठ करने लगा। दस दिनों बाद ग्यारहवें दिन एक कुमारी गुफा से बाहर आई और भिक्षु से कहने लगी, "हे रङ्गीन वस्त्रधारी महात्मा! आप बुद्ध-धर्म के नियम और अभिप्राय को भली भाँति जानते हैं। आप ज्ञान को सम्पादन करके और समाधि को सिद्ध करके भी इस स्थान पर इसलिए निवास करते हैं कि आपकी आध्यात्मिक शक्ति प्रबल और परिवर्धित होजावे और आप जन-समुदाय के प्रसिद्ध पथ-प्रदर्शक हो जावें. परन्तु आपके इस कार्य से मुझको और मेरे साथियों को बड़े भयानक भय का सामना करना पड़ता है। क्या प्राणियों को भयभीत और क्लेशित करना बुद्ध-धर्म के सिद्धान्तों के अनुकूल है? भिक्षु ने उत्तर दिया, "मैं महात्मा बुद्ध के उपदेशों का अनुसरण करके विशुद्ध जीवन का निर्वाह कर रहा हूँ। मैं केवल अपने सांसारिक झंझटों से पार पाने के लिए पहाड़ों और गुफाओं में गुप्तरूप से वास कर रहा हूँ। परन्तु बिना सोचे विचारे आप मुझको दोषी बना रही हैं, बताइए मेरा अपराध क्या है?" उसने उत्तर दिया, "हे महापुरुष! जब आप अपने मंत्रों का पाठ करते हैं उस समय मेरे घर भर में अग्नि व्याप्त हो जाती है. यद्यपि

इससे मेरा घर भस्म नहीं होता परन्तु मुझको और मेरे परिवारवालों को कष्ट बहुत होता है। मैं प्रार्थना करती हूँ कि मेरे ऊपर कृपा कीजिए और अब अधिक अपना मंत्रोच्चारण न कीजिए।"

भिक्षु ने उत्तर दिया, "मैं मंत्रस्तुति-पाठ अपनी रक्षा के लिए करता हूँ न कि किसी प्राणी को हानि पहुँचाने के निमित्त। प्राचीन काल में एक साधु था जो पवित्र लाभ से लाभवान होने के लिए और दुखी[१] प्राणियों को सहायता पहुँचाने के लिए इस स्थान पर निवास करके समाधि का अभ्यास कर रहा था। उस समय कुछ ऐसे अलौकिक दृश्य उसको दिखाई पड़े कि वह भयभीत होकर मर ही गया। यह सब तुम लोगों के कर्म थे, बोलो तुम्हारे पास इसका क्या उत्तर है ?"

उसने उत्तर दिया, "पापों के भार से दबी होने के कारण वास्तव में मैं मतिमन्द हूँ, परन्तु आज से मैं अपने मकान को बन्द करके इतना भाग ही अलग किये देती हूँ, इसमें आप निर्भय होकर निवास कीजिए। अब तो आप, हे महापुरुष ! अपने प्रभावशाली मंत्रों का पाठ बन्द कर देंगे ?"

इस निर्णय पर भिक्षु ने अपना मंत्र-पाठ बन्द कर दिया और शान्ति के साथ समाधि का आनन्द लेने लगा। उस दिन से किसी प्रकार की बाधा उसको नहीं पहुँची।

विपुल पहाड़ की चोटी पर एक स्तूप उस स्थान में है जहाँ प्राचीन काल में तथागत भगवान ने धर्म की पुनरावृत्ति

[१] उन लोगों को सहायता पहुँचाने के लिए जो जन्म-मरण के अन्धकाराच्छन्न आवर्त में पड़े हुए हैं। जैसे प्रेत, राक्षस इत्यादि।

की थी। आज-कल बहुत से निर्ग्रन्थ लोग (जो नङ्गे रहते हैं) इस स्थान पर आते हैं और रात-दिन अविराम तपस्या किया करते हैं, तथा सवेरे से साँझ तक इस (स्तूप) की प्रदक्षिणा करके बड़ी भक्ति से पूजा करते हैं।

पहाड़ी नगर (गिरिव्रज) के उत्तरी फाटक से बाँई ओर पूर्व दिशा में चल कर, दक्षिणी करार से दो या तीन ली उत्तर में हम एक बड़े पाषाण-भवन में पहुँचे, जहाँ पर प्राचीन काल में देवदत्त ने समाधि का अभ्यास किया था।

इस पाषाण-भवन के पूर्व में थोड़ी दूर पर एक चिकने पत्थर के ऊपर रुधिर के से कुछ रङ्गीन धब्बे हैं। इसके निकट ही एक स्तूप बना हुआ है इस स्थान पर किसी भिक्षु ने समाधि लगा करके अपने शरीर को ज़ख्मी कर डाला था, और परमपद को प्राप्त किया था। प्राचीन काल में एक भिक्षु था जो अपने तन और मन को परिश्रम देकर समाधि के अभ्यास के लिए एकान्त-सेवन करता था। उसको इस प्रकार तपस्या करते हुए वर्षों व्यतीत हो गये परन्तु परम फल की प्राप्ति न हुई। इस कारण वह खिन्नचित्त होकर बड़े पश्चात्ताप के साथ कहने लगा, 'शोक! मैं अरहट-अवस्था की संप्राप्ति से वञ्चित हूँ! ऐसी अवस्था में इस शरीर के रखने से क्या लाभ जो पद पद पर बन्धनों से जकड़ा हुआ है?" यह कह कर वह इस पत्थर पर चढ़ गया और अपने गले को काटने लगा। इस कार्य के करते ही वह अरहट-अवस्था को प्राप्त हो गया। वायु में गमन करके अपने आध्यात्मिक चमत्कारों को प्रकट करते ही उसके शरीर में

अग्नि का प्रवेश हुआ जिससे वह निर्वाण को प्राप्त हो गया[1]। उसके श्रेष्ठ मन्तव्य की प्रतिष्ठा करके लोगों ने उसके स्मारक में यह स्तूप बनवा दिया है। इस स्थान के पूर्व में एक पथरीली चट्टान के ऊपर एक और स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर एक भिक्षु ने समाधि का अभ्यास करते हुए अपने को नीचे गिरा दिया था और परमपद को प्राप्त किया था। प्राचीन काल में जिन दिनों बुद्धदेव जीवित थे, कोई एक भिक्षु था जो शान्ति के साथ पहाड़ी वन में निवास करता हुआ अरहट-अवस्था को प्राप्त करने के लिए समाधि का अभ्यास किया करता था। बहुत काल तक वह बड़े जोश के साथ तपस्या करता रहा परन्तु फल कुछ भी न हुआ। रात दिन अपने मन को वश में करते हुए वह ध्यान-धारणा में व्यस्त रहता था, किसी समय भी वह अपने शान्ति-निकेतन से अलग नहीं होता था। तथागत भगवान् उसको मुक्त होने के योग्य समझ कर शिष्य करने के अभिप्राय से उसके स्थान पर गये। पलमात्र में वह[2] वेणुवन से उठकर पहाड़ के तल में पहुँच गये और उसको पुकार कर बुलाया।

दूर से ईश्वरीय प्रतिभा का प्रकाश देखकर उस भिक्षु का चित्त आनन्द से ऐसा विह्वल हुआ कि वह लुढ़कता हुआ

[1] यह वृत्तान्त फाहियान ने भी तीसवें अध्याय में लिखा है।

[2] इस स्थान पर जो चीनी शब्द व्यवहृत हुआ है उसका अर्थ है उँगली चटकाना अथवा चुटकी बजाना। सेमुअल बील साहब ने उसका अनुवाद In a moment किया है, परन्तु जुलियन साहब इस स्थान पर अनुवाद करते हैं "बुद्धदेव ने चुटकी बजाकर भिक्षु को बुलाया"।

पहाड़ के नीचे आ गिरा। परन्तु अपने चित्त की शुद्धता और बुद्धोपदेश में भक्तिपूर्वक विश्वास होने के कारण भूमि तक पहुँचने से पूर्व ही वह अरहट-अवस्था को प्राप्त हो गया। बुद्ध भगवान् ने उसको उपदेश दिया, "सावधान होकर समय का शुभ उपयोग करो।" उसी क्षण वह वायुगामी होकर निर्वाण को प्राप्त हो गया। उसके विशुद्ध विश्वास को जाग्रत रखने के लिए लोगों ने इस स्मारक (स्तूप) को बनवा दिया है।

पहाड़ी नगर के उत्तरी फाटक से एक ली चलकर हम करण्डवेणुवन[1] में पहुँचे जहाँ पर एक विहार की पथरीली नीवें और ईंटों की दीवारें अब तक वर्तमान हैं। इसका द्वार पूर्व की ओर है। तथागत भगवान्, जब संसार में थे, बहुधा इस स्थान पर निवास करके मनुष्यों को त्राण देने के लिए, शुभ मार्ग प्रदर्शन करने के लिए, और उनको शिष्य करके सुगति देने के लिए धर्मोपदेश किया करते थे। इस स्थान पर तथागत भगवान् की प्रतिमा भी उनके डील के बराबर बनी हुई है।

प्राचीन काल में इस नगर में करण्ड नामक कोई धनी गृहस्थ निवास करता था। विरोधी लोगों को विशाल वेणुवन दान करके दे देने के कारण उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। एक दिन तथागत भगवान् से उसकी भेंट हो गई। उनके धर्मोपदेश को सुनकर उसको सत्य-धर्म का ज्ञान हो गया। उस समय इस स्थान पर विरोधियों के निवास करने से

[1] करण्ड या कलण्ड का वेणुवन। इसका विशेष वृत्तान्त फ़ाहियान, जुलियन और बरनफ़ साहब ने लिखा है।

उसको बड़ा खेद हुआ। उसने कहा, "कैसे शोक की बात है कि देवता और मनुष्यों के नायक का स्थान इस वन में नहीं है। उसकी इस धार्मिकता पर अन्तरिक्षवासी देवगण मर्माहत हो उठे। उन्होंने विरोधियों को उस वन से यह कह कर निकाल दिया कि 'गृहपति इस स्थान पर बुद्ध भगवान् के निमित्त विहार बनाने जाता है इसलिए तुम लोगों को शीघ्र निकल जाना चाहिए, अन्यथा संकट में पड़ जाओगे।'

विरोधी इस बात पर सन्तप्तचित्त और निरुत्साह होकर वहाँ से चले गये और गृहपति ने इस विहार का निर्माण कराया। जब यह बनकर तैयार हो गया, वह स्वयं बुद्धदेव को बुलाने गया और उन्होंने आकर उसकी इस भेंट को स्वीकार किया।

करण्ड वेणुवन के पूर्व में एक स्तूप राजा अजातशत्रु का बनवाया हुआ है। तथागत के निर्वाण प्राप्त करने पर राजाओं ने उनके शरीरावशेष को विभक्त कर लिया था। उस समय अजातशत्रु ने अपने भाग को लेकर बड़ी भक्ति के साथ इस स्तूप को बनवाया था। जिस समय अशोक राजा बौद्ध-धर्म पर विश्वासी हुआ उस समय उसने इस स्तूप को भी तोड़कर शरीरावशेष निकाल लिया और उसके पलटे में दूसरा नवीन स्तूप बनवा दिया था। इस स्थान पर विलक्षण आलोक सदा प्रसरित होता रहता है।

अजातशत्रु के स्तूप के पास एक और स्तूप है जिसमें आनन्द का अर्द्धशव सुरक्षित है। प्राचीन काल में जिस समय यह महात्मा निर्वाण प्राप्त करने को हुआ उस समय मगध को छोड़कर वह वैशाली नगर को गया। दोनों देश के नरेशों को सेना संधान करके युद्ध पर तत्पर देखकर, उस

महापुरुष ने दयावश अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिया। मगध-नरेश अपना भाग लेकर लौट आया और अपनी धार्म्मिक सेवा को सम्पादन करके इस प्रसिद्ध भूमि में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ इस स्तूप को बनवाया। इसके निकट वह स्थान है जहाँ पर बुद्धदेव आकर टहले थे।

यहाँ से थोड़ी दूर पर एक स्तूप उस स्थान में है जहाँ पर शारिपुत्र और मुद्गल-पुत्र ने प्रावृट्-काल में निवास किया था।

वेणुवन के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ५ या ६ ली पर दक्षिणी पहाड़ के उत्तर में एक और विशाल वेणुवन है। इसके मध्य में एक बृहत् पाषाण-भवन है[1]। इस स्थान पर तथागत भगवान के निर्वाण के पश्चात् ६६६ महात्मा अरहटों को महाकाश्यप ने इकट्ठा करके त्रिपिटक का उद्धार किया था। इसके सामने एक प्राचीन भवन का खँडहर है। जिस भवन का यह खँडहर है उसको राजा अजातशत्रु ने बड़े बड़े अरहटों के निवास के लिए बनवाया था जो, धर्मपिटक के निर्णय के लिए एकत्रित हुए थे।

एक दिन महाकाश्यप जङ्गल में बैठे थे कि अकस्मात् उनके सामने बड़ा भारी प्रकाश फैल गया, तथा उनको विदित हुआ कि भूमि विकम्पित हो रही है। उस समय उन्होंने कहा, "यहाँ कैसा आकस्मिक परिवर्तन हो रहा है

[1] यही प्रसिद्ध सत्तपण्णी गुफा है जिसमें बौद्धों की प्रथम सभा हुई थी। दीपवंश-ग्रंथ में लिखा है "मगध के गिरिव्रज (गिरव्रज या राजगृह) नगर की सत्तपण्णी गुफा में सात मास तक प्रथम सभा हुई थी।"

जिससे कि इस प्रकार का अद्‌भुत दृश्य दिखाई दे रहा है।" दिव्यदृष्टि से काम लेने पर उनको दिखाई पड़ा कि बुद्ध भगवान् दो वृक्षों के मध्य में निर्वाण प्राप्त कर रहे हैं। इस पर उन्होंने अपने चेलों को अपने साथ कुशीनगर चलने का आदेश किया। मार्ग में उनकी भेंट एक ब्राह्मण से हुई जिसके हाथ में एक अलौकिक पुष्प था। काश्यप ने उससे पूछा, "तुम कहाँ से आते हो? क्या तुमको ज्ञात है कि इस समय हमारा महोपदेशक कहाँ है?" ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "मैं अभी अभी कुशीनगर से आ रहा हूँ जहाँ पर मैंने आपके स्वामी को उसी क्षण निर्वाण प्राप्त करते हुए देखा था। बहुत से वैकुण्ठनिवासी उनको घेरे हुए पूजा कर रहे थे; यह पुष्प मैं वहीं से लाया हूँ।"

काश्यप ने इन शब्दों को सुनकर अपने शिष्यों से कहा, "ज्ञान के सूर्य की किरणें शान्त हो गईं; संसार इस समय अंधकार में हो गया; हमारा योग्यतम मार्ग-प्रदर्शक हमको छोड़कर चल दिया, अब मनुष्यों को अवश्य दुख में फँसना पड़ेगा।"

उस समय अपरिणामदर्शी भिक्षुओं ने बड़े आनन्द के साथ एक दूसरे से कहा, "तथागत स्वर्गवासी हुए यह हमारे लिए बहुत अच्छा है क्योंकि अब यदि हम उच्छृङ्खलता भी करें तो भी कोई हमको रोकने या बुरा भला कहनेवाला नहीं है।"

इन बातों को सुनकर काश्यप को अत्यन्त दुख हुआ। उसने संकल्प किया कि धर्म के कोष (धर्मपिटक) को संग्रह करके उच्छृङ्खल पुरुषों को अवश्य दण्डित करना

होगा। यह निश्चय करने के उपरान्त वह दोनों वृक्षों के निकट गया और बुद्धदेव का दर्शन-पूजन किया।

धर्मपति के संसार परित्याग कर देने पर देवता और मनुष्य अनाथ हो गये। इसके अतिरिक्त अरहट भी निर्वाण के विचार को धीरे धीरे तोड़ने लगे। उस समय काश्यप को फिर यह विचार हुआ कि बुद्धदेव के उपदेशों की महत्ता स्थिर रखने के लिए धर्मपिट्टक का संग्रह करना ज़रूरी है। यह निश्चय करके वह सुमेरु पर्वत पर चढ़ गया और बड़ा भारी घण्टा बजाकर यह घोषित किया कि "राजगृह नगर में एक धार्मिक संघ (सम्मेलन) होनेवाला है इसलिए जो लोग अरहट-पद को प्राप्त हो चुके हैं वे बहुत शीघ्र वहाँ पर पहुँच जावें।"

इस घंटे के शब्द के साथ साथ काश्यप की आज्ञा सम्पूर्ण संसार में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गई और वे लोग जो आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न थे, इस आज्ञा के अनुसार संघ करने के निमित्त एकत्रित हो गये। उस समय काश्यप ने सभा को सम्बोधित करके कहा कि 'तथागत का स्वर्गवास होने से संसार शून्य हो गया, इसलिए बुद्ध भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए हम लोगों को धर्मपिट्टक का संग्रह अवश्य करना चाहिए। परन्तु इस महत् कार्य के सम्पादन के समय शान्ति और एकाग्र चित्त की बहुत आवश्यकता है। इतनी बड़ी भारी भीड़ में यह कार्य कदापि नहीं हो सकता। इसलिए, जिन्होंने त्रिविद्या को प्राप्त कर लिया है और जिनमें छहों अलौकिक शक्तियाँ वर्तमान हैं, जिन्होंने धर्म के पालन करने में कभी भी भूल नहीं की है और जिनकी विवेक-शक्ति प्रबल है वही सर्वश्रेष्ठ महापुरुष

यहाँ ठहर कर सभा की सहायता करें। जो लोग विद्यार्थी अथवा साधारण विद्वान् हैं उनको अपने घरों को पधारना चाहिए।"

इस बात पर ६६६ व्यक्ति रह गये, आनन्द को भी हटा दिया क्योंकि वह अभी साधक-अवस्था ही में था। महा-काश्यप ने उसको सम्बोधन करके कहा, 'तुम अभी दोष-रहित नहीं हुए हो इसलिए तुमको इस पुनीत सभा में भाग नहीं लेना चाहिए।" उसने उत्तर दिया, "अनेक वर्षों तक मैंने तथागत की सेवा की है। प्रत्येक सभा में, जो धर्म का निर्णय करने के लिए कभी संगठित हुई, मैं सम्मिलित होता रहा हूँ परन्तु इस समय उनके निर्वाण के पश्चात् जो सभा आप करने जा रहे हैं उसमें से मैं निकाला जा रहा हूँ। धर्माधिकारी का स्वर्गवास होगया इसी सबब से मैं निरा-धार और असहाय हूँ। काश्यप ने उत्तर दिया, "तुम इतने दुखी न हो, तुम वास्तव में बुद्ध भगवान् के सेवक थे और इस सम्बन्ध से तुमने बहुत कुछ सुना है, और जो कुछ सुना है उसके प्रेमी भी हो परन्तु फिर भी उन बन्धनों से, जो आत्मा को बन्धन में डालते हैं, मुक्त नहीं हो।"

आनन्द विनीत वचनों को सम्भाषण करता हुआ वहाँ से चला गया और उस स्थान को प्राप्त करने के लिए जो विद्या से नहीं मिल सकता एक जङ्गल में चला गया। उसने अपनी कामना को सिद्ध करने के लिए अविराम परिश्रम किया परन्तु उसका फल कुछ नहीं हुआ। अन्त में व्यथित होकर उसने एक दिन तपस्या छोड़कर विश्राम करना चाहा। उसका

मस्तक तकिये तक पहुँचने भी नहीं पाया था कि उसको अरहट-अवस्था प्राप्त हो गई[1]।

उस समय वह फिर सभा में पहुँचा और द्वार को खट-खटाकर अपने आगमन को प्रकट किया। उस समय काश्यप ने उससे पूछा और कहा, "क्या तुम सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो गये? यदि ऐसी बात है तो बिना द्वार खोले अपने आध्यात्मिक बल से भीतर चले आओ।" आनन्द इस आदेश के अनुसार कुञ्जी लगाने के छेद के[2] द्वारा प्रवेश करके और सब महात्माओं को अभिवादन करके बैठ गया।

इस समय वर्षावसान[3] के पन्द्रह दिन व्यतीत हो चुके थे। काश्यप ने उठकर कहा, "कृपा करके मेरे निवेदन को सुनिए और उस पर विचार कीजिए। आनन्द से मेरी प्रार्थना है कि वह तथागत भगवान् के शब्दों को श्रवण करते रहे हैं इसलिए सङ्गीत करके सूत्रपिट्टक का संग्रह करें। उपाली से मेरी प्रार्थना है कि वह शिष्य-धर्म (विनय) भली भाँति समझते हैं इसलिए विनयपिट्टक को संगृहीत करें, और मैं (काश्यप) अभिधर्म पिट्टक का संग्रह करूँगा। वर्षा-ऋतु के[4] तीन मास व्यतीत होने पर त्रिपिट्टक का संग्रह समाप्त हुआ।

[1] आनन्द के सिद्धावस्था प्राप्त करने का वृत्तान्त जानने के लिए देखो 'Abstract of Four Lectures' P. 72.

[2] कहीं कहीं यह भी लिखा है कि वह दीवार में प्रवेश करके सभा में पहुँचा था।

[3] ग्रीष्म-ऋतु के विश्राम को कहते हैं।

[4] विपरीत इसके प्रचलित यह है कि स्थविर-संस्था का जन्म-दिन वैशाली की द्वितीय सभा है।

महा काश्यप इस सभा के सभापति (स्थविर) थे इस कारण इसको 'स्थविर-सभा' कहते हैं।

जहाँ पर महाकाश्यप ने सभा की थी उसके पश्चिमोत्तर में एक स्तूप है। यह वह स्थान है जहाँ पर आनन्द सभा में बैठने से वर्जित किये जाने पर चला आया था और एकान्त में बैठकर अरहट के पद पर पहुँचा था। फिर यहाँ से जाकर सभा में सम्मिलित हुआ था।

यहाँ से लगभग २० ली जाकर पश्चिम दिशा में एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर एक बड़ी भारी सभा (महासंघ) पुस्तकों को संग्रह करने के निमित्त हुई थी। जो लोग काश्यप की सभा में सम्मिलित न होने पाये थे वे सब साधक और अरहट, कोई एक लाख व्यक्ति, इस स्थान पर आकर एकत्रित हुए और कहा, "जब तथागत भगवान् जीवित थे तब हम सब लोग एक स्वामी के अधीन थे, परन्तु अब समय पलट गया, धर्म के पति का स्वर्गवास हो गया इसलिए हम लोग भी बुद्धदेव के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करेंगे और एक सभा करके पुस्तकों का संग्रह करेंगे।" इस बात पर सर्वसाधारण से लेकर बड़े बड़े धर्मधारी तक इस सभा में आये। मूर्ख और बुद्धिमान् दोनों ने समानरूप से एकत्रित होकर सूत्रपिट्टक, विनयपिट्टक, अभिधर्मपिट्टक, फुटकर पिट्टक (खुद्दक निकाय[1]) और धारणीपिट्टक, इन पाँचों पिट्टकों को सम्मानित किया। इस सभा में सर्वसाधारण और महात्मा दोनों सम्मिलित थे, इसलिए इसका नाम 'बृहत् सभा' (महासंघ) रक्खा गया।

[1] कदाचित् 'सन्निपातनिकाय' भी कहते हैं।

वेणुवन विहार के उत्तर में लगभग २०० पग पर हम करण्ड भील (करंड-ह्रद) पर आये। तथागत जिन दिनों संसार में थे प्रायः इस स्थान पर धर्मोपदेश दिया करते थे। इसका जल शुद्ध और स्वच्छ तथा अष्टगुण[1]-सम्पन्न था, परन्तु तथागत के निर्वाण प्राप्त करने के बाद से सूख कर नदारद होगया।

करण्ड-ह्रद के पश्चिमोत्तर में २ या ३ ली की दूरी पर एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। यह लगभग ६० फ़ीट ऊँचा है, इसके पास एक पाषाण-स्तम्भ है जिस पर इस स्तूप के बनाने का विवरण अंकित है। यह कोई ५० फ़ीट ऊँचा है और इसके सिर पर एक हाथी की मूर्ति है।

पाषाण-स्तम्भ के पूर्वोत्तर में थोड़ी दूर पर हम राजगृह-नगर[2] में पहुँचे। इसके बाहरी भाग की चहारदीवारी खोद डाली गई थी। अब इसका चिह्न भी अवशेष नहीं है। भीतरी भाग की चहारदीवारी यद्यपि दुर्दशाग्रस्त है तो भी उसका कुछ भाग लगभग २० ली के घेरे में भूमि से कुछ ऊँचा वर्तमान है। विम्बसार ने पहले अपनी राजधानी कुशीनगर में बनाई थी। इस स्थान पर लोगों के मकानात पास पास बने होने के कारण सदा अग्नि-द्वारा भस्म हो जाते थे। जैसे ही एक मकान में आग लगती थी कि पड़ोसी मकानों को आग से बचाना असंभव हो जाता था, इस कारण सम्पूर्ण नगर भस्म होजाता था। इस दुर्दशा के अधिक बढ़ने पर लोग

[1] जल के अष्टगुणों का वृत्तान्त देखो J. R. A. S. Vol II pp. 1.141.

[2] यह वह स्थान है जिसको फ़ाहियान 'नवीन नगर' के नाम से लिखता है। यह पहाड़ों के उत्तर में था।

विकल हो उठे क्योंकि उनका शान्ति के साथ घरों में रहना कठिन होगया। इस विषय में उन्होंने राजा से भी प्रार्थना की। राजा ने कहा, "मेरे ही पापों से लोग पीड़ित हो रहे हैं, इस विपत्ति से बचाने के लिए मैं कौन सा पुण्य काम कर सकता हूँ?" मंत्रियों ने उत्तर दिया, "महाराज! आपकी धर्म-परायण-सत्ता से राज्य भर में शान्ति और सुख छाया हुआ है, आपके विशुद्ध शासन के कारण सब ओर उन्नति और प्रकाश का प्रसार हो रहा है। इसके लिए केवल समुचित ध्यान देने की ही आवश्यकता है, ऐसा करने से यह दुख दूर हो सकता है। क़ानून में थोड़ी सी कठोरता कर दी जावे तो यह दुख भविष्य में न पैदा हो। यदि कभी आग लग जावे तो उस समय उसके कारण का पता परिश्रम करके लगाया जावे फिर अपराधी को देश से बाहर करके शीत वन में भेज दिया जावे, यही उसका दंड है। आज-कल शीत वन वह स्थान है जहाँ पर मृत पुरुषों के शव भेजे जाते हैं। देश के लोग, इस स्थान में जाने की कौन कहे, इसके निकट होकर निकलने में भी आगा-पीछा करते हैं तथा इसको दुर्भाग्य-स्थल कहते हैं। इस भय से कि उस स्थान पर मुर्दों के समान निवास करना पड़ेगा लोग अधिक सावधानी से रहेंगे और आग न लग जावे इसकी फ़िक्र रक्खेंगे।" राजा ने उत्तर दिया, "यह ठीक है, इस क़ानून की घोषणा करा दी जावे और लोग इसकी पाबन्दी करें।"

अब ऐसी घटना हुई कि इस आज्ञा के पश्चात् प्रथम राजा ही के भवन में आग लगी। उस समय राजा ने अपने मंत्रियों से कहा, "मुझको देशपरित्याग करना चाहिए क्योंकि मैं क़ानून की रक्षा करना अपना धर्म समझता हूँ, इसलिए मैं

स्वयं जाता हूँ।" यह कह कर राजा ने अपने स्थान पर अपने बड़े पुत्र को शासक नियत कर दिया।

वैशाली-नरेश इस समाचार को सुन कर कि बिम्बसार राजा शीत-वन में निवास करता है, अपनी सेना-संधान कर चढ़ दौड़ा और नगर को लूट लिया, क्योंकि यहाँ पर उससे सामना करने की कोई तैयारी नहीं थी। सीमान्त-प्रदेश के नरेशों ने राजा का समाचार पाकर एक नगर बसाया[1] और चूँकि इसका प्रथम निवासी राजा ही हुआ था इस कारण इसका नाम राजगृह हुआ। वैशाली-नरेश से लूटे जाने पर मन्त्री और दूसरे लोग-बाग भी कुटुम्ब-समेत आ आकर इसी स्थान पर बस गये।

यह भी कहा जाता है कि अजातशत्रु राजा ने प्रथम इस नगर को बसाया था। उसके पीछे उसके उत्तराधिकारी ने, जब वह राज्यासन पर बैठा, इसको अपनी राजधानी बनाया। यह अशोक के समय तक बनी रही। अशोक ने इसको दान करके ब्राह्मणों को दे दिया और पाटलीपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। यही कारण है कि यहाँ अन्य साधारण लोग नहीं दिखाई पड़ते—केवल ब्राह्मणों के ही हज़ारों परिवार बसे हुए हैं।

राजकीय[2] सीमा के दक्षिण-पश्चिम कोण पर दो छोटे छोटे

[1] अर्थात् उस स्थान पर नगर बसाया जहाँ पर राजा निवास करता था। इस बात से यह भी प्रतीत होता है कि राजगृह का नवीन नगर उस स्थान पर बसाया गया था जहाँ पर प्राचीन नगर के मुर्दों के लिए श्मशान था।

[2] राजगृह नगर की भीतरी परिधि।

संघाराम हैं। यहाँ पर आने-जानेवाले साधु (परिव्राजक) तथा और नवागत भी निवास करते हैं। इस स्थान पर भी बुद्ध- देव ने धर्मोपदेश दिया था। इसके पश्चिमोत्तर दिशा में एक स्तूप है। इस स्थान पर पहले एक ग्राम था जिसमें 'ज्योतिस्त' ग्रहपति का जन्म हुआ था।

नगर के दक्षिणी फाटक के बाहरी ग्राम में सड़क के बाईं ओर एक स्तूप है। इस स्थान पर तथागत भगवान् ने राहुल[1] को उपदेश देकर शिष्य किया था।

यहाँ से लगभग ३० ली उत्तर दिशा में चल कर हम नालन्द[2] संघाराम में पहुँचे। देश के प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि 'संघाराम के दक्षिण में एक आम्रवाटिका के मध्य में एक तड़ाग है। इस तड़ाग का निवासी नाग 'नालन्द' कहलाता है। उस तड़ाग के निकटवाला संघाराम इसी कारण से नाग के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि प्राचीन काल मे जिन दिनों तथागत भगवान् बोधिसत्व अवस्था का अभ्यास करते थे उन दिनों इसी स्थान पर रहते थे और एक बड़े भारी देश के अधिपति थे। उन्होंने इस स्थान पर अपनी राजधानी बनाई थी। करुणा के स्वरूप बोधिसत्व मनुष्यों को सुख पहुँचाने ही में अपना सुख समझते थे इस कारण उनके पुण्य के स्मारक में लोग

[1] यदि यह राहुल बुद्धदेव का पुत्र होता तो इसका वृत्तान्त कपिलवस्तु में होना चाहिए था। इसलिए ऐसा विदित होता है कि यह कोई अन्य व्यक्ति है।

[2] कनिंघम साहब निश्चय करते हैं कि मौज़ा बड़ा गाँव, जो राज-गृह से सात मील उत्तर है, वही प्राचीन नालन्द है।

उनको अप्रतिमदानी कहा करते थे और इसी कारण उस नाम के स्थिर रखने के लिए इस संघाराम का यह नामकरण हुआ। इस स्थान पर प्राचीन काल में एक आम्र-वाटिका थी जिसको पाँच सौ व्यापारियों ने मिल कर दस कोटि स्वर्ण-मुद्रा में मोल लेकर बुद्धदेव को समर्पण कर दिया था। बुद्धदेव ने तीन मास तक इस स्थान पर धर्म का उपदेश व्यापारियों तथा अन्य लोगों को किया था और वे लोग पुनीत पद को प्राप्त हुए थे। बुद्ध-निर्वाण के थोड़े दिन बाद शक्रादित्य नामक एक नरेश इस देश में हुआ जो बड़े प्रेम से एक यान[2] की भक्ति और रत्नत्रयी[3] की उच्च कोटि की प्रतिष्ठा करता था। भविष्यद् वाणी के द्वारा उत्तम स्थान प्राप्त करके उसने यह संघाराम बनवाया था। इसका वृत्तान्त इस प्रकार है कि जब उसके हृदय में संघाराम के बनवाने की लालसा हुई और उसने इस स्थान पर आकर कार्य आरम्भ किया

[1] जहाँ तक विचार किया जाता है इस वाक्य में नाग का नाम कहीं पर नहीं है इस कारण नालंद शब्द से अभिप्राय न+अलम्+द='देने के लिए शेष नहीं है' अथवा 'दान के लिए यथेष्ट नहीं है' यही समझा जा सकता है।

[2] जुलियन साहब लिखते हैं कि 'एक यान' से तात्पर्य बुद्ध-देव के रथ से है जो सप्त बहुमूल्य धातुओं से बना हुआ था और जिसको एक ही श्वेत रङ्ग का बैल खींचता था। परन्तु मि० सेमुअल बील लिखते हैं कि 'बुद्ध-धर्म की अन्तिम पुस्तकों में 'एक यान' शब्द बुद्धदेव की प्रकृति का निदर्शन करने के लिए बहुधा आया है जिसको हम सबने अधिकृत कर लिया है और जिसमें हम सब प्राप्त होंगे।

[3] त्रिरत्नानि—बुद्ध, धर्म और संघ।

उस समय भूमि खोदते हुए उसके हाथ से एक नाग ज़ख्मी हो गया था। उस स्थान पर निर्ग्रंथ-सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ज्योतिषी भी उस समय उपस्थित था। उसने यह घटना देख कर यह भविष्यद्वाणी की कि 'यह सर्वोत्तम स्थान है, यदि आप यहाँ पर संघाराम बनवायंगे तो 'यह अवश्य और अत्यन्त प्रसिद्ध होगा। सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए पथ-प्रदर्शक होकर यह एक हज़ार वर्ष तक अमर बना रहेगा, अपने अध्ययन की अन्तिम सीमा प्राप्त करने के लिए सब प्रकार के विद्यार्थी यहाँ आवेंगे, परन्तु अनेक रुधिर का भी वमन करेंगे क्योंकि नाग घायल हो गया है।'

उसका पुत्र राजा बुद्ध गुप्त, जो उसका उत्तराधिकारी हुआ था, अपने पिता के पूज्य कर्म को जारी रखने के लिए बराबर परिश्रम करता रहा तथा इसके दक्षिण में उसने दूसरा संघाराम बनवाया।

राजा तथागत गुप्त भी अपने पूर्वजों के प्राचीन नियमों का पालन करने में सदा परिश्रम करता रहा और उसने भी इसके पूर्व में एक दूसरा संघाराम बनवाया।

बालादित्य राजा ने राज्याधिकारी होने पर पूर्वोत्तर दिशा में एक संघाराम बनवाया। संघाराम के बन कर तैयार हो जाने पर उसने सब लोगों को सभा के निमित्त बुला भेजा। उस सभा में प्रसिद्ध अप्रसिद्ध, महात्मा और सर्वसाधारण लोग बड़े आदर से निमन्त्रित किये गये थे, यहाँ तक कि दस हज़ार ली दूर तक के साधु आये थे। सब लोगों के आजाने पर, जब सब कोई विश्राम कर रहे थे, दो साधु और आये; उनको लोगों ने तीसरे खंडवाले सिंहद्वार-भवन में ले जाकर टिकाया। उनसे लोगों ने पूछा, "राजा ने सभा के निमित्त

सब प्रकार के लोगों को बुलाया था और सब लोग आ भी गये, परन्तु आप महानुभावों का आना किस प्रान्त से होता है जो इतनी देर हो गई ?" उन्होंने उत्तर दिया, "हम चीन देश से आते हैं, हमारे गुरु जी रोगग्रस्त हो गये थे, उनकी सेवा-सुश्रूषा करने के उपरान्त दूर देशस्थ राजा के निमन्त्रण का प्रतिपाल न कर सके, यही कारण हम लोगों के देर से आने का हुआ।"

इस बात को सुनकर सब लोग विस्मित हो गये और झट पट राजा को समाचार पहुँचाने के निमित्त दौड़ गये। राजा इस समाचार को सुनते ही उन महात्माओं की अभ्यर्थना के लिए स्वयं चल कर आया। परन्तु सिंहद्वार में पहुँचने पर इस बात का पता न चला कि वे दोनों कहाँ चले गये। राजा इस घटना से बहुत दुखित हुआ, अपने धार्म्मिक विश्वास के कारण उसको इतनी अधिक वेदना हुई कि वह राज्य परित्याग करके साधु हो गया। इस दशा में आने पर उसका दर्जा नीच कोटि के साधुओं में रक्खा गया। किन्तु इस से उसका चित्त सदा सन्तप्त बना रहता था। उसने कहा, "जब मैं राजा था तब प्रतिष्ठित पुरुषों में सर्वोपरि माना जाता था, परन्तु संन्यास लेने पर मैं निम्नतम साधुओं में गिना जाता हूँ।" यही बात उसने जाकर साधुओं से भी कही जिस पर संघ ने यह मन्तव्य निर्धारित किया कि उन लोगों का दर्जा जो किसी श्रेणी में नहीं है उनके वय के अनुसार[1] माना जावे। केवल यही एक संघाराम ऐसा है जिसमें यह नियम प्रचलित है।

[1] प्रचलित नियम यह था कि जो लोग जितने अधिक वर्ष के

राजा का वज्र नामक पुत्र राज्याधिकारी हुआ जो धर्म का कट्टर विश्वासी था। इसने भी संघाराम के पश्चिम दिशा में एक संघाराम बनवाया था।

इसके बाद मध्य-भारत के एक नरेश ने भी इसके उत्तर में एक संघाराम बनवाया था। इसके अतिरिक्त उसने सब संघारामों को भीतर डाल कर चारों ओर से एक चहार-दीवारी भी बनवा दी थी जिसका एक ही फाटक था। जब तक यह स्थान पूरे तौर पर बन कर समाप्त न हो गया तब तक क्रमानुगत राजा लोग पत्थर के काम के अनेक प्रकार के कला-कौशल से इस स्थान को बराबर बनवाते ही रहे। राजा ने[1] कहा, "उस संघाराम के हाल में, जिसको सर्वप्रथम राजा ने बनवाया था, मैं बुद्धदेव की एक मूर्ति स्थापित करूँगा और उसके निर्माणकर्ता की कृतज्ञता-स्वरूप प्रतिदिन चालीस साधुओं को भोजन दिया करूँगा। यहाँ के साधु, जिनकी संख्या कई हज़ार है, बहुत योग्य और उच्च कोटि के बुद्धिमान् तथा विद्वान् हैं। इन लोगों की आज-कल बड़ी प्रसिद्धि है, तथा सैकड़ों ऐसे भी हैं जिन्होंने अपनी कीर्ति-प्रभा का प्रकाश दूर

शिष्य होते थे उतना ही अधिक उनका पद गिना जाता था। परन्तु बालादित्य के संघाराम में यह नियम किया गया कि जिन लोगों की जितनी अधिक आयु हो उतना ही अधिक उनका पद ऊँचा हो। चाहे वह तपस्या के द्वारा उस पद के योग्य न हों, जैसे राजा साधु होने पर भी उच्च पद का अधिकारी न था परन्तु संघाराम के नियमानुसार उसका दर्जा बढ़ गया।

[1] राजा का नाम नहीं लिखा है परन्तु अनुमान शिलादित्य के विषय में किया जाता है।

दूर के देशों तक पहुँचा दिया है। इन लोगों का चरित्र शुद्ध और निर्दोष है तथापि सामाजिक धर्म का प्रतिपालन बड़ी दूरदर्शिता के साथ करते हैं। इस संघाराम के नियम जिस प्रकार कठोर हैं उसी प्रकार साधु लाग भी उनको पालन करने के लिए बाध्य हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष भक्ति के साथ इन लोगों का अनुसरण करता है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता जिस दिन गूढ़ प्रश्न न पूछे जाते हों और उनका उत्तर न दिया जाता हो। सबेरे से शाम तक लोग वाद-विवाद में व्यस्त रहते हैं। वृद्ध हो अथवा युवा, शास्त्रार्थ के समय सब मिल-जुलकर एक दूसरे की सहायता करते हैं। जो लोग प्रश्नों का उत्तर त्रिपिटक के द्वारा नहीं दे सकते उनका इतना अधिक अनादर होता है कि मारे लज्जा के फिर किसी को अपना मुँह नहीं दिखाते। इस कारण अन्य नगरों के विद्वान् लोग जिनको शास्त्रार्थ में शीघ्र प्रसिद्ध होने की इच्छा होती है झुंड के झुंड यहाँ पर आकर अपने सन्देहों का निराकरण करते हैं और अपने ज्ञान का प्रकाश बहुत दूर दूर तक फैला देते हैं। कितने लोग झूठा स्वाँग रचकर (कि नालन्द के पढ़े हुए हैं) और इधर-उधर जाकर अपने को ख़ूब पुजाते हैं। अगर दूसरे प्रान्तों के लोग शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इस संघाराम में प्रवेश करना चाहें तो द्वारपाल उनसे कुछ कठिन कठिन प्रश्न करता है जिनको सुनकर ही कितने ही तो असमर्थ और निरुत्तर होकर लौट जाते हैं। जो कोई इसमें प्रवेश करने की इच्छा रखता हो उसको उचित है कि नवीन और प्राचीन सब प्रकार की स्तकों का बहुत मननपूर्वक अध्ययन करे। उन विद्यार्थियों की जो यहाँ पर नवागत होते हैं, और जिनको अपनी योग्यता का परिचय कठिन शास्त्रार्थ के

द्वारा देना होता है, उत्तीर्ण संख्या दस में ७ या ८ होती है। दो या तीन जो हीन योग्यतावाले निकलते हैं वे शास्त्रार्थ करने पर सिवा हास्यास्पद होने के और कुछ लाभ नहीं पाते। परन्तु योग्य और गम्भीर विद्वान, उच्च कोटि के बुद्धिमान और पुण्यवान्, तथा प्रसिद्ध पुरुष—जैसे धर्मपाल[1] और चन्द्रपाल (जिन्होंने अपनी विद्वत्ता से विवेक-हीन और संसारी पुरुषों को जगा दिया था), गुणमति और स्थिरमति[2] (जिनके श्रेष्ठ उपदेश की धारा अब भी दूर तक प्रवाहित है), प्रभामित्र[3] (अपनी सुस्पष्ट वाचन-शक्ति से), जिनमित्र (अपनी विशुद्ध वाचालता से), ज्ञानमित्र (अपने कथन और कर्म से) अपने कर्तव्य का पूर्ण परिचय दे चुके हैं। शीघ्रबुद्ध और शीलभद्र[4] तथा अन्यान्य योग्य व्यक्ति जिनका नाम अमर हो चुका है इस विद्यालय की कीर्ति के साथ अपनी कीर्ति को भी बढ़ाते हैं।

[1] यह कांचीपुर का रहनेवाला और 'शब्दविद्यासंयुक्त शास्त्र' का रचयिता है।

[2] यह व्यक्ति आर्यअसङ्ग का शिष्य था।

[3] यह मध्य-भारत का निवासी और जाति का क्षत्रिय था। यह सन् ६२७ ई० में चीन को गया था और ६३३ ई० में ६६ वर्ष की आयु में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

[4] हुएन सांग का गुरु था। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, शीघ्रबुद्ध, शीलभद्र इत्यादि का थोड़ा वर्णन मैक्समूलर साहब ने अपनी 'इण्डिया' नामक पुस्तक में किया है।

ये सब प्रसिद्ध पुरुष, अपने विश्व-विख्यात पूर्वजों से ज्ञान-बल में इतने अधिक बढ़ गये थे कि उनकी बाँधी हुई सीमा को भी पार कर गये थे। इनमें से प्रत्येक विद्वान् ने कोई दस दस स्तकें और टीकायें बनाई थीं जो चारों ओर देश में प्रचलित हुईं तथा जो अपनी उत्तमता के कारण अब तक वैसी ही लब्धप्रतिष्ठ हैं।

संघाराम के चारों ओर सैकड़ों स्थानों में पुनीत शरीरावशेष हैं, परन्तु विस्तार के भय से हम दो ही तीन का वर्णन करेंगे। संघाराम के पश्चिम दिशा में थोड़ी दूर पर एक विहार है। यहाँ पर तथागत प्राचीन काल में तीन मास तक रहे थे और देवताओं की भलाई के लिए पुनीत धर्म का प्रवाह बहाते रहे थे।

दक्षिण दिशा की ओर, लगभग १०० पग पर, एक छोटा स्तूप है। इस स्थान पर एक भिक्षु ने एक बहुत दूरस्थ देश से आकर बुद्ध भगवान् का दर्शन किया था। प्राचीन काल में एक भिक्षु था जो बहुत दूर से भ्रमण करता हुआ इस स्थान पर पहुँचा। यहाँ पर आकर उसने देखा कि बुद्धदेव अपनी शिष्य-मण्डली में विराजमान हैं। उनके दर्शन करते ही उसके हृदय में भक्ति का संचार हो गया और वह भूमि पर लम्बायमान होकर दण्डवत् करने लगा। साथ ही इसके उसी समय उसने यह भी वर माँगा कि वह चक्रवर्ती राजा हो जावे। बुद्धदेव उसको देखकर अपने साथियों से कहने लगे, "यह भिक्षु अवश्य दया का पात्र है, इसके धार्मिक चरित्र की शक्ति अपार और गम्भीर तथा इसका विश्वास दृढ़ है। यदि इसने बुद्धधर्म का फल (अरहट होना) माँगा होता तो बहुत शीघ्र पा जाता परन्तु इस समय इसकी प्रबल

याचना चक्रवर्ती होने की है, इसलिए यह प्रतिफल इसको अगले जन्मों में प्राप्त होगा। उस स्थान से जहाँ पर उसने दण्डवत् की है जितने किनके बालू के पृथ्वी के स्वर्णचक्र[1] तक हैं उतने ही चक्रवर्ती राजा[2] इसके पलटे में होंगे। परन्तु इसका चित्त सांसारिक आनन्द में फँस गया है इसलिए परम पद की प्राप्ति इससे अब बहुत दूर हो गई।

इसी स्तूप के दक्षिणी भाग में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की एक खड़ी मूर्ति है। कभी कभी यह मूर्ति हाथ में सुगंध-पात्र लिये हुए बुद्धदेव के विहार की ओर जाती हुई और उसकी परिक्रमा करती हुई दिखाई पड़ती है।

इस मूर्ति के दक्षिण में एक स्तूप है जिसमें बुद्धदेव के तीन मास के कटे[3] हुए नख और बाल हैं। जिन लोगों के बच्चे रोगी[4] रहते हैं वे इस स्थान पर आकर और भक्ति से प्रदक्षिणा करने पर अवश्य दुःख-मुक्त हो जाते हैं।

इसके पश्चिम में और दीवार के बाहर एक तड़ाग के किनारे एक स्तूप है। इस स्थान पर एक विरोधी ने हाथ में

[1] अर्थात् पृथ्वी का केन्द्र जहाँ पर स्वर्णचक्र है और जिसके ऊपर के वज्रासन पर बुद्धदेव बुद्धावस्था को प्राप्त हुए थे। बोधिवृक्ष का वर्णन देखिए।

[2] अर्थात् उतनी ही बार यह चक्रवर्ती राजा होगा।

[3] तीन महीने के भीतर जितनी बार और जितने नख-बाल बुद्ध-देव के काटे गये थे।

[4] अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है, "जो लोग अनेक सम्मिलित व्याधियों से पीड़ित होते हैं।" चीनी भाषा के शब्द 'यिङ्ग' का अर्थ 'बच्चा' और 'बढ़ा हुआ' भी हो सकता है।

गौरैया पक्षी को लिये हुए बुद्धदेव से जन्म और मृत्यु के विषय में प्रश्न किया था।

दीवार के भीतरी भाग में दक्षिण-पूर्व दिशा में ५० पग की दूरी पर एक अद्भुत वृक्ष है जो आठ या नौ फ़ीट ऊँचा है; परन्तु इसका तना दुफड़ा[1] है। तथागत भगवान् ने अपने दन्तकाष्ठ (दतून) को दाँत साफ़ करने के उपरान्त इस स्थान पर फेंक दिया था। यही जम कर वृक्ष हो गई। सैंकड़ों वर्ष व्यतीत होगये जब से न तो यह वृक्ष बढ़ता ही है और न घटता ही है।

इसके पूर्व में एक बड़ा विहार है जो लगभग २०० फ़ीट ऊँचा है। यहाँ पर तथागत भगवान् ने चार मास तक निवास करके अनेक प्रकार से विशुद्ध धर्म का निरूपण किया था।

इसके बाद, उत्तर दिशा में १०० क़दम पर एक विहार है जिसमें अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की प्रतिमा है। सच्चे भक्त, जो अपनी धार्मिक पूजा और भेट के लिए इस स्थान पर आते हैं, इस मूर्ति को एक ही स्थान पर स्थिर और एक ही दशा में कभी नहीं पाते। इसका कोई नियत स्थान नहीं है। कभी यह द्वार के बग़ल में खड़ी दिखाई पड़ती है और कभी किसी और स्थान पर। धार्मिक पुरुष, साधु और गृहस्थ सब प्रान्तों से झुंड के झुंड भेट-पूजा के लिए इस स्थान पर आया करते हैं।

[1] दाँत साफ़ करने के उपरान्त यह नियम है कि दातुन को दो भाग में चीर डालते हैं, इसी से वृक्ष का तना दुफड़ा है।

इस विहार के उत्तर में एक और विशाल विहार लगभग ३०० फ़ीट ऊँचा है जो बालादित्य राजा का बनवाया हुआ है। इसकी सुन्दरता, विस्तार और इसके भीतर की बुद्धदेव की मूर्ति इत्यादि सब बातें ठीक वैसी ही हैं जैसी कि बोधि-वृक्ष के नीचेवाले विहार में हैं[1]।

इसके पूर्वोत्तर में एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ तथागत ने सात दिन तक विशुद्ध धर्म का वर्णन किया था। उत्तर-पश्चिम दिशा में एक स्थान है जहाँ पर गत चारों बुद्धों के आने जाने और उठने बैठने के चिह्न हैं।

इसके दक्षिण में एक पीतल[2] का विहार शिलादित्य का बनवाया हुआ है। यद्यपि यह अभी पूरा बन नहीं चुका है तो भी, जैसा निश्चय किया गया है, बन कर तैयार होने पर १०० फ़ीट के विस्तार में होगा।

इसके पूर्व में लगभग २०० क़दम पर चहारदीवारी के बाहर बुद्धदेव की एक खड़ी मूर्ति ताँबे की बनी हुई है। इसकी ऊँचाई ८० फ़ीट है, जिसके लिए—यदि किसी भवन में रक्खी जाय तो—छः खंड के बराबर ऊँचा मकान आवश्यक होगा। इसको प्राचीन काल में राजा पूर्णवर्मा ने बनवाया था।

इस मूर्ति के उत्तर में दो या तीन ली की दूरी पर ईंटों से बने हुए एक विहार में तारा बोधिसत्व की एक मूर्ति है।

[1] इस विशाल विहार की बाबत अनुमान है कि यह अमरदेव का बनवाया हुआ है। इसका पूरा पूरा हाल डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र की 'बुद्धगया' नामक पुस्तक में देखो।

[2] कदाचित् पीतल के पत्र दीवारों में जड़ दिये गये होंगे।

मूर्ति बहुत ऊँची और अद्भुत प्रतापशालिनी है। प्रत्येक वर्ष के प्रथम दिवस यहाँ पर बहुत भेट आती है। निकटवर्ती राजा, मंत्री लोग और बड़े बड़े धनी पुरुष हाथ में रत्नजटित झंडे और छत्र लिये हुए आते हैं और सुगन्धित वस्तुएँ तथा उत्तम पुष्प आदि से पूजा करते हैं। यह धार्मिक संघट्ट लगातार सात दिन तक होता रहता है और अनेक प्रकार की धातु तथा पत्थर के वाद्य-यंत्र वीणा बाँसुरी आदि सहित बजते रहते हैं।

दक्षिणी फाटक की ओर भीतरी भाग में एक विशाल कूप है। प्राचीन काल में एक दिन तथागत भगवान के पास बहुत से व्यापारी प्यास से विकल होकर इस स्थान पर आये। बुद्धदेव ने उनको यह स्थान बता कर कहा, "इस स्थान पर तुमको जल मिलेगा।" उन व्यापारियों के मुखिया ने गाड़ी के धुरे से भूमि में छेद कर दिया और उसी क्षण छेद में से होकर जल की धारा फूट निकली। जल को पीकर और उपदेश को सुनकर वे लोग परमपद को प्राप्त हो गये।

संघाराम से दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ या नौ ली चल कर हम कुलिक ग्राम में पहुँचे। इसमें एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर मुद्गलपुत्र का जन्म हुआ था। गाँव के निकट ही एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ यह महात्मा निर्वाण को प्राप्त हुआ था। उसका शव इसी स्तूप में रक्खा है। यह महात्मा ब्राह्मण वंश का था और शारिपुत्र का उस समय से मित्र था जब वे दोनो निरे बालक ही थे। शारिपुत्र अपने सुस्पष्ट ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था और मुद्गलपुत्र अपनी प्रतिभा और दूरदर्शिता के लिए। इन दोनों की विद्या और बुद्धि समान थी और ये दोनों

उठते बैठते सदा साथ ही रहते थे। उनके विचार और उनकी वासनायें आदि से अन्त तक बिलकुल मिलती थीं। वे दोनों सांसारिक सुखों से घृणा करके सञ्जय[१] नामी महात्मा के शिष्य हुए और संन्यासी होकर संसार परित्यागी होगये। एक दिन शारिपुत्र की भेंट अश्वजित् अरहट से हो गई। उसके द्वारा पुनीत धर्म को सुनकर उसके ज्ञानचक्षु उन्मीलित होगये। जो कुछ उसने सुना था वह सब बड़ी प्रसन्नता के साथ मुद्गलपुत्र को आकर सुनाया। इस तरह पर यह (मुद्गल पुत्र) धर्म को सुन और गुन कर प्रथम पद[२] को प्राप्त हुआ और अपने २५० शिष्यों को साथ लेकर उस स्थान पर गया जहाँ पर बुद्धदेव थे। उसको आता हुआ देखकर बुद्धदेव ने अपने शिष्यों से कहा कि 'वह जो व्यक्ति आरहा है, अपने आध्यात्मिक बल में मेरे सब शिष्यों से बढ़ कर होगा।' बुद्धदेव के निकट पहुँच कर उसने प्रार्थना की कि मैं भी विशुद्ध धर्म में दीक्षित करके आपके शिष्यों में सम्मिलित किया जाऊँ। बुद्ध भगवान ने उत्तर दिया, "हे भिक्षु! मैं तेरा मन्तव्य प्रसन्नता से स्वीकार करता हूँ, विशुद्ध धर्म का अभ्यास दत्तचित्त होकर करने से तू दुःखों की सीमा को पार कर जायगा।" बुद्ध भगवान के मुख से इन शब्दों के निकलते ही उसके बाल गिर पड़े और उसके साधारण वस्त्र आपसे आप धार्म्मिक वस्त्रों में परिणत होगये।

[१] 'मैनुअल आफ़ बुद्धिज़्म' में लिखा है कि 'उस समय राजगृह में एक प्रसिद्ध परिव्राजक, जिसका नाम सञ्ज था, रहता था। उसके पास वे दोनों गये थे और कुछ दिनों तक रहे थे।

[२] इस प्रथम पद को 'स्रोतापन्न' कहते हैं।

धार्म्मिक नियमों की पवित्रता का मनन करके और अपने वाह्याचरण को निर्दोष बना कर सात दिन में उसके पातकों का बंधन छिन्न-भिन्न हो गया और वह अरहट-अवस्था को प्राप्त होकर अलौकिक शक्ति-सम्पन्न होगया।

मुद्गलपुत्र के ग्राम के पूर्व में ३ या ४ ली चल कर हम एक स्तूप तक पहुँचे। इस स्थान पर बिम्बसार बुद्धदेव का दर्शन करने आया था। बुद्धावस्था को प्राप्त करके तथागत भगवान् को बिम्बसार राजा के निमंत्रण-पत्र से विदित हुआ कि मगध-निवासी उनके दर्शनामृत के प्यासे हैं। इसलिए प्रातःकाल के समय अपने वस्त्रों को धारण करके और अपने भिक्षापात्र को हाथ में लिये हुए तथा दाहिने बायें १,००० शिष्यों की मण्डली सहित वे प्रस्थानित हुए। आगे और पीछे धर्म के जिज्ञासु सैकड़ों वृद्ध ब्राह्मण, जिनके जूड़े बँधे हुए थे और जो रङ्गीन वस्त्र (चीवर) धारण किये हुए थे, चलते थे। इस तरह पर बड़ी भारी भीड़ को साथ लिये हुए बुद्धदेव राजगृह नगर में पहुँचे।

उस समय देवराज शक्र सिर पर बालों को बाँधे हुए और ऊपर से मुकुट धारण किये हुए 'मानव युवक' के समान स्वरूप बना कर इस भारी भीड़ में मार्ग को प्रदर्शित करते हुए बुद्धदेव के आगे आगे भूमि से चार अंगुल ऊपर उठे हुए चले थे। इनके बाएँ हाथ में सोने का एक घड़ा और दाहिने हाथ में एक बहुमूल्य छड़ी थी। मगध-नरेश बिम्ब-सार इस समाचार को पाकर कि बुद्ध भगवान् आरहे हैं अपने राज्य भर के सब गृहस्थ ब्राह्मण और सौदागरों को साथ लेकर, जिनकी संख्या एक लाख से भी अधिक थी

और जो चारों ओर से उसे घेरे हुए उसके साथ थे, राजगृह से चलकर पुनीत संघ के दर्शनों को आया था।

जिस स्थान पर बिम्बसार की भेंट बुद्धदेव से हुई थी उसके दक्षिण-पूर्व लगभग २० ली चल कर हम कालपिनाक नगर में पहुँचे। इस नगर में एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। यह वह स्थान है जहाँ पर महात्मा शारि-पुत्र का जन्म हुआ था। इस स्थान का खंडहर अब भी वर्तमान है। इसके पास ही एक स्तूप है जहाँ पर महात्मा का निर्वाण हुआ था। इस स्तूप में महात्मा का शव समाधिस्थ है। यह भी उच्च वंश का ब्राह्मण था। इसका पिता बड़ा विद्वान और जटिल से जटिल प्रश्न को विचारपूर्वक निर्णय करने में सिद्ध था। कोई भी महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ ऐसा नहीं था जिसका उसने साङ्गोपाङ्ग अध्ययन न किया हो। उसकी स्त्री को एक दिन स्वप्न हुआ जिसे उसने अपने पति को इस प्रकार सुनाया कि 'रात को सोते समय मैंने स्वप्न में एक अद्भुत व्यक्ति को देखा जिसका शरीर कवच से आच्छादित था और जो हाथ में वज्र लिये हुए पहाड़ों को तोड़ फोड़ रहा था। परन्तु अन्त में वह एक विशेष प्रकार के पहाड़ के पदतल में खड़ा हो गया।' पति ने कहा, "यह स्वप्न बहुत ही उत्तम है, तुम्हारे गर्भ से एक बड़ा विद्वान् पुत्र उत्पन्न होगा, जिसकी प्रतिष्ठा सारे संसार में होगी और जो सब विद्वानों के मत को और उनके निर्मित ग्रंथों को छिन्न भिन्न कर देगा। और अन्त में ज्ञानी होकर एक ऐसे महात्मा का शिष्य होगा जिसकी गणना मनुष्यों में नहीं की जा सकती।"

कुछ दिन बाद उचित समय पर बालक का जन्म हुआ जिसके जन्मते ही वह स्त्री सहसा ज्ञानवती हो गई। उसकी

भाषा और वाणी में ऐसी शक्ति उत्पन्न होगई कि उसके शब्दों को कोई भी खंडित नहीं कर सकता था। आठ वर्ष की अवस्था होते होते बालक की कीर्ति चारों दिशाओं में फैलने लगी। उसका आचरण स्वभावतः शुद्ध और शान्त और उसका चित्त दया तथा प्रेम से परिपूर्ण था। जो कुछ बाधायें उसको मार्ग में पड़ीं उन सबको तोड़ कर पूर्ण ज्ञान के प्राप्त करने में वह बालक संलग्न होगया। इसी समय मुद्गलपुत्र से इसकी मिताई हुई। संसार से विरक्त होकर और दूसरा कोई अवलम्ब न पाकर, मुद्गलपुत्र को साथ लिये हुए वह सञ्जय नामक विरोधी साधु के स्थान पर गया और अमरत्व की प्राप्ति का साधन करने लगा। परन्तु इससे उसकी तृप्ति न हुई। उसने मुद्गलपुत्र से कहा, "यह साधन पूर्ण मुक्ति देनेवाला नहीं है, हमको तो ऐसा मालूम होता है कि हमारे दुखों के जाल से भी यह हमको नहीं निकाल सकेगा। इसलिए हम लोगों को कोई दूसरा मार्गप्रदर्शक, जो सर्वश्रेष्ठ हो और जिसने 'मीठी ओस'[१] प्राप्त कर ली हो, ढूँढना चाहिए और उसके द्वारा उसका स्वाद सब लोगों के लिए सुलभ कर देना चाहिए।

इसी समय अश्वजित् नामक महात्मा अरहट अपने हाथ में भिक्षापात्र लिये हुए नगर में भिक्षा माँगने जा रहा था। शारिपुत्र उसके प्रदीप्त मुख तथा शान्त और गम्भीर आचरण को देखकर समझ गया कि यह महात्मा है। उसने उसके पास जाकर पूछा, "महाशय! आपका गुरु कौन है"? उसने उत्तर दिया, "शाक्य-वंशीय राजकुमार

[१] अमृत।

संसार से विरक्त और संन्यासी होकर बुद्धावस्था को प्राप्त हो गया है, वही महापुरुष मेरा गुरु है।" शारिपुत्र ने पूछा, "वे किस ज्ञान का उपदेश देते हैं? क्या मैं भी उसको सुन सकता हूँ?" उसने उत्तर दिया, "मैं थोड़े ही दिनों से इस शिक्षा में प्रविष्ट हुआ हूँ इसलिए गूढ़ सिद्धान्तों का अभी मनन नहीं कर सका हूँ।" शारिपुत्र ने प्रार्थना की, "कृपा करके जो कुछ आपने सुना है उसी को सुनाइए।" तब अश्वजित् ने, जो कुछ उससे हो सका वर्णन किया, जिसको सुनकर शारिपुत्र उसी क्षण प्रथम पद को प्राप्त हो गया और अपने २५० साथियों के सहित बुद्धदेव के निवास-स्थल की तरफ़ चल दिया।

बुद्धदेव ने उसको दूर से देखकर अपने शिष्यों से कहा, "वह देखो एक व्यक्ति आरहा है जो मेरे शिष्यों में अपने अप्रतिम ज्ञान के लिए बहुत प्रसिद्ध होगा।" निकट पहुँच कर उसने अपना मस्तक बुद्धदेव के चरणों में रख दिया और इस बात का प्रार्थी हुआ कि उसको भी बुद्धधर्म के प्रतिपालन करने की आज्ञा दी जावे। भगवान ने उससे कहा, "स्वागत! हे भिक्षु! स्वागत!"

इन शब्दों को सुनकर वह नियमानुसार आचरण करने लगा। पन्द्रह दिन तक दीर्घनख[1] ब्राह्मण की कथा, तथा बुद्धदेव के अन्यान्य उपदेशों को सुनकर और उनको दृढ़तापूर्वक मनन करके वह अरहट पद को पहुँच गया। कुछ दिन

१ इस ब्राह्मण या ब्रह्मचारी का दीर्घनख 'परिव्राजक' परिप्रीच्छ नामक ग्रंथ में विशदरूप से वर्णन किया गया है।

पीछे जब बुद्धदेव ने अपने निर्वाण प्राप्त करने का इरादा आनन्द पर प्रकट किया और उसका समाचार सब ओर शिष्यों में फैल गया उस समय सब लोग दुखित हो गये। शारि-पुत्र को तो यह समाचार दूना दुखदायक हुआ; वह बुद्धदेव के निर्वाण-दृश्य का विचार भी अन्तःकरण में लाने में समर्थन हो सका, इसलिए उसने बुद्धदेव से प्रार्थना की कि प्रथम उसको प्राण-त्याग करने की आज्ञा दी जावे। भगवान ने उत्तर दिया, "तुम्हीं अपने समय का साधन करो।"

सब शिष्यों से बिदा लेकर वह अपने जन्मस्थान को चला आया। उसके शिष्य श्रमणों ने चारों ओर नगरों और गाँवों में इस समाचार को फैला दिया। इस समाचार को सुनकर अजातशत्रु अपनी प्रजासमेत आँधी के समान उठ-दौड़ा और बादलों के समान उसके पास आकर जमा हो गया। शारिपुत्र ने विस्तार के साथ उसको धर्मोपदेश सुना कर बिदा किया। उसके दूसरे दिन अर्धरात्रि के समय अपने विशुद्ध विचारों और मन को अचंचल करके वह 'अंतक समाधि' में लीन हुआ, तथा थोड़ी देर के उपरान्त उससे निवृत्त होकर स्वर्गगामी हो गया।

कालपिनाक नगर के दक्षिण-पूर्व में चार या पाँच ली चलकर एक स्तूप उस स्थान पर है जहाँ शारिपुत्र निर्वाण को प्राप्त हुआ था। दूसरे प्रकार से यह भी कहा जाता है कि काश्यप बुद्ध के समय में तीन कोटि महात्मा अरहट इस स्थान पर पूर्ण निर्वाणावस्था को प्राप्त हुए थे।

इस अन्तिम स्तूप के पूर्व में लगभग ३० ली चलकर

हम इन्द्रशैल गुहा[१] नामक पहाड़ पर पहुँचे। इसके करारे और घाटियाँ तिमिराच्छन्न और निर्जन हैं। फूलदार वृक्ष जङ्गल के समान बहुत घने घने उगे हुए हैं। इसका शिरोभाग दो ऊँची चोटियों में विभक्त है जो नोंक की तरह पर उठी हुई हैं। पश्चिमी चोटी के दक्षिणी भाग में एक चट्टान के मध्य में बड़ी और चौड़ी एक गुफा है[२]। इस स्थान पर किसी समय जब तथागत भगवान ठहरे हुए थे तब देव-राज शक्र ने अपनी शङ्काओं को, जो ४२ थीं, एक पत्थर पर लिखकर उनके विषय में बुद्धदेव से समाधान चाहा था।

बुद्धदेव ने इनका समाधान किया था। इनकी मूर्तियाँ इस स्थान पर अब भी वर्तमान हैं। लोग आज-कल इन प्राचीन तथा पुनीत मूर्तियों की नक़ल बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। जो लोग इस गुफा में दर्शन-पूजन के लिए जाते हैं उनके हृदय में एक ऐसा धार्म्मिक भाव उत्पन्न होता है कि जिससे वे भक्ति-विह्वल हो जाते हैं। पहाड़ के पिछले भाग पर चारों बुद्धों के उठने-बैठने आदि के चिह्न अब तक मौजूद हैं। पूर्वी

[१] जिस पहाड़ी का वर्णन फ़ाहियान ने अध्याय २८ में किया है उसकी खोज करके जनरल कनिंघम ने निश्चय किया है कि वह इस पहाड़ी की पश्चिमी चोटी है। पहाड़ियों की उत्तरी श्रेणी, जो गया के निकट से पञ्चान नदी तक लगभग ३६ मील फैली चली गई है, दो असमान ऊँची चोटियों में विभक्त हैं। इनमें से पश्चिम दिशावाली ऊँची चोटी 'गिरएक' नाम से प्रसिद्ध है, और यह वही चोटी है जिसका उल्लेख फ़ाहियान ने किया है।

[२] इसको 'गिद्धद्वार' कहते हैं जो संस्कृत-शब्द 'गृद्धद्वार' का अपभ्रंश है।

चोटी के ऊपर एक संघाराम है जिसका साधारण वृत्तान्त यह है कि इसके निवासी साधु अर्द्धरात्रि में यदि पश्चिमी चोटी की ओर निगाह दौड़ाते हैं तो उनको दिखाई पड़ता है कि जिस स्थान पर गुफा है वहाँ पर बुद्धदेव की प्रतिमा के समक्ष दीपक और मशालें जल रही हैं।

इन्द्रशैल गुहा पहाड़ की पूर्वी चोटीवाले संघाराम के सामने ही एक स्तूप 'हंस'[1] नामक है। प्राचीन काल में इस संघाराम के साधु हीनयान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते थे, अर्थात् वह हीनयान जिसके सिद्धान्त क्रमिक[2] कहलाते हैं। इसलिए उनके मत में तीन ही पवित्र वस्तुएँ खाद्य मानी गई

[1] जनरल कनिंघम साहब लिखते हैं कि "पूर्ववाली निचली चोटी के ऊपर ईंटों का एक मंडप है जिसको लोग 'जरासंध का बैठका' कहते हैं। इस भवन का खँडहर अब तक वर्तमान है और सम्भव है कि कदाचित् यह वही स्तूप हो जिसका वर्णन हुएन सांग करता है।" परन्तु वही जनरल साहब आगे चल कर लिखते हैं कि, "वैभार पहाड़ी के पूर्वोत्तरवाले ढाल पर गरम झरने के निकट एक खँडहर ८३ फ़ीट के घेरे में पड़ा हुआ है जिसको लोग 'जरासंध का बैठका' कहते हैं।" समझ में नहीं आता इन दोनों में वास्तविक कौन है, कदाचित् दोनों हों जैसा कि फर्गुसन और बर्गेस साहब 'भारत की गुफाएँ और मन्दिर' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि 'इस नाम के दो स्थान हैं।' तो भी हुएन सांग के लिखने के अनुसार एक को स्तूप अवश्य मानना पड़ेगा और इसलिए वैभार पहाड़ीवाले को 'जरासंध का बैठका' और इन्द्रशैल गुहावाले को 'जरासंध का बैठका' के स्थान पर स्तूप मान लेना युक्तिसङ्गत है।

[2] क्रमिक अर्थात् क्रमशः उन्नत होनेवाले।

थीं और वे लोग इस नियम का बहुत दृढ़तापूर्वक पालन भी करते थे। कुछ दिन पीछे जब उन्हीं तीन पवित्र खाद्य वस्तुओं पर भरोसा रखने का समय नहीं रह गया तब एक दिन एक भिक्षु ने इधर-उधर घूमते हुए देखा कि उसके सिर पर जङ्गली हंसों का एक झुंड हवा में उड़ता हुआ चला जा रहा है। उसने हँसी से कहा, "आज संघ के साधुओं के पास भोजन की यथेष्ट सामग्री नहीं है; हे महासत्व! यह अवसर तुम्हारे लाभ उठाने योग्य है।" उसकी बात समाप्त भी न होने पाई थी कि एक हंस उड़ना छोड़कर साधु के सामने आगिरा और मर गया। भिक्षु यह हाल देख कर विस्मित होगया। उसने अन्य साधुओं को भी बुला कर उसको दिखाया और सब हाल कहा, जिस पर वे लोग मुग्ध होकर कहने लगे, "बुद्ध भगवान् ने अपना धर्म प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति को परिवर्द्धित करने और सब लोगों को मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए स्थापित किया है; हम लोग जो इस समय क्रमिक सिद्धान्तों का अनुसरण कर रहे हैं सो उचित नहीं है। महायान-सम्प्रदाय बहुत ठीक है, इसलिए हम लोगों को अब अपना प्राचीन नियम बदल देना चाहिए और पुनीत आज्ञाओं का पालन दत्तचित्त होकर करना चाहिए। वास्तव में इस हंस का नीचे गिरना हमारे लिए उत्तम उपदेश है, इसलिए हम लोगों को उचित है कि इसकी पुनीत कथा का वृत्तान्त भविष्य में बहुत दिनों तक सजीव रखने का प्रबन्ध कर देवें।" इसलिए उन लोगों ने इस स्तूप को बनवाया ताकि जो दृश्य उन्होंने देखा था वह भविष्य में लुप्त न हो जावे। उस हंस का शव इस स्तूप के भीतर रख दिया गया था।

इन्द्रशैल गुहा पहाड़ के पूर्वोत्तर में १५० या १६० ली

चल कर हम कपोतिक-संघाराम[1] में पहुँचे। यहाँ कोई २०० साधु हैं जो बुद्धधर्म के सर्वास्तिवाद संस्था के सिद्धान्तों का पालन करते हैं।

पूर्व दिशा में अशोक का बनवाया हुआ एक स्तूप है। प्राचीन काल में बुद्ध भगवान् ने इस स्थान पर निवास करके एक बड़ी सभा में रात भर धर्मोपदेश किया था। उसी समय किसी चिड़ीमार ने पक्षियों को पकड़ने के लिए इस जङ्गल में अपना जाल फैलाया। तमाम दिन व्यतीत होगया परन्तु उसके हाथ कुछ न आया। इस पर उसने खिन्न होकर कहा कि 'मालूम होता है कि किसी के कारण आज का दिन मेरा बर्बाद गया।" इसलिए वह भुँझलाता हुआ उस स्थान पर पहुँचा जहाँ पर बुद्धदेव थे और उनसे बड़े कर्कश स्वर में कहने लगा, "हे तथागत! तुम्हारे धर्मोपदेश के कारण आज तमाम दिन मेरा जाल खाली ही रहा। मेरे बच्चे और मेरी स्त्री घर पर भूखी हैं। बताओ किस तरह से मैं उनकी रक्षा करूँ।" तथागत ने उत्तर दिया, "तुम थोड़ी आग जलाओ मैं अभी कुछ न कुछ तुमको खाने के लिए देता हूँ।"

उसी समय तथागत भगवान् ने एक बड़ा भारी पंडुखा[2] प्रकट कर दिया जो अग्नि में गिर कर मर गया। चिड़ीमार उसको लेकर अपने स्त्री-बच्चों के पास गया और सबने उस

[1] जनरल कनिंघम साहब पार्वती ग्राम को, जो गिरएक के पूर्वोत्तर में १० मील पर है, कपोतिक-संघाराम निश्चय करते हैं। यदि ऐसा है तब तो हुएन सांग की लिखी दूरी ठीक न मानी जायगी और उसके स्थान पर ५० या ६० ली कहना पड़ेगा।

[2] पंडुखा भी एक प्रकार का कबूतर है।

पंडुखे को खाया। इसके उपरान्त वह फिर बुद्धदेव के पास लौट आया। बुद्धदेव ने उस चिड़ीमार को शिष्य बनाने के लिए बहुत ही उत्तम उपदेश दिया जिसको सुनकर उस चिड़ीमार को अपने अपराधों पर पछतावा हुआ और इसके साथ ही उसका चित्त भी नवीन प्रकार का हो गया। उसने घर छोड़ दिया और ज्ञान का अभ्यास करके परम पद को प्राप्त हुआ। यही कारण है कि इस संघाराम का नाम कपोतिक है।

इसके दक्षिण में दो या तीन ली चलकर हम एक निर्जन पहाड़ी[1] पर पहुँचे जो बहुत ऊँची और जङ्गलों से भरी हुई है। प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुष्प वृक्ष इसको आच्छादित किये हुए हैं और विशुद्ध जल के झरने इसके खोखलों में से प्रवाहित होते हैं। इस पहाड़ी पर अनेक विहार और पुनीत शव-समाधि (क़बरें) विलक्षण कारीगरी के साथ बनी हुई हैं। विहार के मध्य में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की एक प्रतिमा है। यद्यपि इसका आकार छोटा है परन्तु इसका चमत्कार बहुत बड़ा है। इसके हाथ में कमल का एक फूल और सिर पर बुद्धदेव की एक मूर्ति है।

यहाँ पर हज़ारों मनुष्यों की भीड़ बोधिसत्व के दर्शनों की इच्छा से नित्य-प्रति निराहार उपवास किया करती है,

[1] कनिंघम साहब इस पहाड़ी को वही पहाड़ी मानते हैं जिसका वर्णन फ़ाहियान ने 'निर्जन पहाड़ी' के नाम से किया है। परन्तु, विपरीत इसके, फर्गुसन साहब विहारवाली पहाड़ी को फ़ाहियानवाली पहाड़ी और इस पहाड़ी को शेखपुर श्रेणी मानते हैं (J. R. A. S. N. S. Vol. VI P. 229).

यहाँ तक कि सात दिन, चौदह दिन और कभी कभी पूरे मास भर का व्रत करना पड़ता है। जिन लोगों में भक्ति का आवेश प्रबल होता है वे सौन्दर्य-सम्पन्न, सर्वलक्षणसंयुक्त अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का दर्शन प्राप्त करते हैं। मूर्ति के मध्य भाग में से बोधिसत्व प्रकट होकर बहुत मधुर शब्दों में उनको उपदेश देते हैं।

प्राचीन काल में एक दिन सिंहल-प्रदेश के राजा ने बहुत तड़के अपना मुख दर्पण में देखा परन्तु उनको वह तो दिखाई न पड़ा, उसके स्थान में उन्होंने देखा क्या कि जम्बूद्वीप के मगध-प्रदेश के एक ताल-वन के मध्य में एक छोटी पहाड़ी है जिसके ऊपर इस (अवलोकितेश्वर) बोधिसत्व की एक प्रतिमा है। राजा इस उपकारी मूर्ति का स्वरूप देखकर प्रेम-विह्वल हो गया और बड़े परिश्रम से उसकी खोज में तत्पर हुआ। इस पहाड़ पर आकर उसने ठीक वैसी ही मूर्ति का दर्शन पाया जैसी कि उसने दर्पण में देखी थी[1]। उसने उस स्थान पर एक विहार बनवा कर भेंट-पूजा से प्रतिष्ठित किया तथा और भी अन्य घटनाओं का, जो समय समय पर इस स्थान पर हुई थीं, अनुसंधान करके विहारों और समाधिस्थलों को बनवाया। यहाँ पर बाजे-गाजे के साथ फूलों और सुगंधित वस्तुओं से सदा पूजा होती है।

[1] पहाड़ी देवता के समान अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का वर्णन किया गया है। (देखो J. R. A. S. N. S. Vol. XV. PP.333f.) सेमुअल वील साहब का इस स्थान पर विचार है कि इस देवता की पूजा का कुछ सम्बन्ध लंका से भी है। J. R. A. S. में भी इसी अभिप्राय को लेकर अच्छा ऊहापोह किया गया है।

इस स्थान से दक्षिण-पूर्व की ओर ४० ली[1] चल कर हम एक निर्जन पहाड़ के ऊपर एक संघाराम में पहुँचे जिसमें लगभग ५० साधु निवास करके हीनयान-सम्प्रदाय का अनुशीलन करते हैं। संघाराम के सामने एक विशाल स्तूप है जिसमें से अद्भुत दृश्य प्रकट होते रहते हैं। यहाँ पर बुद्धदेव ने ब्रह्मदेवादि के निमित्त सात दिन तक धर्मोपदेश दिया था। इसके पास गत तीनों बुद्धों के उठने-बैठने इत्यादि के चिह्न हैं। संघाराम के पूर्वोत्तर में लगभग ७० ली चल कर गंगा के दक्षिणी किनारे पर हम एक बड़े गाँव में पहुँचे जो अच्छी तरह सघन बसा हुआ है।[2] इसमें बहुत से देव-मन्दिर हैं जो सबके सब भली भाँति सुसज्जित हैं।

इसके पास ही दक्षिण-पूर्व की दिशा में एक विशाल स्तूप है। यहाँ पर बुद्धदेव ने एक रात्रि धर्मोपदेश किया था। यहाँ से पूर्व दिशा में एक पहाड़ पर होकर और लगभग १०० ली चल कर हम 'लो इन्नी लो'[3] ग्राम के संघाराम में पहुँचे।

इसके सामने एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ उस स्थान पर है जहाँ बुद्धदेव ने तीन मास तक धर्मोपदेश किया

[1] जनरल कनिंघम साहब चालीस के स्थान पर चार ही ली मान कर वर्तमान समय के 'अफ़सर' स्थान पर इस विहार का होना निश्चय करते हैं।

[2] इसकी दूरी और दिशा इत्यादि से 'शेखपुर' निश्चय होता है।

[3] कनिंघम साहब इसको 'रजान' निश्चय करते हैं। आइन अकबरी में रोविन्नी लिखा है जो चीनी-भाषा से मिलता-जुलता है; जुलियन इसको कुछ सन्देह के साथ 'रोहिनील' निश्चय करता है।

था। इसके उत्तर में दो या तीन ली पर कोई ३० ली के विस्तार में एक तड़ाग है। वर्ष की चारों ऋतुओं में चारों रङ्ग के कमलों में से एक प्रकार का कमल इसमें प्रफुल्लित रहता है।

यहाँ से पूर्व दिशा में चल कर हम एक विकट वन में पहुँचे और वहाँ से लग भग २०० ली चल कर हम इलाना-पोफाटो प्रदेश में आये।

दसवाँ अध्याय

इस अध्याय में इन १७ देशों का वर्णन है :—(१) इलान्नापोफाटो (२) चेनपो (३) कइचुहोहखीलो (४) पुनफटन्न (५) कियामोनुयो (६) सनमोटाचा (७) तानमोलिति (८) कइलोना सुफालोना (९) ऊच (१०) काङ्गउटओ (११) कइलिङ्गकिया (१२) कियावमलो (१३) अनतलो (१४) टांनकइ-टसी-किया (१५) चुलीये (१६) टलो पिच आ (१७) मोलो कयुचअ।

इलान्नापोफाटो (हिरण्य-पर्वत[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल ३,००० ली और राजधानी का २० ली है। राजधानी गङ्गा के दक्षिणी तट पर बसी हुई है।

[1] हिरण्यपर्वत का निश्चय जनरल कनिंघम साहब मोंगिर पहाड़ी के साथ करते हैं। यह पहाड़ी (और राज्य, जिसका नामकरण इसी पर से है) अनादि काल से बहुत प्रसिद्ध है, क्योंकि यहां से पहाड़ी और नदी के मध्य में होकर स्थल-मार्ग और गंगाजी के द्वारा जल-मार्ग है। कहा जाता है कि इसका वास्तविक नाम 'कष्टहरण-पर्वत' है क्योंकि गंगाजी का प्रसिद्ध घाट कष्टहरण यहीं पर है। इस घाट पर स्नान करने से मनुष्यों के शारीरिक और मानसिक दुख दूर हो जाते हैं। जनरल साहब निश्चय करते हैं कि 'हरण-पर्वत' नाम हुएन सांग के इलान्नापोफाटो शब्द का अपभ्रंश है। यह पहाड़ी मुद्गलगिरि भी कही जाती है, जिससे सम्भव है कि इसका सम्बन्ध मुद्गलपुत्र और 'अर्धविंशति कोटि' इत्यादि से भी हो।

यह देश समुचित रूप से जोता बोया जाता है और यहाँ की पैदावार भी अच्छी होती है। फूल और फल भी बहुत होते हैं। प्रकृति स्वभावतः कोमल और मनुष्यों का आचरण शुद्ध और ईमानदार है। कोई दस संघाराम लगभग ४,००० साधुओं के सहित हैं, जिनमें से अधिकतर सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अनुसरण करते हैं। विविध प्रकार के विरोधियों के कोई २० देवमन्दिर हैं।

थोड़े दिन हुए तब से सीमान्त-प्रदेश के नरेश ने यहाँ के शासक को हटा कर राजधानी पर अधिकार कर लिया है। यह साधुसेवक है, इसने दो संघाराम भी नगर में बनवाये हैं, जिनमें से प्रत्येक में लगभग १,००० साधु निवास करते हैं। ये दोनों संघाराम सर्वास्तिवादिन-संस्था के हीनयान साम्प्रदायिक हैं।

राजधानी के निकट और गंगा के किनारे पर हिरण्य-पहाड़ है जिसमें से धुवाँ और भाप इतना अधिक निकला करता है जिससे सूर्य और चन्द्र छिप जाते हैं। प्राचीन काल से लेकर अब तक समय समय पर ऋषि और महात्मा लोग यहाँ पर अपनी आत्माओं को शान्त करने के लिए आते रहते हैं। इस समय यहाँ पर इनका एक देवमन्दिर भी है जिसमें वे अपने सनातन से प्रचलित नियमों का पालन करते हैं। प्राचीन काल में यहाँ पर तथागत भगवान् ने भी निवास करके देवताओं के निमित्त विशेष रूप से धर्म का निरूपण किया था।

राजधानी के दक्षिण में एक स्तूप है। यहाँ पर तथागत भगवान् ने तीन मास तक धर्मोपदेश किया था। इसके पास तीनों गत बुद्धों के बैठने उठने इत्यादि के चिह्न हैं।

इस अन्तिम स्थान के पश्चिम में पास ही एक स्तूप है। यह उस स्थान को प्रदर्शित करता है जहाँ पर श्रुतविंशति कोटि भिक्षु का जन्म हुआ था[1]। प्राचीन काल में इस नगर में एक गृहपति, जो धनाढ्य, प्रतिष्ठित और शक्तिसम्पन्न था, निवास करता था। अधिक अवस्था हो जाने पर उसको संपत्ति का उत्तराधिकारी उत्पन्न हुआ। इस प्रसन्नता में जिसने जाकर उसको समाचार सुनाया था उसको उसने २०० लक्ष अशर्फियाँ पारितोषिक स्वरूप दी थीं। इस कारण उसके पुत्र का नाम 'श्रुतविंशतिकोटि' रक्खा गया था। अपनी उत्पत्ति के समय से लेकर जब तक वह सयाना नहीं हो गया, उसने कभी अपना पैर ज़मीन पर नहीं रक्खा। इस सबब से उसके पैर में एक फ़ुट लम्बे, चमकदार, कोमल और पीले पीले सोने के से रङ्ग के बाल निकल आये थे। वह अपने पुत्र का बड़ा-लाड़ चाव करता था और दुष्प्राप्य से दुष्प्राप्य

[1] चीनी भाषा में इसका अनुवाद Wen urh Pih yih होता है जिसका अर्थ 'दो सौ लक्ष श्रमण' होता है, परन्तु एक नोट से विदित होता है कि पहले इसका अनुवाद yih-urh (लक्षकर्ण) किया गया था। इस वृत्तान्त में 'सोणकोलिविसो' का हाल है जो दक्षिणी लोगों के लेखानुसार चम्पा में रहता था, (देखो Sacred books of the east Vol. XVII, p. 1) इसकी बाबत कहा जाता है कि इसके पास अस्सी गाड़ी सोना, अर्थी (शकटवाह हिरण्णम्) था। परन्तु, महावग्ग ग्रन्थ में एक और सोण का ज़िक्र है जिसको कुटिकन्न कहते थे और जिसकी बाबत बुद्धघोष लिखता है कि उसके कानों का आभूषण (कुंडल) एक कोटि का था इसी लिए उसका यह नाम हुआ। परन्तु राइसडेविड्स साहब इसका अर्थ कानों का नुकीला होना मानते हैं।

सुन्दर सुन्दर वस्तुएँ उसके लिए मँगवाया करता था। उसने अपने मकान से लेकर हिमालय पहाड़ तक बीच बीच में अनेक विश्राम-गृह बनवा रक्खे थे जिनमें उसके नौकरों का आवागमन बराबर बना रहता था। कैसी ही बहुमूल्य औषधि की आवश्यकता हो एक विश्राम-गृह का नौकर दूसरे विश्राम-गृह वाले के पास और दूसरा तीसरे के पास दौड़ जाता था और इसी तरह पर दौड़ धूप करके बहुत ही कम समय में उस वस्तु को ले आता था; यह घर ऐसा धनाढ्य था। जगत्पूज्य भगवान् ने उसके इस पुत्र-स्नेह को देख कर उसके हृदय में ज्ञान का अंकुर उत्पन्न करने के लिए मुद्गलपुत्र को आज्ञा दी कि वहाँ जाकर उसको उपदेश देवे। वह उसके द्वार तक तो आया परन्तु उससे भेंट करानेवाला कोई सहायक न पाकर वह कुछ विचार में पड़ गया कि किस प्रकार उससे भेंट करके अपना प्रभाव उस पर जमावे। इस गृहस्थ का परिवार सूर्योपासक था। नित्य प्रातःकाल सूर्योदय होने पर यह सूर्यदेव की उपासना किया करता था। मुद्गलपुत्र ने उसी समय को ठीक समझा, अतएव अपनी आध्यात्मिक शक्ति से सूर्यमंडल में पहुँच कर और दर्शन देकर वह वहाँ से नीचे आकर उसके भवन के भीतरी भाग में खड़ा हो गया। गृहपति के पुत्र ने उसको सूर्यदेव समझ कर और बड़ी भक्ति से उसका पूजन करके अत्यन्त सुगंधित भोजन (चावल) भेंट किया। चावलों में इतनी अधिक सुगंधि थी कि वह राजगृह तक पहुँच गई और उसको सूँघकर राजा बिम्बसार विस्मित हो गया। उसने दूतों को भेज कर द्वार द्वार पर इस बात का पता लगाया कि यह सुगंधि कहाँ से आती है? अन्त में उनको विदित हुआ कि यह सुगंधि 'वेणुवन-विहार'

से आती है जहाँ पर अभी अभी मुद्गलपुत्र उस गृहपति के स्थान से आया था। राजा ने यह बात सुनकर कि उस गृहस्थ के पुत्र के पास ऐसा अद्भुत भोजन है, उसको अपने दरबार में बुला भेजा। गृहस्थ इस आज्ञा को पाकर विचारने लगा कि किस सुगम उपाय से चलना चाहिए। डोंगी पर चलने से सम्भव है कि हवा और लहरों के वेग से कोई घटना हो जाय। इसी प्रकार रथ से भी भय है कि कदाचित् हाथियों के दौड़ धूप करने से कुछ चोट चपेट न आजाय। अन्त में उसने अपने घर से लेकर राजगृह तक एक नहर बनवा कर उसे सरसों से भरवा दिया और चुपके से उस पर एक बड़ी सुन्दर नाव रख कर उसमें बैठ गया। उस नाव में रस्सियाँ बँधी हुई थीं जिनको घसीटते हुए लोग ले चले; इस प्रकार वह राजगृह तक पहुँचा।[1]

राजगृह में पहुँच कर पहले वह बुद्ध भगवान् को अभिवादन करने गया। भगवान् ने उसको समझाया कि बिम्बसार राजा ने तुमको तुम्हारे पैरों के बाल देखने के लिए बुलवाया है। चूंकि राजा को इनके देखने की इच्छा है इसलिए तुम भी वहाँ जाकर पलथी मार कर और पैरों को ऊपर उठा कर बैठना। यदि तुम अपना पैर राजा की तरफ़ फैला दोगे तो देश के कानून के अनुसार प्राणदंड पाओगे।[2]

[1] महावग्ग ग्रन्थ में केवल इतना ही लिखा हुआ है कि 'सोण कोलिविस;' को लोग पालने में चढ़ा कर राजगृह तक ले गये।

[2] दक्षिणी लेखानुसार यह शिक्षा उसको उसके माता-पिता-द्वारा

वह गृहस्थपुत्र बुद्धदेव से इस प्रकार शिक्षा पाकर दरबार में गया। लोग उसको राजभवन में ले गये और राजा के सामने जाकर उपस्थित कर दिया। राजा ने उसके पैरों के बाल देखना चाहा जिस पर वह पल्थी लगाकर और पैरों को ऊपर उठा कर बैठ गया। राजा उसके इस आचरण को देख कर बहुत प्रसन्न होगया। इसके उपरान्त वह गृहपति अपना अन्तिम अभिवादन करके वहाँ से चला आया और जहाँ पर बुद्धदेव थे वहाँ पर गया।

उस समय तथागत भगवान् दृष्टान्त दे देकर धर्मोपदेश कर रहे थे, जिसको सुनकर उसका चित्त मुग्ध हो गया। उसका अन्तःकरण खुल गया और वह उसी समय शिष्य हो गया। अरहट-पद की प्राप्ति के लिए बहुत दृढ़तापूर्वक वह तपस्या करने लगा, उसकी तपस्या यह थी कि वह नीचे ऊपर दौड़ने लगा[१] और यहाँ तक दौड़ा कि उसके पैरों से रुधिर चूने लगा।

बुद्ध भगवान् ने उससे कहा, "हे प्यारे युवक! जब तुम गृहस्थाश्रम में थे तब क्या तुम वीणा बजाते थे।" उसने उत्तर

प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त अस्सी हजार सेवकों का बुद्धदेव से भेंट करना और सागत के अलौकिक कर्म इत्यादि का वर्णन यहा पर नहीं है।

[१] नीचे ऊपर दौड़ना—यह पूर्वकालिक बौद्धों की एक प्रकार की स्वाभाविक बात थी जिसका उल्लेख हुएन सांग ने स्थान स्थान पर किया है। बुद्धदेव के इस कर्म का जिस स्थान पर वर्णन आया है ये सब स्थान तीर्थ माने गये हैं।

दिया, "हाँ, मैं बजाता था।" "अच्छा तब"। बुद्धदेव ने कहा, "मैं उसी का दृष्टान्त देकर तुमको उपदेश करता हूँ। यदि उसके तार बहुत अधिक चढ़ा दिये जावें तो उसका स्वर कभी नहीं बनेगा और यदि उतार दिये जावें तो झन झन के अतिरिक्त और कोई आनन्द नहीं आवेगा। इसी प्रकार धार्मिक जीवन प्राप्त करने के लिए भी यही विचार रखना चाहिए। यदि अधिक कष्ट उठाया जायगा, तो शरीर थक कर चित्त चंचल हो जायगा, और यदि बिलकुल आलस्य ही घेरेगा तो कांक्षा मन्द होकर चित्त निकम्मा हो जायगा।"

इस आदेश को पाकर वह बुद्धदेव की प्रदक्षिणा करने लगा और यों वह शीघ्र अरहट-पद को पहुँच गया।

देश की पश्चिमी सीमा पर गङ्गा नदी के दक्षिण में हम एक निर्जन पहाड़ पर आये जिसकी दोनों चोटियाँ ऊँची उठी हुई हैं[1]। प्राचीन काल में तीन मास तक इस स्थान पर निवास करके बुद्धदेव ने वकुल यक्ष को शिष्य बनाया था[2]।

पहाड़ के दक्षिण-पूर्व कोण के नीचे एक बड़ा भारी पत्थर है जिसके ऊपर बुद्धदेव के बैठने से चिह्न बन गया है। यह चिह्न लगभग एक इंच गहरा, पाँच फीट दो इंच लम्बा और दो फीट एक इंच चौड़ा है। यह पत्थर एक स्तूप के भीतर रक्खा हुआ है।

[1] कनिंघम इस पहाड़ का निश्चय 'महादेव' नामक पहाड़ी से करते हैं। जो मोंगिर पहाड़ी के पूर्व दिशा में है।

[2] वकुल अथवा वक्कुर बुद्धदेव के शिष्यों में से एक शिष्य स्थविर नाम का था।

दक्षिण दिशा में एक और छाप एक पत्थर पर है जिस पर बुद्धदेव ने अपनी कुण्डिका को रख दिया था। इस छाप की सूरत ठीक आठ पंखुड़ियोंवाले पुष्प की सी है तथा एक इञ्च गहरी है।

इस स्थान के दक्षिण-पूर्व में थोड़ी दूर पर वकुल यक्ष के पदचिह्न हैं। ये चिह्न लगभग एक फ़ुट पाँच इञ्च लम्बे और सात या आठ इञ्च चौड़े हैं, और लगभग दो इञ्च गहरे हैं। यक्ष की इन छापों के पीछे छः सात फ़ीट ऊँची ध्यानावस्था में बैठी हुई बुद्धदेव की पाषाण-प्रतिमा है।

इसके पश्चिम में थोड़ी दूर पर एक स्थान है जहाँ बुद्धदेव ने तपस्या की थी।

इस पहाड़ की चोटी पर यक्ष का निवास-भवन है। इसके उत्तर में बुद्धदेव की पगछाप एक फ़ुट आठ इञ्च लम्बी, कदाचित् छः इञ्च चौड़ी और आध इञ्च गहरी है। इसके ऊपर एक स्तूप बना दिया गया है। प्राचीन काल में बुद्धदेव ने यक्ष को परास्त करके उसको नरहिंसा करने और उनका मांस खाने से मना कर दिया था। भक्ति-पूर्वक बुद्धधर्म को ग्रहण करने के फल से उसका जन्म स्वर्ग में हुआ था।

इसके पश्चिम में छः या सात तप्तकुंड हैं जिनका जल बहुत गरम है[1]।

देश का दक्षिणी भाग पहाड़ी जङ्गलों से भरा हुआ है जिनमें बड़े बड़े दीर्घकाय हाथी रहते हैं।

[1] थोड़े दिन हुए एक यात्री ने इनको देखकर १७ अगस्त सन् १८८२ ई० के पायनियर में इनका वृत्तान्त लिखा है। अब भी ये इतने गरम हैं कि भाफ उठकर घाटी में मेघों के समान भरी रहती है।

इस राज्य को छोड़कर गङ्गा के नीचे दक्षिणी किनारे पर पूर्व दिशा में गमन करते हुए लगभग ३०० ली चलकर हम 'चेनपो' प्रदेश में पहुँचे।

चेनपो (चम्पा[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली और राजधानी, जो गंगा के उत्तरी तट पर है, लगभग ४० ली के घेरे में है। भूमि समतल और उपजाऊ है और समुचित रीति पर जोती बोई जाती है। प्रकृति कोमल और गरम है तथा मनुष्य धर्मिष्ठ और उनका व्यवहार सीधा और सच्चा है। बीसियों संघाराम हैं परन्तु सबके सब उजाड़ हैं। सब मिलाकर लगभग २०० साधु इनमें निवास करते हैं जो सबके सब हीनयान-सम्प्रदायी हैं। कोई २० देवमन्दिर हैं जिनमें अनेक विरोधी उपासना करते हैं। राजधानी की चहारदीवारी ईंटों से बनी हुई और खासी ऊँची है। यह दीवार बहुत ऊँची मेड़ बाँधकर बनाई गई है जिससे शत्रु के आक्रमण के समय बहुत रक्षा होती है। प्राचीन काल में जब कल्प का आरम्भ हुआ था और जब संसार की उत्पत्ति हो रही थी उस समय मनुष्य जङ्गलों में माँद या गुफा बना कर निवास करते थे। उन लोगों को घरों में निवास करने का ज्ञान नहीं था। इसके उपरान्त एक देवी भी अपने पूर्व कर्मानुसार उन लोगों में रहने लगी। एक दिन वह जलक्रीड़ा कर रही थी

[1] चम्पा और चम्पापुरी पुराणों में अङ्ग-देश की राजधानी लिखी गई है जो भागलपुर का प्रान्त है। मि० मारटीन लिखते हैं, "चम्पा-नगर और कर्णगढ़ भागलपुर के सन्निकट हैं।

कि उसी समय उसका समागम किसी देवता से हो गया जिससे गर्भवती होकर उसने चार पुत्र प्रसव किये जिन्होंने जम्बूद्वीप के शासन को आपस में विभक्त कर लिया। प्रत्येक ने एक एक प्रान्त पर अधिकार करके एक एक राजधानी बसाई और नगरों तथा ग्रामों को बसा कर अपनी अपनी सीमा का निर्णय कर लिया। उन्हीं में से एक के प्रदेश की यह नगर भी राजधानी था जो जम्बूद्वीप के सब नगरों में अग्रगण्य माना जाता है।

राजधानी के पूर्व में गंगा के दक्षिणी तट पर लगभग १४० या १५० ली दूर एकान्त और निर्जन स्थान में भूमि से अलग एक चट्टान है[1]। यह चट्टान ऊँची, ढालू और चारों ओर पानी से घिरी हुई है। चोटी पर एक देवमन्दिर है जिसमें से दैवी चमत्कार तथा अद्भुत अद्भुत दृश्य दिखाई दिया करते हैं। चट्टान को तोड़ तोड़ कर मकानात बनाये गये हैं और नहरें बनाकर सब ओर जल की सुविधा कर दी गई है। यहाँ पर अद्भुत अद्भुत वृक्ष, पुष्प-कानन, बड़ी चट्टानें, भयानक चोटियाँ आदि तपस्वी और ज्ञानी पुरुषों के लिए सुख की सामग्री हैं। जो लोग एक बार यहाँ पर आजाते हैं फिर लौटने का नाम नहीं लेते।

[1] कनिंघम साहब इस चट्टान का निश्चय करते हैं कि पत्थर घाट के सामने टापू के समान एक चट्टान नदी में है जिसके ऊपर एक नुकीला मन्दिर बना हुआ है। आगे चलकर वही साहब लिखते हैं कि 'स्वरूप और दूरी से कहाल गाँव की पहाड़ी जो भागलपुर (चम्पा) से २३ मील पर पूर्व दिशा में है निश्चय होती है'।

देश की दक्षिणी सीमावाले निर्जनवन में हिंसक पशु और जङ्गली हाथी झुंड के झुंड घूमा करते हैं।

इस देश से लगभग ४०० ली पूर्व दिशा में चलकर हम 'कइचु होह खीली' राज्य में पहुँचे।

'कइचुहोहखीली' (कजूघिर या कजिंघर[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग २,००० ली है। इसकी भूमि समतल तथा उपजाऊ है। यह समुचित रीति से जोती-बोई जाती है जिससे अच्छी फ़सल उत्पन्न होती है। प्रकृति गरम और मनुष्यों के आचरण सादे हैं। यहाँ के लोग बुद्धिमान्, विद्वान् और गुणग्राहक हैं। कोई छः सात संघाराम ३०० साधुओं सहित, और कोई १० देवमन्दिर विविध विरोधियों से भरे हुए हैं।

गत कई शताब्दियों से यहाँ का राज्यवंश विनष्ट हो गया है इस कारण यहाँ का शासन निकटवर्ती राज्य के अधीन है, और यही सबब है कि नगर और कस्बे उजाड़ हो रहे हैं, लोग भाग भाग कर गाँवों और खेड़ों में बस रहे हैं। यहाँ की यह हालत देख कर शिलादित्य राजा ने, पूर्वी भारत में भ्रमण करते समय इस स्थान पर एक राजभवन बनवाया था और उसमें रह कर उसने अपने भिन्न भिन्न राज्यों का प्रबंध

[1] मारटीन साहब लिखते हैं कि महाभारत में 'कजिंघ' का नाम आया है जो पूर्वी भारत के लोगों का देश है। लंकावालों के यहाँ भी लिखा है कि जम्बूद्वीप के पूर्वी भाग में एक नगर 'कजंघेले नियङ्ग में' नामक है। रेनेल साहब के नक़शे में भी कजेरी नाम का एक गाँव चम्पा से ठाक ९२ मील (४६०) ली पर लिखा हुआ है।

किया था। यह भवन अस्थायी निवास के लिए डालों और पत्तियों से बनाया गया था इस कारण उसके प्रस्थान करते ही फूँक दिया गया था। देश की दक्षिणी सीमा पर अगणित जङ्गली हाथी हैं।

उत्तरी सीमा पर गङ्गा के निकट एक ऊँचा और विशाल मण्डप ईंटों और पत्थरों से बना हुआ है। इसका चबूतरा चौड़ा और ऊँचा है एवं अनुपम कारीगरी के साथ बनाया गया है। मंडप के चारों ओर अलग अलग भवनों में महात्माओं, देवताओं, और बुद्धों की पत्थर की मनोहर मूर्तियाँ हैं।

इस देश से पूर्व की ओर गमन करके, और गंगा नदी पार करके लगभग ६०० ली चलने के उपरान्त हम पुन्न-फटन्न राज्य में पहुँचे।

पुन्नफटन्न (पुण्ड्रवर्द्धन[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल ३० ली है। यह बहुत सघन बसी हुई है। तड़ाग,

[1] प्रोफ़ेसर विल्सन साहब लिखते हैं कि प्राचीन पुण्ड्र देश में राजशाही, दीनाजपुर, रङ्गपुर, नदिया, बीरभूम, बर्दवान, मिदनापुर, जङ्गल महाल, रामगढ़, पचित, पलमन, और कुछ भाग चुनार का सम्मिलित था। यह ईख (पुण्ड्र) का देश है। पौण्ड्र-देशवासियों का नाम संस्कृत-ग्रंथों में बहुधा आया है और पुण्ड्रवर्द्धन-इस देश का एक भाग है। मि० वेस्ट मकाट पुण्ड्रवर्द्धन का निश्चय रङ्गपुर से ३५ मील उत्तर-पश्चिम दीनाजपुर में वर्द्धन कुटी (या खेन्ताल) और

सुरम्य स्थान और पुष्पोद्यान स्थान स्थान पर बने हुए हैं। भूमि समतल और चिकनी एवं सब प्रकार की वस्तु उत्पन्न करनेवाली है। पनसफल की बड़ी कदर है और होता भी अधिक है। इसका फल बहुत बड़ा कद्दू के समान होता है। पकने पर इसका रङ्ग कुछ पीलापन लिये लाल हो जाता है। तोड़ने पर इसके भीतर कबूतर के अंडे के बराबर बीसों कोये निकलते हैं जिनको निचोड़ने से कुछ पीलापन लिये हुए लाल रङ्ग का रस निकलता है जो कि बड़ा स्वादिष्ट होता है। यह फल लटकनेवाले फलों के समान वृक्ष की डालियों में लटका रहता है, परन्तु कभी कभी वृक्ष की जड़ में भी उसी प्रकार फलता है जिस प्रकार 'फुलिङ्ग'[1] भूमि में उत्पन्न होता है। प्रकृति कोमल और लोग विद्याव्यसनी हैं। कोई २० संघाराम लगभग ३,००० साधुओं सहित हैं जो हीन और महा दोनों यानों का अध्ययन करते हैं। कई सौ देवमन्दिर भी हैं जिनमें अनेक सम्प्रदाय के विरुद्धधर्मावलम्बी उपासना करते हैं। अधिक संख्या निर्ग्रन्थ लोगों की ही है।

पांजर के ज़िलों और परगनों के साथ करते हैं। और यह भी विचार प्रकट करते हैं कि गौड़ा से १८ मील उत्तर उत्तर-पूर्व और मालदा से ६ मील पूर्वोत्तर फ़िरूज़पुर या फिरूज़ाबाद, जिसका प्राचीन नाम पोण्डुवा अथवा पोंरोवा था, पुण्ड्रवर्द्धन का अपभ्रंश है। मि० फर्गुसन रङ्गपुर के निकट इसका होना निश्चय करते हैं। कनिंघम साहब ने राजधानी का स्थान बगरहा से ७ मील उत्तर और वर्द्धनकुटी से १२ मील दक्षिण में करतोया के निकट यहाँ स्थानगढ़ निश्चय किया है।

[1] चीन देश का एक फल है जो भूमि में उत्पन्न होता है।

राजधानी के पश्चिम में लगभग २० ली पर 'पोचिपओं'[1] संघाराम है, जिसके आँगन चौड़े और हवादार तथा कमरे और मंडप ऊँचे ऊँचे हैं। साधुओं की संख्या लगभग ७०० है। ये महायान सम्प्रदायानुसार आचरण रखते हैं। पूर्वी भारत के अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध महात्माओं का यहाँ पर निवास है।

यहाँ से थोड़ी दूर पर एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर तथागत भगवान् ने देवताओं के लाभार्थ तीन मास तक धर्मोपदेश किया था। व्रतोत्सव के समय पर इसके चारों तरफ़ एक बड़ा प्रकाश प्रस्फुटित होने लगता है।

इस स्तूप के निकट एक और भी स्थान है जहाँ पर गत चारों बुद्ध तपस्या करते रहे हैं। उनके पुनीत चिह्न अब तक वर्तमान हैं।

यहाँ से थोड़ी दूर पर एक विहार है जिसमें अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति है। इस मूर्ति के देवी ज्ञान के सामने कोई भी बात गुप्त नहीं रह सकती और इसका आध्यात्मिक विचार बिलकुल सत्य ठहरता है, इसलिए दूर तथा निकटवासी लोग व्रत और प्रार्थना करके अनेक बातों में देवी आज्ञा प्राप्त किया करते हैं।

यहाँ से पूर्व दिशा में लगभग ७०० ली चल के और एक बड़ी नदी पार करके हम 'कियामोलुपो' प्रदेश में पहुँचे।

[1] जुलियन साहब इसको 'वाशिभा संघाराम' शब्द मान कर अर्थ करते हैं कि वह संघाराम जो अग्नि के समान प्रकाशित हो।

कियामोलुपो (कामरूप[1])

कामरूप-प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग १०,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल लगभग ३० ली है। भूमि यद्यपि निचली है परन्तु उपजाऊ और भली भाँति जाती बोई जाती है। यहाँ के लोग पनस और नारियल की खेती करते हैं। इनके वृक्ष यद्यपि असंख्य हैं तो भी इनका बड़ा आदर और अच्छा दाम है। नगरों के चारों तरफ़ नदी का अथवा लबालब भरी हुई झीलों का जल प्रवाहित होता रहता है। प्रकृति कोमल और सह्य है तथा मनुष्य सादे और ईमानदार हैं। लोगों का डील डौल छोटा और रङ्ग श्यामता लिये हुए पीला है। इन लोगों की भाषा मध्यभारत से कुछ भिन्न है, और इनके स्वभाव में जङ्गलीपन तथा क्रोध विशेष है। इन लोगों की धारणाशक्ति प्रबल है और विद्याभ्यास के लिए ये लोग सदा तत्पर रहते हैं। ये लोग देवताओं की पूजा और यज्ञ इत्यादिक करनेवाले

[1] कामरूप (पुराणों में इसकी राजधानी का नाम 'प्राग्ज्योतिष' लिखा हुआ है) प्रदेश रङ्गपुर में करतोया नदी से लेकर पूर्व दिशा में फैला चला गया है (देखो Stat. Acc. Bengal, Vol. VII, p. 168-310 अथवा M Martin East Ind., Vol. III, p. 403)। इसमें मनीपुर, जयन्तीय, कछार, पश्चिमी आसाम, मैमनसिंह और सिलहट (श्रीहट्ट) का कुछ भाग शामिल है। वर्तमान ज़िला ग्वालपारा से गौहाटी तक विस्तृत है। देखो Lasson. I. A., Vol. I, p. 87, Vol. II, p. 973 Wilson V. P., Vol. V, p. 88 ; As. Res. Vol. XIV p. Lalita Vis., p. 416.

है। बुद्धधर्म पर इनका विश्वास बिलकुल नहीं है। बुद्धदेव के संसार में पदार्पण करने के समय से लेकर अब तक एक भी संघाराम साधुओं के निवास के लिए यहाँ पर नहीं बनाया गया है। जो बुद्ध-धर्म के विशुद्ध भक्त इस देश में रहते भी हैं वे चुपचाप अपना पाठ इत्यादि कर लेते हैं, बस यही यहाँ का बुद्ध-धर्म है! लगभग १०० देव-मन्दिर और विभिन्न सम्प्रदायवाले लाखों विरुद्ध धर्मावलम्बी हैं। वर्त्तमान नरेश नारायणदेव के प्राचीन वंश का है तथा जाति का ब्राह्मण है। उसका नाम भास्कर वर्मा और पदवी 'कुमार' है। जब से इस वंश ने राज्य-शासन को हाथ में लिया है तब से अब तक एक हजार पीढ़ी व्यतीत हो चुकी है। राजा विद्या-व्यसनी और प्रजा उसका अनुकरण करने में दत्तचित्त है। इस सबब से दूर दूर देशों के श्रेष्ठ बुद्धिमान् पुरुष इसके देश में आकर विचरण किया करते हैं। यद्यपि बुद्धधर्म पर उसका विश्वास नहीं है तो भी विद्वान् श्रमणों का वह अच्छा सत्कार करता है। जब उसने इस समाचार को सुना कि एक श्रमण चीन देश से मगध के नालन्द संघाराम में केवल बुद्धधर्म को पूर्ण रूप से अध्ययन करने के लिए इतनी दूर की यात्रा का कष्ट उठाकर आया है तब उसने उसको बुला भेजा। उसने तीन बार अपना दूत इसको (हुएन सांग को) बुलाने के लिए भेजा। परन्तु वह उसकी आज्ञा का पालन न कर सका। तब शील-भद्र शास्त्री ने उसको समझाया, "तुम्हारी इच्छा बुद्धदेव के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने की है इसलिए तुमको विशुद्ध धर्म का प्रचार करना चाहिए, यही तुम्हारा कर्तव्य है। तुमको यात्रा की दूरी का भय करना उचित नहीं है। कुमार राजा का वंश सदा से विरोधियों के सिद्धान्तों का भक्त रहा है,

परन्तु इस समय वह श्रमण का दर्शनाभिलाषी हुआ है यह बात वास्तव में बहुत उत्तम है। हमको तो इस बात से ऐसा विदित होता है कि वह अपना सिद्धान्त परिवर्तन कर देनेवाला है, और दूसरों को लाभ पहुँचाने का पुण्य बटोरना चाहता है। तुम भी पहले अपने सुदृढ़ चित्त में इस बात का संकल्प कर चुके हो कि संसार की भलाई के लिए अकेले सब देशों में भ्रमण करके धर्म का प्रचार करोगे, इस काम में चाहे जान ही क्यों न देनी पड़े। इसलिए अपने देश को भूल जाओ और मृत्यु से भेंट करने के लिए तैयार रहो। चाहे नेकनामी हो या बदनामी, तुमको पवित्र सिद्धान्तों के प्रचार का द्वार खोलने के लिए परिश्रम करना ही चाहिए। और उन लोगों को सीधे मार्ग पर लाना ही चाहिए जो असत्य सिद्धान्तों से ठगे हुए हैं। दूसरों का विचार पहले और अपना विचार पीछे करो, कीर्ति की परवा छोड़कर केवल धर्म का ध्यान रक्खो।"

इस बात का हुएन सांग से कुछ उत्तर न बन आया और वह दूतों के साथ राजा से मिलने चल दिया। कुमार राजा ने उसका स्वागत करके कहा, "यद्यपि मैं स्वयं बुद्धिहीन हूँ तो भी मैं ज्ञानी विद्वानों का सदा से प्रेमी रहा हूँ, और इसी लिए आपकी कीर्ति का समाचार पाकर मैंने आपको दर्शन देने के लिए यहाँ पर पदार्पण करने का कष्ट दिया।"

उसने उत्तर दिया, "मैं थोड़ी बुद्धि का व्यक्ति हूं, इसलिए मुझको आश्चर्य है कि आपने मुझ दीन का नाम क्योंकर सुना।"

कुमार राजा ने उत्तर दिया, "क्या ख़ूब! धर्म की वासना

और विद्या के प्रेम से अपने दुख सुख को भूलकर और अगणित विपदों की ओर कुछ भी ध्यान न देकर इतने दूरस्थ देश से यात्रा करके एक नवीन देश में स्थान स्थान पर भ्रमण करना ये सब बातें राजा के शासन ही से और उस देश के, जैसा कि कहा जाता है, बड़े बड़े विद्या-व्यसन का ही फल है। इस समय भारत में बहुत से लोग ऐसे निकलेंगे जो महाचीन प्रदेश के दूसित राजा की विजय के गीत गानेवाले होंगे। मैंने इसको बहुत दिनों से सुन रक्खा है, और, क्या यह सत्य है कि यही देश आपका प्रतिष्ठित जन्मस्थान है?

उसने कहा, "हाँ ठीक है; उन गीतों में मेरे ही देश के राजा का गुणगान किया गया है।"

राजा ने कहा, "मुझको कभी भी इसका विचार नहीं हुआ कि आप उस देश के निवासी हैं। मुझको वहाँ के धर्म और आचरण पर सदा से भक्ति रही है। बहुत समय हो गया जब से मेरी दृष्टि पूर्व की तरफ है, परन्तु मध्यवर्ती पहाड़ों और नदियों के बाधक होने से मैं स्वयं जाकर उस देश का दर्शन न कर सका।"

उत्तर में उसने कहा, "मेरे महाराजा के पवित्र गुण और पुण्य प्रभाव की कीर्ति बहुत दूर तक फैली हुई है। अन्य अन्य देशों के लोग उसके द्वार पर शिर नवाकर भक्ति प्रदर्शित करते हैं और अपने को उसका सेवक कहते हैं।"

कुमार राजा ने कहा, "यदि उसका राज्य इतना बड़ा है तो मेरे चित्त में उत्कट इच्छा उत्पन्न हो रही है कि उसके लिए कुछ सौगात भेजूँ, परन्तु इस समय शिलादित्य राजा

'काजूघिर' प्रदेश में आया हुआ है और धर्म तथा ज्ञान की जड़ को गहरा गाड़ने के लिए बहुत बड़ा दान किया चाहता है। सम्पूर्ण भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान ब्राह्मण और श्रमण वहाँ पर एकत्रित होंगे। उसने मुझको भी बुला भेजा है इसलिए मेरी प्रार्थना है कि आप भी मेरे साथ चलिए।"

इस बात पर ये दोनों साथ साथ प्रस्थानित हो गये।

इस देश का पूर्वी भाग पहाड़ियों से बंधा हुआ है इसलिए कोई बड़ा नगर इस तरफ़ नहीं है इसलिए यहाँ की सीमा पर चीन के दक्षिणी-पश्चिमी देश के जङ्गली लोग बसे हुए हैं। इन लोगों की रीति-रस्म इत्यादि 'मान' लोगों के समान है। पता लगाने पर विदित हुआ कि हम देश को दक्षिणी-पश्चिमी सीमा पर, जिसको 'शुह' देश कहते हैं, दो मास का भ्रमण करके पहुँचे थे। बाधक नदियाँ और पहाड़, दूषित वायु, विष वाष्प, प्राणनाशक सर्प और ज़हरीली वनस्पति आदि इस स्थान तक पहुँचने में प्राण ही ले लेते हैं।

इस देश के दक्षिण-पूर्व में जङ्गली हाथियों के झुंड बहुतायत से घूमा करते हैं, इसलिए इस देश में इनका प्रयोग युद्ध के समय विशेषरूप से होता है।

यहाँ से १२०० या १३०० ली दक्षिण को चलकर हम 'सनमोटाचा' प्रदेश को पहुँचे।

सनमोटाचा (समतट[1])

यह राज्य लगभग ३००० ली विस्तृत है तथा समुद्र के

[1] पूर्वी बङ्गाल; 'समोतट' अथवा 'समतट' का अर्थ है 'किनारे का देश' अथवा 'समतल देश' —(देखो Lassen, Ind. Alt., III,

किनारे तक चला गया है। भूमि नीची और उपजाऊ है। राजधानी का क्षेत्रफल लगभग २० ली है। यह देश भली भाँति जोता बोया जाता है और अच्छी फसल उत्पन्न करता है। फूल और फल सब तरफ़ अच्छे होते हैं। प्रकृति कोमल और मनुष्यों का स्वभाव शुद्ध है। मनुष्य प्रकृतितः दृढ़, छोटे डील डौल के और काली सूरत के होते हैं। ये लोग विद्या के प्रेमी और उसके प्राप्त करने में अच्छा परिश्रम करनेवाले होते हैं। सच्चे और झूठे दोनों सिद्धान्तों के माननेवाले विद्वान यहाँ पर हैं। कोई २००० साधुओं सहित लगभग ३० संघाराम हैं जिनका सम्बन्ध स्थविर संस्था से है। कोई सौ देव मन्दिर हैं जिनमें सब प्रकार के विरोधी उपासना करते हैं। दिगम्बर साधु, जिनको निर्ग्रंथ कहते हैं, बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं।

नगर के बाहर थोड़ी दूर पर एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर तथागत ने देवताओं के लाभार्थ सात दिन तक गुप्त और गूढ़तम धर्म का उपदेश किया था। इसके पास गत चारों बुद्धों के उठने-बैठने आदि के चिह्न हैं।

यहाँ से थोड़ी दूर पर एक संघाराम में बुद्धदेव की हरे पत्थर की एक मूर्ति है। यह आठ फीट ऊँची है। इसकी बनावट बहुत स्पष्ट और सुन्दर है, तथा इसमें समय समय पर आध्यात्मिक चमत्कार प्रदर्शित होते रहते हैं।

(58) वराहमिहिर ने मिथिला और उड़ीसा के साथ इसका भी नामोल्लेख किया है।

यहाँ से पूर्वोत्तर दिशा में समुद्र के किनारे पर जाकर हम 'श्रीक्षेत्र[1]' नामक राज्य में पहुँचे।

इसके भी दक्षिण पूर्व में समुद्र के किनारे हम कामलङ्का देश में पहुँचे जिसके पूर्व 'द्वारपति'[2] का राज्य और इसके भी पूर्व ईशानपुर देश तथा और भी इसके आगे, पूर्व-दिशा में, 'महाचम्पा' देश है जो ठीक 'लिनइ' के समान है। इसके दक्षिण-पश्चिम में 'यमनद्वीप'[3] नामक देश है। ये छहों देश पहाड़ों और नदियों से इस प्रकार घिरे हुए हैं कि इन तक पहुँचना कठिन है[4], परन्तु इनकी सीमाओं मनुष्यों का स्वभाव, देश का हाल, व्योहार आदि बातों का पता लगाने से लग सकता है।

समतट से पश्चिम दिशा में लगभग ९०० ली चलकर हम 'ताम्रलिप्ति' देश में पहुँचे।

[1] 'श्रीक्षेत्र' अथवा 'थरेखेत्र' प्राचीन काल में ब्रह्मावालों के राज्य का नाम था जिसकी इसी नाम की राजधानी 'प्रोम' के निकट इरावदी नदी के किनारे पर थी। परन्तु यह दक्षिण-पूर्व दिशा में है, 'श्रीहट्ट' या 'सिलहट' के उत्तर-पूर्व में समुद्र के किनारे तक नहीं है।

[2] सन्दोई ज़िले और क़सबे का प्रथम नाम 'द्वारवती' है। परन्तु ब्रह्मावालों के इतिहास में इसका प्रयोग श्याम के लिए भी हुआ है (देखो Phayre, Hist. of Burma. p. 32)

[3] यमनद्वीप को वायुपुराण में 'द्वीप' लिखा है।

[4] इन देशों में यात्री नहीं गया।

तानमोलिति (ताम्रलिप्ति[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल १४०० या १५०० ली और राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। यह देश समुद्र के किनारे पर है। भूमि नीची और उपजाऊ तथा नियमानुसार बोई जोती जाती है, और फल-फूल बहुतायत से होता है। प्रकृति गरम है तथा मनुष्यों के आचरण में चुस्ती और चालाकी तथा साहस और कठोरता है। विरोधी और बौद्ध दोनों का निवास है। कोई दस संघाराम, लगभग १००० संन्यासियों के सहित, और कोई पचास देवमन्दिर जिनमें अनेक मत के विरोधी मिल-जुल कर निवास करते हैं बने हुए हैं। इस देश की सीमा समुद्र-तट पर है जहाँ जल और थल परस्पर मिले हुए हैं। अद्भुत अद्भुत बहुमूल्य वस्तुएँ और रत्न इत्यादि यहाँ पर अधिकता से संग्रह किये जाते हैं, इस कारण निवासी विशेष धनाढ्य हैं।

नगर के पास एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है जिसके आसपास गत चारों बुद्धों के उठने-बैठने आदि के चिह्न हैं।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम में लगभग ७०० ली चलकर हम 'कइलोना सुफालाना' प्रदेश में पहुँचे।

[1] ताम्रलिप्ति वर्तमान समय का तामलुक है जो सेलई पर ठीक उस स्थान पर है जहां उसका हुगली के साथ सङ्गम होता है। देखो J. R. A. S., Vol. V, p. 135 विष्णुपुराण Lassen, I. A., Vol. I. p. 177 वराहमिहिर; महावंश इत्यादि।

कइलोना सुफालाना (कर्णसुवर्ण[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग १४०० या १५०० ली और राजधानी का लगभग २० ली है। यह बहुत घनी बसी हुई है और निवासी भी बहुत धनी हैं। भूमि नीची और चिकनी और भली भाँति जोती बोई जाती है, अनेक प्रकार के अगणित और मूल्यवान पुष्प बहुतायत से होते हैं। प्रकृति उत्तम और मनुष्यों का आचरण शुद्ध और सभ्य है। ये लोग बड़े विद्या प्रेमी हैं और परिश्रमपूर्वक उसके प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। निवासियों में विरोधी और बौद्ध दोनों हैं। कोई दस संघाराम २००० साधुओं सहित हैं, जो सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान सम्प्रदाय के अनुगामी हैं। कोई ५० देवमन्दिर हैं; विरोधी असंख्य हैं। इसके अतिरिक्त तीन संघाराम ऐसे भी हैं जो देवदत्त का अनुकरण[2] करके जमाया हुआ दूध (दही) ग्रहण नहीं करते।

राजधानी के पास रक्तविटि नामक एक संघाराम है।

[1] अगदेश का राजा कर्ण था जिसकी राजधानी भागलपुर के निकट कर्णगढ़ है (देखो M. Martin, E. Ind. Vol. II, pp. 31, 38 f., 46, 50)

[2] देवदत्त भी महात्मा था परन्तु बुद्धदेव के सामने हीनप्रतिष्ठ होने के कारण उनका शत्रु हो गया था। उसके मत वालों में एक यह भी नियम था कि वे जमाये हुए दूध को काम में नहीं लाते थे। उसके शिष्य उसको बुद्धदेव के बराबर ही मानते थे। यह मत ४०० ई० तक चलता रहा था। इसकी कठिन तपस्याओं के अधिक वृत्तान्त के लिए देखो Oldenberg, Buddha, pp. 160, 161

इसके कमरे सुप्रकाशित और बड़े बड़े हैं तथा खंडवक्र भवन बहुत ऊँचे हैं। इस स्थान में देश भर के प्रसिद्ध पुरुष और प्रतिष्ठित विद्वान इकट्ठा हुआ करते हैं। वे लोग उपदेशों के द्वारा एक दूसरे को अधिकाधिक उन्नति करने और चरित्रों के सुधारने का प्रयत्न करते हैं। पहले इस देश के निवासी बुद्ध पर विश्वास नहीं करते थे. उन्हीं दिनों एक विरोधी दक्षिण-भारत में निवास करता था जो अपने पेट पर ताम्रपत्र और सिर पर जलती हुई मशाल बाँध लेता था। वह व्यक्ति हाथ में दण्ड लिये हुए लम्बे लम्बे डग रखता हुआ इस देश में आया। उसने शास्त्रार्थ के लिए दुंदुभी बजाकर यह घोषणा की कि जो विवाद करना चाहे वह आवे। उस समय एक आदमी ने उससे पूछा, "तुम्हारा शरीर और सिर विचित्र रूप से क्यों सुसज्जित है?" उसने कहा, "मेरा ज्ञान इतना बड़ा है कि मुझको भय है कि कहीं मेरा पेट फट न जावे. और क्योंकि अन्धकार में पड़े हुए मनुष्यों पर मुझको करुणा आती है, इसलिए यह प्रकाश मेरे सिर पर है।"

दस दिन तक कोई भी व्यक्ति उससे किसी प्रकार का प्रश्न करने नहीं आया। यद्यपि बड़े बड़े विद्वान और प्रतिष्ठित प्रतिष्ठित व्यक्ति उस राज्य में थे परन्तु उनमें से किसी ने भी उसके साथ शास्त्रार्थ न किया। तब राजा ने कहा, "शोक! मेरे राज्य में कितना अधिक अज्ञान फैला हुआ है कि कोई भी किसी प्रकार का कठिन प्रश्न इस नवागत से करने नहीं आया! यह देश के लिए बड़ी बदनामी की बात है। मैं स्वयं प्रयत्न करूँगा और गूढ़तम सिद्धान्तों पर प्रश्न करूँगा।"

तब किसी ने निवेदन किया कि 'वन में एक विचित्र व्यक्ति निवास करता है, वह अपने को श्रमण कहता है और

अवश्य बड़ा विद्वान है। उसको इस प्रकार गुप्त और निर्जन स्थान में निवास करते हुए बहुत समय व्यतीत होगया। वह अपनी विद्वत्ता और तपस्या के बल से इस विधर्मी पुरुष को अवश्य पराजित कर देगा।"

राजा इस बात को सुनकर श्रमण को बुलाने के लिए स्वयं गया। श्रमण ने उत्तर दिया, "मैं दक्षिण-भारत का निवासी हूँ, यात्रा करता हुआ नवागत के समान आकर यहाँ ठहर गया हूँ। मेरी योग्यता साधारण और तुच्छ है, कदाचित् यह बात आपको मालूम नहीं। तो भी मैं आपकी इच्छानुसार आऊँगा। यद्यपि मुझको अभी यह विदित नहीं हुआ है कि किस प्रकार का शास्त्रार्थ होगा, परन्तु यदि मैं जीत गया तो आपको एक संघाराम बनवाना पड़ेगा और बुद्धदेव के धर्म को प्रकाशित और सम्मानित करने के लिए मेरे बंधुवर्गों को उस संघाराम में निमंत्रित करना पड़ेगा।" राजा ने कहा, "मुझको आपकी बात स्वीकार है, मैं आपका सदा कृतज्ञ रहूँगा।"

शास्त्रार्थ के समय विरोधी के शब्दों को सुनकर श्रमण तुरन्त उनकी तह में पहुँच गया और उनका अर्थ समझ गया— किसी शब्द और किसी विषय में उसको कुछ भी धोखा नहीं हुआ। विरोधी के कह चुकने पर उसने कई सौ शब्दों में प्रत्येक प्रश्न का समाधान अलग अलग कर दिया। तदुपरान्त उसने अपनी संस्था के कुछ सिद्धान्त पूछे। उनके उत्तर में विरोधी घबड़ा गया; उसके शब्द गड़बड़ और भाषा सारहीन होगई, यहाँ तक कि उसके ओंठ बन्द हो गये और वह कुछ भी उत्तर न दे सका। इस तरह पर बदनामी के साथ मलीन मुख होकर वह चला गया।

राजा ने साधु की बड़ी भारी प्रतिष्ठा करके इस संघाराम को बनवाया। उस समय से इस देश में धर्म का प्रचार बढ़ता ही गया।

संघाराम के पास थोड़ी दूर पर अशोक का बनवाया हुआ एक स्तूप है। तथागत भगवान् ने इस स्थान पर मनुष्यों को सुमार्ग पर लाने के लिए सात दिन तक विशद रूप से धर्मोपदेश किया था। इसके निकट ही एक विहार है जहाँ पर गत चारों बुद्धों के बैठने-उठने आदि के चिह्न हैं। और भी अनेक स्तूप अशोक के बनवाये हुए उन स्थानों में हैं जहाँ पर बुद्धदेव ने अपने विशुद्ध धर्म का उपदेश दिया था।

यहाँ से ७०० ली दक्षिण-पश्चिमाभिमुख गमन करते हुए हम 'ऊच' देश में पहुँचे।

ऊच (उद्र[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल ७००० ली और राजधानी[2] का लगभग २० ली है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है, अनाज

[1] 'उद्र' या 'ओद्र' उड़ीसा को कहते हैं। इसका दूसरा नाम उत्कल' भी है। (देखो महाभारत, विष्णुपुराण)

[2] राजधानी का निश्चय प्रायः वैतरणी के किनारे जजीपुर से किया जाता है। मि० फर्गुसन मिदनापुर को निश्चय करते हैं। (देखो J. R. A. S. N S. Vol VI. p. 249) इस पत्र में उन्होंने यात्री के भ्रमण का वृत्तान्त जो इस प्रान्त में हुआ था बड़ी ही मनोरञ्जकता से लिखा है। वह लिखते हैं कि हुएन सांग की पहली यात्रा जब वह दक्षिण-भारत से आया था नालन्द से कामरूप को हुई थी।

बहुत अच्छा होता है, और फल की उपज सब कहीं से बढ़ कर है। यहाँ के अद्भुत अद्भुत वृक्ष और झाड़ियाँ एवं प्रसिद्ध पुष्पों के नाम देना जो यहाँ उत्पन्न होते हैं बहुत कठिन है। प्रकृति गरम, मनुष्य असभ्य, डीलडौल के ऊँचे और सूरत में कुछ पीलापन लिये हुए काले होते हैं। इनकी भाषा और शब्दावली मध्यभारत से भिन्न है। ये लोग विद्या से प्रेम करते हैं और उसके प्राप्त करने में अटूट परिश्रम करते हैं। अधिकतर लोग बुद्धधर्म के प्रेमी हैं, इसलिए कोई १०० संघाराम १०,००० साधुओं सहित हैं। ये साधु महायान सम्प्रदाय का अनुशीलन करते हैं। पचास देवमन्दिर भी हैं जिनमें सब प्रकार के विरोधी निवास करते हैं। स्तूप, जिनकी संख्या कोई दस होगी, उन उन स्थानों का पता देते हैं जहाँ पर बुद्धदेव ने धर्मोपदेश दिया था। ये सब अशोक राजा के बनवाये हुए हैं।

देश की दक्षिण पश्चिमी सीमा पर एक बड़े पहाड़ में एक संघाराम है जिसका नाम पुष्पगिरि है। यहाँ पर पत्थर का जो स्तूप है उसमें से आध्यात्मिक आश्चर्य-व्यापार बहुत अधिक प्रकट होते रहते हैं। व्रतोत्सव के दिन इसमें से प्रकाश फैलने लगता है इस कारण दूर तथा निकटवर्ती देशों के धार्मिक पुरुष यहाँ एकत्रित होते हैं और उत्तम उत्तम मनोहर पुष्प और छत्र इत्यादि भेंट करते हैं। ये इनको पात्र के नीचे और शिखर के ऊपर सुई के समान छेद देते हैं। इसके उत्तर-

इसके पहले इतिहासज्ञों ने जो कुछ अटकल लगाकर लिखा था उसमें अनेक अशुद्धियों को दिखलाते हुए इन्होंने उनको शुद्ध भी कर दिया है।

पश्चिम पहाड़ के ऊपर[1] एक संघाराम में एक स्तूप है। इस स्तूप में भी वही सब लीलायें प्रकट होती हैं जो ऊपरवाले में वर्णन की गई हैं। ये दोनों स्तूप देवताओं के बनवाये हुए हैं इसी कारण विलक्षण व्यापार से भरे हुए हैं।

देश की दक्षिण पूर्वी सीमा पर समुद्र के किनारे 'चरित्र' नाम का एक नगर २० ली के घेरे में है। इस स्थान से व्यापारी लोग व्यापार करने के निमित्त दूर देशों को जाते हैं और विदेशी लोग आते-जाते समय यहाँ पर ठहर जाते हैं। नगर की चहारदीवारी दृढ़ और ऊँची है। यहाँ पर सब प्रकार की दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तु मिल जाती है।

नगर के बाहर पाँच संघाराम एक के पीछे एक बने चले गये हैं। इनके खंडयुक्त भवन बहुत ऊँचे बने हैं और महात्मा पुरुषों की खुदी हुई मूर्तियों से बड़ी सुन्दरता के साथ सुसज्जित हैं।

यहाँ से २०,००० ली जाने पर सिंहलदेश मिलता है। वहाँ से यदि स्वच्छ और शान्त निशा में देखा जाय तो इतनी दूर होने पर भी बुद्धदन्त स्तूप के बहुमूल्य रत्न आदि ऐसे चमकते हुए दिखाई पड़ते हैं जैसे गगनमंडल में मशाल जल रही हो।

यहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग १२०० ली एक घने जङ्गल में चल कर हम 'काङ्गउटओ' देश में पहुँचे।

[1] कनिंघम साहब इन दोनों पहाड़ियों को उदयगिरि और खण्डगिरि निश्चय करते हैं जिसमें अनेक गुफाएँ और बौद्ध लोगों के लेख पाये गये हैं। ये पहाड़ियां कटक से २० मील दक्षिण में और भुवनेश्वर के मन्दिर समूह के पश्चिम में ५ मील पर हैं।

काङ्गउटश्रो (कोन्योध)

इस राज्य का क्षेत्रफल १००० ली और राजधानी का २० ली है। यह खाड़ी के किनारे है। यहाँ का पहाड़ी सिल-सिला ऊँचा और चोटीवाला है। भूमि नीची है—तराई है। यह भली भाँति जोती बोई जाती है, और उपजाऊ है। प्रकृति गरम और मनुष्य साहसी और कुशल हैं। ये ऊँचे डील-डौल के, काले स्वरूप के और मैले हैं। इन लोगों में कोमलता तो थोड़ी ही है परन्तु ईमानदारी उचित मात्रा में है। इनकी लिखावट के अक्षर ठीक वही हैं जो मध्यभारत के हैं, परन्तु उनकी भाषा और उच्चारण का तरीका भिन्न है। ये लोग विरोधियों की शिक्षा पर बड़ी भक्ति रखते हैं, बुद्धधर्म पर

[१] देखो J. R. A. S., N. S. Vol. VI, p. 250। कनिंघम साहब इस स्थान को 'गंजम' ख़याल करते हैं, परन्तु 'गंजम' शब्द की असलियत क्या है यह नहीं मालूम। हुएन सांग को मगधदेश में लौट कर जाने पर विदित हुआ कि हर्षवर्द्धन राजा कुछ ही पहले 'गंजम'-नरेश पर चढ़ाई करके और विजयी होकर लौटा है। कनिंघम साहब का विचार है कि गंजम उन दिनों उड़ीसा में सम्मिलित था। (Robert Sewell, Lists, Vol. I, p. 2) मि० फर्गुसन खोर्धा-गर मानते हैं जो भुवनेश्वर के निकट और मिदनापुर से ठीक १७० मील दक्षिण-पश्चिम है और इस बात को असम्भव बतलाते हैं कि मूल पुस्तक में दो समुद्र और खाड़ी के समान चिल्का झील के विषय में भूल हो गई है। उनका विचार है कि हुएन सांग खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाओं को देखने के लिए इस स्थान पर ठहरा था (J. R. A. S., loc. cit.)

विश्वास नहीं करते। कोई एक सौ देवमन्दिर और लगभग १०,००० विरोधी अनेक मत और जाति के हैं।

राज्य भर में कोई बीस क़सबे हैं जो पहाड़ पर बसे हुए और समुद्र के बिलकुल निकट हैं[1]। नगर सुदृढ़ और ऊँचे हैं और सिपाही लोग वीर और साहसी हैं जिससे निकट-वर्ती सूबों पर इनका अधिकार आतंक-पूर्वक है और कोई भी इनका मुक़ाबला नहीं कर सकता, समुद्र के किनारे होने के कारण इस देश में बहुमूल्य और दुष्प्राप्य वस्तुओं की भर-मार है। यहाँ के लोग वाणिज्य व्यवसाय में कौड़ी और मोती का व्यवहार करते हैं। कुछ हरापन लिये हुए नीले रङ्ग के बड़े बड़े हाथी इसी देश से बाहर जाते हैं। यहाँ के लोग हाथियों को अपने रथों में भी जोतते हैं और बहुत दूर तक की यात्रा कर आते हैं।

यहाँ से दक्षिण-पश्चिम को चलकर हम एक बड़े भारी निर्जन वन में पहुँचे जिसके ऊँचे ऊँचे वृक्ष सूर्य की आड़ किये हुए आकाश से बात करते थे। कोई १४०० या १५०० ली चलकर हम 'कइ लिङ्ग किया' देश को पहुँचे।

[1] "हैकिआव (hai kiau) वाक्य का ठीक अर्थ दो समुद्रों की संधि" उचित नहीं है. इसका अर्थ तो यह मालूम होता है कि "पहाड़ के निकट बसे हुए क़सबे जिनका सम्बन्ध समुद्र के तट से हो" जैसे दक्षिण अमरीका के पश्चिमी किनारे पर पहाड़ों के पदतल में क़सबे बसे हुए हैं. और जहाज़ के ठहरनेवाले बन्दरों से मिले हुए हैं।

कइ लिङ्ग क्रिया (कलिङ्ग [१])

इस राज्य का क्षेत्रफल ५००० ली और इसकी राजधानी का लगभग २० ली है। यह उचित रीति पर जोती-बोई जाती है और अच्छी उपजाऊ है। फल और फूल बहुत अधिक होते हैं। जङ्गल झाड़ी सैंकड़ों कोस तक लगातार चले गये हैं। यहाँ पर भी कुछ हरापन लिये हुए नीले हाथी उत्पन्न होते हैं जो निकटवर्ती सूबों में बड़े दाम में बिकते हैं। यहाँ की प्रकृति आग के समान गरम है। मनुष्यों का स्वभाव उग्र और क्रोधी है। यद्यपि ये उद्दण्ड और असभ्य हैं। परन्तु अपने वचन का पालन करनेवाले और विश्वसनीय हैं। यद्यपि ये लोग धीरे धीरे और अटक अटक कर बोलते हैं परन्तु इनका उच्चारण सुस्पष्ट और शुद्ध होता है। तो भी ये दोनों बातें, (अर्थात् शब्द और स्वर) मध्यभारत से नितान्त

[१] कनिंघम साहब कहते हैं कि कलिङ्ग देश की सीमा दक्षिण-पश्चिम में गोदावरी नदी से आगे और उत्तर-पश्चिम में गोलिया नदी से, जो इन्द्रवती नदी की शाखा है, आगे नहीं हो सकती। तो कलिङ्ग-देश के वृत्तान्त के लिए देखो (Sewell, op. cit., p. 19) इसका मुख्य नगर कदाचित् राजमहेन्द्री था जहाँ पर चालुक्य लोगों ने राजधानी बनाई थी। या तो यह स्थान या समुद्र के तटवाला 'कोरिङ्ग' मूल पुस्तक में दी हुई दूरी इत्यादि से ठीक मिलता है, परन्तु यदि हम मि० फर्गुसन की राय मान लें कि कोन्योध की राजधानी कटक के निकट थी, और सात ली का एक मील मानें, तो हम को कलिङ्ग की राजधानी 'विजयनगर' के निकट माननी पड़ेगी। राजमहेन्द्री के विषय में देखो (Sewell, Lists, &c., Vol. I, p. 22)

पृथक् हैं। बहुत थोड़े लोग बुद्ध-धर्म पर विश्वास करते हैं। अधिकतम लोग विरुद्ध धर्मावलम्बी ही हैं, कोई दस संघाराम ५०० संन्यासियों के सहित हैं जो स्थविर-संस्थानुसार महा-यान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। कोई १०० देवमन्दिर हैं जिनमें अनेक मत के अगणित विरोधी उपासना करते हैं। सबसे अधिक संख्या निर्ग्रंथो लोगों की है।

प्राचीन काल में कलिङ्ग देश बहुत घना बसा हुआ था, इस कारण मार्ग में चलते समय लोगों के कंधे से कंधे घिसते थे और रथों के पहियों के धुरे एक दूसरे से रगड़ खाते थे। उन्हीं दिनों एक महात्मा ऋषि थी, जिसको पाँचों अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो चुकी थीं, एक ऊँचे करार पर निवास करता हुआ अपनी पवित्रता का प्रतिपालन कर रहा था। परन्तु किसी कारण विशेष से उसकी अद्भुत शक्ति का क्रमशः ह्रास हो चला और लज्जित होकर उसने देशवासियों को शाप दे दिया, जिससे वृद्ध और युवा, मूर्ख और विद्वान्— सबके सब समान रूप से मरने लगे, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जनपद का नाश हो गया।

इसके बहुत वर्ष बाद अब प्रवासी लोगों के द्वारा देश की आबादी धीरे धीरे कुछ बढ़ चली है तोभी जनसंख्या उतनी नहीं हुई है। और यही कारण है कि इन दिनों बहुत थोड़े लोग यहाँ पर निवास करते हैं।

राजधानी के दक्षिण में थोड़ी दूर पर कोई सौ फ़ीट ऊँचा अशोक का बनवाया हुआ एक स्तूप है। इसके पास गत चारों बुद्धों के उठने बैठने इत्यादि के चिह्न हैं।

इस देश की उत्तरी सीमा के निकट एक बड़ा पहाड़[1] है जिसके करार के ऊपर एक पत्थर का स्तूप लगभग १०० फ़ीट ऊँचा बना हुआ है। इस स्थान पर, कल्प के आरम्भ काल में जब मनुष्यों की आयु अपरिमित होती थी, कोई प्रत्येक बुद्ध[2] निर्वाण को प्राप्त हुआ था।

यहाँ से पश्चिमोत्तर दिशा में जङ्गलों और पहाड़ों में होते हुए लगभग १,८०० ली चलकर हम 'कियावसलो' देश में पहुँचे।

कियावसलो (कोसल[3])

इस राज्य का क्षेत्रफल ५,००० ली है। इसकी सीमाएँ चारों ओर पहाड़ों, चट्टानों और जङ्गलों से घिरी हुई हैं जो लगातार एक के बाद एक चले गये हैं। राजधानी[4] का क्षेत्रफल ४०

[1] कदाचित 'महेन्द्रगिरि'।

[2] प्रत्येक बुद्ध उसको कहते हैं जो 'केवल अपने लिए' बुद्धावस्था को प्राप्त हुआ हो, अर्थात जो दूसरों को उपदेश देकर अथवा सुमार्ग पर लाकर ज्ञानी न बना सके।

[3] श्रावस्ती अथवा अयोध्या का भूभाग भी 'कोशल' या 'कोसल' कहा जाता है। उससे इसका पार्थक्य जानने के लिए देखो विष्णु-पुराण और Lassen I. A., Vol. I P. 160, Vol. IV, P. 702. यह प्रान्त उड़ीसा के दक्षिण-पश्चिम में है जहाँ पर महानदी और गोदावरी की ऊर्ध्व भाग की सहायक नदियाँ बहती हैं।

[4] इस देश की राजधानी का ठीक निश्चय नहीं होता। कनिंघम साहब प्राचीन कोसल बरार और गोंडवाना के सूबे को समझते हैं, तथा राजधानी का निश्चय चाँदा (जो राजमहेन्द्री से २६० मील उत्तर-

ली है। भूमि उत्तम, उपजाऊ और अच्छी फ़सल पैदा करने-वाली है। नगर और ग्राम परस्पर मिले जुले हैं और आबादी घनी है। मनुष्य ऊँचे डील और काले रङ्ग के होते हैं। ये कठोर स्वभाव के दुराचारी, वीर और क्रोधी हैं। विधर्मी और बौद्ध दोनों यहाँ पर हैं जो उच्च कोटि के बुद्धिमान और विद्या-ध्ययन में परिश्रमी हैं। राजा जाति का क्षत्रिय और बुद्ध-धर्म का बड़ा मान देता है। उसके गुण और प्रेम आदि की बड़ी प्रशंसा है। कोई सौ संघाराम और दस हज़ार से कुछ ही कम साधु हैं जो सबके सब महायान-सम्प्रदाय का अनुशीलन करते हैं। कोई बीस देवमन्दिर अनेक मत के विरोधियों से भरे हुए हैं।

नगर के दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक संघाराम है जिसकी बगल में एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर प्राचीन काल में तथागत भगवान ने अपनी अलौकिक शक्ति का परिचय देकर और बड़ी भारी सभा करके विरो-

पश्चिम दिशा में एक नगर है), नागपुर, अमरावती और इलिचपुर में से किसी एक के साथ करते हैं। परन्तु अन्तिम तीनों स्थान कलिङ्ग की राजधानी से बहुत दूर हैं। यदि हम पाँच ली का एक मील मान लें तो नागपुर या अमरावती की दूरी राजमहेन्द्री से १,८०० या १,६०० ली, जैसा हुएन सांग लिखता है, हो सकती है। इटसिंग अमरावती में साधुओं के आने जाने और ठहरने आदि का अच्छा वर्णन करता है। कदाचित इसका अभिप्राय कोशल से हो। मि० फर्गुसन छः ली का एक मील मान कर वैरगढ़ या भाराडक नगर के प्राचीन डीह को राजधानी का स्थान निश्चय करते हैं। अधिक झुकाव उनका वैरगढ़ पर है जिसके विषय में उन्होंने एक लेख I. R. A. S. N. S., Vol. VI, P. 260, में लिखा है

इस देश की उत्तरी सीमा के निकट एक बड़ा पहाड़[1] है जिसके करार के ऊपर एक पत्थर का स्तूप लगभग १०० फ़ीट ऊँचा बना हुआ है। इस स्थान पर, कल्प के आरम्भ काल में जब मनुष्यों की आयु अपरिमित होती थी, कोई प्रत्येक बुद्ध[2] निर्वाण को प्राप्त हुआ था।

यहाँ से पश्चिमोत्तर दिशा में जङ्गलों और पहाड़ों में होते हुए लगभग १,८०० ली चलकर हम 'कियावसलो' देश में पहुँचे।

कियावसलो (कोसल[3])

इस राज्य का क्षेत्रफल ५,००० ली है। इसकी सीमाएँ चारों ओर पहाड़ों, चट्टानों और जङ्गलों से घिरी हुई हैं जो लगातार एक के बाद एक चले गये हैं। राजधानी[4] का क्षेत्रफल ४०

[1] कदाचित 'महेन्द्रगिरि'।

[2] प्रत्येक बुद्ध उसको कहते हैं जो 'केवल अपने लिए' बुद्धावस्था को प्राप्त हुआ हो, अर्थात जो दूसरों को उपदेश देकर अथवा सुमार्ग पर लाकर ज्ञानी न बना सके।

[3] श्रावस्ती अथवा अयोध्या का भूभाग भी 'कोशल' या 'कोसल' कहा जाता है। उससे इसका पार्थक्य जानने के लिए देखो विष्णु-पुराण और Lassen I. A., Vol. 1 P. 160, Vol. IV, P. 702. यह प्रान्त उड़ीसा के दक्षिण-पश्चिम में है जहाँ पर महानदी और गोदावरी की ऊर्द्ध्व भाग की सहायक नदियाँ बहती हैं।

[4] इस देश की राजधानी का ठीक निश्चय नहीं होता। कनिंघम साहब प्राचीन कोसल बरार और गोंडवाना के सूबे को समझते हैं, तथा राजधानी का निश्चय चाँदा (जो राजमहेन्द्री से २९० मील उत्तर-

ली है। भूमि उत्तम, उपजाऊ और अच्छी फसल पैदा करने-वाली है। नगर और ग्राम परस्पर मिले जुले हैं और आबादी घनी है। मनुष्य ऊँचे डील और काले रङ्ग के होते हैं। ये कठोर स्वभाव के दुराचारी वीर और क्रोधी हैं। विधर्मी और बौद्ध दोनों यहाँ पर हैं जो उच्च कोटि के बुद्धिमान और विद्याध्ययन में परिश्रमी हैं। राजा जाति का क्षत्रिय और बुद्ध-धर्म को बड़ा मान देता है। उसके गुण और प्रेम आदि की बड़ी प्रशंसा है। कोई सौ संघाराम और दस हज़ार से कुछ ही कम साधु हैं जो सबके सब महायान-सम्प्रदाय का अनुशीलन करते हैं। कोई बीस देवमन्दिर अनेक मत के विरोधियों से भरे हुए हैं।

नगर के दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक संघाराम है जिसकी बगल में एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर प्राचीन काल में तथागत भगवान् ने अपनी अलौकिक शक्ति का परिचय देकर और बड़ी भारी सभा करके विरो-

पश्चिम दिशा में एक नगर है), नागपुर, अमरावती और इलिचपुर में से किसी एक के साथ करते हैं। परन्तु अन्तिम तीनों स्थान कलिङ्ग की राजधानी से बहुत दूर है। यदि हम पांच ली का एक मील मान लें तो नागपुर या अमरावती की दूरी राजमहेन्द्री से १,८०० या १,९०० ली, जैसा हुएन सांग लिखता है, हो सकती है। इटसिंग अमरावती में साधुओं के आने जाने और ठहरने आदि का अच्छा वर्णन करता है। कदाचित् इसका अभिप्राय कोशल से हो। मि॰ फर्गुसन छः ली का एक मील मान कर वैरगढ़ या भाराडक नगर के प्राचीन डीह को राजधानी का स्थान निश्चय करते हैं। अधिक झुकाव उनका वैरगढ़ पर है जिसके विषय में उन्होंने एक लेख I. R. A. S. N. S., Vol. VI, P. 260, में लिखा है

थियों को परास्त किया था। इसके उपरान्त नागार्जुन बोधिसत्व संघाराम में रहा था। उस समय के नरेश का नाम 'सद्वह' था। वह नागार्जुन की बड़ी प्रतिष्ठा करता था और नागार्जुन की रक्षा के लिए उसने एक शरीर-रक्षक नियत कर दिया था।

एक दिन लंका-निवासी देव बोधिसत्व शास्त्रार्थ के निमित्त उसके पास आया। द्वार पर पहुँचकर उसने द्वारपाल से कहा, "मेरे आने की सूचना कृपा करके नागार्जुन तक पहुँचा दो।" द्वारपाल ने जाकर नागार्जुन से निवेदन किया। नागार्जुन ने उसकी प्रतिष्ठा करके एक पात्र में जल भर दिया और एक शिष्य को आज्ञा दी कि इसको लेकर देव के पास जाओ। देव जल को देखकर चुप हो गया, फिर एक सुई निकाल कर उसमें डाल दी। शिष्य सन्देहान्वित और उद्विग्न होकर उस पात्र को लिये हुए लौट आया। नागार्जुन ने पूछा, "उसने क्या कहा?" शिष्य ने कहा, "उसने उत्तर तो कुछ नहीं दिया, देखते ही चुप हो गया, परन्तु एक सुई जल में डाल दी है।"

नागार्जुन ने कहा, "क्या बुद्धि है! कौन इस आदमी की चाह न करेगा? कर्तव्य के जानने के लिए यह भगवान की ओर से कृपा हुई है, और छोटे साधु के वास्ते सूक्ष्म सिद्धान्तों को हृदयङ्गम करने के लिए अच्छा अवसर है। यदि यह ऐसे ही ज्ञान से भरा है तब तो अवश्य भीतर बुलाने के योग्य है।" चेले ने पूछा, "उसने कहा क्या? क्या उत्कृष्ट उत्तर चुप हो जाना ही है?" नागार्जुन कहने लगा, "यह जल उसी स्वरूप का है जैसे कि पात्र में यह है। और जो वस्तु इसके भीतर है उसी के अनुसार इसकी मलिनता और निर्मलता है, परन्तु

उसने इसकी निर्मलता और ग्राहकता को मेरा ज्ञान जो मैंने अध्ययन करके प्राप्त किया है समझा और इसके भीतर सुई छोड़कर उसने यह दिखलाया कि वह मेरे ज्ञान को छेद सकता है। जाओ इस अद्‌भुत व्यक्ति को इसी क्षण यहाँ ले आओ।"

इन दिनों नागार्जुन का स्वरूप बहुत ही देदीप्यमान और प्रभावोत्पादक हो रहा था, जिसको देखकर शास्त्रार्थ करने-वाले आपसे आप भयभीत होकर चरणों पर सिर धर देते थे। देव भी उसके विशुद्ध चरित्र का वृत्तान्त बहुत दिनों से जानता था और उससे अध्ययन करके उसका शिष्य होना चाहता था, परन्तु इस समय जैसे ही वह उसके सामने पहुँचा उसका चित्त भयाकुल हो उठा और वह घबड़ा गया। भवन में पहुँच कर न तो उसको उचित रीति से बैठने ही का ज्ञान रहा और न शुद्ध शब्द बोलने ही का, परन्तु दिन ढलते ढलते उसका शब्दोच्चारण कुछ स्पष्ट और ऊँचा हो चला। उस समय नागार्जुन ने कहा, "आपकी विद्वत्ता दुनिया भर से बढ़ी हुई है और आपकी कीर्ति सब प्राचीन महात्माओं से अधिक प्रकाशित है। मैं बुड्ढा और अशक्त व्यक्ति होने पर भी ऐसे विद्वान और प्रसिद्ध पुरुष से भेंट करके, जो वास्तव में सच्चाई का प्रचार करने, धर्म की मशाल को निर्विघ्न रूप से प्रज्वलित करने और धार्मिक सिद्धान्तों को परिवर्द्धित करने के लिए हैं, बहुत सुखी हुआ। वास्तव में आपही इस उच्चासन पर बैठ कर अज्ञानान्धकार का नाश करने और उत्तम सिद्धान्तों को प्रकाश करने योग्य हैं।"

इन शब्दों को सुनकर देव के हृदय में कुछ अहंकार का समावेश हो गया और अपने ज्ञान के ख़ज़ाने को खोलने के

लिए वाटिका में टहल टहल कर उत्तम और चुने चुने वाक्य स्मरण करने लगा। कुछ देर बाद अपनी शंकाओं को उपस्थित करने के लिए उसने सिर उठाया परन्तु जैसे ही उसकी दृष्टि नागार्जुन पर पड़ी, उसका मुख बन्द हो गया। तब वह बड़ी नम्रता के साथ अपने स्थान से उठ कर शिक्षा का प्रार्थी हुआ।

नागार्जुन ने उत्तर दिया, "बैठ जाओ, मैं तुमको सबसे बढ़कर सत्य और उन सर्वोत्तम सिद्धान्तों को बताऊँगा जिनका धर्मेश्वर ने स्वयं उपदेश दिया था।" देव ने उसको साष्टाङ्ग प्रणाम करके बड़ी नम्रता से निवेदन किया, "मैं सदा आपकी शिक्षा श्रवण करने के लिए तत्पर हूँ।"

नागार्जुन बोधिसत्व ओषधियाँ बनाने में बड़ा दक्ष था। वह ऐसी दवा बनाता था कि जिसके सेवन करने से मनुष्य की सैकड़ों वर्ष की आयु हो जाती थी। यहाँ तक कि तन और मन किसी भी अंग में किसी भी प्रकार की बलहीनता नहीं रह सकती थी। सद्वह राजा ने भी उसकी इस गुप्त ओषधि का सेवन किया था जिससे उसकी भी आयु कई सौ वर्ष की होगई थी। राजा के एक छोटा लड़का था जिसने एक दिन अपनी माता से पूछा, "मैं कब राज्य-सिंहासन पर बैठूँगा।" उसकी माता ने उत्तर दिया, 'मुझको तो अभी तक कुछ विदित नहीं होता। तुम्हारा पिता इस समय तक कई सौ वर्ष का हो चुका, उसके न मालूम कितने बेटे और पोते बुड्ढे हो होकर मर गये। यह सब नागार्जुन की विद्या और सच्ची ओषधि बनाने के ज्ञान का प्रभाव है। जिस दिन बोधिसत्व मरेगा उसी दिन राजा भी खिन्नचित्त हो जायगा। इस समय नागार्जुन का ज्ञान बहुत विशेष और अधिक

विस्तृत है, उसका प्रेम और करुणाभाव बहुत गूढ़ है, वह लोगों की भलाई के लिए अपने शरीर और प्राण को भी दे सकता है। इसलिए तुम उसके पास जाओ और जब तुम्हारी उससे भेंट हो तब उसका सिर उससे माँग लो। यदि तुम इसमें कृतकार्य हो सकोगे तो अवश्य अपने मनोरथ को पहुँचोगे।"

राजा का पुत्र अपनी माता के वचनानुसार संघाराम के द्वार पर गया। द्वारपाल इसको देखते ही भयभीत होकर भाग गया जिससे यह उसी क्षण भीतर पहुँच गया। नागार्जुन बोधिसत्व उस समय ऊपर नीचे टहल टहल कर पाठ कर रहा था। राजकुमार को देखकर खड़ा होगया और पूछा, "यह संध्या का समय है, ऐसे समय में तुम इतनी शीघ्रता के साथ साधु के भवन में क्यों आये हो? क्या कोई घटना होगई है या तुम किसी कष्ट से भयभीत होगये हो जो ऐसे समय में यहाँ दौड़ आये हो?"

उसने उत्तर दिया, "मैं अपनी माता से शास्त्र के कुछ शब्द और महात्माओं के उन चरित्रों को जिन्होंने संसार का परित्याग कर दिया था पढ़ रहा था। उस समय मैंने कहा, 'सब प्राणियों का जीवन बहुमूल्य है; और धर्म-पुस्तकों में भी, जहाँ पर ऐसे प्राण समर्पण के उदाहरण लिखे हुए हैं, इस बात पर अधिक ज़ोर भी नहीं दिया गया है कि जो कोई किसी से माँगे उसके लिए वह प्राण परित्याग कर दे'। मेरी पूज्य माता ने उत्तर दिया, 'नहीं, ऐसा नहीं है। इस देश के 'सुगत' लोगों ने और प्राचीन तीनों कालों के तथागतों ने, जिस समय वे संसार में थे और अपने अभीष्ट की प्राप्ति में दत्तचित्त थे, किस प्रकार परम पद को प्राप्त किया? उन्होंने सन्तोष और परि-

श्रम-पूर्वक आज्ञाओं का पालन करके बुद्ध-मार्ग को प्राप्त किया था। उन्होंने अपने शरीरों को जङ्गली पशुओं के भक्षण के निमित्त दे दिया था और अपना मांस काट काट कर एक कबूतर को बचा दिया था। इसी प्रकार राजा चन्द्रप्रभा ने अपना सिर एक ब्राह्मण को और मैत्रीबाल ने अपने रुधिर से एक भूखे यक्ष को भोजन कराके सन्तुष्ट कर दिया था। इस प्रकार का दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है, परन्तु पूर्वकालिक महात्माओं के चरित्रों का अन्वेषण करने से कोई भी ऐसा समय न मिलेगा जब ऐसे ऐसे उदाहरण न पाये जा सकते हों। इस समय भी नागार्जुन बोधिसत्व उसी प्रकार के उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपालन कर रहा है।' अब मैं अपनी बात कहता हूँ कि मुझको एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो मेरी भलाई के लिए अपना सिर समर्पण कर सके. मुझको इसी ढूँढ़ खोज में बहुत वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु अब तक मेरी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। यदि मैं बलपूर्वक ऐसा करना चाहता और किसी मनुष्य का वध कर डालता तो इसमें अधिक पाप और उसका परिणाम भयङ्कर होता। किसी निरपराध बच्चे का प्राण लेने से मेरे चरित्र में कलंक और मेरी कीर्ति में अवश्य बट्टा लग जाता। परन्तु आप परिश्रम-पूर्वक पुनीत मार्ग का अवलम्बन ऐसी रीति से कर रहे हैं कि कुछ ही समय में वृद्धावस्था को प्राप्त हो जायँगे। आपका प्रेम और आपकी परोपकार-वृत्ति प्राणीमात्र के लिए सुलभ है, आप अपने जीवन को पानी का बबूला और अपने शरीर को तृणवत् समझते हैं। आपसे यदि मैं प्रार्थना करूँ तो मेरी कामना अवश्य पूरी हो।''

नागार्जुन ने कहा. "तुमने जो तारतम्य मिलाया है और

तुम्हारे जो शब्द हैं वे बिलकुल ठीक हैं। मैं पुनीत बुद्ध-पद की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहा हूँ। मैंने पढ़ा है कि बुद्ध सब वस्तुओं को परित्याग कर देने में समर्थ हैं, वह शरीर को बबूले और प्रतिध्वनि के समान समझकर, आत्मा को चार स्वरूपों का आश्रित और ६ हों मार्गों में आवागमन करनेवाला जानते हैं। मेरी भी यही प्रतिज्ञा सदा से रही है कि मैं प्राणी-मात्र की कामना से विमुख नहीं हो सकता। परन्तु राजकुमार की इच्छा पूर्ण करने में एक कठिनाई है, और वह यह कि यदि मैं अपना प्राण परित्याग कर दूँगा तो राजा भी अवश्य मर जायगा। इसको अच्छी तरह विचार लो कि उस समय उसकी कौन रक्षा कर सकेगा ?"

नागार्जुन उस समय अस्थिर-मन होकर, अपना प्राण विसर्जन करने के लिए किसी वस्तु की खोज में इधर-उधर फिरने लगा। उसको नरकुल (सरकंडा) की एक सूखी पत्ती मिल गई जिससे उसने अपने सिर को इस प्रकार उतार कर फेंक दिया मानों तलवार ही से काट लिया हो।

यह हाल देखकर वह (राजकुमार) वहाँ से भागा और जल्दी जल्दी अपने घर पहुँच गया। द्वारपालों ने जाकर जो कुछ हुआ सब वृत्तान्त आदि से अन्त तक राजा से कह सुनाया, जिसको सुनकर वह इतना विकल हुआ कि मर ही गया।

लगभग ३०० ली दक्षिण-पश्चिम को चलकर हम ब्रह्मगिरि नामक पहाड़ पर पहुँचे। इस पहाड़ की सुनसान चोटी सबसे ऊँची है और अपने दृढ़ करार के साथ, एक ठोस चट्टान के ढेर के समान, बिना किसी घाटी के बीच में पड़े हुए ऊँची उठी चली गई है। इस स्थान पर सद्वह राजा ने नागार्जुन

बोधिसत्व के लिए चट्टान खोद कर उसके भीतरी मध्य भाग में एक संघाराम बनवाया था[1]। इसमें जाने के लिए कोई १० ली की दूरी से एक सुरङ्ग खोद कर बन्द मार्ग बनाया गया था। चट्टान के नीचे खड़े होने से पहाड़ी खुदी हुई पाई जाती है और लम्बे लम्बे बरामदों की छतें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इसके ऊँचे ऊँचे कँगूरे और खंडबद्ध भवन पाँच खंड तक पहुँचे हुए हैं। प्रत्येक खंड में चार कमरे और विहार परस्पर मिले हुए हैं। प्रत्येक विहार में बुद्धदेव की एक मूर्ति सोने की बनी हुई है जो उनके डील के बराबर बड़ी कारीगरी के साथ बनाई गई है और बड़ी विलक्षण रीति से सजी हुई है, सम्पूर्ण आभूषण सोने और रत्नों के हैं। ऊँची चोटी से छोटे छोटे झरनों के समान जलधारायें प्रवाहित हैं। ये भिन्न भिन्न खण्डों में होती हुई बरामदों के चारों तरफ़ होकर बह जाती हैं। स्थान स्थान पर बने हुए छिद्रों से भीतरी भाग में प्रकाश पहुँचता रहता है।

जब पहले-पहिल सद्वह राजा ने इस संघाराम को खुदवाना प्रारम्भ किया उस समय खोदते खोदते सब मनुष्य थक गये और उसका ख़ज़ाना ख़ाली हो गया। अपने काम को अधूरा देखकर उसका अन्तःकरण दुखी हो गया। तब नागार्जुन ने राजा से पूछा, "क्या कारण है जो तुम्हारा मुख इतना उदास

[1]जो कुछ वृत्तान्त इस भवन का हुएन सांग ने लिखा है ठीक वही फ़ाहियान ने भी लिखा है। परन्तु इन दोनों में से किसी ने भी स्वयं इस स्थान को नहीं देखा है। यह स्थान फ़ाहियान से पहले ही विनष्ट हो चुका था। जो कुछ हाल लिखा गया है वह नागार्जुन के समय (प्रथम शताब्दी) के इतिहास का सार-मात्र है।

हो रहा है ?" राजा ने उत्तर दिया, "मैंने एक ऐसा बड़ा काम करना चाहा था कि जो बहुत पुण्य का काम था, और सर्वोपरि कहे जाने के योग्य था। मेरा यह काम उस समय तक स्थिर रह सकता था जब तक मैत्रेय भगवान संसार में पदार्पण करते, परन्तु उसके समाप्त होने से पहले ही जो कुछ साधन था वह सब समाप्त हो गया। इसी लिए मैं विकलता के साथ नित्यप्रति उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मेरा चित्त इस समय बहुत परेशान है।"

नागार्जुन ने उत्तर दिया, "इस प्रकार दुखी मत हो; उच्च कक्षा का धार्मिक विषय कामना के अनुसार अवश्य पूरा होता है। इसमें विकलता नहीं हो सकती, इसलिए तुम्हारा मनोरथ निस्सन्देह पूर्ण हो जायगा। अपने भवन को लौट चलो, तुम्हारी प्रसन्नता का ठिकाना न रहेगा। कल सवेरे सैर के लिए बाहर निकल जाना और जङ्गली स्थानों में घूम फिर कर मेरे पास लौट आना, और उस समय मुझसे अपने भवन के विषय में बातचीत करना।" राजा यह आदेश पाकर और उनका अभिवादन करके लौट गया।

नागार्जुन बोधिसत्व ने सब बड़े बड़े पत्थरों को अपनी बढ़िया से बढ़िया ओषधियों के क्वाथ से भिगोकर सोना कर दिया। राजा ने जाकर जिस समय उस सोने को देखा उसका चित्त और मुख परस्पर एक दूसरे को बधाई देने लगा। लौटते समय वह नागार्जुन के पास गया और कहने लगा, "आज जिस समय मैं सैर कर रहा था उस समय जङ्गल में दैवी कृपा से मैंने सोने के ढेर देखे।" नागार्जुन ने उत्तर दिया, "यह देवताओं की माया नहीं है बल्कि तुम्हारा सच्चा विश्वास है जिससे तुमको इतना सोना मिल गया। इसलिए

इसको अपनी वर्तमान आवश्यकता में खर्च करो और अपने विशुद्ध कार्य को पूर्णता पर पहुँचाओ।" राजा ने आज्ञानुसार ही किया। उसका कार्य समाप्त भी हो गया, तो भी उसके पास बहुत कुछ बच गया। इसलिए उसने पाँचों खण्डों में से प्रत्येक खंड में सोने की बड़ी बड़ी चार मूर्तियाँ बनवा कर स्थापित कर दीं। फिर भी जो बचत रही उससे उसने अपने सब ख़ज़ानों की आवश्यकता को पूरा किया।

इसके उपरान्त उसने उसमें निवास करने और वहाँ रह कर पूजा-पाठ करने के लिए १,००० साधुओं को निमंत्रित किया। नागार्जुन बोधिसत्व ने सम्पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थों को, जिनको शाक्य बुद्ध ने स्वयं प्रकट किया था, और बोधिसत्व लोगों की सब प्रकार की संगृहीत पुस्तकों को तथा अन्यान्य संस्थाओं की विविध पुस्तकों को उस स्थान पर एकत्रित कर दिया। पहले खंड में (सबसे ऊँची) केवल बुद्धदेव की मूर्तियाँ, सूत्र और शास्त्र रक्खे गये और सबसे निचले खंड में ब्राह्मण लोगों का निवास नियत किया गया तथा उनकी आवश्यकतानुसार सब प्रकार की वस्तुएँ रख दी गईं। बीच के शेष तीन खंडों में बौद्ध साधु और उनके शिष्य लोगों का वास था। प्राचीन इतिहास से पता लगता है कि जिस समय सद्वह राजा इस कार्य को समाप्त कर चुका उस समय हिसाब लगाने से विदित हुआ कि मज़दूर लोगों के खर्च में अकेला नमक ही सात करोड़ अशर्फ़ियों का पड़ा था। कुछ दिनों बाद बौद्ध साधु और ब्राह्मणों में झगड़ा होगया, बौद्ध लोग फ़ैसला कराने के लिए राजा के पास गये। ब्राह्मणों ने यह सोच कर कि ये बौद्ध साधु केवल शाब्दिक विवाद में ही लड़ पड़े हैं आपस में सलाह की और ताक लगाये रहे। मौक़ा पाने

पर इन नीच लोगों ने संघाराम को ही नष्ट कर डाला और उसको ऐसा बन्द कर दिया कि उसमें साधुओं के जाने का मार्ग ही न रहा।

उस समय से कोई भी बौद्ध साधु उसमें नहीं ठहर सका है। पहाड़ की गुफाओं को दूर से देखने पर, यह कहा जा सकता है कि उसमें जाने का मार्ग ढूँढ़ लेना असम्भव है। यदि किसी ब्राह्मण के घर में कोई बीमार हो जाता है और उसको वैद्य की आवश्यकता होती है तो ये लोग उस वैद्य के नेत्र बाँध कर उसे भीतर ले जाते और बाहर लाते हैं, जिससे वह मार्ग न जान सके।

यहाँ से दक्षिण दिशा में एक घने जङ्गल में जाकर और कोई १०० ली चलकर हम 'अनतलो' देश में पहुँचे।

'अनतलो' (अन्ध्र)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ३००० ली और राजधानी का २० ली है। इसका नाम पइङ्गकइलो[1] (विङ्गिल) है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है तथा नियमपूर्वक जोती बोई जाने से अच्छी पैदावार होती है। प्रकृति गरम और मनुष्य क्रूर और साहसी हैं। वाक्य-विन्यास और भाषा मध्य-भारत से भिन्न है परन्तु अक्षर करीब करीब वही हैं। कोई २० संघाराम ३,००० साधुओं सहित, और कोई ३० देव-मन्दिर अगणित विरोधियों सहित हैं।

[1] कदाचित् यह वेङ्गी का प्राचीन नाम है जो गोदावरी और कृष्णा इन दोनों नदियों के मध्य में तथा इलर झील के उत्तर-पश्चिम में है, और जो अन्ध्रदेश के अन्तर्गत है। इसके आस-पास मन्दिर तथा और भी डीह टीले पाये जाते हैं।

विङ्गिला (?) से थोड़ी दूर पर एक संघाराम है जिसके सबसे ऊँचे शिखर और बरामदे खुदी हुई तथा बड़ी सुन्दर चित्रकारी से सुसज्जित किये गये हैं। यहाँ पर बुद्धदेव की एक प्रतिमा है जिसका पुनीत स्वरूप बढ़िया से बढ़िया कारीगरी को प्रदर्शित कर रहा है। इस संघाराम के सामने एक पाषाण-स्तूप कई सौ फ़ीट ऊँचा है। ये दोनों पवित्र स्थान अचल[1] अरहट के बनवाये हुए हैं।

अरहट के संघाराम के दक्षिण-पश्चिम में थोड़ी दूर पर एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर तथागत भगवान ने प्राचीन काल में धर्मोपदेश करके और अपनी आध्यात्मिक शक्ति को प्रदर्शित करके असंख्य व्यक्तियों को शिष्य किया था।

अचल के संघाराम के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ७० ली चलकर हम एक शून्य पहाड़ पर पहुँचे जिसके ऊपर एक पाषाण-स्तूप है। इस स्थान पर जिन बोधिसत्व ने 'न्यायद्वार तारक-शास्त्र' अथवा 'हेतुविद्या-शास्त्र' को निर्मित किया था[2]।

[1] अरहट के नाम का अनुवाद जो चीनी-भाषा में हुआ है उसका अर्थ है "वह जो काम करता है।" ऐसी अवस्था में शुद्ध शब्द 'आचार' माना जायगा, परन्तु अजन्टा की गुफा में एक लेख है जिसमें 'अचल' लिखा हुआ है।

[2] इस स्थान पर गड़बड़ है। मूल पुस्तक में केवल 'इन-मिङ्ग-लन' लिखा है जो कुछ सन्देह के साथ 'हेतुविद्याशास्त्र' समझा जा सकता है, परन्तु जुलियन साहब अपनी पुस्तक के शुद्धाशुद्ध-पत्र पृष्ठ ४६८ में मूल को शुद्ध करते हुए शुद्ध वाक्य 'इन-मिङ्ग-चिङ्ग-ली-मेन-लन' अर्थात् 'न्यायद्वार तारक-शास्त्र' मानते हैं। सम्भव है यह ऐसा ही हो;

बुद्धदेव ने संसार परित्याग करने के पीछे इस बोधिसत्व ने धार्मिक वस्त्र धारण करके सिद्धान्तों को प्राप्त किया था। इसका ज्ञान और इसकी भावना बड़ी ज़बर्दस्त थी। इसका शक्तिशाली ज्ञान-सिन्धु अथाह था। संसार आश्रयहीन हो रहा था इसलिए करुणावश इसने पुनीत सिद्धान्तों के प्रचार की इच्छा करके 'हेतुविद्या-शास्त्र' को पढ़ा था, परन्तु इसके शब्द ऐसे कठिन और इसकी युक्तियाँ ऐसी प्रबल थीं कि जिनको अपने अध्ययन-काल में समझ लेना और कठिनता को दूर कर देना विद्यार्थियों के लिए असम्भव ही था। इस-लिए यह एक निर्जन पहाड़ में चला गया और ध्यान-धारणा के बल से कठिन खोज में लगा कि जिससे इस शास्त्र की एक ऐसी उपयोगी टीका बन जावे जो इसकी कठिनाइयों, गुप्त सिद्धान्तों और उलझे हुए वाक्यों को सरल कर सके। उस समय पहाड़ और घाटियाँ विकम्पित होकर गरज उठीं, वाष्प और बादलों के स्वरूप और के और हो गये, तथा पहाड़ की आत्मा ने बोधिसत्व को कई सौ फ़ीट ऊँचे पर ले जाकर ये शब्द कहे, "प्राचीन काल में जगदीश्वर ने अपने दयापूर्ण हृदय से मनुष्यों को सुमार्ग पर लाने के निमित्त 'हेतुविद्या-शास्त्र' का उपदेश किया था[१] और इसके विशुद्ध और अत्यन्त गूढ़ शब्दों और सच्ची युक्तियों का समुचित रीति से निरूपण किया था। परन्तु तथागत भगवान् के निर्वाण

परन्तु 'बनिउ ननजिओ' साहब ने 'जिन' की पुस्तकों की जो सूची बनाई है उसमें यह नाम नहीं है।

[१] इसका यह अर्थ आवश्यक होता नहीं कि बुद्धदेव ने 'हेतुविद्या-शास्त्र' का निर्माण किया, परंच यह प्राचीन है।

प्राप्त करने के पीछे इसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त लुप्त हो चले थे। किन्तु अब 'जिन बोधिसत्व' जिसकी तपस्या और बुद्धि अपार है, इस पुनीत ग्रंथ को आदि से अन्त तक मनन करके वह उपाय कर देगा जिससे हेतुविद्या-शास्त्र अपने प्रभाव को वर्तमान काल में भी फैला सकेगा।"

इसके उपरान्त 'जिन बोधिसत्व' ने अंधकाराच्छन्न स्थानों को आलोकित करने के लिए अपने आलोक को फैलाया। इस पर देश के राजा ने उसके ज्ञान को देखकर और इस बात का सन्देह करके कि कदाचित् यह व्यक्ति वज्रसमाधि को प्राप्त नहीं हुआ है, बड़ी भक्ति और नम्रता से प्रार्थना की कि आप उस पद को प्राप्त कीजिए जिसमें फिर जन्म न हो[1]।

जिन ने उत्तर दिया, "मैंने विशुद्ध सूत्रों की व्याख्या करने के लिए समाधि का अभ्यास किया है; मेरा अन्तःकरण केवल पूर्णज्ञान (सम्यक् समाधि) को चाहता है, और उस वस्तु की इच्छा नहीं करता जिससे पुनर्जन्म न हो।"

राजा ने कहा, "जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होने के लिए सब महात्मा प्रयत्न करते हैं। तीनों लोकों के बंधन से अपने को अलग कर लेना और त्रिविद्या के ज्ञान में गोता मारना, इससे बढ़कर उद्देश्य और क्या हो सकता है? मेरी प्रार्थना है कि आप भी इसको शीघ्र प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए।"

राजा की प्रार्थना को स्वीकार करके जिन बोधिसत्व को

[1] अर्थात अरहट-पद।

भी उस पुनीत पद पर पहुँचने की इच्छा हुई 'जो विद्या से बरी कर देता है'[1]।

उस समय 'मंजुश्री बोधिसत्व' उसके इरादे को जानकर और खिन्न होकर इस इच्छा से उसके पास आया कि उसको इसी क्षण सावधान करके वास्तविक कार्य की ओर लगा दे। उसने कहा, "शोक की बात है कि आपने अपने शुभ उद्देश्य को परित्याग करके केवल अपने लाभ की ओर ध्यान दिया, और संसार की रक्षा का परमोत्तम सिद्धान्त परित्याग करके संकीर्ण पथ का आश्रय लिया। यदि आप वास्तव में लाभ पहुँचाना चाहते हैं तो आपको उचित है कि 'मैत्रेय बोधिसत्व' के नियमों को सुस्पष्ट करके उनका प्रचार कीजिए। इसके द्वारा आप शिष्यों को सुशिक्षित और सुमार्गी बना कर बहुत बड़ा लाभ पहुँचा सकते हैं।

'जिन बोधिसत्व' ने महात्मा को प्रणाम करके बड़ी भक्ति के साथ उसके इन वचनों को स्वीकार कर लिया। फिर पूर्ण-रूप से अध्ययन करके हेतुविद्या-शास्त्र के सिद्धान्तों का मनन किया। उस समय उसको फिर वही भय उत्पन्न हो गया कि विद्यार्थी इसके सूक्ष्म सिद्धान्तों को नहीं समझ सकेंगे और वे इसके पढ़ने में जी चुरावेंगे; इसलिए उसने 'हेतुविद्या-शास्त्र'[2] के बड़े बड़े सिद्धान्तों और गूढ़ शब्दों को उदाहरण-

[1] यह वाक्य भी अरहट-अवस्था का सूचक है।

[2] यह नाम भ्रमपूर्ण है; कदाचित् यहाँ पर 'न्याय-द्वार-तारक-शास्त्र' से मतलब है। परन्तु यह भी पता चलता है कि यह ग्रन्थ नागार्जुन का रचा हुआ है। (देखो B. Nanjio's Catalogue, 1223)

सहित सुस्पष्ट करके सुगम कर दिया। इसके उपरान्त उसने योग के सिद्धान्तों को प्रकाशित किया।

यहाँ से निर्जन वन में होते हुए दक्षिण दिशा में लगभग १,००० ली चलकर हम 'टोन-कइ-टसी-किया' देश में पहुँचे।

टोन-कइ-टसी-किया (धनकटक)[1]

यह देश विस्तार में लगभग ६,००० ली है और राजधानी[2] का क्षेत्रफल लगभग ४० ली है। भूमि उत्तम और उपजाऊ तथा अच्छे प्रकार बोई जाती है जिससे उपज बहुत अच्छी होती है। देश में जङ्गल बहुत है और क़सबे बहुत आबाद नहीं हैं। प्रकृति गरम है, मनुष्यों का स्वरूप कुछ पीलापन लिये हुए काला और उनका स्वभाव क्रूर और साहसी है। यहाँ के लोग विद्याध्ययन पर अधिक ध्यान देते हैं। संघाराम बहुत हैं परन्तु अधिकतर उजाड़ और निर्जन हैं। इनमें से

[1] इसको महाअन्ध्र-प्रदेश भी कहते हैं। जुलियन साहब 'धनकचेक' कहते हैं और पाली-भाषा के ये लेख नासिक और अमरावती में पाये गये हैं। उनमें 'धन्नकटक' लिखा हुआ है जिसका संस्कृत स्वरूप 'धन्यकटक' या धान्यकटक होगा। एक लेख सन् १३६१ ई० का मिला है जिसमें 'धान्यवतीपुर' लिखा है। इन सबसे 'धन्यकटक' अमरावती के निकटवाला 'धरणीकोट' निश्चय होता है (Ind. Ant., Vol. XI, pp. 95 f.)

[2] एक रिपोर्ट से जो जे. ए. सी. बोसवेल साहब की ओर से गवर्नमैंट के पास गई थी, और कुछ फोटो चित्रों से जो कैप्टन रास टामसन साहब के पास थे, मि० फर्गुसन निश्चय करते हैं कि 'बेजवाडा' स्थान ही हुएन सांग कथित नगरी है।

केवल बीस के लगभग संघाराम उत्तम दशा में हैं जिनमें १,००० साधु निवास करते हैं। ये सब महायान-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। कोई १०० देव-मन्दिर भी हैं। इनमें उपासना करनेवाले भिन्न भिन्न मतावलम्बी विरोधी लोग संख्या में अनगिनती हैं।

राजधानी के पूर्व में एक पहाड़ के किनारे पर पूर्वशिला नामक एक संघाराम है और नगर के पश्चिम में पहाड़ की तरफ़ 'अवरशिला' नामक दूसरा संघाराम है[1]। इनको किसी प्राचीन नरेश ने बुद्धदेव के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के अभिप्राय से बनवाया था।

[1] 'अपरशिला' अथवा पश्चिमी टीला; फर्गुसन साहब इसको अमरावती-स्तूप निश्चय करते हैं। यह स्तूप अमरावती के दक्षिण और बेजवाड़ा से १७ मील पश्चिम में है। इसके अतिरिक्त गराटूर से भी २० मील उत्तर + उत्तर-पश्चिम में है। इस स्थान की प्राचीन गढ़ी का नाम 'धरणीकोट' है, (जो कदाचित किसी समय सम्पूर्ण ज़िले का नाम था और जो अमरावती से ठीक एक मील पर पश्चिम दिशा में है। यह प्रसिद्ध स्तूप पहले-पहल सन् १७९६ ई० में राजा वेङ्कटोदरी नहू के सेवक के द्वारा खोजा गया था। इसको कर्नल मैकन्ज़ी साहब ने भी अपने अमले के सहित सन् १७९७ ई० में देखा था। इसके अधिक भाग को राजा ने ध्वंस कर दिया और इसमें के गढ़े हुए संगमरमर से सन् १८१६ ई० तक अपनी इमारतें बनवाई थीं। सन् १८१६ ई० में इसको मैकन्ज़ी साहब ने फिर देखा और इसकी कुछ खुदाई भी कराई। सन् १८३५ ई० में फिर खुदाई हुई और सन् १८४० ई० में सर अलटर इलियट ने खोद कर इसका पूर्वी फाटक ढूँढ़ निकाला। इसकी खुदाई के लिए मि० सेवेल ने मई सन् १८७७ में फिर रिपोर्ट की और डाक्टर

उसने घाटियों को खुदवा कर और पहाड़ी चट्टानों को तोड़कर इस संघाराम में जाने के लिए सड़क बनवा दी थी। संघाराम के भीतर शिखरदार भवन बने हुए थे और बरामदे लम्बे तथा ऊँची ऊँची कोठरियाँ बहुत चौड़ी बनाई गई थीं। साथ ही इसके, अनेक गुफाएँ भी थीं। यह स्थान दैवी-शक्ति से सुरक्षित था; बड़े बड़े महात्मा और विद्वान पुरुष यात्रा करते हुए इस स्थान पर आकर विश्राम किया करते थे; बुद्ध भगवान को निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् एक हज़ार वर्ष तक यहाँ का यह नियम रहा कि प्रत्येक वर्ष एक हज़ार गृहस्थ और साधु इस स्थान पर आकर प्रावृट् विश्राम का उपभोग करते थे। विश्राम-काल के समाप्त होने पर वे सबके सब अरहट-अवस्था को प्राप्त होकर और वायु पर चढ़कर आकाश-द्वारा उड़ जाते थे। हज़ार वर्ष तक साधु और गृहस्थ मिल जुलकर रहते रहे, परन्तु आज-कल सौ वर्ष से यहाँ कोई भी निवास नहीं कर सका है। क्योंकि पहाड़ की आत्मा अपना स्वरूप बदल कर कभी भेड़ियों की शकल में और कभी बन्दर की सूरत में आकर लोगों को भयभीत कर देती है। इस सबब से स्थान उजाड़

जेम्स बरगस ने सन् १८८१-८२ में इसको फिर खोदा, देखो Sewell's List of Ant. Remains in Mad., Vol. I, p. 63 इस स्तूप के पत्थर इत्यादि के वृत्तान्त के लिए देखो फर्गुसन साहब का 'Tree and Serpent Worship' और बरगस साहब की 'Report on the Amravati Stupa' एक शिलालेख से, जिसको स्तूप के पत्थरों में से बरगस साहब ने ढूँढ़ा था, विदित होता है कि यदि अधिक पहले न भी सिद्ध हो तो भी अमरावती-स्तूप दूसरी शताब्दी में या तो बन चुका था अथवा बन रहा था।

और जंगल सरीखा हो रहा है, कोई भी साधु इसमें नहीं रहता।

नगर के दक्षिण में[1] कुछ दूर पर एक बड़ी पहाड़ी गुफा है। इस स्थान पर 'भाव विवेक'[2] शास्त्री असुर के भवन में निवास करके मैत्रेय बोधिसत्व के उस समय के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है जब वह पूर्ण बुद्ध होकर पधारेंगे। यह विद्वान शास्त्री अपनी सुन्दर विद्वत्ता और विस्तृत ज्ञान के लिए बहुत प्रसिद्ध था। बाहर से तो यह कपिल का शिष्य था परन्तु अभ्यन्तर से नागार्जुन की विद्वत्ता को धारण किये हुए था। इस समाचार को सुनकर कि मगध-निवासी धर्मपाल धर्म का उपदेश बहुत दूर दूर तक कर रहा है और हज़ारों शिष्य बना चुका है, इसके चित्त में उससे शास्त्रार्थ करने की इच्छा हुई। अपने धर्म-दण्ड को लिये हुए जिस समय यह यात्रा करता हुआ पाटलिपुत्र को आया उस समय इसको पता लगा कि धर्मपाल बोधिसत्व बोधिवृक्ष के निकट निवास करता है। उस समय विद्वान शास्त्री ने अपने शिष्य को यह आज्ञा दी, "बोधिवृक्ष के निकट जहाँ पर धर्मपाल बोधिसत्व रहता है तुम जाओ और उससे मेरा नाम लेकर कहो कि "हे बोधिसत्व धर्मपाल! आप बुद्ध के सिद्धान्तों का बहुत दूर दूर तक प्रचार कर रहे हैं और मूर्खों को आज्ञा और

[1] फर्गुसन साहब की रिपोर्ट से पता चलता है कि कसबे (अर्थात्-बेजवाड़ा) के दक्षिण में एक अद्भुत और निर्जन चट्टान है जिसके अगल-बगल बहुत सी चट्टानों गुफा आदि के ध्वंसावशेष पाये जाते हैं।

[2] इस विद्वान् के वृत्तान्त के लिए देखो Wong-Pûh (loc. cit.)

शिक्षा देकर ज्ञानी बनाते हैं. आपके शिष्य बड़ी भक्ति के साथ आपकी प्रतिष्ठा बहुत दिनों से कर रहे हैं. परन्तु आपके मन्तव्य और भूतकालिक ज्ञान का कोई उत्तम फल अब तक दिखाई नहीं पड़ा हैं इसलिए उपासना और बोधिवृक्ष का दर्शन सब व्यर्थ हो गया। पहले अपने मन्तव्य को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा कर लीजिए उसके बाद देवता और मनुष्यों को चेला बनाने की फिक्र कीजिएगा।"

धर्मपाल बोधिसत्व ने कहला भेजा, "मनुष्यों का जीवन परछाँई और शरीर पानी के बबूले के समान है। इसलिए मेरा सम्पूर्ण दिन तपस्या में बीतता है. मेरे पास वाद-विवाद के लिए समय नहीं है। शास्त्रार्थ नहीं होगा आप लौट जाइए।"

विद्वान् शास्त्री अपने देश को लौट कर एक निर्जन स्थान में विचार करने लगा कि 'जब तक मैत्रेय बुद्धावस्था को न प्राप्त हो जावें मेरी शंकाओं का समाधान कौन कर सकता है? इसके उपरान्त अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति के सामने भोजन और जल को परित्याग करके 'हृदयधारिणी' का पाठ करने लगा[१]। तीन वर्ष व्यतीत होने पर बहुत मनो-

[१] सेम्युअल बील साहब की राय है इन वाक्यों से विदित होता है कि भावविवेक नागार्जुन के रङ्ग में रँगे होने ही से, यद्यपि वह कपिल का अनुगामी था, अवलोकितेश्वर की भक्ति करता था। जिस प्रकार सद्वह राजा ने नागार्जुन के लिए भ्रमर (दुर्गा) संघाराम पहाड़ खोद कर बनवाया था। उसी प्रकार इससे भी यही विदित होता है कि नागार्जुन के उपदेश का मुख्य स्वरूप दुर्गा की उपासना था। अथवा यों

हर स्वरूप धारण किये हुए अवलोकितेश्वर बोधिसत्व[1] प्रकट हुए और भाव-विवेक से पूछा, "तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?" उसने उत्तर दिया, "जब तक मैत्रेय का आगमन न होवे मेरा शरीर भी नाश न हो।" अवलोकितेश्वर बोधि-

कहिए कि बुद्ध-धर्म और पहाड़ी देवी देवताओं की उपासना का संमिश्रण नागार्जुन के समय से और उसके प्रभाव से प्रचलित हो चला था।" 'हृदयधारिणी सूत्र' बहुत प्रसिद्ध है इसका अनुवाद सन् १८७५ ई० में रायल एशियाटिक सुसाइटी के मुखपत्र पृष्ठ २७ में छप चुका है। इसके अतिरिक्त Bendall, Catalogue of MSS., etc., p. 117 and 1485 भी देखो। सेम्युअल वील साहब का अनुमान है कि महायान सम्प्रदाय के संस्थापक नागार्जुन ही के द्वारा इस सूत्र की रचना हुई है।

[1] सेम्युअल वील साहब लिखते हैं कि "This 'beautiful body' of Avalokitesvara seems to be derived from foreign sources The character of the beauty may be seen from the plates supplied by Mr. B Hodgson in the J. R. A. S., Vol. VI, p. 276. There can be little doubt that we have here a link connecting this worship with that of Ardhvisura-anâhita, the Persian representative of the beautiful goddess of 'pure water.' Comp. Anaitis as Venus and the Venus mountains in Europe (Fensberg), the survival of the worship of hill gods (see Karl Blind on Watergods, etc., in the Contemporary Review).

सत्व ने कहा, "मनुष्य का जीवन आकस्मिक घटनाओं का विषय है, संसार परछाँई अथवा बुद्बुद के समान है, इस लिए तुमको इस बात की उच्च कामना करनी चाहिए कि तुम्हारा जन्म तुषित स्वर्ग में हो और उस स्थान पर अन्त तक रहकर आमने सामने उनका दर्शन-पूजन किया करो[1] ।"

विद्वान शास्त्री ने उत्तर दिया, "मेरा विचार निश्चित है। मेरा मन बदल नहीं सकता।" बोधिसत्व ने कहा, "यदि ऐसा ही है तो तुम 'धनकटक' देश को जाओ, वहाँ पर नगर के दक्षिण में एक पहाड़ की गुफा में एक वज्रपाणि देवता रहता है; उस स्थान पर, 'वज्रपाणि-धारिणी' का पाठ करने से तुम अपने अभीष्ट को प्राप्त होगे।

इस आज्ञा के अनुसार भावविवेक उस स्थान पर चला गया और 'धारिणी' का पाठ करने लगा। तीन वर्ष के उपरान्त देवता ने कहा, "तुम्हारी क्या कामना है ? किस लिए इतनी बड़ी तपस्या कर रहे हो ?" विद्वान शास्त्री ने उत्तर दिया, "मैं यह चाहता हूँ कि मैत्रेय के आने तक मेरा शरीर अमर बना रहे। अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की आज्ञानुसार मैं इस स्थान पर अपने मनोरथ की पूर्ति के निमित्त आया हूँ। क्या यह बात आपकी शक्ति के आश्रित है ?"

देवता ने उस समय उसको एक मंत्र बतलाया और कहा,

[1] सच्चे बौद्ध का यही मनोरथ रहता है कि मरने के उपरान्त उसका जन्म मैत्रेय के स्वर्ग में हो, ताकि उनके सिद्धान्तों को सुनकर और उनकी शिक्षाओं के अनुसार कार्य करके वह निर्वाण को प्राप्त होवे यह सिद्धान्त उन लोगों के सिद्धान्त के विपरीत है जो यह मानते हैं कि स्वर्ग पश्चिम में (Western Paradise) है।

"इस पहाड़ में एक असुर का भवन है; यदि तुम मेरे बताये अनुसार प्रार्थना करोगे (अर्थात् मंत्र जपोगे) तो द्वार खुल जायगा और तुम उसमें निवास करके मैत्रेय के आगमन की प्रतीक्षा आराम के साथ कर सकोगे।" शास्त्री ने कहा, "यह ठीक है परन्तु उस अंधकारपूर्ण भवन में बन्द रह कर मैं किस प्रकार जान सकूँगा या देख सकूँगा कि बुद्धदेव प्रकट हुए हैं?" वज्रपाणि ने उत्तर दिया, "मैत्रेय भगवान के संसार में आने पर मैं तुमको सूचना दे दूँगा।" भावविवेक शास्त्री उसकी आज्ञानुसार उस मंत्र के जप में संलग्न हो गया। तीन वर्ष तक बराबर स्थिरचित्त होकर जपने के उपरान्त उसने चट्टानी गुफा को खटखटाया। उस समय उस विशाल और गुप्त गुफा का द्वार खुल गया। उसी समय एक बड़ी भारी भीड़ उसके सामने प्रकट हो गई जिसके फेर में पड़कर वह लौटने का मार्ग भूल गया। 'भावविवेक' ने द्वार को पार करके उस जनसमुदाय से कहा, "बहुत वर्षों तक इस अभिप्राय से कि मैत्रेय का दर्शन प्राप्त करूँ मैं पूजा उपासना करता रहा हूँ जिसका फल यह हुआ कि एक देवता की सहायता से, जिसको धन्यवाद है, मेरा संकल्प सफल होता दिखाई देता है। चलो सब लोग इस गुफा के भीतर चलें और यहाँ रहकर बुद्धदेव के अवतीर्ण होने की प्रतीक्षा करें।"

वे सब लोग इन शब्दों को सुनकर विवेकशून्य हो गये और द्वार में पैर रखने से भयभीत होते हुए कहने लगे, "यह सर्पों की गुफा है, यदि इसमें जायँगे तो हम सब मर जायँगे।" 'भावविवेक' ने उनको फिर समझाया। तीसरी बार के समझाने में केवल छः व्यक्ति उसके साथ प्रवेश करने के लिए सहमत हुए। 'भावविवेक' आगे बढ़ा और सब लोग इसके

प्रवेश पर दृष्टि जमाये हुए उसके पीछे पीछे चले। सब लोगों के भीतर आजाने पर द्वार बन्द हो गया और वे लोग जिन्होंने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया था जहाँ के तहाँ रह गये।

यहाँ से दक्षिण पश्चिम में लगभग १,००० ली चलकर हम 'चुलीये' राज्य में पहुँचे।

'चुलीये' (चुल्य अथवा चोल)

चुल्य (चोल) का क्षेत्रफल २,४०० या २,५०० ली और राजधानी का क्षेत्रफल लगभग १० ली है। यह वीरान और जंगली देश है, दलदल और जंगल बराबर फैले चले गये हैं। आबादी थोड़ी और डाकुओं के झुंड के झुंड दिन दहाड़े घूमा करते हैं। प्रकृति गरम और मनुष्य क्रूर और दुराचारी हैं। इन लोगों के स्वभाव में निर्दयीपन कूट कूट कर भरा हुआ है। ये लोग विरुद्ध-धर्मावलम्बी हैं। जो दशा संघारामों की है वही साधुओं की भी है, सबके सब बर्बाद और मलीन हैं। कोई दस देव-मन्दिर और बहुत से निर्ग्रंथ लोग हैं।

नगर के दक्षिण-पूर्व थोड़ी दूर पर एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर प्राचीनकाल में तथागत भगवान ने देवता और मनुष्यों की रक्षा के लिए अपने आध्यात्मिक चमत्कार को प्रदर्शित करते हुए विशुद्ध धर्म का उपदेश करके विरोधियों को परास्त किया था।

नगर के पश्चिम में थोड़ी दूर पर एक प्राचीन संघाराम है। इस स्थान पर एक अरहट के साथ देव बोधिसत्व का शास्त्रार्थ हुआ था। देव बोधिसत्व को विदित हुआ था कि इस संघाराम में उत्तर नामक अरहट निवास करता है जिसको छहों अलौकिक शक्तियाँ (षडभिज्ञायें) और अष्ट विमो-

ज्ञादि मुक्ति का साधन प्राप्त है। इसलिए उसके आचरण और नियम इत्यादि को जाँचने के लिए बहुत दूर चलकर वह इस स्थान पर आया और संघाराम में पहुँच कर एक रात्रि रहने के लिए अरहट से स्थान का प्रार्थी हुआ। उस समय स्थान में जहाँ पर अरहट रहता था केवल एक ही बिछौना था जिस पर अरहट सोता था, इसके अतिरिक्त और कोई चटाई इत्यादि नहीं थी इसलिए उसने भूमि पर कुश बिछाकर बोधिसत्व से बैठने के लिए प्रार्थना की। उसके बैठ जाने पर अरहट समाधि में मग्न हो गया जिससे उसकी निवृत्ति आधी रात पीछे हुई। उस समय देव अपनी शंकाओं को उपस्थित करके बड़ी नम्रतापूर्वक उत्तर का प्रार्थी हुआ। अरहट ने प्रत्येक कठिनाई को अलग अलग करके समझा दिया। देव ने बहुत बारीकी से उसके शब्दों को लेकर उत्तर-प्रत्युत्तर किया यहाँ तक कि सातवीं बार के प्रश्न में अरहट का मुख बन्द हो गया और वह निरुत्तर हो गया। उस समय अपनी दैवी शक्ति का गुप्त रीति से प्रयोग करके वह 'तुषित' स्वर्ग में गया और मैत्रेय से उन प्रश्नों को पूछा। मैत्रेय ने उनका उचित उत्तर बतलाकर यह भी बतला दिया कि "वह प्रसिद्ध महात्मा देव है जिसने कल्पों तक धर्माचरण किया है, और भद्र कल्प के मध्य में बुद्धावस्था को प्राप्त हो जावेगा। तुम इस बात को नहीं जानते हो[1]। तुमको उचित है कि इसकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा के साथ पूजा करो।"

थोड़ी देर में वह अपने आसन पर लौट आया और फिर स्पष्ट रीति से व्याख्या करने लगा। इस समय की भाषा

[1] अथवा क्या तुम इस बात को नहीं जानते हो।

और व्यवस्था बहुत ही शुद्ध थी, जिसको सुनकर देव ने कहा, "यह तो व्याख्या मैत्रेय बोधिसत्त्व के पुनीत ज्ञान से आविर्भूत हुई है। हे महापुरुष तुममें यह सामर्थ्य नहीं है कि ऐसा विशुद्ध उत्तर तलाश कर सको।" इस बात को स्वीकार करते हुए कि वास्तव में यह तथागत ही की कृपा है वह अरहट अपने आसन से उठा और देव के चरणों में गिर कर उनकी स्तुति-पूजा करने लगा।

यहाँ से दक्षिण दिशा में चलकर और एक जंगल में पहुँच कर लगभग १,४०० या १,५०० ली की दूरी पर हम 'टलो पिच आ' देश में पहुँचे।

टलो पिच आ (द्रविड)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ६,००० ली है। देश की राजधानी का नाम काञ्चीपुर[1] और उसका क्षेत्रफल लगभग ३० ली है। भूमि उपजाऊ और नियमानुसार जोती बोई जाने के कारण उत्तम फसल उत्पन्न करती है। यहाँ फल फूल भी बहुत होते हैं तथा मूल्यवान रत्न इत्यादि भी होते हैं। प्रकृति गरम और मनुष्य साहसी हैं। सचाई और ईमानदारी की बातों में इनको बहुत प्रसन्नता होती है। और विद्या

[1] यह अवश्य काञ्चीवरम् है। सम्युअल बील साहब लिखते हैं कि जुलियन साहब का यह लिखना कि "किनची समुद्र के बन्दर पर बसा हुआ है" ठीक नहीं है। वास्तविक बात यह है कि "किनची" नगर भारत के दक्षिणी समुद्र का मुख है और यहां से सिंहल तक तीन दिन का जल-मार्ग है" इसका अर्थ यह है कि काञ्चीवरम नगर केन्द्र था जहां से यात्री लंका को जाते थे।

की अत्यन्त अधिक प्रतिष्ठा करते हैं। इनकी भाषा और इनके अक्षर मध्यभारतवालों से थोड़े ही भिन्न हैं। कई सौ संघाराम और दस हज़ार साधु हैं जो सबके सब स्थविर-संस्था के महायान-सम्प्रदायी हैं। कोई अस्सी देवमन्दिर और असंख्य विरोधी हैं जिनको निर्ग्रन्थी कहते हैं। तथागत भगवान ने प्राचीन काल में, जब वे संसार में थे, इस देश में बहुत अधिक निवास किया था। जहाँ जहाँ पर इस देश में उनका धर्मोपदेश हुआ था और लोग शिष्य किये गये थे, वहाँ वहाँ सब पुनीत स्थानों में अशोक राजा ने उनके स्मारक स्तूप बनवा दिये हैं। काञ्चीपुर नगर धर्मपाल बोधिसत्व का जन्मस्थान है। वह इस देश के प्रधान मन्त्री का बड़ा पुत्र था। बचपन ही से चातुरी के चिह्न उसमें प्रकट होने लगे थे और ज्यों ज्यों उसकी अवस्था बढ़ती गई बढ़ते ही गये। जब वह युवावस्था को प्राप्त हुआ तब राजा और रानी ने कृपा करके उसको विवाह के लिए निमन्त्रण दिया। उसका चित्त पहले ही से दुखी हो रहा था इसलिए उस दिन और भी दुखी हुआ। संध्या के समय वह बुद्धदेव की एक प्रतिमा के सामने जाकर बैठ गया और बड़ी अधीनता से प्रार्थना करने लगा। उसके सत्य विश्वास पर दया करके देवताओं ने उसको उठाकर बहुत दूर पहुँचा दिया जहाँ उसका ढूढ़ने से भी पता नहीं लग सकता था। इस स्थान से कई सौ ली चलकर वह एक पहाड़ी संघाराम में पहुँचा और उसके भीतर बुद्धप्रतिमावाली कोठरी में जाकर बैठ गया। कुछ देर पीछे एक साधु ने आकर उस कोठरी का द्वार खोला और इसको भीतर बैठा देख कर उसको इसके ऊपर चोर होने का संदेह हुआ। उसने इसके आने का कारण इत्यादि पूछा जिस पर बोधिसत्व ने अपना

सब भेद कह सुनाया और उसका शिष्य होने के लिए उससे प्रार्थना की। सब साधु लोग इस आश्चर्यजनक घटना को सुनकर विस्मित हो गये और बड़े प्रेम से उसकी प्रार्थना को स्वीकार करके उसको उन लोगों ने शिष्य कर लिया। राजा ने चारों तरफ़ उसकी खोज के लिए मनुष्य दौड़ाये और जब उसको यह मालूम हुआ कि बोधिसत्व संसार का परित्याग करके बहुत दूर देश में चला गया है, और उसको देवताओं ने ले जाकर वहाँ पहुँचा दिया है, तब तो उसके ऊपर उसकी भक्ति दूनी हो गई और सदा के लिए वह उसका गुणग्राहक हो गया। धर्मपाल साधुओं के से वस्त्र धारण करने के समय से स्थिरचित्त होकर सदा ही विद्याध्ययन करता रहा। इसकी उत्तम प्रतिष्ठा आदि का वर्णन पहले आ चुका है।

नगर के दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक बड़ा संघाराम है जिसमें एक ही प्रकार के विद्वान, बुद्धिमान और प्रसिद्ध पुरुष निवास करते हैं। एक स्तूप भी कोई १०० फ़ीट ऊँचा अशोक का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर प्राचीन काल में निवास करके तथागत भगवान् ने धर्मोपदेश द्वारा विरोधियों को पराजित और देवता तथा मनुष्यों को शिष्य किया था।

यहाँ से ३००० ली के लगभग दक्षिण दिशा में जाकर हम 'मोलो क्युचश्र' प्रदेश में पहुँचे।

'मोलो क्युचश्र' (मालकूट[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ५,००० ली और राजधानी

[1] दूरी (३,००० ली) जो काञ्जीवरम् के दक्षिण में लिखी गई है, बहुत अधिक है। हुएन सांग ने जिन स्थानों का फ़ासला सुन सुनाकर

का ४० ली है। यहाँ नमक बहुत होता है इस कारण अन्य पार्थिव वस्तुओं की उपज अच्छी नहीं है।

*

लिखा है वे सब विश्वासयोग्य नहीं है, जैसे, उड़ीसा देश के 'चरित्र' स्थान से लंका तक का फासला बीस हज़ार ली ठीक नहीं है। यात्री की यात्रा का यह स्थल कठिनाइयों से भरा है। इस पुस्तक में Rymble 'hing' प्रयुक्त किया गया है जिससे विदित होता है कि यात्री मालकूट राज्य में स्वयं गया था। परन्तु 'Hwui-lih' पुस्तक से विदित होता है कि उसने केवल इस देश का नाम ही सुना था, वह गया नहीं था। उसका इरादा काञ्चीवरम् से सवार होकर लंका जाने का था। उसने साधुओं के मुख से जो इस देश से आये थे, यह सुना कि यहाँ का राजा 'बनमुगलान' मर गया और देश में अकाल है। मि० फर्गुसन नलोर को चोल की राजधानी मानकर (इस स्थान पर यह भी प्रकट कर देना उचित है कि इस देश की बाबत जो symble काम में लाये गये हैं वे Hwui-lih और Si-yu-ki दोनों पुस्तकों में उसी प्रकार समान हैं जिस प्रकार हुएन सांग की जीवनी का शब्द Djourya जिसको जुलियन ने प्रयोग किया है Si-yu-ki Tchoulya के समान है) Kinchipulo को नागपट्टनम् मानते हैं और इस प्रकार Hwui-lih के लेख से जो यह कठिनता उत्पन्न होती थी कि 'किंची' लंका के जलमार्ग में समुद्रतट पर है, वे दूर हो जाती हैं और नलोर से १,५०० या १,६०० ली की दूरी भी निकल आती है। परन्तु इससे तो और भी कठिनता बढ़ गई। अलावा इसके काञ्चीपुर काञ्चीवरम् ही ठीक निश्चय होता है ऐसा न माना जाय यह असम्भव है। M. V. de St. Martin हुइली (Hwui-lih) ग्रंथ पर विश्वास करके यही मानते हैं कि हुएन सांग काञ्चीपुर से आगे दक्षिण में नहीं गया। परन्तु विपरीत इसके Dr. Burnel की राय

निकटवर्ती टापुओं से सब प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ एकत्रित करके इसी स्थान पर लाई और ठीक ठाक की जाती हैं। प्रकृति बहुत गरम है और मनुष्यों का स्वरूप काला है। इन लोगों के स्वभाव में क्रोध और दृढ़ता विशेष है। कुछ लोग सत्य सिद्धान्तों के पालन करनेवाले हैं, अधिकतर विरुद्ध-धर्मावलम्बी हैं। ये लोग पढ़ने-लिखने की विशेष परवाह नहीं करते बल्कि पूर्णरूप से व्यापार ही में पड़े रहते हैं। इस

है कि हुएन सांग मालकूट से काञ्चीपुर को लौट आया था। (Ind. Ant., VII, p. 34) यह निश्चय है कि कोङ्कण जाने के लिए वह द्रविड़ से प्रस्थानित हुआ था इसलिए यह सिद्ध है कि वह दक्षिण में किञ्ची से आगे नहीं गया। ऐसी अवस्था में मलकूट, मलय पहाड़ और पोनरक का जो वृत्तान्त उसने दिया है वह सुना सुनाया है। मलकूट के विषय में डा० बर्नल सिद्ध करते हैं कि यह राज्य कावेरी नदी के डेल्टा में थोड़ा बहुत सम्मिलित था। इससे तो यह मानना पड़ेगा कि राजधानी कुम्भकोणम् अथवा आयूर के सन्निकट किसी स्थान पर थी, परन्तु हुएन सांग ने जो ३,००० ली लिखा है उसका हिसाब किस प्रकार किया जावे। काञ्चीवरम् से इस स्थान तक की दूरी १५० मील है जो अधिक से अधिक १,००० ली हो सकती है। कुम्भकोणम् का वृत्तान्त देखो Sewell, Lists of Antiq Remains in Madras, Vol. I, p. 274 डा० बरनल मलयकुरस मानकर यह कहते हैं कि कुम्भकोणम् का यही नाम सातवीं शताब्दी में प्रचलित था। चीनी-सम्पादक नोट देता है कि मलकूट चि-मो-लो भी कहा जाता था जिसको जुलियन साहब Tchimor और Tchimala रेनाद साहब मानते हैं। सेमुल बील साहब ने J. R. A. S., Vol. XV, p. 337 में 'चिमोलो' शब्द को 'कुमार' माना है।

देश में अनेक संघाराम थे परन्तु आज-कल सब बर्बाद हैं केवल दीवारें-मात्र अवशेष हैं, अनुयायी भी बहुत थोड़े हैं। कई सौ देव-मन्दिर और असंख्य विरोधी हैं, जिनमें अधिकतर निर्ग्रंथी लोग हैं।

इस नगर से उत्तर दिशा में थोड़ी दूर पर एक प्राचीन संघाराम है जिसके कमरे इत्यादि सब घास फूँस से जङ्गल हो रहे हैं, केवल दीवारें अवशेष हैं। इस संघाराम को अशोक के भाई महेन्द्र ने बनवाया था।

इसके पूर्व में एक स्तूप है जिसका निचला भाग भूमि में धँस गया है, केवल शिखर-मात्र बाक़ी है। इसको अशोक राजा ने बनवाया था। इस स्थान पर प्राचीन काल में तथागत ने उपदेश करके और अपने आध्यात्मिक चमत्कार को प्रदर्शित करके असंख्य पुरुषों को शिष्य किया था। इसी घटना का स्मारक-स्वरूप यह स्तूप बनाया गया था। बहुत वर्षों तक इसमें से आश्चर्य व्यापारों का प्रादुर्भाव होता रहा है, और कभी कभी लोगों की कामनाएँ भी पूरी होती रही हैं।

इस देश के दक्षिण में समुद्र के किनारे तक मलयाचल[1] है जो अपनी ऊँची चोटियों और करारों, तथा गहरी घाटियों

[1] यह पहाड़ समुद्र के किनारे पर है इसलिए या तो यह मलावार घाट होगा और या कोयमबटूर के दक्षिणी घाट होंगे। पुराणों में भी इसका नाम 'मलय' लिखा हुआ है (See Ind. Ant., Vol. XIII, p. 38; Sewell, op. cit., p. 252) 'मलायो' शब्द लंका के एक पहाड़ी ज़िले का भी नाम है जिसका केन्द्र-स्थान राम का पर्वत है Adam's Peak (Childers, Pali Dict.) तथा (J. R. A. S., N. S., Vol. XV, p. 336) कुछ भी हो, यदि समुद्र का निकटवर्ती 'मलय'

और वेगगामी पहाड़ी झरनों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर श्वेत चन्दन और चन्दनेव[1] वृक्षों की बहुतायत है। इन दोनों प्रकार के वृक्षों में कुछ भी भेद नहीं है। इनका भेद केवल गरमी के दिनों में किसी पहाड़ी के ऊपर जाने से और दूर से देखने से मालूम हो सकता है। चन्दन के पेड़ में प्राकृतिक शीतलता होने के कारण उन दिनों सर्प लिपटे रहते हैं, बस यही पहचान है। उन्हीं दिनों लोग उन वृक्षों को जिनमें सर्प लिपटे होते हैं तीरों से बेध देते हैं और शीतकाल में जब सर्प चले जाते हैं तब उन बाणविद्ध वृक्षों को खोज खोजकर काट लेते हैं[2]। उस वृक्ष का जिसमें से कर्पूर निकलता है, तन देवदारु वृक्ष के समान होता है, परन्तु पत्ती, फूल और फल में भेद है। जिस समय वृक्ष काटा जाता है और गीला होता है उस समय इसमें कुछ भी सुगंध नहीं होती, परन्तु जैसे ही जैसे इसकी लकड़ी सूखती जाती है वैसे ही वैसे वह चिटकती जाती है

ज़िला मलकूट-राज्य का एक भाग था तो यह राज्य कदापि कावेरी के डेल्टा के अन्तर्गत नहीं हो सकता बल्कि दक्षिणी समुद्र के तट तक फैला हुआ होना चाहिए। इस स्थान पर सेमुअल बील साहब यह भी लिखते हैं कि This would explain the alternative name of Chi-mo-lo (Numar) परन्तु इसका स्पष्टीकरण आपने ठीक तौर पर नहीं किया। 'मलय' शब्द का अर्थ 'पहाड़ी देश' है।

[1] वह वृक्ष जो चन्दन के समान होता है।

[2] Compare Julien, Note 2 (in loco) और Burnouf, Introd. to Buddhism. p 620. दक्षिणी घाटों की श्रेणी के 'मलय' भाग का नाम 'चन्दन गिरि' भी है क्योंकि यहां पर चन्दन बहुत होता है।

और बत्तियाँ सी जमती जाती हैं जिनका स्वरूप अभ्रक के समान और रङ्ग बर्फ़ का सा होता है। चीनी-भाषा में इसको 'ल्याङ्ग नाव हिआङ्ग' (जिसका अर्थ 'सर्प के दिमाग़ की सुगंधि है') कहते हैं।

मलयगिरि के पूर्व पोतलक[1] पहाड़ है। इस पहाड़ के दर्रे बड़े भयानक हैं। इसके करारे और घाटियाँ ऊँची नीची हैं। पहाड़ की चोटी पर एक झील है जिसका जल दर्पण के समान निर्मल है। एक विवर में से एक बड़ी नदी बहती है जो कोई बीस फेरों में पहाड़ को लपेटती हुई दक्षिणी समुद्र में जाकर मिल गई है। झील के निकट ही देवताओं की चट्टानी गुफा है। इस स्थान पर अवलोकितेश्वर किसी स्थान से किसी स्थान को आते जाते हुए विश्राम किया करते हैं। जिन लोगों को बोधिसत्व के दर्शनों की इच्छा होती है वही लोग अपनी जान की परवाह न करके पहाड़ पर चढ़ते हैं। मार्ग में जल को नाँघते हुए भय और कष्टों का सामना करते हुए बहुत ही थोड़े से साहसी पुरुष ऐसे होते हैं जो चोटी तक पहुँचते हैं। इसके अतिरिक्त उन लोगों के भी, जो पहाड़ के नीचे ही रह कर बहुत भक्ति के साथ प्रार्थना करते हैं और दर्शनों के अभिलाषी होते हैं; सामने कभी कभी अवलोकितेश्वर ईश्वर देव के स्वरूप में और कभी कभी योगी (पाशुपत) के स्वरूप में प्रकट होकर लाभदायक शब्दों में उपदेश देते हैं जिनको सुनकर वे लोग अपनी अपनी कामना के अनुसार वाँछित फल को प्राप्त करते हैं।

[1] देखो J. R. A. S., N. S., Vol. XV, p. 339 जहाँ इस पहाड़ का स्थानादि निश्चय किया गया है।

इस पहाड़ से उत्तर-पूर्व में समुद्र के किनारे पर [1] एक नगर है [2] जहाँ से लोग दक्षिण-सागर और लङ्का को जाते हैं। इसी बन्दर से जहाज़ पर सवार होकर और दक्षिण-पूर्व में यात्रा करते हुए लगभग ३,००० ली की दूरी पर हम सिंहल देश में आये।

इति दसवाँ अध्याय

---

[1] इस स्थान पर "समुद्रीय विभाग" ऐसा भी अर्थ हो सकता है। अर्थात् वह स्थान जहां पर समुद्र पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभाजित हो जाता है।

[2] यहाँ पर किसी नगर का नाम नहीं लिखा हुआ है केवल यही लिखा है कि वह स्थान जहां से लोग लंका को जाते हैं। मि० जुलियन ने अपनी ओर से कुछ शब्दों को घुसेड़ दिया है जिससे डाक्टर बरनल तथा अन्य लोग धोखा खा गये हैं। जुलियम साहब ने लिख दिया कि "मलकूट से उत्तर-पूर्व दिशा में जाने से समुद्र के किनारे एक नगर (चरित्रपुर) मिलता है।" इसी बात को लेकर डाक्टर बर्नेल ने बहुत कुछ ऊहापोह के साथ कावेरी पट्टनम् को चरित्रपुर मान लिया (Ind. Ant., Vol. VII, p. 40) परन्तु मूल पुस्तक में चरित्रपुर का नाम भी नहीं है इस कारण डाक्टर साहब का जो कुछ विचार इस स्थान के विषय में हुआ है वह मूल पुस्तक के विरुद्ध है। विपरीत इसके, इट्सिङ्ग (I-tsing) साहब लिखते हैं कि क्वेदा (Quedah) से पश्चिम की ओर तीस दिन की यात्रा करके 'नागवदन' को पहुँचते हैं जहाँ से लंका के लिए दो दिन का मार्ग है (J. R. A. S., N. S., Vol. XIII, p. 562) इससे अनुमान होता है कि कदाचित् वह नगर जिसका नाम हुएन सांग ने नहीं लिखा है नागपट्टनम् (नागवदन) हो।

ग्यारहवाँ अध्याय

इस अध्याय में इन तेईस राज्यों का वर्णन है :—(१) साङ्ग कियालो (२) काङ्ग किननपुलो (३) मोहो लच अ (४) पोलुकइचे पो (५) मोलपो (६) ओ च अ ली (७) क-इ-च-अ (८) फ-ल-पी (९) ओनन टोपुलो (१०) सुल च अ (११) कियो चे लो (१२) उशेयनना (१३) चिकिटो (१४) मोही शीफालोपुलो (१५) सिगटु (१६) मुलो सन प उलू (१७) पोफाटो (१८) ओटिन पओ चिलो (१९) लङ्गकीलो (२०) पोलस्से (२१) पिटो शिलो (२२) ओफनच (२३) फलन।

साङ्ग कियालो (सिंहल[1])

सिंहल राज्य का क्षेत्रफल लगभग ७,००० ली[2] और राजधानी का क्षेत्रफल ४० ली है। प्रकृति गरम है, भूमि

[1] सिंहल को हुएन सांग ने स्वयं नहीं देखा। इसका कारण अन्तिम अध्याय में दिया गया है। परन्तु फाहियान दो वर्ष तक इस टापू में रहा था। कर्नल यूल सिंहल के नामकरण में शंका करते हैं कि इसको सीलोन (Ceylon) कहें या सेइलन (Seilan) (Notes on the Sinhalese Language.) देखो Ind. Ant., Vol. XIII, p. 33

[2] बहुत सी रिपोर्टें जो इस देश की बाबत निकली हैं उनमें लम्बी चौड़ी हांकनेवाले टेनेन्ट (Tennent's Ceylon, cap. I) और यूल साहब की भी रिपोर्टें (Vol. II, p. 254, n. 1)

उपजाऊ और उत्तम हैं तथा नियमानुसार जोती बोई जाती हैं। फल और फूलों की उपज अधिकता के साथ होती है। जन-संख्या अपरिमित और लोग जमींदारी आदि के कारण अच्छे अमीर हैं। मनुष्यों का डीलडौल ठिगना होता है, परन्तु स्वभाव के क्रूर और रङ्ग के काले-कलूटे होते हैं[1] ये लोग विद्या से प्रेम और धार्मिक कृत्यों का आदर करते हैं, ये लोग जिस प्रकार धार्मिक कृत्यों का चित्त से सम्मान करते हैं उसी प्रकार उनके सम्पादन करने में भी लगे रहते हैं। इस देश का वास्तविक नाम रत्नद्वीप[2] है, क्योंकि बहुमूल्य रत्नादि यहाँ पर पाये जाते हैं। पहले इस स्थान पर दुष्टात्माओं[3] का निवास था।

हैं। इस टापू का क्षेत्रफल वास्तव में ७०० मील के भीतर ही है, ऐसी अवस्था में यदि हुएन सांग का लिखा हुआ क्षेत्रफल ठीक माना जावे तो १० ली का एक मील मानना पड़ेगा। फाहियान का दिया हुआ क्षेत्रफल क़रीब क़रीब ठीक है, परन्तु उसमें भी चौड़ाई के स्थान पर लम्बाई माननी पड़ेगी।

[1] यह बात तामिल लोगों को सूचित करती है, क्योंकि सिंहल निवासी ऊँचे डीलडौल के और सुन्दर स्वरूप के होते हैं।

[2] नवीं शताब्दी में अरब लोग भी इसको जवाहिरात का टापू (रत्नद्वीप) कहते थे (Yule, op. cit. p. 255) जावावालों में बहुमूल्य पत्थरों का नाम 'सेल' है, और इसी लिए कुछ लोगों का विचार है कि इसी शब्द से 'सैलन' अथवा सीलोन की उत्पत्ति हुई है। अस्तु, जो कुछ हो, यह द्वीप बहुत प्राचीन है और इसका नाम रत्नद्वीप है।

[3] इस स्थान पर हुएन सांग ने जिस प्रकार के शब्द लिखे हैं उनके भाव से यही झलक निकलती है कि रत्नादि से भरपूर होने के कारण

प्राचीन काल में भारत के दक्षिणी प्रान्त में एक राजा था जिसकी कन्या की सगाई निकटवर्ती देश में हो चुकी थी। किसी शुभ लग्न में अपनी ससुराल में जाकर और सब लोगों से भेट मुलाकात करके वह अपने पिता के यहाँ लौटी आरही थी कि मार्ग में एक सिंह से उसकी भेट होगई। जितने रक्षक आदि थे सब भयभीत होकर और उसको अकेली छोड़कर भागे। वह बेचारी अकेली रथ पर पड़ी हुई मृत्यु का आसरा देखने लगी। सिंहराज उस अबला को अपनी पीठ पर लाद कर पहाड़ की निर्जन घाटी में लेगया[1]।

यहां पर दुष्टात्माओं (भूत प्रेत आदि) का निवास था। यहा के राक्षस रामायण-द्वारा प्रसिद्ध ही हैं।

[1] इस कथानक के लिए देखो (Ind. Ant. Vol. XIII, pp. 33 ff; द्वीपवंश अ० ६; Lassen, Ind. Alt., Vol. I, p. 241 n.; Burnouf, Introd., pp 198 f कदाचित यह स्त्री-हरण समुद्री चढ़ाई के समय में हुआ था। अर्थात् कुछ उत्तरी जातियों ने भारतसिंह नाम से आक्रमण किया था। देखो Fo-sho V. 1788 तीन घटनायें जो परस्पर उलझी पुलझी अथवा कदाचित् सम्मिलित है और जो भारतवर्ष में बुद्धदेव के समय में हुई थीं—(१) पश्चि-मोत्तर भारत पर व्रिज्जी लोगों की चढ़ाई, (२) उड़ीसा में यवनों का आक्रमण, (३) लङ्का में विजय की चढ़ाई और लड़ाई। इन तीनों घटनाओं का समान सम्बन्ध हो सकता है। व्रिज्जी लोगों की पश्चि-मोत्तर भाग पर चढ़ाई होने से, मध्यवर्ती जातियां उड़ीसा पर, और उड़ीसा से कुछ लोग नवीन विजय के लिए समुद्रतट तक पहुँचे। ठीक इसी प्रकार की घटनायें कुछ शताब्दी पीछे पश्चिम में भी हुई थीं। देखो Fergusson, Cane Temples of India, p. 58;

और हरिणों को मार कर तथा समयानुसार फलों को लाकर उसका पालन करने लगा। कुछ समय के उपरान्त उस स्त्री से एक लड़की और एक लड़के का जन्म हुआ। सूरत शकल में वे लोग मनुष्यों ही के समान थे परन्तु स्वभाव इनका और जङ्गली पशुओं के तुल्य था।

कुछ दिनों में जवान हो जाने पर वह लड़का इतना अधिक शक्तिशाली हुआ कि कोई भी वनैला पशु उससे नहीं जीत पाता था। जिस समय वह मनुष्यत्व को प्राप्त हुआ[१] उसमें मनुष्यों का सा ज्ञान भी आगया और उसने अपनी माता से पूछा, "मेरा पिता जङ्गली पशु है और माता मनुष्य-जातीय है, ऐसी दशा में मैं क्या कहा जाऊँगा? एक बात और भी आश्चर्य की है कि तुम दोनों जाति-भेद से बिलकुल अलग हो, तुम्हारा समागम किस प्रकार हुआ?" उस समय माता ने सम्पूर्ण वृत्तान्त अपने पुत्र से कह सुनाया। उसके पुत्र ने उत्तर में कहा, "मनुष्य और पशु स्वभावतः भिन्न-जातीय हैं इसलिए हमको शीघ्र भाग चलना चाहिए"। माता ने कहा, "मैं तो कभी की भाग गई होती परन्तु इसका कोई उपाय मेरे पास न था"। उस दिन से पुत्र इस कठिनाई से निकलने के लिए उस समय सदा घर ही पर रहता था जब कि उसका पिता सिंह, बाहर घूमने चला जाता था। एक दिन जब सिंह बाहर गया हुआ था इसने मौका ठीक समझ कर अपनी माता और

Beal, Abstract of Four Lectures, Introduction IX, X, XI इनके अतिरिक्त 'गणेशगुम्फ' और 'रानी का नूर' नामक गुफाओं के लेख भी उल्लेखनीय हैं। Fergusson, op. cit. Pl. I

[१] अर्थात् जब उसकी अवस्था २० साल की हुई।

बहिन को एक गाँव में ले आया। उस समय माता ने कहा। "तुम दोनों को उचित है कि पुरानी बात को गुप्त ही रक्खो, यदि लोग सिंह के साथ हम लोगों के सम्बन्ध का हाल जान जावेंगे तो हमारा बड़ा तिरस्कार करेंगे।"

इस प्रकार समझा कर वह स्त्री उनके साथ अपने पिता के गाँव में पहुँची, परन्तु उसके परिवार के सब लोग बहुत पहले से ही मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे, कोई भी शेष न था। गाँव में पहुँचने पर लोगों ने पूछा. "तुम लोग किस देश से आते हो?" उसने उत्तर दिया, "मैं इसी देश की रहनेवाली हूँ, बहुत अद्भुत अद्भुत और नवीन देशों में भ्रमण करते हुए हम माता पुत्र फिर अपने देश में आये हैं।"

गाँव के लोगों ने उन पर दया और प्रेम करके आवश्यक भोजनादि से उनका सत्कार किया। इधर सिंह राजा अपने स्थान पर आया और वहाँ पर किसी को न पाकर पुत्र और कन्या के प्रेम में विकल होकर पागल हो गया। पहाड़ों और घाटियों में ढूँढ़ते हुए नगर और ग्रामों में भी दौड़ने लगा। मारे व्याकुलता और दुख के वह चारों ओर चिल्लाता फिरता और क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्यों क्या सम्पूर्ण प्राणी-मात्र का संहार करता था। यहाँ तक कि नगरनिवासी उसको पकड़ने और मार डालने पर कटिबद्ध हुए। वे शंख और दुंदुभी बजाते हुए. धनुष-बाण और भाले लेकर उनके झुंड के झुंड दौड़ पड़े परन्तु उन सबको भयभीत होकर भागते ही बना। राजा ने, मनुष्यों की साहसहीनता का प्रमाण पाकर शिकारियों को उसके फाँसने की आज्ञा दी। वह स्वयं भी चतुरङ्गिणी सेना, जिसकी संख्या दस हज़ार थी, लेकर जंगल और झाड़ियों को नष्ट करता हुआ पहाड़ों और घाटियों को

(उसकी खोज में) रौंदने लगा। परन्तु सिंह की भयानक गरज सुनकर कोई भी मनुष्य नहीं ठहर सका, सबके सब भयाकुल होकर भाग खड़े हुए।

इस प्रकार विफल होने पर राजा ने फिर घोषणा की कि जो कोई इस सिंह को पकड़ कर अथवा मार कर देश को इस विपत्ति से बचा देगा उसको बड़ी भारी प्रतिष्ठा के साथ भरपूर इनाम दिया जावेगा।

सिंहपुत्र ने इस घोषणा को सुनकर अपनी माता से कहा, "मैं भूख और शीत से बहुत कष्ट पाता हूँ इसलिए मैं अवश्य राजा की आज्ञा का पालन करूँगा। मुझको कदाचित इसी उपाय से समुचित धन मिल जावे।"

माता ने कहा, "तुमको इस प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यद्यपि वह पशु है तो भी तुम्हारा पिता है। क्या आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमको अधम बनना उचित है? यह बात युक्ति और न्यायसङ्गत नहीं है इसलिए तुमको नीच और हिंसक विचार त्याग देना चाहिए।"

पुत्र ने उत्तर दिया, "मनुष्य और पशु प्रकृति से ही भिन्न हैं, ऐसी अवस्था में स्वत्व के विचार को क्यों स्थान देना चाहिए? इसलिए ऐसी धारणा मेरे मार्ग में बाधक न होनी चाहिए।" यह कह कर और एक छुरी को अपनी आस्तीन में छिपा कर राजाज्ञा की पूर्ति के लिए वह प्रस्थानित हो गया। इस समाचार को पाकर एक हज़ार पैदल और दस हज़ार अश्वारोही उसके साथ हो लिये। सिंह वन में छिपा हुआ पड़ा था, किसी की भी हिम्मत उस तक जाने की नहीं पड़ती थी। पुत्र उसकी तरफ़ बढ़ा और पिता, पुत्रप्रेम में विह्वल होकर प्यार के साथ भूमि को कुरेदता हुआ उसकी ओर

उठ दौड़ा क्योंकि उसको जो कुछ पुरानी घृणा थी सब जाती रही थी. पुत्र ने उसको निकट पाकर अपनी छुरी उसकी अँतड़ियों में घुसेड़ दी परन्तु वह अब भी अपने क्रोध को भुलाये हुए उसके साथ प्रेम ही करता रहा। यहाँ तक कि उसका पेट फट गया और वह तड़प तड़प कर[1] मर गया।

राजा ने उससे पूछा. "हे विलक्षण व्यापार साधन करनेवाले! आप कौन हैं? एक ओर तो इनाम के लोभ में फँसा हुआ और दूसरी ओर इस भय से कि यदि कोई बात छिपा डालूँगा तो दण्डित हूँगा उसने आदि से अन्त तक का सब हाल रत्ती रत्ती कह सुनाया। राजा ने कहा. "हे नीच! जब तूने अपने बाप को मार डाला, तब उन लोगों के साथ तू क्या न कर बैठेगा जिनसे तेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है? तूने मेरी प्रजा को एक ऐसे पशु से बचाया है जिसका दमन करना कठिन था, और जिसका क्रोध सहज ही में विकराल हो सकता था इसलिए तेरी योग्यता वास्तव में अनुपम है; परन्तु अपने ही पिता को मारना यह महापाप है। इसलिए मैं तुम्हारे उपकार का पुरस्कार तो दूँगा, परन्तु साथ ही तुमको भी मेरा देश छोड़ देना होगा, यही तुम्हारे अपराध का दण्ड है। ऐसा करने से देश का कानून भी भंग न होगा और मेरा वचन भी बना रहेगा।"

[1] अजण्टा की गुफाओं के चित्रों से, जिनका का वर्णन Mrs. Speir's Life in Ancient India, pp. 300 ff में आया है, सिंह और विजय की कथा का आभास प्रकट होता है। बर्गेस साहब की Cave Temple. etc., pp. 312 f. भी देखने योग्य है।

यह कह कर उसने दो नावें सब प्रकार के भोजन आदि की सामग्री से सुसज्जित कराईं। माता को तो देश ही में रहने दिया और सब प्रकार की आवश्यक वस्तुओं से उसका सत्कार किया परन्तु पुत्र और कन्या को अलग अलग नावों में बैठा कर लहरों और तूफ़ान को सौंप दिया। वह नाव जिस पर पुत्र था समुद्र में बहती बहती रत्नद्वीप में पहुँची। इस देश में रत्नों की बहुतायत देखकर वह उतर पड़ा और यहीं बस गया।

इसके पश्चात् व्यापारी लोग रत्नों की खोज में बहुतायत के साथ इस टापू में आने लगे। पुत्र उनमें से मुखिया मुखिया व्यापारियों को मार कर और उनके स्त्री बच्चों को छीन कर अपना समुदाय बढ़ाने लगा। इन सबके पुत्र-पौत्रादि होने से और भी संख्या बढ़ गई। तब सबने मिल कर राजा और मंत्री बनाकर सब लोगों की जाति आदि का निर्णय कर दिया। उन लोगों ने नगर और क़स्बे बसा कर सम्पूर्ण देश पर अपना अधिकार जमाया। इन लोगों का पूर्व पुरुष सिंह का पकड़नेवाला था इस कारण इस देश का नाम (उसी के नाम के अनुसार) सिंहल हुआ[1]।

वह नाव जिसमें लड़की थी समुद्र में लहराती हुई ईरान पहुँची जहाँ पर पश्चिमी दैत्यों का निवास था। उन्होंने उस स्त्री से समागम करके स्त्री-संतति नाम की एक जाति को उत्पन्न किया, इसी कारण से इस देश का नाम अब तक 'पश्चिमी-स्त्रियाँ' प्रसिद्ध है।

[1] क्या 'सिंहल' का अर्थ 'सिंह पकड़ना' अथवा 'ल' का अर्थ 'पकड़ना' है? द्वीपवंश में सिंह के पुत्र "विजय" का नाम लिखा है।

सिंहल वासियों का डीलडौल छोटा और उनका रङ्ग काला होता है। उनकी ठाढ़ी चौड़ी और मस्तक ऊँचा होता है। प्रकृति से ही यहाँ के लोग भयानक और क्रोधी होते हैं। कोई भी क्रूरता का काम हो इनको करते हुए तनिक भी आगा पीछा नहीं होता। यह सब इनका स्वभाव सिंहवंशीय होने के कारण है। इनकी सारी कथा यही है कि ये लोग बड़े बहादुर और साहसी होते हैं।

बुद्धधर्म के इतिहास से पता चलता है कि रत्नद्वीप के लौहनगर में राक्षसी स्त्रियाँ रहती थीं। इस नगर के टीले पर दो झंडे गड़े हुए थे जिनसे शकुन अशकुन का पता लगता था, अर्थात् जो कुछ घटना होनेवाली होती थी उसका निदर्शन ये झंडे उस समय कर देते थे जिस समय सौदागर लोग टापू के निकट आते थे। शुभ शकुन देखकर वे राक्षसियाँ मनोहर स्वरूप धारण करके सुन्दर सुन्दर पुष्प और सुगंधित वस्तुएँ लिये हुए गाती बजाती उन लोगों से मिलने जाती थीं और बड़े प्रेम से उनको लौहनगर में बुला लाती थीं। इसके उपरान्त सब प्रकार के आमोद-प्रमोद से सन्तुष्ट करते हुए उन लोगों को लोहे के कारागार में बन्द कर देती थीं और उनके विश्राम काल में पहुँच कर उनको भक्षण कर लेती थीं।

उन दिनों एक बड़ा भारी व्यापारी जिसका नाम सिंह था जम्बूद्वीप में रहा करता था। उसके पुत्र का नाम सिंहल था। पिता के वृद्ध हो जाने पर यही (सिंहल) अपने परिवार का मुखिया हुआ। एक दिन यह अपने ५०० साथी व्यापारियों को लिये रत्नों की खोज में आँधी-तूफ़ान और समुद्र की तुङ्ग-तरङ्गों का कष्ट उठाता हुआ रत्नद्वीप में पहुँचा।

राक्षसियाँ शुभ शकुन देखकर सुगंधित पुष्प और अन्य वस्तुएँ लेकर गाती-बजाती हुई उन लोगों के निकट गईं और अपने लौहनगर में ले आईं। सिंहल का सम्बन्ध राक्षसी रानी के साथ हुआ तथा दूसरे व्यापारियों ने भी शेष राक्षसियों में से एक एक अपने लिए छाँट ली। यथासमय इन सबसे एक एक पुत्र उत्पन्न हो जाने पर वे राक्षसियाँ अपने अपने पुराने सहवासियों से असन्तुष्ट हो गईं और उन सबको लोहे के कारागार में बन्द करके नवीन व्यापारियों को वरण करने की चिन्ता करने लगीं।

उसी समय सिंहल को रात्रि में एक ऐसा स्वप्न हुआ जिसके दुष्परिणाम का विचार करके वह विकल हो उठा और इस आपदा से बचने का विचार करता हुआ लौहकारागार तक पहुँचा। वहाँ उसको ऐसे वेदनात्मक शब्द सुनाई पड़े जिनसे उसकी विकलता और भी बढ़ गई। वह एक बड़े भारी वृक्ष पर चढ़ गया और उन आर्तनाद करनेवाले पुरुषों से पूछा, "हे दुखी पुरुषो! तुम कौन हो और क्यों इस प्रकार चिल्ला रहे हो?" उन लोगों ने उत्तर दिया, "क्या तुमको अब भी नहीं मालूम हुआ? वे स्त्रियाँ जो इस देश में निवास करती हैं राक्षसी हैं। पहले उन्होंने हमको गाते-बजाते हुए लाकर नगर में रक्खा, परन्तु जब तुम आये तब हमको इस क़ैदखाने में बन्द कर दिया और अब नित्य आकर वे हमारा मांस खाती हैं। इस समय हम लोग आधे खा डाले गये हैं। तुम्हारी भी बारी शीघ्र आनेवाली है।"

सिंहल ने पूछा, "कोई ऐसी तदबीर है जिससे हम इस विपद से बच सकें?" उन्होंने उत्तर दिया, "हम लोगों ने सुना है कि समुद्र के किनारे कोई घोड़ा रहता है जो देवताओं

के समान है, और जो कोई उससे पूर्ण भक्ति के साथ प्रार्थना करता है उसको वह अपनी पीठ पर चढ़ाकर समुद्र के पार पहुँचा देता है[1] ।"

सिंहल इसको सुनकर अपने साथियों के पास पहुँचा और चुपचाप सब कथा कहकर उन लोगों के साथ समुद्र के तट पर आया। उन लोगों की उत्कट प्रार्थना से प्रसन्न होकर वह घोड़ा प्रकट हुआ और उनसे कहने लगा, "तुम सब लोग मेरे रोएँदार शरीर को पकड़ लो। मैं तुम सबको भयानक मार्ग से निकाल कर समुद्र के पार पहुँचा दूँगा और तुम्हारे सुन्दर भवन जम्बूद्वीप तक पहुँचा आऊँगा। शर्त यही है कि पीछे फिर कर न देखना।"

व्यापारी लोग उसकी आज्ञानुसार करने को तत्पर हो गये। उन लोगों ने घोड़े के बाल पकड़ लिये। वह भी उन सबको लिये हुए आकाश में चढ़कर मेघों को नाँघता हुआ समुद्र के उस पार पहुँच गया।

राक्षसियों को जिस समय यह अवगत हुआ कि उनके पति भाग गये तो वे बड़े अचम्भे में आकर एक दूसरी से पूछने लगीं कि सबके सब कहाँ गये। फिर अपने अपने बच्चों को लिये हुए इधर-उधर घूम-घूम कर ढूँढ़ने लगीं। उस समय उनको विदित हुआ कि वे लोग अभी किनारे के पार

[1] 'अभिनिष्कर मनसूत्र' में घोड़े को केशी लिखा है (Romantic Legend, loc. cit.) कदाचित् इस घोड़े से तात्पर्य प्राकृतिक परिवर्तन से है, जिसकी शुभ सहायता से व्यापारी लोग यात्रा करते हैं (See Note in the Romantic Legend) अवलोकितेश्वर भी प्रायः 'सफ़ेद घोड़े' के नाम से सम्बोधन किया जाता है।

गये हैं, इसलिए सबकी सब उड़ती हुईं उनके पीछे दौड़ीं। एक घंटा भी न बीतने पाया था कि उन्होंने उन लोगों को देख लिया, और एक आँख से आँसू और दूसरी आँख से प्रसन्नता प्रदर्शित करती हुईं उनके निकट पहुँचीं। और अपने शोक को दबाकर कहा, "जब पहले-पहल हमारी भेट तुम लोगों से हुई थी तब हमने अपना अहोभाग्य माना था। हमने तुम लोगों को ले जाकर अपने भवन में रक्खा और बहुत दिनों तक प्रेमपूर्वक और सब प्रकार से तुम्हारी सेवा की। परन्तु उसके पलटे में तुम लोगों ने हमको वियोग देकर अपनी स्त्री और सन्तति को अनाथ कर दिया। इस प्रकार का कष्ट जो हम भुगत रही हैं कोई भी सहन करने में समर्थ नहीं हो सकता। हमारी प्रार्थना है कि अब अधिक वियोग-दुःख हमको न दीजिए और हमारे साथ नगर को लौट चलिए।"

परन्तु व्यापारी लोगों के चित्त में लौटने की इच्छा न हुई। राक्षसियाँ, यह देखकर कि हमारे वचनों का कुछ प्रभाव नहीं हुआ, बड़े हाव-भाव से उन लोगों पर माया फैलाने लगीं, और ऐसा कुछ ढंग प्रदर्शित किया कि व्यापारी लोग कामासक्त होगये, और इस वजह से इन लोगों की जो कुछ प्रतिज्ञा थी वह जाती रही। यहाँ तक कि कुछ देर बाद उन राक्षसियों के साथ चलने तक के लिए उद्यत हो गये। स्त्रियाँ परस्पर बधाई देकर और प्रसन्नता के साथ अपने अपने पुरुषों के गलबाहीं डालकर साथ लिये हुए चली गईं।

परन्तु सिंहल की बुद्धि इस समय भी स्थिर रही। उसके विचार में लेशमात्र भी अन्तर नहीं आया इसलिए वह समुद्र को पार करके भावी विपत्ति से बच गया।

केवल राक्षसी रानी के अकेली लौट आने पर दूसरी स्त्रियों ने उसको फटकारा। उन्होंने कहा, "तुम अवश्य बुद्धि और चातुरी से रहित हो, तभी तो तुम्हारे पति ने तुमको छोड़ दिया है। तुम्हारी ऐसी मूर्ख और अयोग्य स्त्री को इस देश में मुँह न दिखाना चाहिए।" इस बात को सुनकर राक्षसी रानी अपने पुत्र को लेकर उड़ती हुई सिंहल के पीछे दौड़ी। उसने निकट पहुँच कर सब प्रकार का प्रेम, हावभाव और कटाक्ष प्रदर्शित किया परन्तु सिंहल ने अपने मुख से कुछ मंत्रों का उच्चारण करने के उपरान्त हाथ में तलवार लेकर घुमाते हुए कहा, "तू राक्षसी है और मैं मनुष्य हूँ; मनुष्यों और राक्षसों की जाति में बड़ा भेद है; इन दोनों में एकता नहीं हो सकती; यदि तुम और अधिक प्रार्थना करके मुझको कष्ट दोगी तो मैं तुम्हारा प्राण ले लूँगा।"

राक्षसी रानी यह सोच कर कि अधिक वादानुवाद करना व्यर्थ है, वायु में चढ़ कर वहाँ से अन्तर्धान हो गई और सिंहल के घर पर पहुँच कर उसके पिता से कहा, "मैं एक राजा की पुत्री हूँ और अमुक देश की रहनेवाली हूँ। सिंहल ने मुझको अपनी स्त्री बना लिया था और उसके द्वारा मेरे गर्भ से एक पुत्र भी उत्पन्न हो चुका है। रत्न और अन्य वस्तु लेकर हम अपने स्वामी के देश को लौट रहे थे कि जहाज़ तूफ़ान के फेर में पड़कर समुद्र में डूब गया, केवल मैं, मेरा बच्चा और सिंहल यही तीन व्यक्ति बच गये। बहुत सी नदियाँ और पहाड़ों को पार करने के दुःख और भूख इत्यादि से विकल होने के कारण एक दिन मेरे मुख से कुछ कटु शब्द निकल गये जिनसे मेरा पति रुष्ट हो गया। उसने मेरा साथ छोड़ दिया और इतना अधिक कोप प्रकट

किया कि मानों वह कोई राक्षस हो[1] यदि मैं अपने देश को लौटने का प्रयत्न करती, तो वह दूर बहुत था; यदि मैं वहीं ठहर जाती, तो एक बेजाने देश में अकेली मारी मारी फिरती और ठोकरें खाती चाहे मैं ठहर जाती और चाहे लौट जाती मेरी रक्षा कहीं नहीं थी। इसी लिए मैंने आपके चरणों में आकर सब हाल निवेदन करने का साहस किया है।

सिंह ने कहा, "यदि तुम्हारा कहना सत्य है तो तुमने बहुत उचित किया।" इसके उपरान्त वह उसके मकान में रहने लगी। कुछ दिनों के बाद सिंहल भी आया। उसके पिता ने उससे पूछा, "यह क्या बात है कि तुमने धन-रत्नादि को सब कुछ समझा और अपनी स्त्री बच्चे को कुछ नहीं?" सिंहल ने उत्तर दिया, "यह राक्षसी है।" इसके उपरान्त उसने आदि से अन्त तक सम्पूर्ण इतिहास अपने माता-पिता से कह सुनाया। सम्पूर्ण वृत्तान्त को सुनकर उसके सम्बन्धी लोग भी रुष्ट हो गये और उस राक्षसी को अपने घर से खदेड़ दिया। राक्षसी ने जाकर राजा से अपना दुखड़ा रो सुनाया जिस पर राजा ने सिंहल को दण्ड देना चाहा, परन्तु सिंहल ने समझाया, "राक्षसियों को माया खूब आती है, ये बड़ी धोखेबाज़ होती हैं।"

परन्तु राजा ने उसके वचनों को असत्य समझ कर और मन ही मन उसके स्वरूप पर मोहित होकर सिंहल से कहा, "चूँकि तुमने निश्चित रूप से इस स्त्री का परित्याग कर दिया है इसलिए मैं इसको अपने महल में रखकर इसकी

[1] अथवा, यह भी अर्थ हो सकता है कि "जैसे मैं कोई राक्षसी हूँ।" जुलियन साहब ने यही अनुवाद किया है।

रक्षा करूँगा।" सिंहल ने उत्तर दिया, "मुझको भय है कि यह आपको अवश्य हानि पहुँचावेगी, क्योंकि राक्षस लोग केवल मांस और रुधिर ही के भक्षण-पान करनेवाले होते हैं।"

परन्तु राजा ने सिंहल की बात सुनी अनसुनी कर दी और उसी क्षण उसको अपनी स्त्री बना लिया। उसी दिन अर्द्धनिशा में वह उड़कर रत्नद्वीप में पहुँची और अपनी ५०० राक्षसियों को लेकर फिर लौट आई। राजा के भवन में पहुँच कर उन लोगों ने अपने मारण-मन्त्र का प्रयोग करके सब जीवधारियों को मार डाला और उनके मांस तथा रक्त को भरपेट भक्षण पान करके जो कुछ बच रहा उसको भी उठा ले गईं। और अपने देश रत्नद्वीप को लौट गईं।

दूसरे दिन सवेरे सब मन्त्री लोग राजा के द्वार पर आकर इकट्ठा होगये परन्तु उन लोगों ने फाटक को बन्द पाया। उस फाटक को खोलने में वे लोग असमर्थ थे। थोड़ी देर तक राह देखने और पुकारा पुकारी करने पर भी भीतर से किसी व्यक्ति का शब्द न सुनकर उन लोगों ने फाटक को तोड़ डाला और भीतर घुस गये। महल में पहुँच कर उन लोगा ने एक भी जीवित प्राणी नहीं पाया; पाया क्या केवल खाई खुतरी हड्डियाँ। कर्मचारी लोग आश्चर्य से एक दूसरे का मुँह तकने लगे और व्याकुलता से ज़ोर ज़ोर से विलाप करने लगे। वे लोग इस दुर्घटना का कुछ भी कारण न समझ सके। अन्त में सिंहल ने आकर आदि से अन्त तक सब हाल कह सुनाया तब जाकर उन लोगों को पता लगा कि यह दुर्दशा क्योंकर हुई।

इस समय मन्त्रियों, भिन्न भिन्न कर्मचारियों, और वृद्ध पुरुषों को यह चिन्ता हुई कि अब राजसिंहासन पर किसे

बिठलाया जाय। सब लोग सिंहल ही की ओर देखने लगे क्योंकि उन सबमें यही सबसे अधिक ज्ञानी और धार्मिक था। उन लोगों ने परस्पर सलाह करके कहा, "राजा का चुनना सहज काम नहीं है; उसका तपस्वी और ज्ञानी होना जितना आवश्यक है उतना ही दूरदर्शी होना भी उचित है। यदि वह धर्मात्मा और ज्ञानी नहीं है तो उसकी कीर्ति न होगी। यदि उसमें दूरदर्शिता नहीं है तो वह राज्य-सम्बन्धी कार्यों को सुचारु रूप से किस प्रकार कर सकेगा? इस समय सिंहल ही ऐसा व्यक्ति मालूम होता है। उसको स्वप्न में ही सम्पूर्ण विपत्ति का आभास मिल गया था और अपने तप से वह देवस्वरूप अश्व का दर्शन कर सका था। उसने राजा से भक्तिपूर्वक सब बात निवेदन भी कर दी थी। यह केवल उसकी बुद्धिमत्ता ही का फल है कि वह बच गया। इसलिए उसी को राजा बनाना चाहिए।"

इस सम्मति को सुनकर लोगों ने उसके राजा बनाये जाने पर प्रसन्नता प्रकट की। यद्यपि सिंहल की इच्छा इस पद को स्वीकार करने की नहीं थी परन्तु अस्वीकार भी नहीं कर सका। सब प्रकार के राज-कर्मचारियों के मध्य में उपस्थित होकर उसने सबका अभिवादन किया और राज्य-भार को स्वीकार किया। राज्यासन पर बैठ कर और प्राचीन कुप्रथाओं को हटा कर उसने योग्य और उत्तम व्यक्तियों का सत्कार किया तथा निम्नलिखित घोषणा से सबको सूचित किया:—"मेरे पुराने व्यापारी मित्र राक्षसियों के देश में हैं; वे लोग जीवित हैं अथवा मृत यह मैं नहीं कह सकता परन्तु वे लोग चाहे जैसी अवस्था में हों मैं अवश्य उनको विपत्ति के जाल से बचाने का

प्रयत्न करूँगा। हमारी सेना सुसज्जित हो। दुर्भाग्य-ग्रसितों की सहायता करना और उनके दुःखों को दूर करना, राजा का उसी प्रकार धर्म है जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नादि से ख़ज़ाने को बढ़ाना राज्य की भलाई करना है।"

इस आज्ञा पर उसकी फ़ौज तैयार हो गई और जहाज़ों पर चढ़ कर रत्नद्वीप की ओर प्रस्थानित हो गई। उस समय लौहनगर के शिखर पर का अशुभ-सूचक झंडा फड़फड़ाने लगा[1]।

राक्षसियाँ उसको देखकर भयविचलित हो गईं और मोहिनी रूप धारण करती हुई उन लोगों को फुसलाने फाँसने के लिए प्रस्थानित हुईं। परन्तु राजा उनके झूठे फन्दों को भली भाँति जानता था इसलिए उसने अपने वीरों को आज्ञा दे दी कि अपने अपने मन्त्रों को उच्चारण करते हुए युद्ध-कौशल को प्रदर्शित करो। यह दशा देखकर राक्षसियाँ भाग खड़ी हुईं और जल्दी से कुछ तो समुद्र के पहाड़ी टापुओं में भाग गईं और कुछ समुद्र ही में डूब कर मर गईं। सेना ने उनके लौहनगर को ध्वंस कर दिया और लौहकारागार को तोड़ कर व्यापारियों को छुड़ाने के साथ ही रत्नादि का बहुत बड़ा ख़ज़ाना उठा लिया। फिर बहुत से लोगों को बुलाकर और इस देश में बसाकर रत्नद्वीप को अपनी राजधानी बनाया। उस समय से यहाँ पर बहुत से नगर बस गये और इस जगह की दशा सुधर गई। राजा के नामानुसार इस देश का प्राचीन नाम बदल

[1] इससे विदित होता है कि 'अशुभसूचक झंडा' राक्षसियों को भय की सूचना देनेवाला था।

कर सिंहल हो गया। यह नाम जातकों में भी, जिनको शाक्य तथागत ने प्रकट किया था, लिखा हुआ पाया जाता है।

सिंहल-राज्य पहले अशुद्ध धर्म में लिप्त था परन्तु बुद्ध-देव के निर्वाण के सौ वर्ष बाद अशोक के छोटे भाई महेन्द्र ने, जिसने सांसारिक वासनाओं को परित्याग कर दिया था और ६ हों आध्यात्मिक शक्तियों तथा मुक्ति के अष्ट साधनों को अवगत करने के साथ ही सब स्थानों में शीघ्रता से जा पहुँचने की भी शक्ति को प्राप्त कर लिया था; इस देश में आकर सत्य-धर्म के ज्ञान और विशुद्ध सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस समय लोगों में विश्वास की मात्रा बढ़ी। और कोई १०० संघाराम जिनमें २०,००० साधु निवास कर सकते थे बन गये। ये लोग बुद्धदेव के धर्मोपदेश का विशेष रूप से अनुसरण करते थे और स्थविर-धर्म के महायान-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। दो सौ वर्ष व्यतीत होने के पश्चात्[1] कुछ ऐसा वादा-विवाद बढ़ा कि एक सम्प्रदाय के दो भेद हो गये। पुरानों का नाम 'महा-विहारवासी'[2] पड़ गया, जो महायान-सम्प्रदाय की प्रतिपच्छिता

[1] अर्थात् ऐसा मालूम होता है कि लंका (Ceylon) में बुद्धधर्म के प्रचलित होने के २०० वर्ष पश्चात् यह बात हुई। यदि यह बात है तो यह समय ईसा से ७५ वर्ष पूर्व मानना पड़ेगा क्योंकि उसी समय में लंका में त्रिपिटक का अनुवाद हुआ था। इस वाक्य से कि "त्रिपिटक का प्रचार बढ़ाया" यह बात परिपुष्ट भी होती है।

[2] यह संस्था महाविहार साधुओं के सिद्धान्तानुसार धर्माचरण करती थी। यह महाविहार अनुराधपुर राजधानी से ७ ली दक्षिण दिशा में था। इसको ईसा से २५० वर्ष पूर्व 'देवनम्पियतिस्स' ने

ग्रहण करके हीनयान-सम्प्रदायी हो गये, और दूसरे का नाम 'अभयगिरिवासी'[1] हुआ जिन्होंने दोनों यानों का अध्ययन करके त्रिपिटक का प्रचार बढ़ाया। साधु लोग सदाचार के नियमों का अवलम्बन करके अपने ज्ञान-ध्यान के बढ़ाने में बहुत प्रसिद्ध थे। उनका विशुद्ध शान्त और प्रभावशाली आचरण भविष्य के लिए उदाहरण-स्वरूप माना जाता था।

राजमहल के पास एक विहार है जिसमें बुद्धदेव का दाँत है। यह विहार कई सौ फ़ीट ऊँचा तथा दुष्प्राप्य रत्नों से सुशोभित और सुसज्जित है। विहार के ऊपर एक सीधी छड़ लगी हुई है जिसके सिरे पर पद्मराज रत्न जड़ा हुआ है[2]। इस रत्न में से ऐसा स्वच्छ प्रकाश रातदिन निकाला करता है जो बहुत दूर से देखने पर एक चमकदार नक्षत्र के समान प्रतीत होता है। प्रत्येक दिन में तीन बार राजा स्वयं आकर बुद्ध दन्त को सुगंधित जल से स्नान कराता है और कभी कभी

निर्माण किया था (देखो फ़ाहियान ३१ और दीपवंस १६) ओल्डनवर्ग साहब दीपवंस की भूमिका में इस इमारत-सम्बन्धी अट्ट कथा का कुछ उल्लेख भी करते हैं। इस विहार के विषय में वील साहब का नोट जो फ़ाहियान की पुस्तक पृष्ठ १५६ में उन्होंने लिखा है देखने-योग्य है।

[1] अभयगिरि विहार का कुछ वृत्तान्त जानने के लिए देखो दीपवंस १६ और वील साहब की फ़ाहियान-नामक पुस्तक पृ० १५१ नोट १। कदाचित् यह वही विहार है जिसमें बुद्धदेव के दन्तावशेष (tooth-relic) का दर्शन फ़ाहियान को कराया गया था।

[2] सिंहल के रत्नों के विषय में देखो Marco Polo, Book III, Chap. XIV.

स्वच्छता के लिए सुगंधित वस्तुओं के बुरादे से मंजन भी कराता है। चाहे स्नान कराना हो अथवा धूपदीप करना हो प्रत्येक उपचार के अवसर पर बहुमूल्य रत्नों का प्रयोग बहुतायत से किया जाता है।

सिंहल देश, जिसका प्राचीन नाम सिंह का राज्य है, 'शोक-रहित राज्य'[1] के नाम से भी पुकारा जाता है। सब बातों में यह ठीक दक्षिणी भारत के समान है। यह देश बहुमूल्य रत्नों के लिए प्रसिद्ध है इस कारण इसको लोग रत्नद्वीप भी कहते हैं। प्राचीन काल में एक समय बुद्धदेव ने सिंहल नामक एक मायावी स्वरूप धारण किया था। उस समय साधुओं और मनुष्यों ने उनकी प्रतिष्ठा करके उनको इस देश का राजा बनाया था इसलिए भी इसका नाम सिंहल हुआ। बुद्धदेव ने अपनी प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग करके लौहनगर को ध्वस्त और राक्षसियों को परास्त कर दिया था तथा दुखी और दरिद्र पुरुषों को शरण में लेकर नगर और ग्रामों को बसा कर इस भूमि को शिष्यों के निवास से पवित्र बना दिया था। विशुद्ध धर्म के प्रचार के निमित्त उन्होंने अपना एक दाँत भी इस देश को प्रदान किया था जो वज्र के समान कठोर और हज़ारों वर्ष तक के लिए अक्षय है। इसमें से कभी कभी प्रकाश भी प्रस्फुटित होता है जो आकाश-स्थित नक्षत्र अथवा चन्द्र के समान होता है। यहाँ तक कि कभी कभी सूर्य की समकक्षता को भी पहुँच जाता है। यह रात ही में प्रकाशित होता है। जो लोग इस दाँत की शरण में आकर उपवास

[1] कदाचित् 'शोक-रहित' शब्द से रामायण की अशोकवाटिका से मतलब है।

और प्रार्थना आदि करते हैं उनको उनके अभीष्ट का उत्तर आकाशवाणी द्वारा मिल जाता है। देश में यदि अकाल महामारी अथवा कोई दुख फैल जावे और दृढ़तापूर्वक प्रार्थना की जावे तो कुछ ऐसे अलौकिक चमत्कार प्रकट हो जाते हैं जिनसे उस क्लेश का नाश हो जाता है। यद्यपि इसका प्राचीन नाम सिंहल है परन्तु इसको आजकल 'सिलनगिरि'[1] भी कहते हैं।

राजा के भवन के निकट ही बुद्धदन्त विहार है जो सब प्रकार के रत्नों से आभूषित और सूर्य के समान प्रकाशित है। उसको देखने से नेत्र झिलमिला जाते हैं[2]। इस अवशेष की पूजा प्रत्येक नरेश के समय में भक्तिपूर्वक होती चली आई है परन्तु वर्तमान राजा कट्टर विरोधी है, और बुद्धधर्म की प्रतिष्ठा नहीं करता है। यह चोलवंशी है[3] और इसका नाम अली फन्नइहै (अलिनुनर ?) है। यह बड़ा ही निर्दय और ज़ालिम है तथा जितने कुछ अच्छे कार्य हैं सबका विरोधी है।

[1] इससे स्पष्ट है कि भारत में पुर्तगालवालों के आने के पूर्व ही सिंहल का नाम सिलन (Ceylon) प्रसिद्ध हो गया था।

[2] यही बात ऊपर भी लिखी जा चुकी है। बुद्धदन्त और विहार के वृत्तान्त के लिए देखो बील साहब की पुस्तक फ़ाहियान पृ० १५३ नो० १, और स्पन्स हार्डी साहब की पुस्तक Eastern Monachism, pp. 224, 226।

[3] चोल लोगों के वृत्तान्त के लिए देखो Marco Polo, Vol. II, p. 272 इसके कुछ ही पूर्व चोलवंशियों ने पल्लव लोगों को परास्त किया था।

परन्तु देश के लोग अब भी बुद्धदेव के दाँत की भक्तिपूर्वक प्रतिष्ठा करते हैं।

बुद्धदन्त विहार के निकट ही एक और छोटा सा विहार है। यह भी सब प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से सुसज्जित है। इसके भीतर बुद्धदेव की स्वर्णमूर्ति है। इसको किसी प्राचीन नरेश ने बुद्धदेव के डील के बराबर बनवाया था और बहु-मूल्य रत्नों के उष्णीष (पगड़ी) से सुभूषित करा दिया था।

कालान्तर में एक चोर को इस स्थान के बहुमूल्य रत्नों के चुरा लेने की इच्छा हुई, परन्तु इसके दोनों द्वारों और सभा-मण्डपों पर कठिन पहरा रहता था इसलिए उसने यह मंसूबा किया कि सुरङ्ग खोद कर विहार के भीतर पहुँचे और रत्नों को चुरा लेवे। उसने ऐसा ही किया भी, परन्तु जैसे ही रत्नों में उसने हाथ लगाना चाहा कि मूर्ति ऊपर उठ गई और इतनी अधिक ऊँची हुई कि उसका हाथ वहाँ तक न पहुँच सका। उस समय उसने अपने प्रयत्न को विफल पाकर बड़े शोक के साथ कहा, "प्राचीन काल में जब तथागत बोधिसत्व धर्म का अभ्यास कर रहे थे उस समय उनका हृदय बड़ा उदार था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि चारों प्रकार की सृष्टि पर दया करके वह प्रत्येक वस्तु-द्वारा उनका पालन-पोषण करेंगे। अपने देश और ग्राम के लिए ही उनका जीवन था। परन्तु इस समय उनकी स्थानापन्न मूर्ति बहुमूल्य रत्नों के देने में भी संकोच करती है। इस समय की दशा पर ध्यान देने से तो यही मालूम होता है कि उनके शब्द, जिनसे उनके पुरातन चरित्र का पता चलता है, ठीक नहीं हैं।" इन शब्दों को सुनते ही मूर्ति ने अपना सिर झुका दिया कि वह रत्नों को उतार लेवे। चोर उन रत्नों को लेकर बेचने के लिए

व्यापारियों के पास ले गया। वे लोग उनको देखते ही चिल्ला उठे कि "इन रत्नों को तो हमारे प्राचीन नरेश ने बुद्धदेव की स्वर्णमूर्त्ति की पगड़ी में लगवाया था तुमने इनको कहाँ पाया जो लुक्का चोरी बेचने आये हो?" यह कह कर वे लोग उसको पकड़ कर राजा के पास ले गये और सब वृत्तान्त निवेदन किया। राजा ने भी उससे यही प्रश्न किया कि तूने इन रत्नों को किससे पाया। चोर ने उत्तर दिया, "ये रत्न स्वयं बुद्धदेव ने मुझको दिये हैं, मैं चोर नहीं हूँ।" राजा को उसकी बात पर विश्वास न हुआ इसलिए उसने एक दूत को आज्ञा दी कि बहुत शीघ्र जाकर इस बात का पता लगाओ कि सत्य क्या है। विहार में आकर उसने देखा कि मूर्त्ति का सिर अब भी झुका हुआ है। राजा इस चमत्कार को देखकर अन्तःकरण से दृढ़ भक्त और प्रेमी हो गया। उसने चोर को दंड से मुक्त कर दिया और रत्नों को उससे पुनः ख़रीद कर मूर्त्ति के सिर को सुसज्जित कर दिया। चूँकि उस अवसर पर मूर्ति का सिर झुक गया था इस कारण वह अब तक वैसा ही है।

राजमहल के एक तरफ़ एक बड़ा भारी रसोई-घर है जिसमें आठ हज़ार साधुओं के लिए नित्य भोजन बनाया जाता है। भोजन के नियत समय पर साधु लोग अपना अपना पात्र लिये हुए इस स्थान पर आते हैं और भोजन को ग्रहण करके फिर अपने अपने स्थान को लौट जाते हैं।[1] जिस समय से बुद्धदेव के सिद्धान्तों का प्रचार इस देश में हुआ है उसी समय से राजा की ओर से यह पुण्यक्षेत्र

[1] फ़ाहियान ने भी इस क्षेत्र का वृत्तान्त लिखा है।

स्थापित है। उत्तराधिकारी लोग इसको संचालित करते रहे हैं जिससे यह अब तक, हमारे समय तक भी, चला जा रहा है। परन्तु गत दश वर्षों से देश में ऐसी कुछ उथल पुथल मची हुई है कि जिससे इस उपकारी कार्य की व्यवस्था ठीक नहीं है।

देश के समुद्री तट पर खाड़ी में बहुमूल्य रत्न और मोती आदि पाये जाते हैं[1]। राजा स्वयं धार्म्मिक कृत्यों के

[1] सेमुएल बील साहब नोट देकर लिखते हैं कि "Marco Polo (Cap. XVI) alludes to the pearl fisheries off the west coast of Ceylon. He mentions Bettelar as the place of rendezvous. Colonel Yule thinks that this is Puttam, the Pattâla of Ibn Batuta. With reference to the account given by Marco Polo of the fishery, it is curious how, in all its particulars (except that of the charmers), it agrees with the arrangements of the pearl fishery at La Paz, on the coast of Lower California. I have visited that fishery and inquired into its management. The merchants fit out the boats and pay the gangs of divers (armadores); the shells are brought up in the same way as described by Marco Polo. The heap each day is divided into three parts—one for the State, one for the Church, one for the merchant, or sometimes, when the divers do not receive pay, they have a proportion

निमित्त उस स्थान पर जाता है, उस समय देवता लोग उसको बहुमूल्य और दुष्प्राप्य रत्न आदि प्रसाद में देते हैं। राजधानी के निवासी भी इसी अभिप्राय से इस स्थान पर आकर देवताओं को स्मरण करते हैं, परन्तु सब लोगों का लाभ उनके धार्मिक पुण्य के अनुसार जुदा जुदा होता है। इन लोगों को जो कुछ मोती प्राप्त होते हैं उनके परिमाण के अनुसार कर भी देना पड़ता है।

देश के दक्षिण-पूर्व के कोने पर एक पहाड़ 'लंका'[1] नामक है। इसकी ऊँची ऊँची चोटियों और गम्भीर घाटियों पर देवताओं का निवास है, जो बराबर वहाँ आते

of the last heap for themselves. The sharks which abound at La Paz can be seen swimming in the neighbourhood (so clear is the water under a clouldless and rainless sky), but the divers fear only one kind which they call the Tintero (the tiger shark). They dive just as Marco Polo describes and I may add that I never found one of them (experts though they were) remain down more than 58 seconds."

[1] लंका को किसी स्थान पर नगर और कभी कभी पहाड़ लिखा गया है तथा सम्पूर्ण टापू के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त इसको सिंहल से भिन्न मानकर उज्जयिनी से जाती हुई मध्य रेखा पर निश्चय किया है। रामायण में पहाड़ की तीन चोटियाँ (त्रिकूट) लिखी गई हैं और उसको रावण का निवास-स्थान लिखा है।

जाते रहते हैं। इस स्थान पर तथागत भगवान् ने प्राचीन काल में 'लिङ्ग किया किङ्ग'[1] (लङ्कासूत्र या लङ्कावतार) का निर्माण किया था।

[1] 'लंकावतार सूत्र' अथवा सद्धर्म 'लंकावतार सूत्र' अन्तिम कालिक ग्रंथ है तथा इसका विषय बहुत गुप्त है। इसमें अन्तः-करण-सम्बन्धी विशेषकर आत्मा-सम्बन्धी सब बातें हैं। इस सूत्र के चीनी भाषा में तीन अनुवाद पाये जाते हैं (देखो B. Nanjio Catalogue, 175, 176, 177) इस सूची की १७६ वाली पुस्तक "Entering Lanka Sutra" प्रायः वैष्णवों के सिद्धान्तों से मिलती-जुलती है। बुद्धधर्म, जो दक्षिण भारत से चीन में सन् ५२६ ई० में गया था, इसी सूत्रानुसार था, अतएव इस समय से पहले ही इस सूत्र की रचना हुई होगी। सर्वप्रथम अनुवाद (नं० १७५) सन् ४४३ ई० में चीनी-भाषा में हुआ था परन्तु यह अधूरा है। दूसरा (नं० १७६) सन् ५१३ ई० का और तीसरा सन् ७०० ई० का है। स्पेस हार्डी साहब ने Manual of Buddhism नामक पुस्तक पृ० ३५६ में निम्नलिखित अवतरण (Csoma Korosi) ग्रंथ से लेकर लिखा है। "द्वितीय ग्रंथ अथवा सूत्र जिसका नाम 'आर्य लंकावतार महायानसूत्र' है संस्कृत भाषा में है, यह प्रतिष्ठित ग्रंथ लंकायात्रा के समय में लिखा गया था। बुद्धदेव बहुत से साधुओं और बोधिसत्वों के सहित समुद्र के किनारे मलयगिरि की चोटी पर निवास करते थे उस समय लंकाधिपति की प्रार्थना पर इसकी रचना हुई थी।" हागसन साहब लिखते हैं कि लंकासूत्र नेपाल में चतुर्थ धर्म समझा जाता है, "इसमें ३,००० श्लोक हैं और यह लिखा हुआ है कि लंका का राजा रावण मलयगिरि पर जाकर और शाक्यसिंह से पूर्व-कालिक बुद्धों का वृत्तान्त सुन कर बोद्धचनन को प्राप्त हुआ था।" इस

इस देश से कई हज़ार ली दक्षिण दिशा में समुद्र की ओर जाकर हम 'नरकिर'[1] टापू में पहुँचे। इस द्वीप के निवासी छोटे क़द के लगभग ३ फ़ीट ऊँचे होते हैं। इन लोगों का बाक़ी शरीर तो मनुष्यों ही के समान होता है केवल मुख में पक्षियों के समान चोंच होती है। ये लोग खेती बारी नहीं करते, केवल नारियल पर रहते हैं।

इस टापू से कई हज़ार ली पश्चिम दिशा में चलकर और समुद्र को नाँघने पर एक निर्जन टापू की पूर्वी पहाड़ी पर बुद्धदेव की एक पाषाण-मूर्ति मिलती है जो लगभग १०० फ़ीट ऊँची है। यह मूर्ति पूर्वाभिमुख, बैठी हुई अवस्था में है। इसके उष्णीष (पगड़ी) में एक रत्न है जिसका नाम चन्द्रकान्त है। जिस समय चन्द्रमा घटने लगता है उस समय इसमें से जल की धारा पहाड़ के पास और करारों की नालियों में बहने लगती है।

किसी समय में कुछ व्यापारियों का झुंड तूफ़ान के कारण आँधी पानी से विकल होकर बड़े कष्ट से इस जन-शून्य टापू में पहुँचा। समुद्र का पानी खारी होने के कारण वे लोग बहुत दिनों तक प्यास के मारे विकल होते रहे। परन्तु पूर्णिमा के दिन, जिस समय पूर्णचन्द्र प्रकाशित था, मूर्ति के सिर पर से पानी टपक चला, जिसको पीकर उन लोगों की जान में जान आई। उस समय तो उन लोगों को यही

वृत्तान्त से सेमुएल वील साहब का विचार है कि कदाचित् योतारक पहाड़, जिसका वर्णन दसवें अध्याय के अन्त में आया है, वही लंकागिरि है।

[1]कदाचित् मालद्वीप; परन्तु यूल साहब का Marco Polo, II, 249 भी देखो। नारिकेल का अर्थ नारियल है।

विश्वास हुआ था कि यह सब मूर्त्ति की करामात है और इसलिए आन्तरिक भक्ति के साथ उनका विचार हुआ कि कुछ दिन इस टापू में निवास करके पूजा-उपासना करें। परन्तु कुछ दिनों के बाद जब चन्द्रमा अदृश्य होगया तब कुछ भी जल प्रवाहित न हुआ। इस बात पर मुखिया व्यापारी ने कहा, "यह बात नहीं है कि यह जल केवल हमारे ऊपर कृपा करने के निमित्त प्रवाहित होता है। मैंने सुना है कि एक प्रकार का ऐसा मोती होता है जो चन्द्रमा का प्यारा होता है; जिस समय उस पर चन्द्रमा की पूर्ण किरणें पड़ती हैं उस समय आप ही आप उसमें से जल प्रवाहित होने लगता है। इसलिए मेरे विचार में मूर्ति के सिर पर जो रत्न है वह कदाचित् इसी प्रकार का है।" यह कह कर इस बात का पता लगाने के लिए वे लोग पहाड़ पर चढ़ गये। उन्हीं लोगों ने मूर्ति के शिरोभूषण में चन्द्रकान्तमणि को देखा था और उन्हीं लोगों के मुख से सुनकर लोगों को पीछे से यह वृत्तान्त मालूम हुआ।

इस देश से पश्चिम में कई हज़ार ली समुद्रपार करके हम एक ऐसे टापू में पहुँचे जो 'महारत्न द्वीप' था अर्थात् वह बहुमूल्य रत्नों के लिए प्रसिद्ध था। इसमें देवताओं के अतिरिक्त और कुछ आबादी नहीं है। सुनसान दिशा में दूर से देखने पर यहाँ के पहाड़ और घाटियाँ चमकती हुई दिखाई पड़ती हैं। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि व्यापारी लोग यहाँ पर आकर भी खाली ही हाथ लौट जाते हैं।

द्राविड़ देश को छोड़कर[1] और उत्तर दिशा में यात्रा करके

[1]इसी वाक्य से विदित होता है, जैसा कि अध्याय ११ के प्रारम्भ

हम एक निर्जन वन में पहुँचे। इस स्थान में जितने ग्राम और नगर मिलते हैं सबके सब उजाड़ हैं। इस मार्ग से यात्रा करनेवालों को डाकुओं के हाथ से बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। लोग इनके हाथों से ज़ख्मी भी हो जाते हैं और इनके द्वारा पकड़ भी लिये जाते हैं। लगभग २,००० ली चलकर हम 'काङ्गकिननपुलो' पहुँचे।

काङ्गकिननपुलो (कोंकणपुर[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल ५,००० ली और राजधानी का ३० ली है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है। यह भलीभाँति जोती

में नोट देकर लिखा गया है, कि यात्री सिंहल को स्वयं नहीं गया था; और इसी लिए अनुमान होता है कि यहां तक उसने जो कुछ लिखा है सुन सुनाकर लिखा है।

[1] जनरल कनिंघम और मि० फर्गुसन दोनों, यात्री का प्रस्थान उत्तर-पश्चिम की ओर मानते हैं। यह भूल है (देखो Anc. Geog., p. 552; J. R. A. S., VI, 266) हुइली साहब भी उत्तर-पश्चिम मानने के अतिरिक्त इतना और अधिक लिखते हैं कि यदि उत्तर माना जायगा तो यह लौटने का मार्ग होगा। हुइली साहब 'किननपुलो' लिखते हैं और जुलियन साहब 'काङ्गकिननपुलो' लिखते हैं। यह मूल पुस्तक की गड़बड़ी से भूल हुई है। सेम्युअल वील साहब के पास-वाली पुस्तक में 'काङ्गकिननपुलो' ही लिखा है जिसको जुलियन ने 'कोंकणपुर' निश्चय किया था। यह दक्षिणी भारत में बताया जाता है परन्तु इसकी राजधानी के स्थान का निश्चय नहीं हो सका। मार्टिन साहब (M. V. de St. Martin) यात्री की यात्रा को पश्चिमोत्तर दिशा में मानकर 'वान वासि' निश्चय करते हैं (Memoire, p. 401)

बोई जाती है और अच्छी फ़सल उत्पन्न करती है। प्रकृति गरम और मनुष्यों का स्वभाव जोशीला और फुर्तीला है। इन लोगों का स्वरूप काला और आचरण क्रूर और असभ्य है। परन्तु ये लोग विद्या से प्रेम तथा ज्ञान और धर्म की प्रतिष्ठा भी करते हैं। कोई १०० संघाराम और लगभग दस हज़ार साधु हीन और महा दोनों यानों का पालन करनेवाले हैं। देवताओं की भी उपासना अधिकता से होती है, कई सौ देवमन्दिर हैं जिनमें अनेक सम्प्रदाय के विरोधी पूजा उपासना करते हैं।

राजभवन के निकट ही एक विशाल संघाराम है जिसमें कोई ३०० साधु निवास करते हैं; ये सबके सब बहुत योग्य हैं। इस संघाराम में एक विहार सौ फ़ीट से भी अधिक ऊँचा है। इसके भीतर राजकुमार सर्वार्थसिद्धि का एक मुकुट दो फ़ीट से कुछ ही कम ऊँचा और बहुमूल्य रत्नों से जटित रक्खा हुआ है। यह मुकुट रत्न-जटित डिब्बे के भीतर बन्द है। व्रतोत्सव के समय यह निकाला जाता है और एक ऊँचे सिंहासन पर रख दिया जाता है। लोग सुगंधियों और पुष्पों से इसकी पूजा करते हैं। उस दिन इसमें से बड़ा भारी प्रकाश फैलने लगता है।

कनिंघम साहब अनगुण्डि निश्चय करते हैं जो तुङ्गभद्रा नदी के उत्तरी तट पर है, (Anc. Geog., p. 552) परन्तु मि० फर्गुसन यात्रा को नागपट्टन से मानकर निश्चय करते हैं कि यह स्थान बड़नोर के पूर्व मैसूर के मध्यभाग में था (J.R.A.S., N. S., Vol., VI, p. 267) परन्तु यह मानने से कि यात्री उत्तर दिशा में चला था और चाँदा के निकट किसी देश में गया था, यह देश गोलकुण्डा के समीप मानना पड़ेगा।

नगर के पास एक बड़ा भारी संघाराम है जिसमें एक विहार लगभग ५० फ़ीट ऊँचा बना हुआ है। इसके भीतर मैत्रेय बोधिसत्व की एक मूर्ति चन्दन की बनी हुई है जो लगभग दस फ़ीट ऊँची है। इसमें से भी व्रतोत्सव के दिन आलोक निकलने लगता है। यह मूर्ति श्रुतविंशति कोटि अरहट[1] की कारीगरी है।

नगर के उत्तर में थोड़ी दूर पर लगभग ३० ली के घेरे में तालवृक्षों का वन है। इस वृक्ष के पत्ते लम्बे चौड़े और रङ्ग में चमकीले होते हैं। ये भारत के सब देशों में लिखने के काम आते हैं। जङ्गल के भीतर एक स्तूप है जहाँ पर गत चारों बुद्ध आते जाते और उठते बैठते रहे हैं, जिसके चिह्न अब तक वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त एक और स्तूप में श्रुतविंशति कोटि अरहट का शव भी है।

नगर के पूर्व में थोड़ी दूर पर एक स्तूप है जिसका निचला भाग भूमि में धस गया है, तो भी अभी यह ३० फ़ीट ऊँचा बच रहा है। प्राचीन इतिहास से विदित होता है कि इसके भीतर बुद्धदेव का कुछ अवशेष है और धार्मिक दिन पर इसमें से अद्‌भुत प्रकाश फैलता है। प्राचीन काल में तथागत भगवान् ने इस स्थान पर उपदेश करके और अपनी अद्‌भुत शक्ति को प्रकाशित करके अगणित पुरुषों को शिष्य बनाया था।

नगर के दक्षिण-पश्चिम में थोड़ी दूर पर लगभग १००

[1] इसका वर्णन दसवें अध्याय में आया है, परन्तु इस स्थान पर कदाचित् 'सोणकुटिकन्न' से तात्पर्य है जो दक्षिण-भारत में रहता था और कात्यायन का शिष्य था, (S. B. E., XVII, p. 32)

फीट ऊँचा एक स्तूप है जो अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इस स्थान पर श्रुतविंशति कोटि अरहट ने बड़ी विलक्षण शक्ति का परिचय देकर बहुत से लोगों को बौद्ध बनाया था। इसके पास ही एक संघाराम है जिसकी इस समय केवल नींव ही अवशेष है। यह ऊपर लिखे अरहट का बनवाया हुआ था।

यहाँ से पश्चिमोत्तर दिशा में गमन करके हम एक विकट वन में पहुँचे जहाँ पर बनैले पशु और लुटेरों के झुंड यात्रियों को बड़ी हानि पहुँचाते हैं। इस प्रकार चौबीस पचीस सौ ली चलकर हम 'मोहोलचअ' देश में पहुँचे।

मोहोलचअ (महाराष्ट्र[१])

इस राज्य का क्षेत्रफल ५,००० ली है। राजधानी[२] के पश्चिम में एक बड़ी भारी नदी बहती है और लगभग

[१] मरहठों का देश।

[२] इस राजधानी के विषय में बहुत से सन्देह हैं। M. V. de St. Martin (मार्टिन साहब) इसका नाम देवगिरि अथवा दौलताबाद कहते हैं परन्तु यह नदी के तट पर नहीं है। कनिंघम साहब 'कल्यान' अथवा 'कल्यानी' नाम बताते हैं जिसके पश्चिम कैलासा नदी बहती है। परन्तु यह भड़ोंच के—पूर्व की जगह पर—दक्षिण में होना चाहिए। मि० फ़र्गुसन, टोक, फुल थम्ब अथवा पैतन निश्चय करते हैं, परन्तु कोंकणपुर से उत्तर-पश्चिम इनकी दूरी ४०० मील होनी चाहिए परन्तु यह दूरी हमको तापती अथवा गिरना नदी के निकट ले जाती है।

३० ली के घेरे में है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है तथा समुचित रीति पर जोती बोई जाने के कारण उत्तम फ़सल उत्पन्न करनेवाली है। प्रकृति गरम और मनुष्यों का आचरण सादा और ईमानदार है। यहाँ के लोगों का डील ऊँचा, शरीर सुदृढ़, तथा स्वभाव वीरत्व-पूर्ण है। अपने उपकारी के प्रति जिस प्रकार ये लोग कृतज्ञता प्रकट करना जानते हैं उसी प्रकार शत्रु को पीड़ित करना भी खूब जानते हैं। अपने अपमान का बदला लेने में ये लोग जीवन की परवा नहीं करते। और यदि दुखी पुरुष इनसे सहायता का प्रार्थी होवे तो उसके दुख-निवारण के लिए बहुत शीघ्र सर्वस्व तक दे देने को तैयार हो जाते हैं। जिस समय इनको किसी से बदला लेना होता है उस समय ये लोग प्रथम अपने शत्रु को सूचना दे देते हैं, और जब शत्रु लोग अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हो जाते हैं तब उन पर अपने बरछों से हमला करते हैं। लड़ाई में यदि एक पक्ष पराजित होकर भाग खड़ा होता है तो भी दूसरे पक्षवाले उसका पीछा करते हैं परन्तु उस व्यक्ति को नहीं मारते जो भूमि में पड़ा होता है (अथवा जो हार मान कर शरण में आ जाता है।) यदि फ़ौज का कोई सरदार हार मान लेता है तो उसको भी ये लोग नहीं मारते वरंच उसको स्त्रियों की सी पोशाक पहना कर देश से निकाल देते हैं जिससे वह स्वयं लज्जित होकर प्राण त्याग कर देता है। कई सौ योद्धा देश में ऐसे हैं जो हर समय लड़ने-भिड़ने ही में लगे रहते हैं। इन लोगों में से एक एक व्यक्ति हाथ में बरछा लेकर और मदिरा से मतवाला होकर दस दस हज़ार मनुष्यों को मैदान में ललकार सकता है। ये वीर लोग चाहें जिसे मार डालें, देश के नियमानुसार

इनके लिए कुछ दंड नहीं है। जिस समय और जिस स्थान को इनमें से कोई भी जाता है, उसके आगे आगे डंका बजता चलता है। इसके अतिरिक्त कई सौ हाथी भी इन लोगों के साथ होते हैं जो मदिरा पीकर सदा मतवाले बने रहते हैं; इनका शत्रु कैसा ही वीर से वीर और कितनी ही अधिक सेनावाला हो, इनके सामने नहीं ठहर सकता। जिस समय ये लोग अपनी नाग-मण्डली सहित उस पर टूट पड़ते हैं तो पल-मात्र में उसको ध्वस्त करके यमपुर का मार्ग दिखा देते हैं।

इस प्रकार के वीर, और हाथियों की सत्ता रखने के कारण देश का राजा अपने निकटवर्ती नरेशों को कुछ भी नहीं गिनता। वह जाति का क्षत्रिय और उसका नाम पुलकेशी है। इसके विचार और न्याय की बड़ी प्रसिद्धि है तथा इसके लोकोपकारी कार्यों की प्रशंसा बहुत दूर दूर तक फैली हुई है। प्रजा भी इसकी आज्ञाओं का प्रसन्नतापूर्वक पालन करती है। वर्तमान काल में शिलादित्य राजा ने अपनी सेना-द्वारा पूर्व के सिरे से पश्चिम के सिरे तक की सब जातियों को परास्त करके अधीन कर लिया है, परन्तु यही एक देश ऐसा है जो उसके वश में नहीं आसका है। उसने सम्पूर्ण भारत की सेना और प्रसिद्ध प्रसिद्ध सेनानियों को साथ लेकर, और स्वयं सबका नायक बनकर इस देश के लोगों पर चढ़ाई की थी परन्तु यहाँ से उसे विफलमनोरथ ही लौटना पड़ा था। यहाँ उसका कुछ क़ाबू न चला।

इतनी बात से पता लगता है कि यहाँ के लोग कैसे वीर हैं। ये लोग विद्याप्रेमी हैं और विरोधी तथा बौद्ध दोनों के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। देश भर में कोई सौ संघा-

राम और लगभग ५,००० साधु हैं जो हीन और महा दोनों यानों का अनुसरण करते हैं। कोई सौ देवमन्दिर भी हैं जिनमें अनेक मतावलम्बी बहुसंख्यक विरोधी उपासना आदि करते हैं।

राजधानी के भीतर और बाहर पाँच स्तूप उन स्थानों पर हैं जहाँ गत चारों बुद्ध आकर उठते बैठते रहे हैं। ये सब स्तूप अशोक राजा के बनवाये हुए हैं। इनके अतिरिक्त ईंट और पत्थर के और भी कितने ही स्तूप हैं। इन सबकी गिनती करना कठिन है।

नगर के दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक संघाराम है जिसमें अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की एक प्रतिमा पत्थर की है। अपनी चमत्कार शक्ति के लिए इस मूर्ति की बड़ी ख्याति है। बहुत से लोग जो गुप्तरूप से इसकी स्तुति करते हैं अवश्य अपनी कामना को पाते हैं।

देश की पूर्वी सीमा पर एक बड़ा पहाड़ है जिसकी चोटियाँ ऊँची हैं और जिसमें दूर तक चट्टानें फैली चली गई हैं, तथा खुरखुरे करार भी हैं। इस पहाड़ में एक अँधेरी घाटी के भीतर एक संघाराम है। इसके ऊँचे ऊँचे कमरे और बग़ली रास्ते चट्टानों में होकर गये हैं। इस भवन के खंड पर खंड पीछे की ओर चट्टान और सामने की ओर घाटी देकर बनाये गये हैं[१]।

[१] यह वृत्तान्त वास्तव में प्रसिद्ध अजन्टा की गुफा के विषय में है जो इन्ध्यादरी पहाड़ी में चट्टानों को काटकर और निर्जन घाटी से घेर कर बनाई गई है (देखो फ़र्गुसन और बरगस की पुस्तक Cane Temple, pp. 280—347; Arch. Sur. West. Ind. Report, Vol. IV, pp. 43—59).

यह संघाराम आचार[1] अरहट का बनवाया हुआ है। यह अरहट पश्चिमी भारत का निवासी था। जिस समय इसकी माता का देहान्त हुआ तो इसको इस बात की खोज लगाने की चिन्ता हुई कि माता का पुनर्जन्म अब किस स्वरूप में होता है। उसको मालूम हुआ कि माता का जन्म स्त्री-स्वरूप में इस देश में हुआ है, इसलिए उसको बौद्धधर्म से दीक्षित करने के लिए वह इस देश में आया। भिक्षा माँगने के लिए एक ग्राम में पहुँच कर वह उसी मकान के द्वार पर गया जिसमें उसकी माता का जन्म हुआ था। एक छोटी कन्या उसको देने के लिए भोजन लेकर बाहर आई परन्तु उसी समय उसके स्तनों से दूध निकल कर टपकने लगा। घरवाले यह अद्भुत घटना देखकर बहुत चिन्तित होगये। उन्होंने इसको बहुत अशुभ समझा, परन्तु अरहट ने उन लोगों को समझा कर सम्पूर्ण कथा कह सुनाई जिसको सुनकर वह लड़की परम पद 'अरहट पद' को प्राप्त होगई। अरहट ने उस स्त्री के प्रति, जिसने उसको उत्पन्न करके पालन किया था, कृतज्ञता प्रकाशित करने

[1] चैत्य गुफावाले लेख नं० २६ में, जो अजन्टा की गुफा ४ है, यह लिखा है "स्थविर अचल संन्यासी ने जो धार्मिक और कृतज्ञ महात्मा था और जिसकी सब कामनायें सफल हो चुकी थीं, महात्माओं के निवास के लिए इस शैलगृह का निर्माण कराया।" देखो Arch. Sur. West Ind. Report, Vol. IV, p. 135. इस लेख में अरहट का नाम स्पष्ट है परन्तु चीनी भाषा में नाम का अनुवादित शब्द Sohing 'सोहिङ्ग', है जिसका अर्थ 'करनेवाला' अथवा 'कर्ता' है। इसलिए सेमुएल बील साहब ने, इसी अर्थ का बोधक और 'अचल' शब्द से मिलता-जुलता, 'आचार' शब्द निश्चय किया है।

के लिए अथवा उसके उत्तम उपकारों का बदला देने के लिए इस संघाराम को बनवाया था। बड़ा विहार लगभग १०० फ़ीट ऊँचा है जिसके मध्य में बुद्धदेव की मूर्ति लगभग ७० फ़ीट ऊँची पत्थर की स्थापित है। इसके ऊपर एक छत्र सात खंड का बना हुआ है जो बिना किसी आश्रय के ऊपर उठा हुआ है। प्रत्येक छत्र के मध्य में तीन फ़ीट का अन्तर है। पुरानी कथा के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि ये छत्र अरहट के माहात्म्य से थँभे हुए हैं। कोई कहता है कि यह उसका चमत्कार है और कोई जादू का ज़ोर बतलाता है, परन्तु इस विलक्षणता का कारण क्या है यह ठीक ठीक विदित नहीं होता। विहार के चारों ओर की पत्थर की दीवारों पर अनेक प्रकार के चित्र बने हुए हैं जो बुद्धदेव की उस अवस्था के सूचक हैं जब वह बोधिसत्व धर्म का अभ्यास करते थे। भागशाली होने के वे शुभ शकुन जो उनकी बुद्धावस्था प्राप्त करने के समय हुए थे, और उनके अनेक आध्यात्मिक चमत्कार जो निर्वाण के समय तक प्रकट हुए थे, वे भी दिखलाये गये हैं। ये सब चित्र बहुत ठीक और बड़े ही सुन्दर बने हुए हैं। संघाराम के फाटक के बाहर उत्तर और दक्षिण अथवा दाहिने और बाएँ दोनों तरफ़ दो हाथी[1] पत्थर के बने हुए हैं। किंवदन्ती है कि कभी कभी ये दोनों हाथी इस ज़ोर से चिंघाड़ उठते हैं कि भूमि विकम्पित हो उठती है। प्राचीन काल में जिन

[1] यहाँ पर कदाचित् उन दोनों हाथियों से अभिप्राय है जो संघाराम के सामने चट्टान पर बने हुए हैं और जो इस समय कठिनता से पहचाने जाते हैं। देखो फ़रगुसन और बरगस साहब की पुस्तक 'गुफा-मन्दिर' पृ० ३०६ (Cane Temple, p. 306)

बोधिसत्व[1] बहुधा इस संघाराम में आकर निवास किया करते थे।

यहाँ से लगभग १,००० ली पश्चिम[2] में चलकर और नर्मदा नदी पार करके हम 'पोलुकइचेपो' (भरूकछेव: वेरीगज अथवा भरोंच) राज्य में पहुँचे।

पोलुकइचेपो (भरूकछ[3])

इस राज्य का क्षेत्रफल २,४०० या २५०० ली और इसकी राजधानी का क्षेत्रफल लगभग २० ली है। भूमि नमक से गर्भित है। वृक्ष और झाड़ियाँ बहुत कम हैं। यहाँ के लोग नमक के लिए समुद्र के जल को आग पर जलाते हैं। इन लोगों की जो कुछ आमदनी है वह केवल समुद्र से है। प्रकृति गरम और वायु सदा आँधी के समान चला करती है। मनुष्यों का स्वभाव हठी और सौम्यतारहित है। ये लोग विद्याध्ययन नहीं करते

[1] देखो Jour. R. As. Soc., Vol. XX, p. 208।

[2] भूल से हुइली 'उत्तर-पश्चिम' और मि० जुलियन 'उत्तर-पूर्व' लिखते हैं।

[3] जुनारवाले पाली भाषा के लेख में भरोंच को भरूकछ लिखा है (देखो Arch. Sur. West Ind. Report, Vol. IV, p. 96) संस्कृत में भरूकच्छ। (वाराह-संहिता ५-४०, १४—११, १६-६) और भृगुकच्छ (भागवतपुराण ८-१८, २१; As. Res., Vol. IX, p. 104; Inscrip. in J. Amer. Or. Soc., Vol. VII, p. 33) अथवा भृगुक्षेत्र लिखा है, और महात्मा भृगुऋषि का निवास-स्थान बताया जाता है। भरोंच के भार्गव ब्राह्मण उसी महात्मा भृगु के वंशज बताये जाते हैं।

तथा विरोधी और बौद्ध दोनों धर्मों के माननेवाले हैं। कोई दस संघाराम लगभग ३०० साधुओं सहित हैं। वे साधु स्थविर-संस्था के महायान-सम्प्रदायानुयायी हैं। कोई दस देवमन्दिर भी हैं जिनमें अनेक मत के विरोधी पूजा-उपासना करते हैं।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम लगभग २,००० ली चलकर हम 'मोलपो' देश में पहुँचे।

मोलपो (मालवा)

यह राज्य लगभग ६,००० ली और राजधानी लगभग ३० ली के क्षेत्रफल में है। इसके पूर्व और दक्षिण में माही नदी प्रवाहित है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है तथा फ़सलें अच्छी होती हैं। झाड़ियाँ और वृक्ष बहुत तथा हरे भरे हैं। फूल और फल बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। विशेष कर गेहूँ की फ़सल के लिए यहाँ की भूमि बहुत उपयुक्त है। यहाँ के लोग पूरी और सत्तू (भुने हुए अन्न का आटा) अधिक खाते हैं। मनुष्यों का स्वभाव धार्मिक और जिज्ञासु है, तथा बुद्धिमत्ता के लिए ये लोग बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा मनोहर और सुस्पष्ट तथा इनकी विद्वत्ता विशुद्ध और परिपूर्ण है।

भारत के दो ही देश विद्वत्ता के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं, दक्षिण-पश्चिम में मालवा और उत्तर-पूर्व में मगध। इस देश में लोग धर्म और सदाचार की ओर विशेष लक्ष्य रखते हैं। ये लोग स्वभाव से ही बुद्धिमान् और विद्याव्यसनी हैं तथा जिस प्रकार विरुद्ध मत का अनुकरण करनेवाले लोग हैं उसी प्रकार सत्यधर्म के भी अनुयायी अनेक हैं और सब लोग परस्पर मिल जुलकर निवास करते हैं। कोई १०० संघाराम हैं जिनमें २,००० साधु निवास करते हैं। ये लोग सम्मतीय

संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं। सब प्रकार के कोई १०० देव-मन्दिर हैं। विरोधियों की संख्या अगणित है। इनमें पाशुपत ही अधिक हैं।

इस देश के इतिहास से विदित होता है कि आज से साठ वर्ष पूर्व इस देश में शिलादित्य नामक राजा होगया है। यह व्यक्ति बड़ा ही विद्वान् और बुद्धिमान् था। विशुद्ध शास्त्रीय ज्ञान के लिए इसकी बड़ी ख्याति थी। यह जिस प्रकार चारों प्रकार की सृष्टि की रक्षा और पालन करता था उसी प्रकार तीनों कोषों[1] का भी आन्तरिक भक्त था। जन्म-समय से लेकर मरणपर्यन्त उसके मुख पर कभी भी क्रोध की झलक दिखाई न पड़ी और न उसके हाथ से कभी किसी प्राणी को कुछ कष्ट ही पहुँचा। यहाँ तक कि घोड़ों और हाथियों तक को जल छान कर पिलाया जाता था, ताकि पानी के भीतर के किसी जन्तु को कुछ क्लेश न पहुँचे। उसके प्रेम और उसकी दया का यह हाल था। उसके पचास वर्ष से अधिक के शासनकाल में जङ्गली पशु तक मनुष्यों के मित्र हो गये थे, कोई भी आदमी न उनको मार सकता था और न किसी प्रकार का कष्ट पहुँचा सकता था। अपने भवन के निकट ही उसने एक विहार बनवाया था जिसके बनाने में कारीगरों की सम्पूर्ण बुद्धि खर्च हो गई थी, तथा सब प्रकार की वस्तुओं से वह सजाया गया था। इसमें संसाराधिपति सातों[2] बुद्धदेवों की प्रतिमायें स्थापित की गई थीं।

[1] बुद्ध, धर्म और संग।

[2] सातों बुद्धों का वृत्तान्त जानने के लिए देखो—इटल साहब की 'हैंड बुक' (Handbook, S. V. Sapta Buddha)

प्रत्येक वर्ष वह 'मोक्ष महापरिषद्' नाम की सभा एकत्रित करता था जिसमें चारों दिशाओं के प्रसिद्ध प्रसिद्ध महात्मा बुलाये जाते थे। उन लोगों को धार्मिक दान के स्वरूप में चारों प्रकार की वस्तुएँ और उनके धार्मिक कृत्यों में काम आने योग्य तीनों प्रकार के वस्त्र भी राजा प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त बहुमूल्य सप्त धातु और अद्भुत प्रकार के रत्न आदि भी वह उनको देता था। यह पुण्य कार्य उस समय से लेकर अब तक बिना रोक-टोक चला जाता है।

राजधानी के उत्तर-पश्चिम लगभग २०० ली चलकर हम ब्राह्मणों के एक नगर में आये। इसके एक तरफ़ एक खोखली खाई है जिसमें हर ऋतु में जल की धारा प्रवाहित होती रहती है, और यद्यपि इसमें सदा पानी आया करता है तो भी ऐसा कभी नहीं होता कि जल की बहुतायत हो जावे। इसके एक तरफ़ एक स्तूप है। देश के प्राचीन इतिहास से विदित होता है कि प्राचीन काल में एक ब्राह्मण बड़ा घमण्डी था। वह इस खंदक में गिर कर सजीव नरक को चला गया था। प्राचीन काल में इस नगर में एक ऐसा ब्राह्मण रहता था जो अपने ज्ञान और विद्या के बल से उस समय के सम्पूर्ण प्रतिष्ठित पुरुषों में श्रेष्ठ समझा जाता था। उसने विरोधी और बौद्ध दोनों के गूढ़ से गूढ़ और गुप्त से गुप्त सिद्धान्तों का पूर्ण रीति से मनन किया था। इसके अतिरिक्त, ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी उसका बहुत बढ़ा चढ़ा था। वह हर एक बात ऐसे जान लेता था मानों वह उसके हाथ ही में हो। जैसे विद्वत्ता के लिए उसकी कीर्ति थी उसी प्रकार उसका आचरण भी सराहनीय था। क्या राजा और क्या प्रजा, सभी लोग समान रीति से उसका आदर करते

थे। उसके कोई १,००० शिष्य भी थे जो उसके आचरण और विद्वत्ता की प्रशंसा चारों दिशाओं में फैलाते रहते थे। वह स्वयं भी अपनी प्रशंसा इस प्रकार किया करता था, "मैं पुनीत सिद्धान्तों का प्रचार करने और मनुष्यों को सन्मार्ग दिखाने के लिए संसार में आया हूँ। जितने प्राचीन महात्मा हो चुके हैं, अथवा जो लोग ज्ञानावस्था को पहुँचे हैं, वे सब मेरे सामने कुछ भी नहीं हैं। महेश्वरदेव वासुदेव, नारायणदेव, बुद्ध लोकनाथ आदि जिनकी सारे संसार में पूजा होती है और जिनके सिद्धान्तों का लोग अनुकरण करते हैं, तथा जिनकी प्रतिमाओं की लोग पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं उन सबसे मैं विशेष कर्मपरायण हूँ, इसीलिए मेरी कीर्ति सब मनुष्यों से अधिक है। फिर क्यों उन लोगों की ऐसी प्रतिष्ठा होनी चाहिए? क्योंकि उन्होंने कोई विलक्षण कार्य तो किया नहीं है"।

ऐसे ही विचारों मे पड़कर उसने महेश्वरदेव, वासुदेव, नारायणदेव; बुद्धलोकनाथ की मूर्तियाँ लाल चन्दन की बनवा कर अपनी कुरसी में पायों के समान जड़वा दीं और यह आज्ञा दे दी कि जहाँ कहीं वह जाय यह कुर्सी भी उसके साथ जाय। यह उसके गर्व और आत्मश्लाघा का अच्छा प्रमाण था।

उन्हीं दिनों पश्चिमी भारत में एक भिक्षु भद्ररुचि नामक था। उसने भी पूर्णरीति से हेतुविद्या-शास्त्र और अन्यान्य ग्रन्थों का अध्ययन परिश्रम और मननपूर्वक कर लिया था। उसकी भी बड़ी प्रतिष्ठा थी और उसके भी आचरण की सुगंधि चारों दिशाओं में महक उठी थी। वह अपने प्रारब्ध पर विश्वास कर पूर्णतया सन्तुष्ट था—संसार में उसको किसी

वस्तु की इच्छा न थी। इस ब्राह्मण का हाल सुनकर उसको बड़ा खेद हुआ। उसने लम्बी साँस लेकर कहा, "हा शोक! कैसे शोक की बात है। इस समय कोई श्रेष्ठ पुरुष नहीं है और इसी लिए यह मूर्ख-विद्वान् इस प्रकार का कार्य करके अधर्म को बटोर रहा है।"

यह कह कर उसने अपना दण्ड उठा लिया और बहुत दूर से यात्रा करता हुआ इस देश में आया। उसके चित्त में जो वासना घर किये हुए थी उससे पीड़ित होकर वह राजा के पास गया। राजा ने उसके फटे मैले वस्त्र देखकर उसकी कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं की; तो भी उसकी उच्चाकांक्षा पर ध्यान देने से, उसको विवश होकर उसका आदर करना पड़ा और इसी लिए शास्त्रार्थ का प्रबंध करके उसने ब्राह्मण को बुला भेजा। ब्राह्मण ने इस समाचार पर मुसकराते हुए कहा, "यह कैसा आदमी है जिसको अपने चित्त में ऐसा विचार लाने का साहस हुआ?"

उसके शिष्य तथा कई हज़ार अन्य श्रोता लोग सभा-भवन के आगे-पीछे दाहिने-बाएँ शास्त्रार्थ सुनने के लिए आकर जमा होगये। भद्ररुचि अपने प्राचीन और फटे वस्त्रों को धारण करके और भूमि पर घास फूस बिछा कर बैठ गया, परन्तु ब्राह्मण उसी कुरसी पर, जो वह अपने साथ लाया था, बैठकर सत्यधर्म को बुरा और विरोधियों के सिद्धान्तों की प्रशंसा करने लगा।

भिक्षु ने स्पष्ट रूप से धारा बाँधकर उसकी सब युक्तियों को घेर लिया, यहाँ तक कि कुछ देर के उपरान्त ब्राह्मण दब गया और उसने अपनी हार स्वीकार कर ली।

राजा ने कहा, "बहुत दिन तक तुम्हारी झूठी प्रतिष्ठा होती रही, तुम्हारे झूठ का प्रभाव जिस प्रकार राजा पर था उसी प्रकार जनसमुदाय को भी धोखा खाना पड़ा। हमारे यहाँ की पुरानी प्रथा है कि जो कोई शास्त्रार्थ में परास्त हो जाता है उसको प्राण-दण्ड दिया जाता है।" यह कह कर उसने आज्ञा दी कि लोहे का तख़्ता गरम किया जाय और उस पर यह बैठाया जाय। ब्राह्मण इस आज्ञा से भयभीत होकर उसके चरणों पर गिर पड़ा और क्षमा का प्रार्थी हुआ।

उस समय भद्ररुचि ब्राह्मण पर दया करके राजा के पास आकर कहने लगा, "महाराज! आपके पुण्य का प्रसार बहुत दूर तक हो रहा है; आपकी कीर्ति दिगन्तव्यापिनी है। कृपा करके आप अपने पुण्य को और भी अधिक परिवर्द्धित करने के लिए इस आदमी को प्राणदान दीजिए और अपने चित्त में दया को स्थान दीजिए"। तब राजा ने यह आज्ञा दी कि यह व्यक्ति गधे पर सवार कराके सब ग्रामों और नगरों में घुमाया जाय।

ब्राह्मण अपनी हार से इतना अधिक पीड़ित होगया था कि उसके मुख से रुधिर बहने लगा। भिक्षु उसकी इस दशा का समाचार पाकर उसको आश्वासन देने के लिए उसके पास गया और कहने लगा, "आपकी विद्वत्ता बहुत बढ़ी-चढ़ी है, आपने पुनीत और अपुनीत दोनों सिद्धान्तों का मनन किया है, आपकी कीर्ति सब ओर है; अब रही प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा अथवा हार जीत—सो यह तो हुआ ही करती है। और, अन्त में कीर्ति है ही कौन वस्तु?" ब्राह्मण उसके शब्द सुनकर क्रुद्ध होगया और भिक्षु को गालियाँ देने लगा।

उसने महायान सम्प्रदाय को लपेटते हुए पूर्वकलिक पुनीत पुरुषों तक को अपशब्दों से अपमानित कर दिया। परन्तु उसके शब्द समाप्त होने भी न पाये थे कि भूमि फट गई और वह सजीव उसके भीतर चला गया। यही कारण है कि उसका चिह्न खाईं में अब तक वर्तमान है।

यहाँ से दक्षिण-पश्चिम में चलकर हम समुद्र की खाड़ी[1] पर पहुँचे और वहाँ से २,४०० या २,५०० ली उत्तर-पश्चिम दिशा में जाकर ओ-च-अ-ली राज्य में गये।

ओचअली (अटाली)[2]

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ६,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल लगभग २० ली है। आबादी घनी और

[1] इस स्थान के वाक्य का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है कि 'यहाँ से दक्षिण-पश्चिम दिशा में चलकर हम दो समुद्रों के सङ्गम पर पहुँचे।' परन्तु इस स्थान पर जो शब्द हैं उनका अर्थ सङ्गम और खाड़ी दोनों होता है। सेमुअल बील साहब ने खाड़ी (bay) ही लिखा है। कदाचित् यह कच्छ की खाड़ी होगी। हुइली ने इस खाड़ी का नाम नहीं लिखा है, बल्कि ब्राह्मणों के नगर से यात्री को सीधा ओ-च-अ-ली को पहुँचाया है।

[2] ओ-च-अ-ली का स्थान कदाचित् कच्छ से दूर उत्तर दिशा में था। और शायद 'उछ' या 'बहावलपुर' माना जा सकता है। मुलतान के निकट एक क़सबा अटारी (Cunningham, Anc. Geog., p. 228) नामक है, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि वहाँ पर यात्री क्यों गया था। कनिंघम साहब ब्राह्मणों के एक नगर को, जिस पर सिकन्दर का अधिकार होगया था, यह स्थान निश्चय करते हैं।

रत्न तथा बहुमूल्य धातुएँ यहाँ पर बहुत पाई जाती हैं। भूमि की भी पैदावार आवश्यकतानुसार यथेष्ट होती है तो भी वाणिज्य लोगों का मुख्य व्यवसाय है। भूमि लोनही और रेतीली है। फूल-फल की उपज अधिक नहीं होती। इस देश में हुट्सियन (hutsian) वृक्ष बहुत होते हैं। इस वृक्ष की पत्तियाँ Sz'chuen (एक प्रकार की मिर्च) वृक्ष के समान होती हैं। यहाँ पर हियूनल् सुगंधि वृक्ष (hiun-lu) भी उत्पन्न होता है जिसकी पत्तियाँ थैङ्गली (thang-li) वृक्ष के समान होती हैं। प्रकृति गरम है, और आँधी तथा गर्द गुब्बार की बहुतायत रहती है। लोगों का स्वभाव मृदुल और शुद्ध है। ये लोग सम्पत्ति का आदर और धर्म का अनादर करते हैं। यहाँ के लोगों की भाषा, अक्षर, सूरत-शकल और चलन-व्यवहार इत्यादि मालवा-देशवालों के समान है। अधिकतर लोगों की श्रद्धा धार्मिक कृत्यों पर नहीं है; जो कुछ धार्मिक लोग हैं भी वे स्वर्गीय देवी देवताओं की उपासना करते हैं। इन लोगों के मन्दिरों की संख्या कई हज़ार है जिनमें भिन्न भिन्न मतावलम्बी उपस्थित हुआ करते हैं।

मालवा-देश से उत्तर-पश्चिम लगभग ३०० ली चल कर हम क-ई-च-अ (कच्छ) देश में पहुँचे।

क-ई-च-अ[1] (कच्छ)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ३,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल २० ली है। आबादी घनी और लोग

[1] सेमुअल बील साहब क-ई-च-अ को कच्छ निश्चय करते हैं क्योंकि हुइली साहब मालवा से इस स्थान तक की तीन दिन की

सम्पत्तिशाली हैं। यहाँ का नरेश स्वाधीन नहीं है वरंच मालवा के अधीन है। प्रकृति, भूमि की उपज और मनुष्यों का चलन-व्यवहार आदि दोनों देशों का अभिन्न है। कोई दस संघाराम और लगभग १,००० साधु हैं जो हीन और महा दोनों सम्प्रदायों का अनुगमन करते हैं। कितने ही देवमन्दिर भी हैं जिनमें विरोधियों की संख्या ख़ूब है।

यहाँ से उत्तर दिशा में लगभग १,००० ली चल कर हम फ-ल-पी में पहुँचे।

फ-ल-पी (वलभी)[1]

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ६,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल लगभग ३० ली है। भूमि की दशा, प्रकृति और लोगों का चलन-व्यवहार आदि मालवा-राज्य के समान

यात्रा बतलाते हैं जो हुएन सांग के दिये हुए ३०० ली के बराबर माना जा सकता है। कनिंघम साहब इस दूरी को १,३०० ली, जो धार और खेड़ा के मध्य की दूरी है, निश्चय करते हैं। खेड़ा गुजरात में एक बड़ा नगर है जो अहमदाबाद और खम्बात के मध्य में स्थित है। खेड़ा शब्द चीनी-भाषा के क-ई-च-अ शब्द से मिलता-जुलता भी है। परन्तु यह नगर है देश नहीं; इसके अतिरिक्त दूरी का भी मिलान नहीं होता इसी लिए सेमुअल बील साहब ने वैसा निश्चय किया है।

[1] हुएन सांग और हुइली दोनों कच्छ से वलभी (फ-ल-पी) को उत्तर दिशा में लिखते हैं परन्तु वास्तव में होना दक्षिण दिशा में चाहिए। उत्तर मानने से हुएन सांग की फ-ल-पी (वलभी) का पता नहीं चलता। चीनी-भाषा की मूल पुस्तक के एक नोट से विदित होता है कि वलभी उत्तरी लारा लोगों की राजधानी थी।

है। आबादी बहुत घनी और निवासी धनी और सुखी हैं। कोई सौ परिवार तो ऐसे धनशाली हैं कि जिनके पास एक करोड़ से अधिक द्रव्य है। दुष्प्राप्य और बहुमूल्य वस्तुएँ दूर दूर के देशों से अधिकता के साथ लाकर इस देश में इकट्ठी की जाती हैं। कोई सौ संघाराम हैं जिनमें लगभग ६,००० साधु निवास करते हैं। इन लोगों में से अधिकतर समातीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अनुसरण करते हैं।[१] कई सौ देवमन्दिर भी हैं जिनमें अनेक मतावलम्बी विरोधी उपासना करते हैं।

जिन दिनों तथागत भगवान् जीवित थे, वे बहुधा इस देश में यात्रा किया करते थे। इस कारण अशोक ने उन सब

[१] वलभी के नरेश गुहसेन का एक ताम्रपत्र मिला है जिसमें लिखा है—"मैं अपने पूर्वजों के और स्वयं अपने पुण्य को इस जन्म और जन्मान्तर में सुरक्षित रखने के लिए यह दानपत्र उन शाक्य भिक्षुओं के निमित्त लिखता हूँ जो अठारह निकायवाले होंगे, और सब दिशाओं में भ्रमण करते हुए डुड्डा के महाविहार में पधारे हैं।" (Ind. Ant., Vol. IV, p. 175) यह डुड्डा, ध्रुवसेन (प्रथम) की बहिन की पुत्री और वलभी-राज्य के संस्थापक भट्टारक की दौहित्री थी। गुहसेन के दूसरे ताम्रपत्र पर इस प्रकार दान है। दूर देशस्थ अठारह निकाय के महन्त और भट्टारक के भवन के निकट महात्मा मिम्मा के बनवाये हुए आभ्यन्तरिक विहार के निवासी राजस्थानीय शूर लोगों के प्रति दान किया गया।" देखो Ind. Ant., Vol. V, p. 206; Conf. Vassilief Le Bouddh, p. 63; Arch. Sur. W. Ind. Reports, Vol. III, p. 94 इन दोनों ताम्रपत्रों में अठारह निकाय का उल्लेख हीनयान-सिद्धान्तों का सूचक है।

स्थानों में जहाँ जहाँ पर वह ठहरे अथवा गये थे, स्मारक या स्तूप बनवा दिये हैं। इन स्थानों में अनेक ऐसे भी हैं जहाँ पर गत चारों बुद्ध उठते बैठते अथवा धर्मोपदेश करते रहे हैं। वर्तमान नरेश जाति का क्षत्री और मालवा के शिलादित्य राजा का भतीजा तथा कान्यकुब्ज के वर्तमान नरेश शिलादित्य का दामाद है। इसका नाम ध्रुवपट[1] है। यह नरेश बहुत ही फुर्तीले स्वभाव का है। इसका ज्ञान और राज्य-प्रबन्ध साधारण है। बहुत थोड़े समय से रत्नत्रयी की ओर इसका चित्त आकृष्ट हुआ है। यह प्रत्येक वर्ष एक बड़ी भारी सभा संगठित करता है और सात दिन तक बराबर बहुमूल्य रत्न, उत्तम भोजन, तीनों प्रकार के वस्त्र, और ओषधियाँ अथवा उनका मूल्य तथा सातों प्रकार के रत्नों से बनी हुई बहुमूल्य वस्तुएँ साधुओं को दान करता है। यह सब दान करके वह फिर भी उन सब वस्तुओं को दो बार द्रव्य देकर खरीद कर लेता है। यह व्यक्ति पुण्य की प्रतिष्ठा और

[1] डाक्टर बुलर कहते हैं कि यह राजा शिलादित्य (छठा) था जिसका उपनाम ध्रुभट था। डाक्टर साहब ध्रुभट शब्द ध्रुवभट का अपभ्रंश समझते हैं। इस राजा का एक दानपत्र संवत् ४४७ का मिला है (Ind. Ant., Vol. VII, p. 80) कनिंघम साहब की भी यही राय है (देखो A. S. Reports, Vol. IX, pp. 16,18) परन्तु बर्गेस साहब इसको ध्रुवसेन द्वितीय मानते हैं। इस वलभी-नरेश का एक दानपत्र संवत् ३१० का मिला है (Arch. Sur. W. Ind., Vol. II, pp. 82 ff.) और ओल्डनबर्ग साहब कहते हैं कि यह नरेश ढेरभट था जो ध्रुवसेन (द्वितीय) का भाई था। (Ind. Ant., Vol. X, p. 219)

शुभ कार्यों का आदर अच्छी तरह पर करता है, तथा जो लोग ज्ञानी महात्मा होते हैं उनकी अच्छी सेवा करनेवाला है। जो बड़े बड़े महात्मा साधु दूर देशों से आते हैं उनका आदर-सत्कार बहुत विशेष रूप से किया जाता है।

नगर से थोड़ी दूर पर एक संघाराम है जिसको आचार[1] नाम के अरहट ने बनवाया था। इस स्थान पर गुणमति और स्थिरमति[2] महात्माओं ने यात्रा करते हुए आकर कुछ दिन तक निवास किया था, और ऐसे उत्तम ग्रन्थों का निर्माण किया था जो सदा के लिए प्रसिद्ध होगये।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग ७०० ली चल कर हम 'ओननटोपुलो' में पहुँचे।

[1] वलभी के धारसेन (द्वितीय) के दानपत्र से भी जिसमें संस्थापक का नाम 'अथय' लिखा हुआ है। इस बात की पुष्टि होती है। (Ind. Ant., Vol. IV, p. 164 n.; Vol. VI, p. 4) जुलियन साहब इस शब्द को 'आचार्य्य' मानते हैं।

[2] स्थिरमति स्थविर वसुबन्धु का प्रसिद्ध शिष्य था जिसने अपने गुरु की पुस्तकों पर टीकायें लिखी थीं। धारसेन प्रथम के दानपत्र में लिखा है कि आचार्य महन्त स्थिरमति ने श्री बप्पपाद नाम का विहार वलभी में बनवाया था (Ind. Ant., Vol. VI, p. 9; Vassilief, p. 78; M. Muller's India, p. 305; B. Nanjio's Cat. Bud. Trip, c. 372) गुणमति भी वसुबन्धु का शिष्य था। वसुमित्र भी इसका प्रसिद्ध शिष्य था जिसने वसुबन्धु के 'अभिधर्म कोष' की टीका लिखी थी। (Bunyin Nanjio's Cat. Bud. Trip, cc. 375,377; M. Muller Ind., pp. 305,309, 310, 632; Burnouf Introd., p.505; Vassilief, p. 78.)

ओननटोपुलो (अनन्दपुर)

इस देश का क्षेत्रफल लगभग २,००० ली और राजधानी का लगभग २० ली है। आबादी घनी और निवासी धनी हैं। यहाँ का कोई मुख्य राजा नहीं है; देश मालवा के अधीन है। यहाँ की पैदावार, प्रकृति, साहित्य और कानून इत्यादि वैसे ही हैं जैसे मालवा के हैं। कोई दस संघाराम हैं जिनमें १,००० से कुछ कम साधु निवास करते हैं और सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। बीस पच्चीस देवमन्दिर भी हैं जिनमें भिन्न भिन्न विधर्मी उपासना आदि किया करते हैं।

वलभी से ५०० ली के लगभग पश्चिम दिशा में जाकर हम सुलच अ देश में पहुँचे।

सुलच अ (सुराष्ट्र[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल ४,००० ली और राजधानी का

[1] सुराष्ट्र या सुराठ अथवा सोराठ। चूँकि यह राज्य गुजरात-प्रान्त में था इस कारण यह समझ में नहीं आता है कि माही नदी इसकी राजधानी के पश्चिम ओर क्यों कर थी। होनी तो पूर्व दिशा में चाहिए। इस स्थान की यात्रा का वर्णन कदाचित् असावधानी से लिखा गया है और इसका कारण कदाचित् वही है जैसा कि फ़र्गुसन साहब लिखते हैं, कि सिन्धु नदी पार करके अटक स्थान में यात्री के असली काग़ज़-पत्र खो गये थे (देखो अध्याय १२) और इसलिए जो कुछ लिखा गया वह याददास्त या नोटों के सहारे लिखा गया। इस स्थान के विशेष वृत्तान्त के लिए देखो V. de St. Martin Memoire, p. 405; Cunningham, Anc. Geog., p. 325.

३० ली है। मुख्य नगर की पश्चिमी सीमा पर माही नदी बहती है। आबादी घनी और अनेक परिवार विशेष धनशाली हैं। देश वलभी के आश्रित है। भूमि में निमक बहुत है, फल और फूल कम होते हैं। यद्यपि प्रकृति कोमल रहती है परन्तु कभी कभी आँधी के झोंखे भी आ जाते हैं। मनुष्यों का स्वभाव आलसी और व्यवहार तुच्छ तथा निकृष्ट है। यहाँ के लोग विद्या से प्रेम नहीं करते तथा विरुद्ध और बौद्ध दोनों धर्मों के माननेवाले हैं। इस राज्य भर में कोई ५० संघाराम हैं जिनमें स्थविर-संस्थानुकूल महायान-सम्प्रदायानुयायी कोई ३,००० साधु निवास करते हैं। लगभग १०० देवमन्दिर भी हैं जिन पर अनेक प्रकार के मतावलम्बियों का अधिकार है। क्योंकि यह देश पश्चिमी समुद्र के निकट है इसलिए सब मनुष्यों की जीविका समुद्र से ही चलती है। लोग वाणिज्य-व्यापार में अधिक संलग्न रहते हैं।

नगर से थोड़ी दूर पर एक पहाड़ यूह चेन टो (उजन्ता) नामक[1] है जिस पर पीछे की ओर एक संघाराम बना हुआ है। इसकी कोठरियाँ आदि अधिकतर पहाड़ खोद कर बनाई गई हैं। यह पहाड़ घने और जङ्गली वृक्षों से आच्छादित

[1] काठियावाड़ में जूनागढ़ के निकट गिरनार का प्राकृत-नाम उजन्ता है जिसका संस्कृत स्वरूप उज्जयन्त होता है। (देखो महाभारत) लैस्सन साहब की भूल है जो इसको अजन्टा अथवा उसका निकटवर्ती स्थान ख़याल करते हैं (Ind. Alt., Vol. I, p. 686) यह बाइसवें जिन नेमिनाथ और उज्जयत का स्थान है। (देखो Colebrooke Essays, Vol. II, p. 212; Arch. Sur. W. Ind. Rep., Vol. II, p. 129) इसको रैवत भी कहते हैं।

तथा इसमें सब ओर झरने प्रवाहित हैं। यहाँ पर महात्मा और विद्वान् पुरुष विचरण किया करते हैं तथा आध्यात्मिक-शक्ति-सम्पन्न बड़े बड़े ऋषि आकर एकत्रित हुआ करते और विश्राम किया करते हैं।

वलभी देश से १,८०० ली के लगभग उत्तर दिशा में चल कर हम कियोचेलो राज्य में पहुँचे।

कियोचेलो (गुर्जर)[1]

इस राजधानी का क्षेत्रफल लगभग ५,००० ली और राजधानी, जिसका नाम पि-लो-मो-लो[2] है, लगभग ३० ली के घेरे में है। भूमि की उपज और मनुष्यों का चलन-व्यवहार सुराष्ट्रवालों से बहुत मिलता-जुलता है। आबादी घनी तथा निवासी धनी और सब प्रकार की सम्पत्ति से सम्पन्न हैं।

[1] प्रो० भाण्डारकर की राय है कि नासिक के पुलुमाईवाले लेख में और गिरनार के रुद्रदमन के लेख में जिस 'कुकुर' ज़िले का नाम आया है वही कियोचेलो है, परन्तु चीनी लेख इसके प्रतिकूल हैं। (Trans. Int. Cong. Orient, 1874, p. 312; Arch. Sur. W. Ind. Rep., Vol. IV, p. 109 और Vol. II. pp. 129, 131) शुद्धतया यह गुर्जर ही है और वर्तमान काल के राजपूताना और मालवा के दक्षिण भाग में जहाँ तक गुजराती भाषा का प्रचार है यह स्थान माना गया है। देखो (Lassen, Ind. Alt., Vol. I, p. 136; Colebrooke Essays, Vol. II, p. 31n; राजतरङ्गिणी ५—१४४)।

[2] राजपूताना का बाड़मेर नामक स्थान जहाँ से काठियावाड़ की अनेक जातियों के जाने का पता लगता है।

अधिकतर लोग अन्य धर्मावलम्बी हैं, केवल थोड़े से ऐसे हैं जो बुद्धधर्म का मनन करते हैं। केवल एक संघाराम है जिसमें लगभग १०० संन्यासी हैं। सबके सब सर्वास्तिवाद-संस्था के हीनयान-सम्प्रदायी हैं। पचासों देवमन्दिर हैं जिनमें अनेक विरोधी उपासना करते हैं। राजा जाति का क्षत्री है। इसकी अवस्था २० साल की है तथा बड़ा साहसी और बुद्धिमान् है। बुद्ध-धर्म में उसकी भक्ति बहुत है तथा योग्य महात्माओं की बड़ी प्रतिष्ठा करता है।

यहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग २,८०० ली चल कर हम उशेयनना देश में पहुँचे।

उशेयनना (उज्जयनी)

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ६,००० ली और राजधानी का लगभग ३० ली है। पैदावार तथा मनुष्यों का स्वभाव इत्यादि ठीक सुराष्ट्र देश के समान है। आबादी घनी और जनसमुदाय सम्पत्तिशाली है। कोई पचासों संघाराम हैं जो सबके सब उजाड़ हैं। केवल दो चार ऐसे हैं जिनकी अवस्था सुधरी हुई है। कोई ३०० साधु हैं जो हीन और महा दोनों यानों का अध्ययन करते हैं। पचासों देवमन्दिर भी हैं जिनमें अनेक प्रकार के विरोधियों का निवास है। राजा जाति का ब्राह्मण और अन्य धर्मावलम्बियों के शास्त्रों में भली भाँति दक्ष है; सत्य धर्म का भक्त नहीं है।

नगर से थोड़ी दूर पर एक स्तूप है। इस स्थान पर अशोक राजा ने नर्क बनाया था।

यहाँ से १,००० ली के लगभग उत्तर-पूर्व में जाकर हम चिकिटो राज्य में पहुँचे।

चिकिटो

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली और राजधानी का १५ या १६ ली है। यहाँ की भूमि उत्तम उपज के लिए सुप्रसिद्ध है और योग्यतापूर्वक जोती बोई जाने के कारण अच्छी फ़सल उत्पन्न करती है। विशेषकर सेम और जौ अच्छा पैदा होता है। फूल और फल की भी बहुतायत रहती है। प्रकृति कोमल और मनुष्य स्वभावतः पुण्यात्मा और बुद्धिमान् हैं। अधिकतर लोग विरुद्ध धर्मावलम्बी हैं, कुछ थोड़े से लोग बुद्ध-धर्म को भी मानते हैं। संघाराम तो बीसों हैं पर उनमें बहुत थोड़े साधु हैं। कोई दस देव-मन्दिर हैं जिनके उपासकों की संख्या अगणित है। राजा जाति का ब्राह्मण और (तीनों) बहुमूल्य वस्तुओं का कट्टर भक्त है। जो लोग ज्ञान और तप में प्रसिद्ध होते हैं उनकी अच्छी प्रतिष्ठा करता है। अगणित विद्वान् पुरुष सुदूर देशों से बहुधा यहाँ आया करते हैं।

यहाँ से लगभग ६०० ली उत्तर दिशा में चल कर हम 'मोही शीफा लोपुलो' राज्य में पहुँचे।

मोही शीफालोपुलो (महेश्वरपुर)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ३,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल लगभग ३० ली है। भूमि की उपज और लोगों का आचरण उज्जयनीवालों के समान है। विरोधियों के सिद्धान्तों की यहाँ पर बड़ी प्रतिष्ठा है, बुद्ध-धर्म की कुछ पूछ नहीं। पचासों देव-मन्दिर हैं और साधु अधिकतर पाशुपत हैं। राजा जाति का ब्राह्मण है; बुद्ध-सिद्धान्तों पर उसका कुछ भी विश्वास नहीं है।

यहाँ से पीछे लौट कर गुर्जरदेश और गुर्जरदेश से उत्तर दिशा में बीहड़ रेगिस्तान और भयंकर मार्गों में होते हुए सिएटु नदी पार करके हम सिएटु देश में पहुँचे।

सिएटु (सिन्ध)

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ७,००० ली और राजधानी, जिसका नाम 'पइशेनयओपुलो'[1] है, लगभग ३० ली के घेरे में है। इस देश की भूमि अन्नादि की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त है तथा गेहूँ, बाजरा आदि अच्छा पैदा होता है। सोना, चाँदी और ताँबा भी बहुत होता है। इस देश में बैल, भेड़, ऊँट, खच्चर आदि पशुओं के पालने का भी अच्छा सुभीता है। ऊँट छोटे छोटे और एक ही कूबरवाले होते हैं। यहाँ लाल रंग का निमक बहुत होता है। इसके अतिरिक्त सफ़ेद, स्याह और चट्टानी निमक भी होता है। यह दूर तथा निकटवर्ती अनेक देशों में दवा के काम आता है। मनुष्य, स्वभाव से कठोर होने पर भी सच्चे और ईमानदार बहुत हैं। लोगों में लड़ाई-झगड़ा और वैर विरोध बहुधा बना रहता है। बुद्ध-धर्म पर विश्वास होने पर भी विद्या का अध्ययन किसी भलाई के लिए नहीं किया जाता। कई सौ संघाराम हैं जिनमें दस हज़ार से अधिक साधु निवास करते हैं। ये सब सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदायी हैं। ये बड़े आलसी और भोग-विलास में लिप्त रहनेवाले हैं। जिन

[1] जुलियन साहब इसको विचवपुर निश्चय करते हैं और रेनाड साहब वस्मपुर अथवा वल्मपुर और मीनगर निश्चय करते हैं। (देखो Ind. Ant., Vol. VIII, p. 336)

लोगों को पवित्र महात्माओं के समान जीवन व्यतीत करने और तपस्या करने की अभिरुचि होती है वे सुदूरवर्ती पहाड़ों और जङ्गलों में जाकर एकान्तवास करते हैं। वहाँ पर पुनीत फल प्राप्त करने के अभिप्राय से वे लोग रात-दिन उत्कट परिश्रम करते रहते हैं। कोई ३० देव-मन्दिर हैं जिनमें अनेक विरोधी उपासना किया करते हैं।

राजा जाति का शूद्र है और स्वभावतः सच्चा, ईमानदार और बुद्ध-धर्म का माननेवाला है।

तथागत भगवान् ने अपने जीवन-काल में बहुधा इस देश में फेरा किया है; इसलिए अशोक ने उन सब पुनीत स्थानों में जहाँ पर उनके पदार्पण करने के चिह्न पाये गये थे, बीसों स्तूप बनवा दिये हैं। उपगुप्त महात्मा भी अनेक बार इस देश में भ्रमण करके धर्म का उपदेश और मनुष्यों को सन्मार्ग का प्रदर्शन करता रहा है। जहाँ जहाँ पर इस महात्मा ने विश्राम किया था अथवा कुछ चिह्न छोड़ा था उन सब स्थानों में संघाराम अथवा स्तूप बनवा दिये गये हैं। इस प्रकार की इमारतें प्रत्येक स्थान में वर्तमान हैं जिनका केवल संक्षिप्त वृत्तान्त हम दे सकते हैं।

सिन्धु नदी के किनारे निचली भूमि और तराई के मैदान में कई लक्ष परिवार निवास करते हैं। ये लोग बड़े ही निर्दय और क्रोधी स्वभाव के होते हैं। इनका काम केवल मार-काट, लोहू-लुहान करना ही है। ये पशुओं को पालते हैं और उन्हीं के द्वारा जीविका चलाते हैं। इन सबका कोई स्वामी नहीं है; और चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, धनी हो अथवा निर्धन, सब अपने सिर को मुड़ाए रहते हैं और भिक्षुओं के समान काषाय वस्त्र धारण करते हैं। इनका यह ठाठ दिखावा-मात्र है,

वास्तव में इनका सब काम संसारी पुरुषों के समान ही होता है। ये लोग हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी और महायान के विरोधी हैं।

प्राचीन कथानक से पता चलता है कि पूर्वकाल में ये लोग बड़ी क्रूर प्रकृति के थे। जो कुछ इनका कार्य होता था सब दुष्टता और कठोरता से भरा होता था। उसी समय में कोई अरहट भी था जो इन लोगों की विवेकशून्यता पर द्रवित होकर और इनको शिष्य बनाने के अभिप्राय से आकाश में गमन करता हुआ इस देश में उतरा। उसकी अद्भुत शक्ति और अनुपम क्षमता को देखकर लोग उसके भक्त हो गये। उसने धीरे-धीरे शिक्षा देकर सबको सत्य सिद्धान्तों का अनुगामी बना दिया। सब लोगों ने प्रसन्नता-पूर्वक उसके उपदेश को अंगीकार करके भक्तिपूर्वक इस बात की प्रार्थना की कि आप कृपा करके धार्मिक जीवन व्यतीत करने के नियम बतला दीजिए। अरहट ने इस बात को जान कर कि लोगों के चित्त में धर्मभाव का उदय हो चला है रत्नत्रयी का उपदेश देकर उनकी क्रूर वृत्ति को शान्त कर दिया। सब लोगों ने हिंसा को परित्याग करके अपने सिरों को मुँड़ा डाला और भिक्षुओं के समान काषाय वस्त्र धारण करके सत्य सिद्धान्तों का अनुशीलन भक्तिपूर्वक करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय से लेकर अब तक अनेक पीढ़ियाँ व्यतीत हो गई हैं तथा समय के हेर फेर से लोगों का धार्मिक प्रेम निर्बल हो गया है, तो भी रीति-रिवाज सब प्राचीन काल के समान ही बनी हुई हैं। यद्यपि ये लोग धार्मिक वस्त्र पहनते हैं परन्तु जीवन और आचरण में कुछ भी पवित्रता नहीं है। इन लोगों के बेटे और पोते बिलकुल

संसारी लोगों के समान हैं, धार्मिक कृत्यों की कुछ परवाह नहीं करते।

यहाँ से लगभग ६०० ली पूर्व दिशा में चलकर और सिन्धु नदी पार करके तथा उसके पूर्वी किनारे किनारे जाकर हम 'मुलो सन प उ लू' राज्य में पहुँचे।

मुलो सन प उ लू (मूलस्थानपुर)[1]

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली और राजधानी का क्षेत्रफल लगभग ३० ली है। यह नगर अच्छी तरह बसा हुआ है और यहाँ के निवासी सम्पत्तिशाली हैं। यह देश चेक-राज्य के अधीन है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है। प्रकृति कोमल और सह्य तथा मनुष्यों का आचरण सच्चा और सीधा है। ये लोग विद्या से प्रेम और ज्ञान की प्रतिष्ठा करते हैं। अधिकतर लोग भूत प्रेतों की पूजा और यज्ञ आदि करते हैं; बहुत थोड़े लोग बुद्धधर्म के अनुयायी हैं। कोई दस संघाराम हैं जो अधिकतर उजाड़ हैं। बहुत थोड़े से साधु हैं जो अध्ययन तो करते हैं परन्तु किसी उत्तमता की कामना से नहीं। कोई आठ देवमन्दिर हैं जिनमें अनेक जाति के उपासक निवास करते हैं। यहाँ पर एक मन्दिर सूर्य देवता का है जो असंख्य धन-व्यय करके बनाया और सँवारा गया है। सूर्य देवता की मूर्ति सोने की बनाई गई है और अलभ्य रत्नों से सुसज्जित है। इसका दैवी चमत्कार बहुत सूक्ष्म रूप से प्रकटित होता है जिसका वृत्तान्त सब लोगों पर भली भाँति

[1] मूलस्थानपुर अथवा मुलतान (देखो Reinaud, Mem. Inde, p. 98)

विदित है। यहाँ पर स्त्रियाँ ही गाती बजाती हैं, दीपक जलाती हैं और सुगंध पुष्प इत्यादि से पूजा-अर्चा करती हैं। यह प्रथा बहुत पहले से चली आई है। सम्पूर्ण भारत के राजा और बड़े बड़े लोग बहुधा इस स्थान की यात्रा करके रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थ भेट चढ़ाते हैं। यहाँ पर एक पुण्यशाला भी बनी हुई है जिसमें रोगी और दरिद्र पुरुषों की सहायता और सुख के लिए खाद्य, पेय और ओषधि इत्यादि सब प्रकार के पदार्थों का संग्रह रहता है। सब देशों के लोग अपनी पूजा-प्रार्थना के लिए यहाँ आया करते हैं। इन लोगों की संख्या सदा कई हज़ार के ऊपर रहती है। मन्दिर के चारों ओर सुन्दर तड़ाग और पुष्पोद्यान बने हुए हैं जहाँ पर हर एक आदमी बिना रोक-टोक घूम फिर सकता है।

यहाँ से लगभग ७०० ली पूर्वोत्तर दिशा में चलकर हम 'पोफाटो' प्रदेश में पहुँचे।

पोफाटो (पर्वत)[१]

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ५,००० ली और इसकी राजधानी का लगभग २० ली है। इसकी आबादी घनी है और चेक-देश का इस पर अधिकार है। यहाँ पर धान अच्छा पैदा होता है तथा यहाँ की भूमि सेम और गेहूँ पैदा करने के लिए भी उपयुक्त है। प्रकृति कोमल और मनुष्य सच्चे और इमानदार हैं। यहाँ के लोगों में स्वभाव से ही चुस्ती

[१] पाणिनि ने भी तक्षशिलादि के साथ पंजाब में 'पर्वत' नामक देश का उल्लेख किया है। (४–२–१४३ ; ४-३-९३) Ind. Ant., Vol. I, p. 22

चालाकी और फुर्तीलापन होता है। भाषा इनकी साधारण है। ये लोग अपने साहित्य और कविता में बड़े निपुण होते हैं। विरोधी और बौद्ध दोनों बराबर हैं। कोई दस संघाराम और लगभग १,००० साधु हैं जो हीन और महा दोनों यानों का अध्ययन करते हैं। कोई चार स्तूप अशोक राजा के बनवाये हुए हैं। भिन्न भिन्न विरोधियों के कोई २० देवमन्दिर भी हैं।

मुख्य नगर की बगल में एक बड़ा संघाराम है जिसमें लगभग १०० साधु निवास करते हैं। ये लोग महायान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। इसी स्थान पर जिनपुत्र शास्त्री ने 'योगाचार्यभूमिशास्त्रकारिका' नामक ग्रंथ को बनाया था[1]। भद्ररुचि और गुणप्रभ नामक शास्त्रियों ने भी इसी स्थान पर धार्मिक जीवन को अङ्गीकार किया था। यह बड़ा संघाराम अग्निकोप से बर्बाद होगया है, और इस-लिए आज-कल बहुत कुछ उजाड़ पड़ा है।

सिंध देश से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग ,५०० अथवा १,६०० ली चलकर हम 'ओ-टिन-प-ओ-चिलो' नामक राज्य में आये।

ओ-टिन-प-ओ-चिलो (अत्य नबकेल)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ५,००० ली और मुख्य नगर का नाम 'खिट्सी शिफालो' है जिसका क्षेत्रफल लगभग

[1] जिनपुत्र का यह ग्रंथ, मैत्रेय के 'योगाचार्यभूमिशास्त्र' नामक ग्रंथ की टीका है। मूल और टीका इन दोनों ग्रन्थों का अनुवाद चीनी-भाषा में हुएन सांग ने किया था।

१० ली है। यह सिन्धु नदी के किनारे से लेकर समुद्र के तट तक फैला है। लोगों के निवासभवन बहुत मनोहर बने हुए हैं तथा सब प्रकार की बहुमूल्य वस्तुओं से भरे पूरे हैं। थोड़े दिनों से यहाँ का कोई शासक नहीं है बल्कि यह सिन्ध देश के अधिकार में है। भूमि नीची और तर तथा नमक से भरी हुई है। झाड़ी जङ्गल इस देश में बहुत हैं इस कारण भूमि का अधिक भाग यों ही पड़ा हुआ है। जो कुछ थोड़ी सी भूमि जोती बोई जाती है उसमें कई प्रकार का अनाज उत्पन्न होता है, विशेषकर मटर और गेहूँ बहुत अच्छा पैदा होता है। प्रकृति कुछ शीतल तथा आँधी तूफ़ान का विशेष ज़ोर रहता है। बैल, भेड़, ऊँट, गधे आदि पशुओं के पोषण के लिए यह देश बहुत उपयुक्त है। मनुष्यों का स्वभाव दुष्टता और चालाकी से भरा हुआ है। इन लोगों को विद्या से प्रेम नहीं है। इनकी भाषा और मध्यभारत की भाषा में बहुत थोड़ा भेद है। जो लोग सच्चे और ईमानदार हैं उनका, उपासना के तीनों पूज्य अङ्गों से विशेष प्रेम है। कोई अस्सी संघाराम हैं जिनमें लगभग ५,००० साधु हैं। ये लोग सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं। कोई दस देवमन्दिर हैं जो अधिकतर विरोधियों के पाशुपत सम्प्रदाय के अधिकार में हैं। राजधानी में एक मन्दिर महेश्वरदेव का है। यह बहुमूल्य पत्थरों से बनाया गया है तथा देवता की मूर्ति आध्यात्मिक चमत्कारों से परिपूर्ण है। पाशुपत साधु इस मन्दिर में निवास करते हैं। प्राचीन काल में बहुधा तथागत भगवान् इस देश में आते रहे हैं और मनुष्यों को धर्मोपदेश करके शिष्य बनाते और सन्मार्ग पर लाकर लाभ पहुँचाते रहे हैं। इस करण छः

स्थानों पर, जहाँ पुनीत चरित्रों का चिह्न मिला था, अशोक ने स्तूप बनवा दिये हैं।

यहाँ से कुछ कम २००० ली चलकर हम 'लङ्कीलो' देश में पहुँचे।

लङ्कीलो (लङ्गल[1])

यह देश कई हज़ार ली के घेरे में है। राजधानी का क्षेत्र-फल ३० ली है। इसका नाम 'सुनुलीची फालो' (सूनुरी-श्वर ?) है [2]। भूमि अच्छी और उपजाऊ होने से फ़सलें उत्तम होती हैं। प्रकृति और लोगों का चलन व्यवहार 'ओटिनप ओचिलो' वालों के समान है। आबादी घनी है। यहाँ पर बहुमूल्य पत्थर और रत्नों की बहुतायत है। यह देश समुद्र तट तक फैला हुआ है और पश्चिमी स्त्रियों वाले राज्य के मार्ग में पड़ता है। इसका कोई मुख्य शासक नहीं है। सब लोग अपने अपने कार्यों में स्वाधीन हैं, परन्तु फ़ारस की सत्ता में हैं। अक्षर प्रायः वही हैं जो भारत में प्रचलित हैं। भाषा में कुछ थोड़ा सा अन्तर है। विरोधी और बौद्ध परस्पर मिले-जुले निवास करते हैं। कोई सौ संघाराम और कदाचित्

[1] कनिंघम साहब इस देश को 'लाकोरिश्रान' अथवा 'लकूर' अनुमान करते हैं। यह किसी प्राचीन बड़ी नगरी का नाम है जिसके डीह और खँडहर खोज़दार और किलात के बीच में पाये गये हैं, और जो कच्छ के कोटेसर से लगभग २००० ली उत्तर-पश्चिम में है (Anc. Geog. of Ind., p. 311)

[2] कनिंघम साहब इसको 'सम्भुरीश्वर' ख़याल करते हैं।

६,००० साधु हैं जो हीन और महा दोना यानों का अध्ययन करते हैं। कई सौ देवमन्दिर भी हैं। विरोधी सम्प्रदायों में पाशुपत लोगों का बाहुल्य है। नगर में एक मन्दिर महेश्वर-देव का है जिसकी बनावट और सजावट बहुत अच्छी है। पाशुपत लोग यहाँ अपनी धार्मिक उपासना किया करते हैं।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम को चलकर हम 'पोलस्से' राज्य में पहुँचे।

पोलस्से (फ़ारस[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल बहुत है। इसके मुख्य नगर का नाम 'सुलस टाङ्गन' (सुरस्थान) है जिसका क्षेत्रफल लगभग ४० ली है। यहाँ पर घाटियाँ बहुत हैं इस कारण प्रकृति के स्वरूप में भेद है, तो भी साधारण रीति से देश गरम है। यहाँ पानी खींचकर खेतों की सिंचाई की जाती है। लोग धनी और सम्पत्तिशाली हैं। इस देश में सोना, चाँदी, ताँबा, स्फटिक, बहुमूल्य मोती तथा अन्यान्य क़ीमती चीज़ें अच्छी होती हैं। यहाँ के कारीगर महीन रेशमी वस्त्र, ऊनी कपड़े और दरी इत्यादि अनेक प्रकार की वस्तुएं बनाते हैं। यहाँ ऊँट और घोड़े भी होते हैं। व्यवसाय वाणिज्य में चाँदी के बड़े बड़े सिक्के प्रचलित हैं। यहाँ के लोग स्वभाव से दुष्ट और झगड़ालू हैं; इन लोगों के चलन व्यवहार में न तो सभ्यता ही की झलक पाई जाती है और न न्याय ही की। इस देश की लिखावट और भाषा दूसरे देशों से भिन्न है। ये लोग विद्या

[1] यह देश भारत के अन्तर्गत नहीं है यात्री ने स्वयं इसको नहीं देखा, सुनी सुनाई बातों के आधार पर यहाँ का हाल लिखा है।

की परवाह नहीं करते वरंच पूर्ण रूप से शिल्प ही की ओर दत्तचित्त रहते हैं। जो कुछ यहाँ के लोग उद्यम करते हैं उसकी निकटवर्ती देशों में बड़ी क़दर होती है। इनकी विवाह-सम्बन्धी रीति में किसी प्रकार का विवेक और विचार नहीं किया जाता। मर जाने पर लोगों के शव बहुधा फेंक दिये जाते हैं। डील डौल इनका ऊँचा होता है और ये बालों को ऊपर की ओर बाँध कर नंगे सिर रहते हैं। इनके वस्त्र, रेशम, ऊन, नमदा और रेशमी बेलबूटेदार होते हैं। प्रत्येक परिवार को प्रति व्यक्ति पर चार रुपया टैक्स देना पड़ता है। देवताओं के मन्दिर बहुत हैं। विरोधी लोग दिनव (टिनयो[1]) की अधिक पूजा करते हैं। कोई दो या तीन संघाराम हैं जिनमें कई सौ साधु सर्वास्ति-वाद-संस्था के (हीनयान-सम्प्रदायी) हैं। इस देश के राजा के भवन में शाक्य बुद्ध का पात्र[2] है।

देश की पूर्वी सीमा पर होमो (आरमस ?) नगर है। नगर का भीतरी भाग विशेष बड़ा नहीं है परन्तु बाहरी चहार-दीवारी का घेरा लगभग ६० ली है। लोग जो इस नगर में

[1] जुलियन साहब इस शब्द को संदिग्ध रूप से दिनभ, दिनव अथवा दिनप निश्चय करते हैं। कदाचित् दिनप (ति) का, जिसका अर्थ 'सूर्य' है, बिगड़ा हुआ स्वरूप मानना समुचित होगा।

[2] बुद्धपात्र के फिरने का वृत्तान्त देखो फ़ाहियान की पुस्तक अ० ३९। इससे पता लगता है कि हुएन सांग के समय में बुद्ध-धर्म फ़ारस में पहुँच चुका था और वहाँ पर दो तीन संघाराम भी बन गये थे, परन्तु प्रचार केवल हीनयान-सम्प्रदाय का था इससे कदाचित् यह अनुमान हो सकता है कि उस समय तक कुछ ही दिन इस धर्म को वहाँ पहुँचे हुए थे।

रहते हैं सबके सब बहुत धनी हैं। इस देश की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर फोलिन राज्य[1] है जहाँ की भूमि, चलन-व्यवहार और रीति-रस्म बिलकुल फ़ारस देश के समान है, परन्तु लोगों का स्वरूप और उनकी भाषा में अन्तर है। इन लोगों के पास भी बहुमूल्य रत्न बहुत हैं और ये भी बड़े अमीर हैं। फोलिन के दक्षिण-पश्चिम, समुद्र के एक टापू में, पश्चिमी स्त्रियों का राज्य है[2]। यहाँ पर केवल स्त्रियाँ हैं, कोई भी पुरुष नहीं है। इन लोगों के पास रत्न बहुत हैं जिनका ये फोलिन-वालों से अदला-बदला किया करती हैं। इसलिए फोलिन-नरेश कुछ दिन के लिए कुछ पुरुष इनके साथ रहने के लिए भेज देता है। यदि नर बच्चा उत्पन्न हो तो वह इस देश में नहीं रहने पाता।

'ओटिन पओचिलो' राज्य छोड़कर और लगभग ७०० ली उत्तर में चल कर हम 'पिटोशिलो' देश में पहुँचे।

पिटोशिलो (पिता शिला)

यह राज्य लगभग ३,००० ली के घेरे में है और राजधानी का क्षेत्रफल लगभग २० ली है। आबादी घनी है। यहाँ का कोई मुख्य शासक नहीं है वरंच देश पर सिन्धवालों का अधिकार है। भूमि नमकीन और बलुई है। तेज़ तथा ठंढी

[1] फोलिन प्रायः बाइजेंटाइन-राज्य Byzantine Empire समझा जाता है।

[2] इस टापू अथवा पश्चिमी स्त्रियों के राज्य का वृत्तान्त देखो Marco Polo, Chap. XXXI,......and Colonel Yule's Note, (Vol. II, p. 339).

हवा बहुधा चला करती है। मटर और गेहूँ बहुत उत्पन्न होता है। फूल और फल की बहुलता नहीं है। मनुष्य भयानक और कुटिल हैं। इनकी और मध्यभारत की भाषा में बहुत थोड़ा अन्तर है। यद्यपि विद्या से इन लोगों का प्रेम नहीं है तो भी जो कुछ ज्ञान इन लोगों को है उस पर ये दृढ़ विश्वास रखते हैं। लगभग ३,००० साधुओं सहित कोई पचास संघाराम हैं जो सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। कोई बीस देवमन्दिर हैं जिनमें पाशुपत-सम्प्रदायी साधु उपासना किया करते हैं।

नगर के उत्तर में १५ या १६ ली चलकर एक बड़े जङ्गल में एक स्तूप है जो कि कई सौ फ़ीट ऊँचा है। यह अशोक का बनवाया हुआ है। इसके भीतर के शरीरावशेष में से समय समय पर प्रकाश निकला करता है। इस स्थान पर प्राचीन काल में तथागत भगवान् ऋषि के समान निवास करते थे और राजा की निर्दयता के शिकार हुए थे।

यहाँ से थोड़ी दूर पर पूर्व दिशा में एक प्राचीन संघाराम है जिसको महात्मा कात्यायन अरहट ने बनवाया था। इसके पास ही चारों बुद्धों के तपस्या के निमित्त उठते बैठते रहने के सब चिह्न हैं। लोगों ने यहाँ पर स्तूप बनवा दिया है।

यहाँ से ३०० ली उत्तर-पूर्व को चलकर हम 'ओफनच' देश में पहुँचे।

ओफनच (अवन्द ?)

इस राज्य का क्षेत्रफल २,४०० या २,५०० ली है और राजधानी का लगभग २० ली है। यहाँ का कोई मुख्य शासक नहीं है वरंच सिन्धवालों का अधिकार है। भूमि अनाज

इत्यादि की उपज के लिए बहुत उपयुक्त है। गेहूँ और मटर बहुत होता है, परन्तु फल फूल की पैदावार अधिक नहीं होती। जङ्गल बहुत कम हैं। ठंढक और आँधी आदि का ज़ोर रहता है। मनुष्य दुष्ट और भयानक हैं। भाषा सीधी पर अशुद्ध है। यहाँ के लोग विद्या से प्रेम नहीं करते, परन्तु रत्न-त्रयी के पूरे और सच्चे भक्त होते हैं। कोई २० संघाराम २,००० साधुओं सहित हैं जिनमें से अधिकतर सम्मतीय संस्थानुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। कोई पाँच देव-मन्दिर हैं जिनमें पाशुपत लोगों का अधिकार है।

नगर के उत्तर-पूर्व की ओर थोड़ी दूर पर बाँस के एक बड़े जङ्गल में एक संघाराम है जो अधिकतर बरबाद है। यहाँ पर तथागत ने भिक्षुओं को जूता पहनने की आज्ञा दी थी[1]। इसके पास एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। यद्यपि इसका निचला भाग भूमि में धँस गया है तो भी जो कुछ शेष है वह कई सौ फ़ीट ऊँचा है। इस स्तूप के पास एक विहार के भीतर बुद्धदेव की एक खड़ी मूर्ति नीले पत्थर की है। पुनीत दिनों में (व्रतोत्सव पर) इसमें से दैवी चमत्कार प्रकाशित होता है।

दक्षिण में ८०० क़दम पर एक जङ्गल के भीतर एक स्तूप है जिसको अशोक ने बनवाया था। इस स्थान पर किसी समय तथागत आकर ठहरे थे; रात्रि में ठंढक मालूम होने पर उन्होंने अपने तीन वस्त्रों को ओढ़ लिया था। दूसरे दिन

[1] जूता पहनने की आज्ञा के विषय में कुछ लेख महावर्ग में भी है। वर्ग १३ § 6 (S. B. E., Vol. XVII, p. 35) इस वृत्तान्त से अवन्द का मिलान अवन्ती से किया जाता है।

सबेरे भिक्षुओं को रुई इत्यादि से भरकर वस्त्र पहनने की आज्ञा दी थी। इस जङ्गल में एक स्थान है जहाँ तथागत तपस्या के लिए ठहरे थे। और भी बहुत स्तूप एक दूसरे के आमने सामने बने हुए हैं जहाँ पर गत चारों बुद्ध बैठे थे। इस स्तूप में बुद्धदेव के नख और बाल हैं। पुनीत दिनों में इनमें से अद्भुत प्रकाश प्रस्फुटित होता है।

यहाँ से लगभग ६०० ली उत्तर-पूर्व में चलकर हम फलन देश में पहुँचे।

फलन (वरन)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली और मुख्य नगर का लगभग २० ली है। आबादी घनी और देश पर कपिशवालों का अधिकार है। देश के मुख्य भाग में पहाड़ और जङ्गल अधिक हैं। भूमि नियमित रीति से जोती-बोई जाती है। आबोहवा कुछ शीतल है। मनुष्य दुष्ट और असभ्य हैं। ये लोग अपनी धुन के बड़े पक्के हैं परन्तु इनकी इच्छायें निकृष्ट ही होती हैं। इनकी भाषा कुछ कुछ मध्यभारत से मिलती-जुलती है कुछ लोग बुद्धधर्म पर विश्वास करते हैं और कुछ नहीं करते। यहाँ के लोग साहित्य अथवा गुण का आदर नहीं करते। कोई दस संघाराम हैं परन्तु सब तबाह हैं। कोई ३०० साधु हैं जो महायान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। कोई पाँच देवमन्दिर हैं जिन पर विशेषतया पाशुपत लोगों का अधिकार है।

नगर के दक्षिण में थोड़ी दूर पर एक प्राचीन संघाराम है। यहाँ पर तथागत भगवान् ने अपने सिद्धान्तों की उत्तमता और उनसे होनेवाले लाभों का वर्णन करके श्रोताओं के

हृदय-पटल को खोल दिया था। इसके पास गत चारों बुद्धों के, तपस्या के लिए उठने बैठने के चिह्न बने हुए हैं। इस देश की पश्चिमी सीमा पर 'किकियाङ्गन' राज्य है। लोगों की भिन्न भिन्न जातियाँ हैं, ये पहाड़ों और घाटियों में रहते हैं। इनका कोई मुख्य शासक नहीं है। ये लोग भेड़ और घोड़े बहुत पालते हैं। यहाँ के घोड़े बड़े डील-डौलवाले होते हैं। निकटवर्ती देशों में ऐसे घोड़े बहुत कम होते हैं इसलिए वहाँ ये बड़े दामों पर बिकते हैं।

इस देश को छोड़कर उत्तर-पश्चिम में बड़े बड़े पहाड़ों और चौड़ी घाटियों को नाँघ कर, बहुत से छोटे छोटे नगरों में होते हुए लगभग २,००० ली चलकर हमने भारत की सीमा का परित्याग किया और 'साउकूट' देश में पहुँचे।

बारहवाँ अध्याय।

(बाईस देशों का वृत्तान्तः—(१) सुकुच (२) फोली शिसट अङ्गन (३) अराट लोपो (४) कओह सिटो (५) ह्वोह (६) मङ्गकिन (७) ओलिनि (८) हो लोह्ग (९) किलिसिमो (१०) पोलिहो (११) हिमोटलो (१२) पोटो चङ्गन (१३) इन पोकिन (१४) क्वियलङ्गन (१५) टमो सिटैटी (१६) शिकइनी (१७) चङ्गमी (१८) कइपश्रनटो (१९) उश (२०) कइश (२१) चोक्यि किया (२२) (कयूसटन)

सुकुच (साउकुट[1])

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ७,००० ली और राजधानी, जिसका नाम होसिन (ग़ज़न) है, लगभग ३० ली के घेरे में है। एक और भी राजधानी है जिसका नाम होसल है[2];

[1] साउकुट देश के वृत्तान्त के लिए देखो जिल्द १ अ० १। कनिंघम साहब इसको 'अरचोसिया' निश्चय करते हैं। (Anc. Geog. of Ind., p. 40.)

[2] मारटीन साहब ने 'होसिन' को ग़ज़नी और 'होसल' को हज़ारा निश्चय किया था, परन्तु कनिंघम साहब की राय यह है कि यह नाम ज़िले के नाम के समान आया है और चङ्गेज़ख़ाँ के समय से अधिक प्राचीन नहीं है। इसलिए वह इस शब्द को हेलमण्ड के

उसका भी क्षेत्रफल लगभग ३० ली है। ये दोनों स्थान प्रकृति से ही बहुत दृढ़ और सुरक्षित हैं[1]। पहाड़ और घाटियाँ बराबर एक के बाद एक चली गई हैं; बीच बीच में खेती के योग्य मैदान हैं। भूमि समयानुसार जोती-बोई और काटी जाती है। शीत ऋतु का गेहूँ बहुत अच्छा पैदा होता है। वृक्ष और झाड़ियाँ मनोहर और अनेक प्रकार की हैं जिनमें फल-फूल की बहुतायत रहती है। भूमि केशर और हिङ्गक्यू[2] के उत्पन्न करने के लिए बहुत उपयुक्त है। यह अन्तिम वस्तु लोमइनटू[3] नामक घाटी में बहुत उत्पन्न होती है।

होसलो नगर में एक झरना है जिसका जल अनेक शाखाओं में विभक्त है; लोग इस जल को सिंचाई के काम में अधिक लाते हैं। प्रकृति शीतप्रधान है; बर्फ़ और पाले का सदा अधिकार रहता है। मनुष्य स्वभाव से ही ओछे दिल के और दुष्ट होते हैं; चालाकी और दग़ाबाज़ी इनका साधारण काम है। ये विद्या और कारीगरी से प्रेम करते हैं तथा जादू-मंत्र में बड़ी दक्षता प्रदर्शित करते हैं परन्तु इनका उद्देश उच्च कोटि का नहीं होता।

न मालूम कितने शब्दों का पाठ ये लोग नित्य प्रति किया

किनारेवाला 'गुज़रिस्तान' मानते हैं जो टोलमी (Ptolemy) का 'ओज़ोल' है।

[1] ग़ज़नी की दृढ़ता के लिए देखो कनिंघम साहब की राय (op. cit., pp. 41, 42)

[2] समझ में नहीं आया यह क्या वस्तु है।

[3] रामेनडु ? (Julien)

करते हैं। इनकी भाषा और लिखावट अन्य देशों से भिन्न है। व्यर्थ की बकवाद करने में ये प्रसिद्ध हैं। जो कुछ ये कहते हैं उसमें सचाई का अंश बिलकुल नहीं होता, अथवा बहुत थोड़ा होता है। यद्यपि यहाँ के लोग सैकड़ों भूत प्रेतों को पूजते हैं तो भी रत्नत्रयी की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। यहाँ पर कई सौ संघाराम हैं जिनमें लगभग १,००० साधु हैं जो महा-यान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। यहाँ का शासक सच्चा और धर्मिष्ठ है तथा अनेकानेक पीढ़ी से राज्याधिकारी चला आया है। धार्मिक कामों में ख़ूब परिश्रम करता है, सुशिक्षित है, और विद्या का प्रेमी है। यहाँ कोई दस स्तूप अशोक के बनवाये हुए हैं और बीसों देवमन्दिर भी हैं जिनमें अनेक जाति के लोग उपासना करते हैं।

विरोधियों में तीर्थक[1] लोगों की संख्या अधिक है। ये लोग क्षुण देवता की विशेष उपासना करते हैं। पूर्वकाल में यह देवता कपिश के अरुण नामक पहाड़ से यहाँ पर आया था और इस राज्य के दक्षिणी भाग में सुनगिरि[2] पर स्थित हुआ था। यह देवता जैसा ही कठिन है वैसा ही भला भी है। जिस प्रकार क्रुद्ध होकर लोगों को हानि पहुँचानेवाला है उसी प्रकार विश्वास के साथ उपासना करनेवाले की कामना भी पूरी करता है। इसलिए दूर तथा निकटवर्ती लोग उसकी बड़ी भक्ति करते हैं। बड़े और छोटे सब लोग उसका भय मानते हैं। इस देश के तथा अन्य देशों के राजा बड़े

[1] तीर्थक लोगों के वृत्तान्त के लिए देखो इटल साहब की हैण्ड बुक।

[2] इस पहाड़ के वृत्तान्त के लिए देखो भाग १ अ० १।

आदमी तथा साधारण लोग प्रत्येक आनन्दोत्सव पर, जिसका कोई समय नियत नहीं है, इस स्थान पर आते हैं, और सोना चाँदी तथा अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुयें भेंट करते हैं जिनमें भेड़ें, घोड़े इत्यादि अनेक प्रकार के पालतू पशु भी होते हैं। जो कुछ चढ़ावा होता है उसमें सचाई और विश्वास की पूर्ण झलक होती है। और यद्यपि यहाँ की भूमि सोना चाँदी से ढकी रहती है और घाटियाँ भेड़ों और घोड़ों से भरी रहती हैं तो भी किसी व्यक्ति को उनके छूने तक का लोभ नहीं हो सकता। इन वस्तुओं को अत्यन्त पुनीत समझ कर लोग इनसे सदा बचे रहते हैं। विरोधी (तीर्थक) अपने मन को वशीभूत करके और तन को कष्ट देकर बड़ी तपस्या करते हैं, जिस पर प्रसन्न होकर देवता उनको कुछ मंत्र बता देते हैं। उन मंत्रों के प्रयोग से वे लोग बीमारी को हटा सकते हैं और रोगियों को चङ्गा कर सकते हैं।

यहाँ से लगभग ५०० ली उत्तर दिशा में चल कर हम 'फोलीशिसट अङ्गन' देश में पहुँचे।

फोलीशिसट अङ्गन' (पर्शुस्थान या वर्दस्थान [१] ?)

यह राज्य लगभग २,००० ली पूर्व से पश्चिम और १,००० ली उत्तर से दक्षिण की ओर है। राजधानी जिसका नाम उपिन (हुपिआन) है २० ली के घेरे में है। भूमि और मनुष्यों का आचरण ठीक सुकुचवालों के समान है, केवल भाषा में

[१] पाणिनि भी पर्शुस्थान का उल्लेख करते हैं। पर्शु लोग लड़ाकू जाति के थे जो इस प्रान्त में निवास करते थे (५-३-११७) (बृहत्संहिता १४-१८) बेवर साहब अफ़ग़ानिस्तान की जातियों में परार्ची लोगों का उल्लेख करते हैं (Mem., p. 140).

अन्तर है। प्रकृति शीतप्रधान है। बर्फ़ बहुत पड़ती है। निवासी स्वभाव से ही दुष्ट और झगड़ालू हैं। राजा जाति का तुर्क है। लोग उपासना के तीनों बहुमूल्य पदार्थों पर दृढ़ विश्वास रखते हैं। राजा विद्या की प्रतिष्ठा और विद्वानों का सत्कार खूब करता है।

इस राज्य के पूर्वोत्तर पहाड़ों और नदियों को पार कर के तथा कपिश देश की सीमा के कितने ही छोटे छोटे नगरों में होते हुए हम एक बड़े पहाड़ी दर्रे तक आये जिसका नाम पो लो सिन (बर सेन)[1] है और जो हिमालय पहाड़ का भाग है। यह पहाड़ी दर्रा बहुत ऊँचा है, इसके करारे जङ्गली और भयानक, रास्ता पेचीदा, और गुफाएँ अनेक हैं। यात्रा करनेवाले को यदि कभी गहरी घाटी में जाना पड़ता है तो कभी ऊँची चोटी पर चढ़ना पड़ता है जो बर्फ़ से ढकी होती है। यहाँ की बर्फ़ गहरी गरमी में भी नहीं गलती। इस बर्फ़ पर बड़ी सावधानी से पैर जमा जमा कर चलना पड़ता है, और तीन दिन के उपरान्त दर्रे के सबसे ऊँचे स्थान पर पहुँचना होता है। यहाँ की बर्फ़ीली हवा अत्यन्त ठंढी और बहुत ज़ोरदार होती है जिससे बर्फ़ के ढोके लुढ़क लुढ़क कर घाटी में भर जाते हैं। इस मार्ग से जानेवाले यात्री को किसी स्थान पर विश्राम करने का साहस नहीं हो सकता। चक्कर काट कर उड़नेवाले पक्षी भी इस स्थान पर नहीं ठहर सकते, वरंच सर्राटा बाँधे हुए निकल जाते हैं और फिर नीचे जाकर उड़ते हैं। जम्बूद्वीप भर में यही सबसे

[1] हिन्दूकुश पहाड़ का यह दर्रा कदाचित् वुड साहब कथित 'खवक दर्रा है। (Osens, p. 274) यह १३,००० फ़ीट ऊँचा है।

ऊँची चोटी है। इसके ऊपर कोई भी वृक्ष नहीं दिखाई पड़ता केवल चट्टानों के सिलसिले जङ्गली वृक्षों के समान चले गये हैं।

और तीन दिन चलकर हम दर्रे से नीचे उतरे और 'अगट लोपो' में आये।

अगट लोपो (अन्दर आब[1])

तुहोलो[2] देश का प्राचीन स्थान यही है। यह देश लगभग ३,००० ली के घेरे में और राजधानी १४ या १५ ली के घेरे में है। यहाँ का कोई मुख्य शासक नहीं है, तुर्क लोगों का अधिकार है। पहाड़ और पहाड़ियाँ ज़ंजीर के समान बहुत दूर तक चली गई हैं जिनके मध्य में घाटियाँ हैं। जोतने-बोने योग्य भूमि बहुत कम है। जलवायु बड़ी ही कष्टदायक है। आँधी और बर्फ़ के कारण यद्यपि बड़ी सरदी और तकलीफ़ रहती है तो भी जुताई-बोआई और पैदावार देश में अच्छी होती है। फूल और फल भी बहुत होते हैं। मनुष्य दुष्ट और कठोर हैं। साधारण लोग असम्बद्ध मार्गी हैं, उनको सच झूठ का ज्ञान नहीं है। लोग विद्या से प्रेम नहीं करते केवल भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं। बहुत थोड़े लोग बुद्धधर्म पर विश्वास करते हैं। कोई तीन संघाराम और थोड़े से साधु हैं जो महासंघिक संस्था के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हैं। अशोक का बनवाया हुआ एक स्तूप भी है।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम को चलकर हम एक घाटी में पहुँचे,

[1] देखो भाग १. अ० १.

[2] अर्थात् तुखारी लोग, देखो भाग १. अ० १.

फिर एक पहाड़ी दर्रे के किनारे किनारे कुछ छोटे छोटे गाँवों में होकर और लगभग ४०० ली चलकर हम 'कओह सिटो' पहुँचे।

कओह सिटो (खोस्त[1])

यह भी तुहोलो देश की प्राचीन भूमि है। इसका क्षेत्रफल ३,००० ली और राजधानी का लगभग १० ली है। इसका कोई मुख्य शासक नहीं है, वरंच तुर्क लोगों का अधिकार है। यह भी पहाड़ी देश है और इसमें भी बहुत सी घाटियाँ हैं इस कारण यहाँ की भी वायु बर्फ़ीली तथा शीतप्रधान है। यहाँ अनाज बहुत उत्पन्न होता है और फूल-फल की भी बहुतायत रहती है। मनुष्य भयानक और दुखदायी हैं। इन लोगों के लिए कोई क़ानून नहीं हैं। कोई तीन संघाराम और बहुत थोड़े साधु हैं।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम में पहाड़ों को नाँघते और घाटियों को पार करते हुए, कुछ नगरों में होकर लगभग ३०० ली के उपरान्त हम होह नामक देश में पहुँचे।

होह (कुन्दुज़[2])

यह देश भी तुहोलो की प्राचीन भूमि है। इसका क्षेत्रफल लगभग ३,००० ली और मुख्य नगर का १० ली है। यहाँ कोई मुख्य शासक नहीं है, देश पर तुर्कों का अधिकार है। भूमि समथल और अच्छी तरह पर जोती बोई जाती है,

[1] देखो भाग १ अध्याय १।

[2] देखो भाग १ अध्याय १।

जिससे अनाज इत्यादि बहुत उत्पन्न होता है। वृक्ष और झाड़ियाँ बहुत हैं; फल-फूल की बहुतायत रहती है। प्रकृति कोमल और सह्य है। मनुष्यों का आचरण शुद्ध और शान्त है, परन्तु स्वभाव में चुस्ती और चालाकी बसी हुई है। ऊनी वस्त्र पहनने की अधिक चाल है। बहुत से लोग रत्नत्रयी की उपासना करते हैं, थोड़े से भूत-प्रेतों को भी पूजते हैं। कोई दस संघाराम और कई सौ साधु हैं जो हीन और महा दोनों यानों का अध्ययन और अनुशीलन करते हैं। राजा जाति का तुर्क है। लौहफाटक[1] के दक्षिणवाले छोटे छोटे राज्यों पर इसी नरेश का अधिकार है। इसलिए इसका निवास सदा इस एक ही नगर में नहीं रहता, बल्कि यह पक्षियों के समान एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमा फिरा करता है।

यहाँ से पूर्व दिशा में चलकर हम सङ्गलिङ्ग पहाड़ों में पहुँचे। ये पहाड़ जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित हैं। इनकी दक्षिणी हद पर हिमालय पहाड़ है। उत्तर में इसका विस्तार गरम समुद्र (टेमर्टू झील) और "सहस्रधारा" तक, पश्चिम में ह्वोह राज्य तक और पूर्व में उच (ओच) राज्य तक है। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक का विस्तार प्रायः बराबर ही है। यह कई हज़ार ली है। इन पहाड़ों में कई सौ ऊँची-ऊँची चोटियाँ और अँधेरी घाटियाँ हैं। पहाड़ का ऊँचा भाग बर्फ़ के चट्टानों और पाले के कारण भयानक है। ठंडी हवा प्रबल वेग से चलती है। यहाँ की भूमि में पियाज़ बहुत उत्पन्न होता है या तो इसलिए और या इसलिए कि

[1] लौहफाटक के वृत्तान्त के लिए देखो भाग १ अध्याय १ पृ० २२, २३

इन पहाड़ों की चोटियाँ नीले हरे रङ्ग की हैं इसका नाम सङ्गलिङ्ग[1] है।

यहाँ से लगभग १०० ली पूर्व दिशा में चलकर हम 'मङ्गकिन' राज्य में पहुँचे।

मङ्गकिन[2] (मुञ्जन)

यह तुहोलो देश का प्राचीन अधिकृत देश है। इसका क्षेत्रफल लगभग ४०० ली और मुख्य नगर का १५ या १६ ली है। भूमि और मनुष्यों का आचरण अधिकतर होह देश-वालों के समान है। कोई मुख्य शासक नहीं है। तुर्क लोगों का अधिकार है। यहाँ से उत्तर दिशा में चलकर हम 'ओलिनि' देश को पहुँचे।

ओलिनि (अहङ्ग[3])

यह देश भी तुहोलो का प्राचीन प्रान्त है। तथा अक्सस नदी के दोनों किनारों पर फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल लगभग ३०० ली और मुख्य नगर का १४ या १५ ली है। यहाँ की भूमि और मनुष्यों का चलन-व्यवहार इत्यादि होह देश से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

यहाँ से पूर्व दिशा में चलकर हम 'होलोहू' पहुँचे।

[1] सङ्गलिङ्ग पहाड़ों के लिए देखो भाग १ अध्याय १।

[2] मङ्गकिन के लिए देखो भाग १, अ० १।

[3] इस देश के वृत्तान्त के लिए देखो भाग १, अ० १।

होलोहू (रघ)[1]

यह देश तुहोलो का प्राचीन भाग है। उत्तर में इसकी हद अक्सस नदी है। यह लगभग २०० ली क्षेत्रफल में है। मुख्य नगर का क्षेत्रफल १४ या १५ ली है। भूमि की उपज और मनुष्यों का चलन-व्यवहार ह्रोह देश से बहुत मिलता-जुलता है।

मङ्गकिन देश से पूर्व में ऊँचे ऊँचे पहाड़ी दर्रों में चल कर और गहरी घाटियों में घुसते और अनेक नगरों और ज़िलों में होते हुए लगभग ३०० ली चलकर हम 'किलिसिमो' देश में पहुँचे।

किलिसिमो (खरिश्म अथवा किश्म[2])

यह देश तुहोलो का प्राचीन भाग है। पूर्व से पश्चिम तक १,००० ली और उत्तर से दक्षिण तक ३०० ली के बीच में विस्तीर्ण है। राजधानी का क्षेत्रफल १५ या १६ ली है। भूमि और मनुष्यों का चलन-व्यवहार ठीक मङ्गकिन के समान है, केवल ये लोग क्रोधी अधिक हैं।

उत्तर-पूर्व में चलकर हम 'पोलिहो' राज्य में पहुँचे।

पोलिहो (बोलर[3])

यह देश तुहोलो का प्राचीन भाग है। पूर्व से पश्चिम तक यह लगभग १०० ली और उत्तर से दक्षिण तक लगभग ३००

[1] देखो भाग १, अ० १।

[2] देखो भाग १, अ० १।

[3] देखो भाग १, अ० १।

ली है। मुख्य नगर का क्षेत्रफल लगभग २० ली है। भूमि की उपज और लोगों का चलन-व्यवहार इत्यादि किलिसिमो के समान है।

किलिसिमो के पूर्व पहाड़ों और घाटियों को नाँघकर लगभग ३०० ली जाने के उपरान्त हम 'हिमोतलो' देश में पहुँचे।

हिमोतल (हिमतल)

यह देश तुहोलो देश का प्राचीन भाग है। इसका क्षेत्रफल ३०० ली है। इसमें पहाड़ और घाटियाँ बहुत हैं। भूमि उत्तम और उपजाऊ तथा अन्नादि की उत्पत्ति के योग्य है। यहाँ पर शीत ऋतु में गेहूँ बहुत उत्पन्न होता है। सब प्रकार के वृक्ष भी यहाँ होते हैं तथा सब प्रकार के फलों की बहुतायत रहती है। प्रकृति शीतल और मनुष्यों का आचरण दुष्टता और चालाकी से भरा हुआ है। सत्य और असत्य में क्या भेद है यह लोग नहीं जानते। इनकी सूरत भद्दी होती है और उससे कमीनापन टपकता है। यहाँ के लोगों का चलन व्यवहार, सभ्यता का स्वरूप, इनके ऊनी, रेशमी और नमदे के वस्त्र आदि सब बातें तुर्क लोगों के समान हैं। यहाँ की स्त्रियाँ अपने शिरोवस्त्र के ऊपर लगभग ३ फ़ीट ऊँचा लकड़ी का एक सींग लगा लेती हैं जिसके अगले भाग में दो शाखें होती हैं जो उसके पति के माता-पिता की सूचक होती हैं। ऊपरी सींग पिता का सूचक और निचला सींग माता का सूचक होता है। इनमें से जिसका प्रथम देहान्त होता है उसी का सूचक एक सींग उतार दिया जाता है। दोनों के न रहने पर फिर यह शिरोभूषण धारण नहीं किया जाता।

इस देश का प्रथम नरेश शाक्यवंशीय[1] था। यह बड़ा वीर और निर्भय था। सङ्गलिङ्ग पहाड़ के पश्चिमवाले लोग अधिकतर उसकी सत्ता के अधीन थे। सीमा पर के लोग तुर्क लोगों के सन्निकट थे इसलिए उनकी रीति-रस्म निकृष्ट हो गई थी, और उनकी चढ़ाइयों से पीड़ित होकर लोग अपनी सीमा पर रहनेवालों की सहायता किया करते थे। इस कारण इस राज्य के निवासी भिन्न भिन्न ज़िलों में विभक्त थे। बीसों सुदृढ़ नगर बना दिये गये थे जिनका अलग अलग एक एक शासक था। लोग नमदे के बने हुए खेमों में रहा करते थे और घूमने-फिरनेवाले लोगों ख़ानाबदोशों के समान जीवन व्यतीत करते थे।

इस राज्य के पश्चिम में 'किलिसिमो' देश है। यहाँ से २०० ली चल कर हम 'पोटो चङ्गन' देश में पहुँचे।

पोटो चङ्गन (बदख्शाँ[2])

यह देश भी तुहोलो देश का प्राचीन भाग है। इसका क्षेत्रफल लगभग २,००० ली और राजधानी, जो पहाड़ी ढाल पर बसी हुई है, ६ या ७ ली के घेरे में है। यह देश भी पहाड़ों और घाटियों से छिन्न-भिन्न है। सब ओर बालू और पत्थर फैले हुए हैं। भुमि मे मटर और गेहूँ उत्पन्न होता है। अंगूर, आड़ू और बेर आदि की भी अच्छी उपज होती है। प्रकृति अत्यन्त शीतल है। मनुष्य चालाक और दुष्ट हैं। इन लोगों

[1] कदाचित् यह उन्हीं वीरों में से कोई हो जो कपिलवस्तु से निकाल दिये गये थे।

[2] देखो भाग १, अ० १।

की रीतियाँ असम्बद्ध हैं। लोगों को लिखने-पढ़ने अथवा शिल्प का ज्ञान नहीं है। इनकी सूरत कमीनी और भद्दी है। अधिकतर ऊनी वस्त्र पहिनने का चलन है। कोई तीन या चार संघाराम हैं जिनके अनुयायी बहुत थोड़े हैं। राजा धर्मिष्ठ और न्यायी है, उपासना के तीनों पुनीत अङ्गों की बड़ी भक्ति करता है।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व जाकर, पहाड़ों और घाटियों को पार करके, लगभग २०० ली चलने के बाद हम 'इनपोकिन' देश को पहुँचे।

इनपोकिन (यमगान[1])

यह देश तुहोलो देश का भाग है। इसका क्षेत्रफल लग-भग १,००० ली और राजधानी का लगभग १० ली है। देश में पहाड़ों और घाटियों की एक लकीर सी चली गई है जिससे जोतने बोने योग्य भूमि की कमी है। भूमि की उपज, प्रकृति, और मनुष्यों के चलन-व्यवहार आदि में पोटोचङ्गन देश से कुछ थोड़ा ही भेद है। भाषा के स्वरूप में भी बहुत थोड़ा अन्तर है। राजा स्वभावतः क्रूर और कुटिल है, उसको सत्या-सत्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व में पहाड़ों और घाटियों को पार करते हुए, पतले और कष्टदायक मार्ग से, लगभग ३०० ली चल कर हम 'कियूलङ्गन' देश को आये।

'कियूलङ्गन' (कुरन[2])

यह देश तुहोलो का एक प्राचीन भाग है। इसका क्षेत्रफल

[1] देखो भाग १, अ० १।

[2] देखो भाग १, अ० १।

लगभग २,००० ली है। भूमि की उपज, पहाड़ और घाटियाँ प्रकृति और ऋतुएँ आदि इनपोकिन राज्य के समान हैं। इन लोगों की रीति-रस्मों का कोई नियम नहीं है। ये स्वभाव से क्रूर और धूर्त हैं। अधिकतर लोग धर्म की सेवा नहीं करते; बहुत थोड़े लोग हैं जो बुद्धधर्म पर विश्वास करते हैं। मनुष्यों का रूप भद्दा और बेडौल है। ऊनी वस्त्र का अधिक व्यवहार होता है। यहाँ पर एक पहाड़ी गुफा है जिसमें से बहुत सा सोना निकलता है। लोग पत्थरों को तोड़ तोड़ कर सोना निकालते हैं। यहाँ पर संघाराम बहुत कम हैं और साधु तो कदाचित् ही कोई हो। राजा धर्मिष्ठ और सरलहृदय का व्यक्ति है। वह उपासना के तीनों पुनीत अङ्गों की बड़ी भक्ति करता है।

यहाँ से पूर्वोत्तर में एक पहाड़ पर चढ़कर और घाटियों को पार करते हुए, भयानक और ढालू मार्ग से लगभग ५०० ली चल कर हम 'टमोसिटीइटी' राज्य में पहुँचे।

टमोसिटैइटी (तमस्थिति ?)[१]

यह देश दो पहाड़ों के मध्य में है और तुहोलो का एक प्राचीन भाग है। पूर्व से पश्चिम तक इसका विस्तार १,५०० या १,६०० ली और उत्तर से दक्षिण तक ४ या ५ ली है। इसका सबसे पतला भाग एक ली से अधिक नहीं है। यह अक्सस नदी के किनारे उसके बहाव की ओर फैला चला गया है, तथा यह भी ऊँची-नीची पहाड़ियों से छितर बितर है। पत्थर और बालू चारों ओर भूमि पर फैली हुई है। हवा बर्फीली सर्द

[१] देखो भाग १, अ० १।

और बड़े ज़ोर से चलती है। यद्यपि लोग भूमि को जोतते बोते हैं तो भी गेहूँ और अरहर बहुत थोड़ी पैदा होती है। वृक्ष थोड़े हैं परन्तु फल और फूल बहुत होते हैं। यहाँ पर घोड़े बहुत पाले जाते हैं। ये यद्यपि छोटे कद के होते हैं परन्तु बहुत दूर तक चले जाने पर भी थकते बहुत कम हैं। मनुष्यों के चलन व्यवहार में प्रतिष्ठा का लिहाज़ बिलकुल नहीं है। लोग क्रोधी और कुटिल प्रकृति के हैं, और सूरतें भद्दी और कमीनी हैं। ऊनी वस्त्र पहनने की चाल है। इन लोगों की आँखें नीले रङ्ग की हैं इस सबब से इन लोगों का दूसरे देश-वालों से पार्थक्य स्पष्ट प्रतीत होता है। कोई दस संघाराम हैं जिनमें बहुत थोड़े साधु निवास करते हैं।

राजधानी का नाम ह्वानट ओटो है। इसके मध्य में इसी देश के किसी प्राचीन नरेश का बनवाया हुआ एक संघाराम है। यह संघाराम पहाड़ के पार्श्व खोद कर और घाटियाँ पाट कर बनाया गया है। इस देश के प्राचीन नरेश बुद्धदेव के भक्त नहीं थे। वे विरोधियों के समान देवताओं के लिए यज्ञ आदि किया करते थे; परन्तु इधर कई शताब्दियों से सत्य-धर्म की शक्ति का प्रचार हो गया है। प्रारम्भ में राजा का पुत्र, जो उसको अत्यन्त प्यारा था, बीमार हो गया। सब प्रकार की उत्तमोत्तम औषधियों और उपायों के होने पर भी उसको कुछ लाभ न हुआ। राजा अत्यन्त दुखित होकर अपने देवता के मन्दिर में पूजा करने और बच्चे के आरोग्य होने की तदबीर जानने के लिए गया। मन्दिर के प्रधान पुजारी ने देवता की ओर से उत्तर दिया, "तुम्हारा पुत्र अवश्य अच्छा हो जायगा, तुम अपने चित्त में धैर्य रक्खो।" राजा इन शब्दों को सुनकर बहुत प्रसन्न होगया और मकान की ओर चल दिया। मार्ग में

उसकी भेट एक श्रमण से हुई जिसका रूप प्रभावशाली और चेहरा तेज से देदीप्यमान हो रहा था। उसके स्वरूप और वस्त्र पर विस्मित होकर राजा ने उससे पूछा, "आपका आगमन कहाँ से होता है और किधर जाने का विचार है?" श्रमण पुनीतपद (अरहट) को प्राप्त हो चुका था और बुद्ध-धर्म के प्रचार का इच्छुक था, इसी लिए उसने अपना ढंग और स्वरूप इस प्रकार का तेजोमय बना रक्खा था; उत्तर में उसने कहा. "मैं तथागत का शिष्य हूँ और भिक्षु कहलाता हूँ।" राजा जो बहुत चिन्तित हो रहा था एक-दम से पूछ बैठा कि 'मेरा पुत्र अत्यन्त पीड़ित है, मैं नहीं जान सकता कि इस समय वह जीता है या मर गया (क्या वह अच्छा हो जायगा?') श्रमण ने उत्तर दिया, "आप चाहें तो आपके मरे हुए पुरखे भी जी उठें, परन्तु आपके पुत्र का बचना कठिन है।" राजा ने उत्तर दिया, "मुझको एक दैवी शक्ति ने विश्वास दिलाया है कि वह नहीं मरेगा और श्रमण कहता है कि वह मर जायगा, इन दोनों धर्माचार्यों में से किसकी बात पर विश्वास किया जाय यह जानना कठिन है।" भवन में आकर उसको विदित हुआ कि उसका प्यारा पुत्र मर चुका है। उसके शव को छिपा कर और बिना अन्तिम संस्कार किये हुए, उसने फिर जाकर मन्दिर के पुजारी से पुत्र के आरोग्य के विषय में पूछा। उत्तर में उसने कहा, "वह नहीं मरेगा, वह अवश्य अच्छा हो जायगा।" राजा ने क्रुद्ध होकर उसको पकड़ लिया और अच्छी तरह से बाँध कर बड़ी डाँट फटकार के साथ कहा, "तुम लोग बड़े धोखेबाज़ हो, तुम स्वाँग तो धर्मिष्ठ होने का बनाते हो परन्तु परले सिरे के झूठे हो। मेरा पुत्र तो मर गया और तुम कहते हो कि वह अवश्य अच्छा

हो जायगा। यह भूठ सहन नहीं हो सकता, इसलिए मन्दिर का पुजारी मार डाला जायगा और मन्दिर खोद डाला जायगा।" यह कह कर उसने पुजारी को मार डाला और मूर्ति को लेकर अक्सस नदी में फेक दिया। लौटने पर उसकी भेट फिर श्रमण से हुई। उसको देखते ही वह गद्‌गद हो गया और भक्तिपूर्वक दण्डवत् करके उसने निवेदन किया, "असत्य सिद्धान्तों के अनुसार मैं असत्य मार्ग का पथिक हूँ, और यद्यपि मैं बहुत दिनों से इसी भ्रम चक्र में पड़ा हुआ हूँ परन्तु अब परिवर्तन का समय आगया। मेरी प्रार्थना है कि कृपा करके आप मेरे भवन को अपने पदार्पण से पुनीत कर दीजिए। श्रमण उसके निमन्त्रण को स्वीकार करके उसके साथ गया। मृतकसंस्कार समाप्त हो जाने पर राजा ने श्रमण से कहा, "संसार की दशा चिन्तनीय है, मृत्यु और जन्म की धारा बराबर चला करती है, मेरा पुत्र बीमार था, मैंने इस बात को जानना चाहा कि वह मेरे पास रहेगा या मुझसे अलग हो जायगा। भूठे लोगों ने कहा वह अवश्य अच्छा हो जायगा परन्तु आपने जो शब्द उच्चारण किये थे वे ठीक हुए क्योंकि वे भूठे नहीं थे। इसलिए आप जो धर्म के नियम सिखायेंगे वे अवश्य आदरणीय होंगे। मैंने बहुत धोखा खाया, अब कृपा करके मुझको अंगीकार कीजिए और अपना शिष्य बनाइए।" इसके अतिरिक्त उसने श्रमण से एक संघाराम बनाने की भी प्रार्थना की, और उसकी शिक्षा के अनुसार उसने इस संघाराम को बनवाया। उस समय से अब तक बुद्ध-धर्म की उन्नति ही इस देश में होती आई है।

प्राचीन संघाराम के मध्य में एक विहार भी इसी अरहट का बनवाया हुआ है। विहार के भीतर बुद्धदेव की एक

पाषाण-प्रतिमा है जिसके ऊपर मुलम्मा किया हुआ ताँबे का पत्र चढ़ा है और जो बहुमूल्य रत्नों से आभूषित है। जिस समय लोग इस मूर्ति की प्रदक्षिणा करने लगते हैं उस समय वह पत्र भी घूमने लगता है और उनके ठहरने पर रुक जाता है। पुराने लोगों का कहना है कि पवित्र मनुष्य की प्रार्थना के अनुसार ही यह चमत्कार दिखाई देता है। कुछ लोग कहते हैं कि कोई गुप्त यंत्र ही इसका कारण है। परन्तु ठोस पत्थर की दीवारों का निरीक्षण करने और लोगों के कहने के अनुसार जाँच-पड़ताल करने पर भी इस बात का जानना कठिन है कि इसमें क्या भेद है।

इस देश को छोड़कर और उत्तर की ओर एक बड़े पहाड़ को पार करके हम 'शिकइनी' देश में पहुँचे।

शिकइनी (शिखनान)

इस देश का क्षेत्रफल लगभग २,००० ली और मुख्य नगर का ५ या ६ ली है। पहाड़ और घाटियाँ श्रेणीबद्ध वर्तमान हैं। बालू और पत्थर भूमि पर छिटके हुए हैं। मटर और गेहूँ बहुत होता है परन्तु चावल थोड़ा। वृक्ष कम हैं, और फल-फूल भी विशेष नहीं होते। प्रकृति बर्फ़ीली शीत है। मनुष्य भयानक और वीर हैं। किसी की जान ले लेना अथवा लूट मार करना इनके लिए कुछ बात ही नहीं। शुद्धाचरण और न्याय से ये लोग बिलकुल अनजान हैं, ये सत्यासत्य में भेद नहीं समझते। इस आचरण से भविष्य में इनको क्या सुख-दुख होगा इसके विषय में ये भटके हुए हैं। इनको कुछ भय है तो केवल वर्तमान कालिक दुःखों का। इनके स्वरूप और अङ्ग अङ्ग से कमीनापन झलकता है। इनके वस्त्र ऊन अथवा

चमड़े के होते हैं। इनकी लिखावट तुर्क लोगों के समान है परन्तु भाषा भिन्न है।

टमोसिटैटी[1] राज्य के दक्षिण में एक बड़े पहाड़ के किनारे चलकर हम 'शङ्कमी' देश को आये।

शङ्कमी (शाम्भी ?)

इस देश[2] का क्षेत्रफल लगभग २,५०० या २,६०० ली है। यह देश पहाड़ों और घाटियों से छिन्न-भिन्न है। पहाड़ियों की उँचाई समान नहीं है। सब प्रकार का अनाज बोया जाता है परन्तु मटर और गेहूँ बहुत होता है। अंगूर भी बहुत उत्पन्न होता है। पीले रङ्ग का संखिया भी इस देश में मिलता है। लोग पहाड़ी काट कर और पत्थरों को तोड़ कर इसको निकालते हैं। पहाड़ी देवता बड़े दुष्ट और निर्दय हैं, वह राज्य को तहस-नहस करने के लिए बहुधा उपद्रव उठाया करते हैं।

इस देश में जाने पर उनके लिए बलिप्रदान करना पड़ता है तभी जाने-आनेवाले व्यक्ति की भलाई हो सकती

[1] इटल साहब की हैण्डबुक के अनुसार टमोसिटैटी (तमस्थिति) तुषार-प्रदेश का एक सूबा था जिसके निवासी अपनी क्रूरता के लिए प्रसिद्ध थे। तमस्थिति शब्द जुलियन साहब ने सन्दिग्ध रूप से निश्चय किया है और उसी को कदाचित् इटल साहब ने भी माना है।

[2] यही देश है जिस पर, शाक्यवंशियों ने देश से निकाले जाने पर आकर अधिकार किया था। जुलियन साहब इसको 'साम्भी' कहते हैं और भाग १ अध्याय ६ में शाम्बी शब्द आया है। इटल साहब इस राज्य को शाक्यवंशी द्वारा संस्थापित मानते हैं और इसका स्थान चित्राल के निकट कहते हैं।

है। यदि बलिप्रदान न किया जाय तो देवता लोग आँधी और बर्फ़ से यात्री पर हमला करते हैं। प्रकृति अत्यन्त शीतल है; मनुष्यों में फुर्तीलापन, सचाई और सीधापन बहुत है। इन लोगों के चलन-व्यवहार में कोई भी न्यायानुमोदित नहीं है। इनका ज्ञान थोड़ा और इनमें शिल्प-सम्बन्धी योग्यता का अभाव है। इनकी लिखावट तुहोलो देश के समान है परन्तु भाषा में भिन्नता है। इन लोगों के वस्त्र अधिकतर ऊन से बनते हैं। राजा शाक्यवंशी है, वह बुद्ध-धर्म की बड़ी प्रतिष्ठा करता है। लोग उसका अनुकरण करते हैं और उस पर बहुत विश्वास रखते हैं। कोई दो संघाराम और बहुत थोड़े साधु हैं।

देश की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर पहाड़ों और घाटियों को नाँघते, भयानक और ढालू मार्ग से भ्रमण करते हुए लगभग ७०० ली चलने के उपरान्त हम 'पोमीलो' (पामीर[1]) घाटी तक पहुँचे। इसका विस्तार पूर्व से पश्चिम तक १,००० ली और उत्तर से दक्षिण तक १०० ली है। इसका सबसे सिकुड़ा भाग १० से अधिक नहीं है। यह बर्फ़ीले पहाड़ों में स्थित है इस कारण यहाँ की प्रकृति बहुत शीतल है और हवा ज़ोर से चलती है। गर्मी और वसन्त दोनों ऋतुओं में बर्फ़ पड़ा करती है। हवा का ज़ोर रात-दिन समान-रूप से कष्ट देता

[1] Sir T. D. Forsyth (Report of Mission to Yorkand, p. 231) के अनुसार पामीर खोकन्दी तुर्की शब्द है जिसका अर्थ 'रेगिस्तान' होता है। इस स्थान और यहाँ के झरनों के वृत्तान्त के लिए देखो Forsyth (Op. cit. p. 231) और Wood's Oxus, chap. XXI.

है। भूमि नमक से गर्भित और बालू तथा कङ्कड़ों से आच्छादित है। अनाज जो कुछ बोया जाता है पकता नहीं; झाड़ी और वृक्ष कम हैं। रेगिस्तानी मैदान दूर तक फैले चले गये हैं जिनमें कोई नहीं रहता।

पामीर घाटी के मध्य में नागह्रद नामक एक बड़ी झील है। इसका विस्तार पूर्व से पश्चिम तक लगभग ३०० ली और उत्तर से दक्षिण तक ५० ली है। यह महा सङ्गलिङ्ग पहाड़ के मध्य में स्थित है और जम्बूद्वीप का केन्द्र भी है। इसकी भूमि बहुत ऊँची और जल विशुद्ध तथा दर्पण के समान स्वच्छ है। इसकी गहराई की थाह नहीं; झील का रङ्ग गहरा नीला और जल मीठा तथा सुस्वादु है। जल के भीतर मछलियाँ, नाग, मगर और कछुए तथा जल के ऊपर तैरनेवाले पक्षी, बतख, हंस, सारस आदि निवास करते हैं[1]। जङ्गली मैदानों, तराई की झाड़ियों अथवा बालू के ढेरों में बड़े बड़े अण्डे छिपे हुए पाये जाते हैं।

एक बड़ी धारा झील से निकल कर पश्चिम की ओर बहती हुई टमोसिटिटी राज्य की पूर्वी हद पर अक्सस नदी में

[1] हुएन सांग की यात्रा इस स्थान पर ग्रीष्मऋतु (कदाचित् ६४२ ई०) में हुई होगी। शीत-ऋतु में तो यह झील ढाई फ़ीट जम जाती है (Wood's Oxus, p. 236) परन्तु गरमी में झील पर की बर्फ़ फट जाती है और निकटवर्ती पहाड़ियाँ बर्फ़रहित हो जाती हैं। यह अवस्था (खिरग़ीज के कथन के अनुसार, जो उड साहब के साथ था) जून मास के अन्त में होती है जिन दिनों झील पर जलचर पक्षियों का झुंड आकर जमा होता है। अन्य बातों के लिए देखो Marco Polo book 1, chap. XXXII और Yule's Notes

मिलकर पश्चिम को ही बह जाती हैं। इसी प्रकार झील के इस ओर जितनी धाराएँ बहती हैं वे सब भी पश्चिम को जाती हैं।

झील के पूर्व में एक बड़ी धारा निकल कर पूर्वोत्तर दिशा में बहती हुई कइश देश की पश्चिमी सीमा पर पहुँचती है और वहाँ पर सिटो (शीता[1]) नदी में मिलकर पूर्व की ओर बह जाती है। इस तरह पर झील के बाईं ओर की सब धारायें पूर्व की ओर ही बहती हैं।

पामीर घाटी के दक्षिण में एक पहाड़ पार करके हम 'पोलोलो' (बोलोर[2]) देश में पहुँचे। यहाँ सोना और चाँदी बहुत मिलता है। सोने का रङ्ग अग्नि के समान लाल होता है।

इस घाटी का मध्य भाग छोड़ कर दक्षिण-पूर्व को जाने से सड़क पर कोई भी गाँव नहीं मिलता। पहाड़ों पर चढ़-कर, चोटी को एक तरफ़ छोड़ते हुए, और बर्फ़ से मुक़ाबिला करते हुए लगभग ५०० ली के उपरान्त हम 'कइप अनटो' राज्य में आये।

कइप अनटो

इस देश का क्षेत्रफल २,००० ली है। राजधानी एक बड़े

[1] शीता नदी के विषय में देखो भाग १ अध्याय १ जुलियन साहब Vol. III, p. 512 में 'शीता' नाम निश्चय करते हैं जिसका अर्थ 'ठंडा' है और जो चीनी कोष के अनुसार भी है।

[2] कदाचित् तिब्बती राज्य 'बल्टी' से मतलब है। देखो कनिंघम (Quoted by Yule, M. P., Vol I, p. 168)

पहाड़ी चट्टान पर बसी हुई है जिसके पीछे की ओर शीता नदी है। इसका क्षेत्रफल २० ली है। पहाड़ी सिलसिला बराबर फैला हुआ है; घाटियाँ और मैदान कम हैं। चावल की खेती कम होती है, मटर और अन्य अनाज अच्छा पैदा होता है। वृक्ष बहुत बड़े नहीं होते, फल और फूल कम होते हैं। मैदानों में तरी, पहाड़ियाँ शून्य और नगर उजड़े हुए हैं। मनुष्यों के चलन-व्यवहार अनियमित हैं। बहुत थोड़े लोग हैं जो विद्याध्ययन में दत्तचित्त होते हैं। मनुष्य स्वभावतः कमीने और बेहूदा हैं पर हैं बड़े वीर और साहसी। इनकी सूरत मामूली और भद्दी है। इनके वस्त्र ऊन के बने होते हैं। इनके अक्षर कइश देशवालों से बहुत मिलते-जुलते हैं। बुद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा बहुत होती है इस कारण अधिकतर लोग धर्म का ध्यान रखते हैं और अपने को सच्चा प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। कोई दस संघाराम और लगभग ५०० साधु हैं जो सर्वास्तिवाद-संस्था के अनुसार हीनयान का अध्ययन करते हैं।

राजा बहुत धर्मिष्ठ और सदाचारी है। रत्नत्रयी की बड़ी प्रतिष्ठा करता है। उसका स्वरूप शान्त है। उसमें किसी प्रकार की बनावट नहीं, उसका चित्त उदार है और वह विद्या का प्रेमी है।

राज्य के स्थापित होने के दिन से बहुत सी पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं। कभी कभी लोग अपने को 'चीनदेव गोत्र' इस नाम से सम्बोधन करते हैं। प्राचीन काल में यह देश, सङ्गलिङ्ग पहाड़ के मध्य में, एक निर्जन घाटी था। उन्हीं दिनों फारस के किसी नरेश ने अपना विवाह 'हान' देश में किया। वधू की यात्रा के समय मार्ग में बाधा पड़ी, पूर्व और पश्चिम

दोनों ओर से डाकुओं की फ़ौज़ ने आकर घेर लिया। इस दशा में लोगों ने राजकन्या को सुनसान पहाड़ की चोटी पर पहुँचा दिया जो अत्यन्त ऊँची और भयावनी थी, तथा जिस पर बिना सीढ़ी के पहुँचना कठिन था। इसके अतिरिक्त ऊपर और नीचे अनेक रक्षक नियत कर दिये गये जो रात दिन पहरा देते थे। तीन मास के उपरान्त झमेला शान्त हुआ और डाकू लोग परास्त होगये। झगड़े से निवृत्त होकर लोग घर की ओर चलने ही वाले थे कि उनको विदित हुआ कि राजकन्या गर्भवती है। प्रधान मंत्री, जिसके ऊपर कार्य-भार था, बहुत भयभीत होगया। उसने अपने साथियों से इस प्रकार कहा, "राजा की आज्ञा थी कि मैं जाकर उसकी स्त्री से भेट करूँ। हमारे साथी लोग आपदा से बचने की आशा में, जो मार्ग में आ पड़ी थी, कभी जङ्गलों में वास करते थे और कभी रेगिस्तानी मैदानों में। सबेरे के समय हम नहीं जान सकते थे कि शाम को क्या होगा, दिन-रात चिन्ता ही में पड़े रहते थे। अन्त में अपने राजा के प्रभाव से हम लोग शान्ति स्थापन करने में समर्थ हो सके। हम लोग घर की ओर प्रस्थान करने ही वाले थे कि अब राजकन्या को हमने गर्भ-वती पाया। इस बात का मुझको बड़ा रंज है। मैं नहीं जान सकता कि मेरी मृत्यु किस प्रकार होगी। हमको अवश्य अप-राधी का पता लगाना चाहिए और उसको दंड देना चाहिए, परन्तु जो कुछ किया जाय वह चुपचाप। यदि हम शोर गुल करेंगे तो कभी सच्ची बात का पता नहीं लगा सकेंगे।" उसके नौकरों ने कहा, "कोई जाँच की आवश्यकता नहीं, यह एक देवता है जो राजकन्या को जानता है। रोज़ दोपहर के समय वह घोड़े पर चढ़कर सूर्य-मण्डल से राजकन्य से

मिलने आता था।" मंत्री ने कहा, "यदि यह सत्य है तो मैं अपने को किस प्रकार निरपराध साबित कर सकूँगा? यदि मैं लौट जाऊँगा तो अवश्य मारा जाऊँगा और यदि यहाँ देर करूँगा तो वहाँ से लोग मेरे मारने के लिए भेजे जायँगे। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए?" उसने उत्तर दिया, "यह कौन बड़े असमंजस की बात है। कौन जाँच करने के लिए बैठा है? अथवा, सीमा के बाहर दण्ड देने के लिए ही कौन आसकता है? कुछ दिन आप चुप रहें।"

इस बात पर उसने चट्टानी चोटी पर एक महल बनवाया और उसको और और बाहरी भवनों से परिवेष्टित कर दिया। इसके उपरान्त महल के चारों ओर ३०० पग की दूरी पर चहारदीवारी बनवा कर तथा राजकन्या को महल में उतार कर उस देश की स्वामिनी बनाया। राजकन्या के बनाये हुए क़ानून प्रचलित किये गये। समय आने पर उसके एक पुत्र का जन्म हुआ जो सर्वाङ्गसम्पन्न और बड़ा ही सुन्दर था। माता ने उसको प्रतिष्ठित पदवी[1] से सम्मानित करके राज्य-भार भी उसी को सौंप दिया। वह हवा में उड़ सकता था और आँधी तथा बर्फ़ पर भी अपनी सत्ता को चलाता था। उसकी शक्ति, शासन-पद्धति तथा न्याय की कीर्ति सब ओर फैल गई। पास के तथा बहुत दूर दूर के लोग भी उसके अधीन हुए।

काल पाकर राजा की मृत्यु हुई। लोगों ने उसके शव को नगर के दक्षिण-पूर्व में लगभग १०० ली की दूरी पर एक बड़े पहाड़ के गर्त में एक कोठरी बना कर रख दिया। उसका शव

१ अर्थात् 'सूर्य-पुत्र'।

सूख गया है परन्तु अब तक और कोई विकार उसमें नहीं हुआ। शरीर भर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं। देखने से ऐसा विदित होता है मानों सोता हो। समय समय पर लोग उसके वस्त्र बदल देते हैं तथा फूल और सुगंधित वस्तुओं से नियमानुसार उसकी पूजा करते हैं। इसके वंशजों को अपनी असलियत का स्मरण अब तक बराबर बना है, अर्थात् उनकी प्रथम माता हान-नरेश के वंश में उत्पन्न हुई थी और उनका सर्वप्रथम पिता सूर्यदेव की जाति का था। इसलिए ये लोग अपने को हान और सूर्यदेव के कुल का बतलाते हैं[1]।

राज्य-वंश के लोग सूरत-शकल में मध्यदेश (चीन) के लोगों से मिलते-जुलते हैं। ये लोग अपने सिर पर चौगोशिया टोपी पहनते हैं, और इनके वस्त्र 'हू' लोगों के समान होते हैं। बहुत समय के उपरान्त ये लोग जंगली लोगों के अधीन होगये जिन्होंने इनके देश पर अधिकार कर लिया था।

१ ईरान के 'स्याउश' और तूरान के 'अफरास्याव' की कथा इस कहानी से बहुत मिलती-जुलती है। अफरास्याव ने अपनी कन्या फरङ्गीस को सूबे खतन और चीन या माचीन की रक्षा में दे दिया था। देखो History of kashgar (chap. III. Farsuth's report) कैखुसरो (Cyrus) जो 'सूर्य का पुत्र' और 'वीर बालक' के नाम से प्रसिद्ध है, ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार के अद्भुत बालक की उत्पत्ति और वीरता-सम्बन्धी कथा को हुएन सांग ने लिखा है। इस ईरानी और तूरानी कथा से यह अनुमान किया जा सकता है कि हुएन सांग का तुहोलू शब्द तूरानियों का बोधक है न कि तुर्क लोगों का।

अशोक ने इस स्थान पर एक स्तूप बनवाया था। पीछे से जब राजा ने अपने निवास-भवन को राजधानी के पूर्वोत्तर कोण में बनवाया तब इस प्राचीन भवन में उसने कुमारलब्ध के निमित्त एक संघाराम बनवा दिया था। इस भवन के बुर्ज ऊँचे और कमरे चौड़े हैं। इसके भीतर बुद्धदेव की एक मूर्ति अद्भुत स्वरूप की है। महात्मा कुमारलब्ध तक्षशिला का निवासी था। बचपन ही से उसमें प्रतिभा का विकास होगया था। इसलिए बहुत थोड़ी अवस्था में ही इसने संसार का त्याग कर दिया था। उसका चित्त सदा पुनीत पुस्तकों के मनन में लगा रहता था और उसकी आत्मा विशुद्ध सिद्धान्तों के आनन्द में मग्न रहती थी। प्रत्येक दिन वह ३२,००० शब्दों का पाठ किया करता और ३२,००० अक्षरों को लिखता था। इस प्रकार अभ्यास करने के कारण उसकी योग्यता उसके सब सहयोगियों से बढ़ गई थी और उसकी कीर्ति उस समय अद्वितीय थी। उसने सत्य-धर्म का संस्थापन करके असत्य-सिद्धान्त-वादियों को परास्त कर दिया था। उसके शास्त्रार्थ-चातुर्य की बड़ी प्रसिद्धि थी। ऐसी कोई भी कठिनाई न थी जिसको वह दूर न कर सके। सम्पूर्ण भारत के लोग उसके दर्शनों के लिए आते थे और उसको प्रतिष्ठा का सर्वोच्च पद प्रदान करते थे। उसके लिखे हुए बीसों शास्त्र हैं। इन ग्रंथों की बड़ी ख्याति है और सब लोग इनको पढ़ते हैं। सौत्रान्तिक संस्था का संस्थापक यही महात्मा है।

पूर्व में अश्वघोष, दक्षिण में देव, पश्चिम में नागार्जुन और उत्तर में कुमारलब्ध एक ही समय में हुए हैं। ये चारों व्यक्ति संसार को प्रकाशित करनेवाले चार सूर्य कहलाते हैं, इस-

लिए इस देश के राजा ने महात्मा कुमारलब्ध की कीर्ति को सुनकर तक्षशिला पर चढ़ाई की और ज़बर्दस्ती उसको अपने देश को ले आया और इस संघाराम को बनवाया।

इस नगर से दक्षिण-पूर्व की ओर लगभग ३०० ली चल कर हम एक बड़े चट्टान पर आये जिसमें दो कोठरियाँ (गुफाएँ) खोद कर बनाई गई हैं। प्रत्येक कोठरी में एक अरहट समाधि-मग्न होकर निवास करता है। दोनों अरहट सीधे बैठे हुए हैं और मुश्किल से चल फिर सकते हैं। इनके चेहरों पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं परन्तु इनकी त्वचा और हड्डियाँ अब भी सजीव हैं। यद्यपि ७०० वर्ष व्यतीत हो गये हैं परन्तु इनके बाल अब भी बढ़ते रहते हैं इसलिए साधु लोग प्रत्येक वर्ष इनके बालों को कतर देते हैं और कपड़े बदल देते हैं।

इस बड़े चट्टान के उत्तर-पूर्व में लगभग २०० ली पहाड़ के किनारे चल कर हम पुण्यशाला को पहुँचे।

सङ्गलिङ्ग पहाड़ की पूर्वी शाखा के चार पहाड़ों के मध्य में एक मैदान है जिसका क्षेत्रफल कई हज़ार एकड़ है। यहाँ पर जाड़ा और गरमी दोनों ऋतुओं में बर्फ़ गिरा करती है। ठंढी हवा और बर्फ़ीले तूफ़ान बराबर बने रहते हैं। भूमि नमक से गर्भित है, कोई फ़सल नहीं होती और न कोई वृक्ष उगता है। कहीं कहीं पर केवल झाड़ के समान कुछ घास उगी हुई दिखाई पड़ती है। कठिन गरमी के दिनों में भी आँधी और बर्फ़ का अधिकार रहता है। इस भूमि पर पैर धरते ही यात्री बर्फ़ से आच्छादित हो जाता है। सौदागर और यात्री लोग इस कष्टदायक और भयानक स्थान में आने जाने में बड़ी तकलीफ़ उठाते हैं।

यहाँ की प्राचीन कहानी से पता चलता है कि पूर्वकाल में दस हज़ार सौदागरों का एक झुंड था जिसके साथ अगणित ऊँट थे। सौदागर लोग अपने माल को दूर देशों में ले जाकर बेचते और नफ़ा उठाते थे। वे सबके सब अपने पशुओं सहित इस स्थान पर आकर मर गये थे।

उन्हीं दिनों कोई महात्मा अरहट कइपअन्टो-राज्य का स्वामी था। इसने अपनी सर्वज्ञता से इन सौदागरों की दुर्दशा को जान लिया और दया से द्रवित होकर अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा इनकी रक्षा करना चाहा। परन्तु उसके, यहाँ तक, पहुँचने के पूर्व ही सब लोग मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे। तब उसने सब प्रकार का उत्तम सामान इकट्ठा करके एक मकान बनवाया और उसको सब प्रकार की सम्पत्ति से भर दिया। इसके उपरान्त निकटवर्ती भूमि को लेकर उसने नगर के समान बहुत से मकान बनवा दिये। इसलिए अब सौदागरों और यात्रियों को उसका औदार्य बहुत सुख पहुँचाता है।

यहाँ से उत्तर-पूर्व में सङ्गलिङ्ग पहाड़ के पूर्वी भाग से नीचे उतर कर और बड़ी बड़ी भयानक घाटियों को पार करते और भयानक तथा ढालू सड़कों पर चलते हुए, तथा पग पग पर बर्फ़ और तूफ़ान का सामना करते हुए, लगभग १०० ली के उपरान्त हम सङ्गलिङ्ग पहाड़ से निकल कर 'उश' राज्य में आये।

उश (ओच)

इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग १,००० ली और मुख्य नगर का १० ली है। इसकी दक्षिणी सीमा पर शीता नदी बहती है।

भूमि उत्तम और उपजाऊ है; यह नियमानुसार जोती बोई जाती है और अच्छी फ़सल उत्पन्न करती है। वृक्ष और जङ्गल बहुत दूर तक फैले हुए हैं तथा फल-फूल की उत्पत्ति बहुत होती है। इस देश में सफ़ेद, स्याह और हरे, सभी प्रकार के घोड़े बहुत होते हैं। प्रकृति कोमल और सह्य है। हवा और वृष्टि अपनी ऋतु के अनुकूल होती है। मनुष्यों के आचरण में सभ्यता की झलक विशेष नहीं पाई जाती। मनुष्य स्वभावतः कठोर और असभ्य हैं। इनका आचार अधिकतर झूठ की ओर झुका हुआ है और शर्म का तो इनमें कहीं नाम नहीं। इनकी भाषा और लिखावट ठीक कइशवालों के समान है। सूरत भद्दी और घृणित है। इन लोगों के वस्त्र खाल और ऊन के बनते हैं। यह सब होने पर भी ये लोग बुद्धधर्म के बड़े दृढ़ भक्त हैं और उसकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। कोई दस संघाराम और एक हज़ार से कुछ ही कम साधु हैं। ये लोग सर्वास्तिवाद-संस्था के अनुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। कई शताब्दियों से राज्यवंश नष्ट होगया है। इनका शासक निज का नहीं है वरंच ये लोग कइप अरटो देश के अधीन हैं।

नगर के पश्चिम में २०० ली के लगभग की दूरी पर हम एक पहाड़ में पहुँचे। यह पहाड़ वाष्प से आच्छादित रहता है जो बादलों के समान चोटियों पर छाई रहती है। चोटियाँ एक पर एक उठती चली गई हैं और ऐसा मालूम होता है कि धक्का लगते ही गिर पड़ेंगी। इस पहाड़ पर एक अद्भुत और गुप्त विचित्र स्तूप बना हुआ है। इसकी कथा यह है कि सैकड़ों वर्ष व्यतीत हुए जब यह पहाड़ एक दिन अकस्मात् फट गया और बीच में एक भिक्षु दिखाई पड़ा जो आँखें बन्द

किये हुए बैठा था। उसका शरीर बहुत ऊँचा और दुर्बल था। उसके बाल कंधों तक लटके हुए और उसके मुख को ढके हुए थे। एक शिकारी ने उसको देखकर सब समाचार राजा को जा सुनाया। राजा उसकी सेवा-दर्शन करने स्वयं गया। सम्पूर्ण नगरनिवासी पुष्प इत्यादि सुगंधित वस्तुएँ लेकर उसकी पूजा करने के लिए दौड़ पड़े। राजा ने पूछा, "यह दीर्घकाय महात्मा कौन है?" उस स्थान पर एक भिक्षु खड़ा था उसने उत्तर दिया, "यह महात्मा जिसके बाल कंधे तक लटके हुए हैं और जो काषाय वस्त्र धारण किये हुए हैं कोई अरहट है, जो *वृत्तियों को निरुद्ध करके समाधि में मग्न* है। जो लोग इस प्रकार की समाधि में मग्न होते हैं वे बहुत काल तक इसी अवस्था में रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यदि उनको घण्टे का शब्द सुनाया जाय तो जग पड़ेंगे, और कुछ का कहना है कि सूर्य की चमक देखने से वे लोग अपनी समाधि से उठते हैं। इसके विपरीत, वे लोग बिना ज़रा भी हिले-डुले या साँस लिये पड़े रहते हैं परन्तु समाधि के प्रभाव से उनके शरीर में कुछ विकार नहीं होता। समाधि के दूर होने पर इनका शरीर तेल से ख़ूब मला जाता है और जोड़ों पर मुलायम करनेवाली वस्तुओं का लेप किया जाता है। इसके उपरान्त घण्टा बजाया जाता है तब इनका चित्त समाधि से अलग होता है।" राजा की आज्ञा से तब यही तदबीर की गई और उसके उपरान्त घण्टा बजाया गया।

घण्टे का शब्द समाप्त भी न हो पाया था कि अरहट ने आँखें खोल दीं और ऊपर निगाह करके बहुत देर तक देखने के उपरान्त कहा, "तुम लोग कौन जीव हो जिनका छोटा छोटा डील है और भूरे भूरे कपड़े पहने हुए हो?" लोगों ने

उत्तर दिया, "हम लोग भिक्षु हैं।" उसने कहा, "हमारा स्वामी काश्यप तथागत आज-कल कहाँ है ?" उन्होंने उत्तर दिया, "उसको महानिर्वाण प्राप्त हुए बहुत समय व्यतीत हो गया।" इसको सुनकर उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं और इतना दुखित हुआ मानो मर ही जायगा। अकस्मात् उसने फिर प्रश्न किया, "क्या शाक्य तथागत संसार में आचुके हैं ?" "उनका जन्म संसार में हो चुका और उन्होंने भी अपनी आध्यात्मिकता से संसार को शिक्षा देकर निर्वाण को प्राप्त कर लिया।" इन शब्दों को सुनकर उसने अपना सिर नीचा कर लिया और थोड़ी देर तक उसी प्रकार बैठा रहा। इसके उपरान्त वायु में चढ़कर आध्यात्मिक चमत्कार को प्रदर्शित करते हुए उसका शरीर अग्नि में जल गया और हड्डियाँ भूमि पर गिर पड़ीं। राजा ने उनको बटोर कर इस स्तूप को बनवा दिया।

इस देश से उत्तर में पहाड़ों तथा रेगिस्तानी मैदानों में लगभग ५०० ली चलकर हम 'कइश' देश में पहुँचे।

कइश (काशगर)

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ५,००० ली है। इस देश में रेगिस्तानी और पथरीली भूमि बहुत है और चिकनी मिट्टी-वाली कम। भूमि की जोताई-बोआई अच्छी होती है जिससे उपज भी उत्तम है। फूल-फल बहुत हैं। यहाँ बटे हुए एक प्रकार के ऊनी वस्त्र और सुन्दर ग़लीचों की कारीगरी होती है जो बहुत अच्छी तरह बुने जाते हैं। प्रकृति कोमल और सुखद है; आँधी पानी अपने समय पर होता है। मनुष्यों का स्वभाव दुखद और क्रूर है। ये लोग बड़े ही झूठे और दग़ाबाज़

होते हैं। यहाँ के लोग सभ्यता और सहृदयता को कुछ नहीं समझते और न विद्या की चाह करते हैं। यहाँ की प्रथा है कि जब बालक उत्पन्न होता है तब उसके सिर को एक लकड़ी के तख्ते से दबा देते हैं। इनकी सूरत साधारण और भद्दी होती है। ये लोग अपने शरीर और आँखों के चारों ओर चित्रकारी काढ़ लेते हैं। इन लोगों के अक्षर भारतीय नमूने के हैं, और यद्यपि ये बहुत कुछ बिगड़ गये हैं तो भी सूरत में अधिक भेद नहीं पड़ा है। इनकी भाषा और उच्चारण दूसरे देशों से भिन्न है। इन लोगों का विश्वास बुद्धधर्म पर बहुत है और इसी के अनुसार आचरण भी, बड़ी उत्सुकतापूर्वक, करते हैं। कई सौ संघाराम कोई १०,००० साधुओं सहित हैं जो सर्वास्तिवाद-संस्था के अनुसार हीनयान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। बिना सिद्धान्तों को समझे हुए ये लोग अनेक धार्मिक मंत्रों का पाठ किया करते हैं, इसलिए कितने ही ऐसे भी हैं जो तृपिटक और विभाषा को आदि से लेकर अन्त तक बरज़ुबानी सुना सकते हैं।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व की ओर लगभग ५०० ली चलकर और शीता नदी तथा एक बड़े पथरीले करार को पार करके हम 'चोक्यू किया' राज्य में पहुँचे।

चोक्यूकिया (चकुक ? यरकियाङ्ग[1])

इस राज्य का क्षेत्रफल १,००० ली और राजधानी का १० ली है। इसके चारों ओर पहाड़ों और चट्टानों का घिराव है।

[1] इसका प्राचीन नाम सइक् (sie ka) है। मारटीन साहब चोक्यूकिया का निश्चय यरकियांग से करते हैं, परन्तु प्रमाण

निवास-स्थान अगणित हैं। पहाड़ और पहाड़ियों का सिल-सिला देश भर में फैला चला गया है। चारों ओर सब ज़िले पहाड़ी हैं। इस राज्य की सीमाओं पर दो नदियाँ हैं[1]। अनाज और फलवाले वृक्षों की उपज अच्छी है, विशेष कर अङ्गूर, नासपाती और बेर बहुत होता है। शीत और आँधियों की अधिकता पूरे साल भर रहती है। मनुष्य क्रोधी और क्रूर हैं। ये लोग बड़े झूठे और दग़ाबाज़ हैं तथा दिन दहाड़े डाका डालते हैं। अक्षर वही हैं जो ख़ुतन देश में प्रचलित हैं परन्तु बोलचाल की भाषा भिन्न है। इनमें सभ्यता बहुत थोड़ी है और इसी प्रकार इनका साहित्य और शिल्प ज्ञान भी थोड़ा है। परन्तु उपासना के तीनों पुनीत विषयों पर विश्वास और धार्मिक आचरण से प्रेम करते हैं। कितने ही संघाराम हैं परन्तु अधिकतर उजाड़ हैं। कई सौ साधु हैं, जो महायान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं।

देश की दक्षिणी सीमा पर एक बड़ा पहाड़ है जिसके चट्टान और चोटियाँ एक पर एक उठी चली गई हैं और झाड़ी-जङ्गल से आच्छादित हैं। वर्ष भर और विशेष करके शीत ऋतु में पहाड़ी झरनें और धारायें सब ओर से बहती हैं। बाहरी ओर चट्टानों और जङ्गलों में कहीं कहीं पत्थर की गुफाएँ बनी हुई हैं। भारतवर्ष के अरहट

कोई नहीं दिया गया। डाक्टर इटल साहब कहते हैं कि यह छोटे बुख़रिया का प्राचीन राज्य है जो कदाचित् वर्तमान यरकियांग है। काशगर की दूरी और दिशा इत्यादि से यारकन्द सूचित होता है।

[1] कदाचित् यारकन्द और ख़ुरेतन नदियाँ।

अपनी आध्यात्मिक शक्ति को प्रदर्शित करते हुए बहुत दूर की यात्रा करके इस देश में आकर विश्राम करते हैं। अगणित अरहट इस स्थान पर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं इस कारण यहाँ पर स्तूप भी बहुत हैं। आज-कल तीन अरहट इस पहाड़ की गहरी गुफा में निवास करते हैं और 'अचल-मानस-समाधि' में मग्न हैं। इनके शरीर सूखकर लकड़ी हो गये हैं परन्तु बाल बढ़ते रहते हैं इसलिए श्रमण लोग समय समय पर जाकर उनको कतर देते हैं। इस राज्य में महायान-सम्प्रदाय की पुस्तकें बहुत मिलती हैं। यहाँ से बढ़कर बुद्ध-धर्म का प्रचार इस समय और कहीं नहीं है। यहाँ पर अनेक धार्मिक पुस्तकें हैं जिनकी संख्या एक लक्ष है। अपने प्रवेशकाल से लेकर अब तक बुद्धधर्म की वृद्धि यहाँ पर विलक्षण रीति से होती रही है।

यहाँ से पूर्व में ऊँचे ऊँचे पहाड़ी दर्रों और घाटियों को नाँघते लगभग ८०० ली चलने के उपरान्त हम 'कयूसटन' राज्य में पहुँचे।

क्यूसटन (खुतन)

इस देश का क्षेत्रफल लगभग ४,००० ली है। देश का अधिक भाग पथरीला और बालुका-मय है; जोतने-बोने योग्य भूमि कम है। तो भी जो कुछ भूमि है वह नियमानुसार जोतने-बोने योग्य है और उसमें फलों की उपज अच्छी होती है। कारीगरी में दरियाँ, महीन ऊनी वस्त्र और उत्तम रेशमी वस्त्र हैं। इसके अतिरिक्त सफ़ेद और हरे घोड़े भी यहाँ होते हैं। प्रकृति कोमल और सुखद है, कभी कभी आँधियाँ बड़े ज़ोर शोर से आती हैं और धूल के बादल बरसते हैं। लोग

सभ्यता और न्याय को जानते हैं और स्वभावतः शान्त और प्रेमी हैं। साहित्य और कारीगरी के सीखने में इन लोगों की रुचि अच्छी है। अच्छी रुचि होने से इन विषयों में ये उन्नति भी करते जाते हैं। सब लोग आराम से कालयापन करते हैं और प्रारब्ध पर सन्तुष्ट हैं।

यह देश संगीत-विद्या के लिए प्रसिद्ध है। लोग गाना और नाचना बहुत पसन्द करते हैं। बहुत थोड़े लोग खाल या ऊन के वस्त्र पहनते हैं; अधिकतर तो सफ़ेद अस्तर लगे हुए रेशमी वस्त्र ही पहने जाते हैं। लोगों का बाहरी व्यवहार शिष्टाचार से भरा होता है तथा उनकी रीतियाँ सभ्यतानुकूल हैं। इन लोगों की लिखावट और वाक्यविन्यास भारतवालों से मिलते-जुलते हैं। जो कुछ अक्षरों में भेद है भी वह बहुत थोड़ा है। बोलने की भाषा दूसरे देशों से भिन्न है। लोग बुद्धधर्म की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। कोई सौ संघाराम और लगभग ५,००० अनुयायी हैं जो महायान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं।

राजा बड़ा साहसी और वीर है। वह भी बुद्धधर्म की बड़ी भक्ति करता है। वह अपने को वैश्रावणदेव का वंशज बतलाता है। प्राचीन काल में यह देश उजाड़ और रेगिस्तान था और इसमें एक भी निवासी नहीं था। वैश्रावणदेव इस देश में वास करने के लिए आया। अशोक का बड़ा पुत्र तक्ष-शिला में निवास करता था। उसकी आँखें निकाली जाने पर अशोक अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। उसने अपनी सेना भेजकर, उस स्थान के निवासियों को हिमालय पहाड़ के उत्तर, निर्जन और जङ्गली घाटियों में निकलवा दिया। वे सब निकाले हुए लोग इस देश की पश्चिमी सीमा पर आकर रहने लगे। उन लोगों का जो मुखिया था वह राजा बनाया गया। ठीक

इन्हीं दिनों में पूर्वी देश (चीन) के राजा का एक पुत्र भी, जो अपने देश से निर्वासित किया गया था, इस देश की पूर्वी सीमा पर रहता था। उस स्थान के निवासियों ने उसी को राजा बनाया। इन दोनों नरेशों को राज्य करते कई एक साल व्यतीत हो गये परन्तु इनका परस्पर सम्बन्ध-सूत्र दृढ़ न हुआ। एक दिन संयोग से शिकार खेलते समय दोनों नरेशों की मुठभेड़ होगई। परिचय होने पर परस्पर वादविवाद होने लगा और एक दूसरे को दोषी बनाने लगा। यहाँ तक बात बढ़ी की तलवारें निकल पड़ीं। उस समय एक तीसरा व्यक्ति भी वहाँ पहुँच गया। उसने दोनों को समझाया कि 'इस प्रकार आज आप लोग क्यों लड़ते हैं? शिकार के मैदान में लड़ाई से कोई लाभ नहीं। अपने अपने स्थान को लौट जाइए और भली भाँति सेना को सुसज्जित करके लड़ लीजिए, इस बात पर वे दोनों अपनी अपनी राजधानी को लौट गये और अपने अपने लड़ाकू वीरों को लेकर दुन्दुभी आदि बजाते हुए लड़ाई के मैदान में आकर जमा हुए। एक दिन-रात घमासान युद्ध हुआ, अन्त में तड़का होते होते पश्चिम-वालों की हार होगई और पूर्ववालों ने उनको उत्तर की ओर खदेड़ दिया। पूर्वी नरेश ने इस विजय पर प्रसन्न होकर राज्य के दोनों भागों को एक में जोड़ दिया और देश के ठीक बीच में सुदृढ़ दीवारों से सुरक्षित राजधानी बनवाई। राजधानी बनवाने से पूर्व उसको भय होगया था कि कदाचित् राजधानी समुचित स्थान पर न बने इसलिए उसने बहुत दूर दूर तक संदेशा भेजा कि जो कोई "भूमि शोधन करना जानता हो वह यहाँ आवे?" इस संदेश पर एक विरुद्ध-धर्मावलम्बी अपने सम्पूर्ण शरीर में राख मले

हुए और कंधे पर जल से भरा हुआ घड़ा लिये हुए राजा के पास आया और कहा, "मैं भूमि-संशोधन करना जानता हूँ।" यह कह कर वह अपने घड़े में से जल की धार गिराता हुआ बहुत दूर तक घूमा जिससे एक बड़ा घेरा बन गया, और फिर शीघ्र एक ओर पलायन करके अन्तर्धान हो गया।

उसी जलवाली लकीर के ऊपर राजा ने अपनी राजधानी की नींव दी। राजधानी बन जाने पर वह यहीं पर रह कर राज्य करने लगा। नगर के निकट कोई ऊँची भूमि नहीं है इससे इसको हराना कठिन है। प्राचीन समय से लेकर अब तक कोई भी इसको नहीं जीत सका है। राजा राजधानी का परिवर्तन करके और बहुत से नवीन नगर और ग्राम बसा कर तथा पूर्ण धर्म और न्याय के साथ राज्य करते हुए वृद्ध हो गया परन्तु उसके कोई पुत्र नहीं हुआ। इसने इस शोक से कि उसका भवन शून्य हो जायगा, वैश्रावणदेव के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और अपनी कामना की पूर्ति के लिए प्रार्थना की। मूर्ति का सिर ऊपर की ओर फट गया और उसमें से एक बालक निकल आया। उस बालक को लेकर राजा अपने स्थान को आया। सम्पूर्ण राज्य में आनन्द छा गया और लोग बधाई देने लगे। राजा को तब इस बात का भय हुआ कि लड़के को दूध किस प्रकार पिलाया जाय और बिना दूध के इसका जीवन किस प्रकार रहेगा। इसलिए वह फिर मन्दिर में लौट गया और बच्चे के पोषण के लिए प्रार्थी हुआ। उसी समय मूर्ति के सामनेवाली भूमि तड़क गई और उसमें से स्तन के आकारवाली कोई वस्तु प्रकट हुई। दैवी पुत्र उसको प्रेम से पीने लगा। उचित समय पर यह बालक राज्य का अधिकारी हुआ। इसकी बुद्धि और

वीरता की कीर्ति दिनों दिन बढ़ने लगी तथा इसका प्रभाव बहुत दूर दूर तक फैल गया। इसने अपने पुरखों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए देवता (वैश्रावण) का मन्दिर बनवाया। उस समय से बराबर राजा लोग क्रमबद्ध तथा इसी वंश के होते आये हैं और उनकी शक्ति भी उसी प्रकार अटल चली आई है। वर्तमान समय में देवता का मन्दिर बहुमूल्य रत्नादि से सुसज्जित और वैभव-सम्पन्न है। प्रथम नरेश का पोषण उस दूध से हुआ था जो भूमि से निकला था इसलिए देश का नाम भी तदनुसार (भूमि का स्तन-कुस्तने) पड़ गया।

राजधानी के दक्षिण में लगभग १० ली पर एक बड़ा संघाराम है। इसको देश के किसी प्राचीन नरेश ने वैरोचन अरहट की प्रतिष्ठा में बनवाया था।

प्राचीन काल में जब बुद्ध-धर्म का प्रचार इस देश में नहीं हुआ था यह अरहट कश्मीर से इस देश में आया था। आकर वह एक जंगल में बैठ गया और समाधि में मग्न हो गया। कुछ लोगों ने उसको देखा और उसके रूप तथा वस्त्र आदि पर आश्चर्यान्वित होकर सब समाचार राजा से जाकर कहा। राजा स्वयं चलकर उसके दर्शनों को गया तथा उसके दर्शन करके पूछा, "आप कौन व्यक्ति हैं जो इस घने वन में निवास करते हैं?" अरहट ने उत्तर दिया, "मैं तथागत का शिष्य हूँ, मैं समाधि के लिए इस स्थान पर वास करता हूँ। महाराज को भी उचित है कि बुद्ध-सिद्धान्तों की सराहना करके, संघाराम बनवाकर और साधुओं की सेवा करके धर्म और पुण्य का संचय करें।' राजा ने पूछा, "तथागत में क्या गुण है और कौनसी आध्यात्मिक शक्ति है जिसके लिए आप इस

जङ्गल में पक्षी के समान छिपे हुए उसके सिद्धान्तों का अभ्यास कर रहे हैं?" उसने उत्तर दिया, "तथागत का चित्त सब प्राणियों के प्रति दया और प्रेम से द्रवित है। वे तीनों लोकों के जीवों को सन्मार्ग प्रदर्शन के लिए अवतरित हुए हैं। जो लोग उनके धर्म का पालन करते हैं वे जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाते हैं, और जो लोग उनके सिद्धान्तों से अनजान हैं वे अब भी सांसारिक वासनारूपी जाल में फँसे हुए हैं।" राजा ने कहा, "वास्तव में आप जो कुछ कहते हैं बड़े महत्त्व का विषय है।" इसी प्रकार कहते हुए राजा ने बहुत ज़ोर देकर कहा कि आपके पूज्य देवता मेरे लिए भी प्रकट हों और मुझको भी दर्शन दें। उनके दर्शन करने के उपरान्त मैं संघाराम भी बनवाऊँगा और उनका भक्त होकर उनके सिद्धान्तों के प्रचार का प्रयत्न भी करूँगा।" अरहट ने उत्तर दिया, "महाराज, संघाराम बनवाने के पुण्य-कार्य की पूर्णता के उपलक्ष में आपकी इच्छा पूर्ण होगी।"

मन्दिर बनकर तैयार हो गया; बहुत दूर दूर के और आस पास के साधु आकर जमा होगये तो भी समाज बुलाने-वाला घण्टा वहाँ पर नहीं था। राजा ने पूछा, "संघाराम बनकर ठीक हो गया परन्तु बुद्धदेव के दर्शन नहीं हुए।" अरहट ने उत्तर दिया, "आप अपने विश्वास पर दृढ़ रहिए, दर्शन होने में भी विलम्ब न होगा। अकस्मात् बुद्धदेव की मूर्ति वायु में उतरती हुई दिखाई पड़ी और उसने आकर राजा को एक घण्टा दिया। इस दर्शन से राजा का विश्वास दृढ हो गया और उसने बुद्ध सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया।

राजधानी के दक्षिण-पश्चिम में लगभग २० ली पर

'गोशृङ्ग' नामक पहाड़ है। इस पहाड़ में दो चोटियाँ हैं। इन दोनों चोटियों के आस पास सब ओर अनेक पहाड़ियाँ हैं। एक घाटी में एक संघाराम बनाया गया है जिसके भीतर बुद्धदेव की एक मूर्त्ति है और जिसमें से समय समय पर प्रकाश निकला करता है। इस स्थान पर तथागत ने देवताओं के लाभ के लिए धर्म का विशुद्ध स्वरूप वर्णन किया था। उन्होंने यह भी भविष्यद्वाणी की थी कि इस स्थान पर एक राज्य स्थापित होगा और सत्य-धर्म का अच्छा प्रचार होगा; विशेष कर महायान-सम्प्रदाय का लोग अधिक अभ्यास करेंगे।

गोशृङ्ग पहाड़वाले संघाराम में एक गुफा है जिसमें एक अरहट निवास करके मन को मारनेवाली समाधि का अभ्यास और मैत्रेय बुद्ध के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। कई शताब्दियों तक बराबर उसकी पूजा होती रही है; कुछ वर्ष हुए तब पहाड़ी चोटी गिर पड़ी थी जिससे (गुफा का) मार्ग अवरुद्ध हो गया है। देश के राजा ने अपनी सेना के द्वारा उन गिरे हुए पत्थरों को हटवाकर रास्ता साफ़ कर देना चाहा था परन्तु काली मधु-मक्खियों के धावा कर देने से ऐसा न हो सका। उन मधु-मक्खियों ने लोगों को अपने दंशन से विकल करके भगा दिया, इस कारण गुफा के द्वार पर पत्थरों का ढेर ज्यों का त्यों है।

राजधानी के दक्षिण-पश्चिम में लगभग १० ली पर 'दीर्घ-भवन' नामक एक इमारत है। इसके भीतर किउची[१] के

१ जुलियन साहब इसको 'कुचं' कहते हैं। एक चीनी नोट से

बुद्धदेव की खड़ी मूर्ति है। पूर्वकाल में यह मूर्ति किउची से लाकर यहाँ रक्खी गई थी।

प्राचीन काल में एक मंत्री था जो इस देश से किउची को निकाल दिया गया था। उस देश में जाकर उसने केवल इस मूर्ति की पूजा की। कुछ दिन पीछे जब वह लौट कर अपने देश को आया तो उसका चित्त भक्ति के कारण मूर्ति के दर्शनों को अत्यन्त दुखी हुआ। आधी रात व्यतीत होने पर मूर्ति स्वयं उसके स्थान पर आई। इस घटना पर उसने गृह-परित्याग करके संन्यास ले लिया और संघाराम बनवा कर मूर्ति के सहित रहने लगा।

राजधानी से पश्चिम में लगभग ३०० ली चलकर हम पोक्यिाई (भगई ?) नामक नगर में पहुँचे। इस नगर में बुद्धदेव की एक खड़ी मूर्ति लगभग सात फ़ुट ऊँची और अत्यन्त सुन्दर है। इसके प्रभावशाली स्वरूप को देख कर भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इसके सिर पर एक बहुमूल्य रत्न है, जिसमें से सदा स्वच्छ प्रकाश प्रस्फुटित हुआ करता है। इसका वृत्तान्त इस प्रकार प्रसिद्ध है:—यह मूर्ति पूर्वकाल में कश्मीर देश में थी, लोगों की प्रार्थना पर द्रवित होकर स्वयं इस देश को चली आई। प्राचीन काल में एक अरहट था जिसका एक शिष्य श्रमणेर मृत्यु के निकट पहुँचा, उस समय उसकी इच्छा बोये हुए चावलों की रोटी खाने की हुई। अरहट ने अपनी दैवी दृष्टि से इस प्रकार के चावलों को कुस्तन देश में देखा और वहाँ से चावल लाने के लिए

पता चलता है कि यह बर्फ़ीले पहाड़ में था और आज-कल 'तुष' कहलाता है।

स्वयं ही आध्यात्मिक बल से उस देश को गया। श्रमणेर ने उन चावलों को खाकर प्रार्थना की कि उसका जन्म उसी देश में होवे। इस प्रार्थना और कामना के फल से उसका जन्म उस देश के राजा के घर में हुआ। राजसिंहासन पर बैठकर उसने निकटवर्ती सब देशों को विजय कर लिया और हिमालय पहाड़ को पार करके कश्मीर देश पर चढ़ आया। कश्मीर-नरेश ने भी उसकी चढ़ाई को रोकने के लिए अपनी सेना को तैयार किया। उस समय अरहट ने जाकर राजा से कहा कि आप सेना-सन्धान न कीजिए, मैं अकेला जाकर उसको परास्त कर सकता हूँ।

यह कह कर वह कुस्तन-नरेश के पास गया और धर्म के उत्तमोत्तम मन्त्र गाने लगा।

राजा ने पहले तो कुछ ध्यान न दिया और अपनी सेना को आगे बढ़ने का आदेश दे दिया। तब अरहट उन वस्त्रों को ले आया जिनको राजा अपने पूर्व जन्म की श्रमणेर अवस्था में धारण किया करता था। उन वस्त्रों को देखकर राजा को अपने पूर्व जीवन का ज्ञान होगया, इसलिए वह प्रसन्नतापूर्वक कश्मीर-नरेश के पास जाकर उसका मित्र होगया, और सेना सहित अपने देश को लौट गया। लौटते समय उस मूर्ति को जिसको वह श्रमणेर अवस्था में पूजता था अपनी सेना के आगे करके ले चला। परन्तु इस स्थान पर आकर मूर्ति ठहर गई और आगे न बढ़ी। इसलिए राजा ने इस संघाराम को इस स्थान पर बनवाकर साधुओं को बुला भेजा और अपना रत्नजटित सरपेंच मूर्ति को आभूषित करने के लिए भेंट कर दिया। वही सरपेंच अब तक मूर्ति के सिर पर है।

राजधानी के पश्चिम १५० या १६० ली पर सड़क के *जो एक बड़े रेगिस्तान को पार करती हुई जाती है, बीचों* बीच में, कुछ छोटी छोटी पहाड़ियाँ चूहों के बिल खोदने से बन गई हैं। यहाँ का प्रचलित वृत्तान्त जो कुछ मैंने सुना है वह यह है:—"इस रेगिस्तान में इतने बड़े बड़े चूहे हैं जितने बड़े कि काँटेदार सुअर (सेई ?) होते हैं। इनके बालों का रङ्ग सोने और चाँदी के समान होता है। इनके यूथ का एक चूहा स्वामी है। प्रत्येक दिन वह चूहा अपने बिल से बाहर आकर टहलता है (? तपस्या करता है:) उसके बाद दूसरे चूहे भी बिल से निकल कर वैसाही करते हैं। प्राचीन काल में हिउङ्गन् देश का अधिपति कई लाख सेना लेकर इस देश की सीमा तक चढ़ आया और चूहों के बिलों के निकट पहुँच कर उसने अपना पड़ाव डाला। कुस्तन-नरेश जिसके पास केवल लाख पचास हज़ार ही सेना थी इस बात से भयभीत हो गया कि इस थोड़ी सी सेना के द्वारा किस प्रकार शत्रु का सामना हो सकेगा। वह इन रेगिस्तानी चूहों के अद्भुत चरित्र को भी जानता था, परन्तु अभी तक उसने अपनी धार्मिक भेंट से कभी इनको सम्पूजित नहीं किया था। इस समय उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी, वह सर्वथा असहाय हो रहा था, उसके मन्त्री भी भयातुर और किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहे थे। इसलिए उसने चूहों को भेंट देकर सहायता प्राप्त करने और अपनी सेना को बलिष्ठ बनाने का विचार किया। उसी रात कुस्तन-नरेश ने स्वप्न देखा कि एक बड़ा चूहा उससे कह रहा है, "मैं आपकी सहायता के लिए सादर प्रस्तुत हूँ; प्रातःकाल आप सेना-सन्धान कीजिए; आप अवश्य विजयी होंगे।"

कुस्तन-नरेश इस विलक्षण चमत्कार को देखकर प्रसन्न हो गया। उसने अपने सरदारों और सेनापतियों को आज्ञा दी कि प्रातःकाल होते होते शत्रु के ऊपर पहुँच जाओ। हिउङ्गन् उन लोगों के आक्रमण से भयभीत हो गया। उसकी सेना के लोग झटपट घोड़ों को कसने और रथों को जोतने दौड़ पड़े। परन्तु उनके कवच का चर्म, घोड़ों की काठी, धनुषों की डोरियाँ, और पहनने के कपड़े इत्यादि सब वस्तुओं को चूहों ने कुतर डाला था। इधर यह दशा और उधर शत्रु के भयानक आक्रमण को देखकर सब सेना के लोग भयविह्वल होकर भाग खड़े हुए। उनके सेनापति मारे गये और मुख्य मुख्य वीर पकड़कर बन्दी किये गये। इस प्रकार दैवी सहायता के बल से हिउङ्गन्वालों पर उनका शत्रु विजयी हो गया। कुस्तन-नरेश ने चूहों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए एक मन्दिर बनवाया और बलिप्रदान किया। उस समय से बराबर चूहों की पूजा और भक्ति होती चली आई है और उत्तमोत्तम तथा बहुमूल्य वस्तुएँ उनको चढ़ाई जाती हैं। उच्च से लगाकर नीच तक सभी लोग इन चूहों की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं और उनको प्रसन्न रखने के लिए बलिप्रदान इत्यादि किया करते हैं। यहाँ के लोग जब कभी इस मार्ग से होकर निकलते हैं इस स्थान के निकट आकर रथ से उतर पड़ते हैं और अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए प्रार्थना करके तब आगे बढ़ते हैं। कपड़ा, धनुषबाण, सुगन्धित वस्तुएँ तथा पुष्प और उत्तम मांस-वस्तुएँ आदि भेट चढ़ाई जाती हैं। बहुत से लोग जो इस प्रकार की भेट-पूजा करते हैं अपनी कामना को पा जाते हैं परन्तु जो लोग इनकी पूजा की उपेक्षा कर जाते हैं अवश्य कष्ट उठाते हैं।

राजधानी के पश्चिम ५ या ६ ली पर एक संघाराम 'समोजोह' (समज्ञ) नामक है। इसके मध्य में एक स्तूप लगभग १०० फ़ीट ऊँचा है जिसमें से अनेक विलक्षण दृश्य प्रकट हुआ करते हैं। प्राचीन काल में कोई अरहट बहुत दूर देश से चल कर इस वन में आया और निवास करने लगा। उसके अद्भुत चमत्कारों की कीर्ति बहुत दूर तक फैल गई। एक दिन रात्रि के समय राजा ने अपने प्रासाद के एक शिखर पर चढकर कुछ दूर जङ्गल में कुछ प्रकाश देखा। लोगों को बुलाकर उसने इसका कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया, "एक श्रमण किसी दूर देश से आकर इस वन में एकान्तवास करता है; अपनी अलौकिक शक्ति के बल से वही इस प्रकाश को दूर तक फैलाया करता है।" राजा ने उसी क्षण रथ मँगाया और उस पर सवार होकर वह स्वयं उस स्थान पर गया। महात्मा के दर्शन करने पर राजा के चित्त में उसकी ओर से बड़ी भक्ति हो आई। उसने बहुत विनती के साथ श्रमण को महल में पधारने का निमन्त्रण दिया। श्रमण ने उत्तर दिया, "सब प्राणियों का अपना अपना स्थान होता है, इसी प्रकार चित्त का भी स्थान अलग ही हुआ करता है। मेरा चित्त विकट वनों और निर्जन स्थानों में अधिक लगता है, दुमंज़िले तिमंज़िले भवन और उसके सुन्दर सुन्दर कमरे मेरी रुचि के अनुकूल नहीं।"

राजा इन वचनों को सुनकर और भी दूनी भक्ति के साथ उसका प्रेमी हो गया। उसने उसके निमित्त एक संघाराम और एक स्तूप बनवाया। सम्मान-सहित निमन्त्रित किये जाने पर श्रमण ने इसमें निवास किया।

एक दिन राजा को बुद्धदेव के शरीरावशेष का कुछ

अंश प्राप्त हुआ। राजा उनको पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और विचारने लगा कि 'ये शरीरावशेष मुझको बहुत देर में मिले; यदि पहले से मिलते तो मैं इनको स्तूप में रख देता जिससे उसमें चमत्कारों की वृद्धि होती।'' इस प्रकार विचार करता हुआ वह संघाराम को गया और अपना सम्पूर्ण अभिप्राय श्रमण से निवेदन किया। श्रमण ने उत्तर दिया, "राजा, दुखी मत हो, इन अवशेषों को समुचित स्थान प्रदान करने के निमित्त तू सोना, चाँदी, ताँबा और पत्थर का एक एक पात्र बनवा और उन पात्रों को एक के भीतर एक जमाकर शरीरावशेष रख दे।" राजा ने कारीगरों को उसी प्रकार के पात्रों के बनाने की आज्ञा दी। उन लोगों ने एक ही दिन में सब पात्र बनाकर ठीक कर दिये। फिर शरीरावशेष-सहित उस पात्र को एक सुन्दर और सुसज्जित रथ में रखकर लोग संघाराम को ले चले। राजा अपने सौ पदाधिकारियों सहित उस समारोह के साथ हुआ; लाखों दर्शकों की भीड़ से स्थान भर गया। अरहट ने अपने दक्षिण हस्त से स्तूप को उठाकर और अपनी हथेली पर रखकर राजा को शरीरावशेष उसके नीचे रख देने का आदेश दिया। यह आज्ञा पाकर उसने पात्र रखने के लिए भूमि को खोदा और सब कृत्य निपट जाने पर अरहट ने फिर ज्यों का त्यों स्तूप उसी स्थान पर सहज में रख दिया।

दर्शक इस आश्चर्य-व्यापार से मुग्ध होकर बुद्ध के अनुयायी और उनके धर्म के पूर्ण भक्त होगये। इसके उपरान्त राजा ने अपने मन्त्रियों से कहा, "मैंने सुना है कि बुद्धदेव की क्षमता का पता लगाना बहुत कठिन है। उनकी आध्यात्मिक शक्ति की खोज तो किसी प्रकार हो ही नहीं

सकती। एक बार उन्होंने अपने शरीर को कोटि भागों में विभक्त कर डाला था और एक बार संसार को अपनी हथेली पर धारण किये हुए देवता और मनुष्यों के मध्य में वे प्रकट हुए थे। उस समय उन्होंने बहुत साधारण शब्दों में धर्म और उसके स्वरूप को ऐसी अच्छी तरह से प्रकट किया था कि सभी कोई अपनी अपनी योग्यतानुसार उसको भली भाँति समझ गये थे। धर्म के स्वभाव का वर्णन आपने ऐसी उत्तम रीति से किया था कि जिससे सबका चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो गया था। उनकी आध्यात्मिक शक्ति ऐसी अद्भुत थी, और, उनका ज्ञान कितना बड़ा था इसको वाणी-द्वारा प्रकट करना असम्भव है। यद्यपि अब उनका सजीव स्वरूप वर्तमान नहीं है परन्तु उनका उपदेश वर्तमान है। जो लोग उनके सिद्धान्त-रूपी अमृत को पीकर अमर हो गये हैं, और उनके उपदेशानुसार चलकर आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करते हैं, उनके आनन्द और उनकी योग्यता का विस्तार बहुत बढ़ जाता है। इसलिए आप लोगों को भी बुद्धदेव की भक्ति और पूजा करनी चाहिए तभी आप लोग उनके धर्म के गुप्त रहस्य को जान सकेंगे।"

राजधानी के दक्षिण-पूर्व में पाँच या छः ली पर एक संघाराम 'लुशी' नामक है जिसको देश के किसी प्राचीन नरेश की रानी ने बनवाया था। प्राचीन काल में इस देश में शहतूत के पेड़ और रेशम के कीड़े नहीं होते थे। चीन में इनके होने का हाल सुनकर यहाँ के लोगों ने इनकी खोज में दूतों को भेजा। उस समय तक चीन के नरेश इनको बहुत छिपा कर रखते थे, इन तक किसी की भी पहुँच नहीं होती थी। देश के चारों तरफ़ रक्षक नियत थे जिनकी आँख बचाकर

शहतूत-वृक्ष का बीज अथवा रेशम के कीड़ों का अण्डा ले जाना नितान्त असम्भव था।

यह दशा जानकर कुस्तन-नरेश ने चीन-नरेश की कन्या के साथ विवाह करना चाहा। राजा अपने निकटवर्ती राज्य के प्रभाव को भली भाँति जानता था इसलिए उसने उसकी बात को स्वीकार कर लिया। इसके उपरान्त कुस्तन-नरेश ने राजकुमारी की रक्षा के लिए एक दूत भेजा और उसको सिखला दिया कि 'तुम चीन की राजकुमारी से यह कह देना कि हमारे देश में रेशम अथवा रेशम उत्पन्न करनेवाली वस्तु का अभाव है; इसलिए बहुत अच्छा हो अगर राजकुमारी अपने वस्त्र बनवाने के लिए रेशम के कीड़े और शहतूत के बीज लेती आवें।'

राजकुमारी ने इस समाचार को सुनकर थोड़े से शहतूत के बीज और रेशम के कीड़े चोरी से मँगवा कर चुपचाप अपने शिरोवस्त्र में छिपा लिये। सीमान्त पर पहुँचने पर रक्षक ने सब कहीं की तलाशी ले ली परन्तु राजकुमारी के शिरोवस्त्र हटाने का साहस उसको न हुआ। कुस्तन देश में पहुँच कर सब लोग उसी स्थान पर आकर ठहरे जहाँ पर पीछे से लुशी संघाराम बनवाया गया है। इस स्थान से बड़ी धूमधाम के साथ राजकुमारी राजभवन को पधारीं; और शहतूत के बीज और रेशम के कीड़े इसी स्थान पर छोड़ दिये गये।

वसन्त-ऋतु में बीज बोये गये और समय आने पर रेशम के कीड़ों को पत्तियाँ खिलाई गईं। यद्यपि पहले-पहल दूसरे प्रकार के वृक्षों की पत्तियों से कीड़ों का पोषण किया गया था परन्तु अन्त में शहतूत के वृक्षों से काम चलने लगा।

उस समय राजकुमारी ने पत्थरों पर यह आज्ञा लिखवाई, "रेशम के कीड़ों को कोई कभी न मारे। कुकड़ियाँ उस समय काती और बटी जावें जब तितलियाँ उनको छोड़ कर निकल जावें। जो कोई व्यक्ति इस आज्ञा के विरुद्ध आचरण करेगा उसको ईश्वर दंड देगा।" इसके उपरान्त राजकुमारी ने इस संघाराम को उस स्थान पर बनवाया जहाँ पर सबसे पहले रेशम के कीड़ों का पालन हुआ था। यहाँ पर अब भी अनेक पुराने शहतूत वृक्षों के तने वर्तमान हैं जिनको लोग सर्वप्रथम बोये हुए वृक्षों के अवशेष बतलाते हैं। उस समय से लेकर अब तक इस देश में रेशम की खेती सुरक्षित है। कोई भी व्यक्ति रेशम के चुराने के अभिप्राय से कीड़ों को मार नहीं सकता। यदि कोई मनुष्य ऐसा करे तो वह अनेक वर्षों तक कीड़े नहीं पालने पाता।

राजधानी के दक्षिण-पूर्व में लगभग २०० ली पर एक बहुत बड़ी नदी उत्तर-पश्चिम की ओर बहती है। इस नदी से लोग खेती की सिंचाई का काम लेते हैं। एक बार इस नदी की धारा बन्द हो गई। इस अद्‌भुत घटना पर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, तुरन्त अपने रथ पर सवार होकर और एक महात्मा अरहट के पास जाकर उसने पूछा, "नदी का जल रुक गया है इसका कारण क्या है? इस नदी से लोगों को बड़ा लाभ पहुँचता था; क्या मेरा शासन न्याय-रहित है? अथवा क्या मेरे पुण्य का फल संसार में समान रीति से सबको प्राप्त नहीं है? यदि मेरा कोई अपराध नहीं है तो फिर क्यों इस विपद् का मुख देखना पड़ा?"

अरहट ने उत्तर दिया, "महाराज बहुत उत्तम रीति से राज्य करते हैं। आपके शासन के प्रभाव से सब लोगों को

सुख-चैन प्राप्त है। यह जो नदी की धारा बन्द हो गई है उसका कारण एक नाग है जो उसके भीतर रहता है। आप उसकी पूजा-प्रार्थना करें, आपको फिर उसी तरह पर लाभ पहुँचने लगेगा जैसा कि सदा से पहुँचता रहा है।"

इस आदेश को सुनकर राजा लौट आया। उसने जाकर ज्योंही नदनाग की पूजा की कि अकस्मात् एक स्त्री नदी में से निकल पड़ी और राजा के पास जाकर कहने लगी, 'मेरे पति का देहान्त होगया, कार्यक्रम का चलानेवाला दूसरा कोई नहीं है; इसी सबब से नदी की धारा बन्द हो गई और किसानों को हानि पहुँच रही है। यदि महाराज अपने राज्य में से किसी उच्च कुलोत्पन्न मन्त्री को पति वरण करने के लिए मुझे प्रदान करें तो उसकी आज्ञा से नदी अवश्य सदा के समान बहने लगेगी।"

राजा ने उत्तर दिया, "मैं आपकी प्रार्थना और इच्छा की पूर्ति का प्रयत्न करने के लिए सब प्रकार प्रस्तुत हूँ।" नाग-कन्या इस वचन से प्रसन्न होगई।

राजा ने लौटकर अपने अधिकारियों से इस प्रकार कहा, "प्रधान मन्त्री राज्य के लिए दुर्ग के समान है। खेती करना मनुष्य के जीवन का परम धर्म है। भले प्रकार रक्षा के प्रबन्ध बिना राज्य का सत्यानाश उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार भोजन के बिना मनुष्य की मृत्यु अनिवार्य है। इस समय जो विपद् उपस्थित है उससे बचने का उपाय क्या है यह आप लोग निश्चय कीजिए।"

प्रधान मन्त्री ने अपने स्थान से उठकर और दण्डवत् करके इस प्रकार निवेदन किया, "मेरी आयु का जो कुछ अंश अब तक व्यतीत हुआ है सबका सब व्यर्थ ही रहा,

इतने बड़े पद पर रह कर भी मैं दूसरों को कुछ भी लाभ न पहुँचा सका। यद्यपि मेरे चित्त में स्वदेश-सेवा की वृत्ति सदा से रही है परन्तु उसके अनुसार कार्य करने का समय मुझको अब तक नहीं प्राप्त हुआ। अब समय आया है इसलिए मेरी प्रार्थना है कि आप मुझको इस काम के लिए नियत कीजिए; महाराज की इच्छा पूर्ति के लिए मैं कोई प्रयत्न उठा न रक्खूँगा। सम्पूर्ण देशवालों की भलाई के सामने एक मन्त्री का जीवन विशेष मूल्यवान् नहीं हो सकता। मन्त्री देश का सहायक-मात्र है, परन्तु मुख्य वस्तु प्रजा ही है। महाराज अधिक सोच-विचार न करें। इस विदा के समय में मेरी प्रार्थना केवल इतनी ही है कि पुण्य संचय करने के निमित्त मुझको एक संघाराम बनाने की आज्ञा प्रदान की जावे।"

राजा ने इसको स्वीकार कर लिया और उस मन्त्री की जो कुछ कामना थी वह पूरी कर दी गई। इसके उपरान्त मन्त्री ने नागभवन में जाने के लिए तैयारी की। राज्य के सब बड़े बड़े पुरुषों ने गाजे-बाजे और समारोह के साथ उसको भोज दिया। मन्त्री ने सफ़ेद वस्त्र पहन कर और सफ़ेद घोड़े पर सवार होकर भक्ति और प्रेम के साथ देशवालों से विदा माँगी। इस तरह घोड़े पर सवार होकर वह नदी में घुसा। बहुत दूर तक चले जाने पर भी उसको कहीं पर भी इतना जल न मिला कि वह डूब सके। तब झुँझला कर उसने अपना चाबुक नदी की धार पर मारा। चाबुक की फटकार के साथ ही बीचों बीच से जल उमड़ निकला और वह उसके भीतर समा गया। थोड़ी देर के उपरान्त सफ़ेद घोड़ा पानी के ऊपर बहता हुआ दिखलाई पड़ा। उसकी पीठ पर चन्दन का एक नगाड़ा रक्खा हुआ था और एक पत्र था जिसका

आशय यह है:—"महाराज ने मेरे लिए उपयुक्त व्यक्ति के प्रदान करने में कुछ भी भूल नहीं की। इस कृपा के लिए महाराज की प्रसन्नता और राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे। आपके मन्त्री ने आपके लिए यह नगाड़ा भेजा है। नगर के दक्षिण-पूर्व में यह रखवा दिया जावे। जिस समय कोई शत्रु आप पर चढ़ाई करेगा यह नगाड़ा आप से आप बजने लगेगा।"

उस मिती से बराबर नदी की धारा प्रवाहित है और लोग उससे लाभ उठा रहे हैं। इस घटना को अनेकानेक वर्ष व्यतीत हो गये। उस स्थान का भी अब पता नहीं है जहाँ पर नगाड़ा रक्खा हुआ था, परन्तु उजाड़ संघाराम 'नगाड़ा-झील' के निकट अब तक वर्तमान है। इसकी दशा बहुत बुरी हो गई है। इसमें एक भी साधु नहीं रहता है।

राजधानी के पूर्व में ३०० ली पर एक बड़ी बनैली झील है जिसका विस्तार कई हज़ार एकड़ से भी अधिक है और जिसमें हरियाली (घास इत्यादि) का नाम नहीं। इस स्थान की भूमि कुछ ललाई लिये हुए काली है। पुराने लोग यहाँ का वृत्तान्त इस प्रकार बताते हैं:—यह वह स्थान है जहाँ पर किसी समय में कोई बड़ी भारी सेना युद्ध में परास्त हुई थी। पूर्वकाल में पूर्वदेशीय (चीनी) सेना ने, जिसकी संख्या एक करोड़ थी, चढ़ाई करके पश्चिमी राज्यों को ध्वंस करना चाहा। कुस्तन-नरेश उस सेना से सामना करने के लिए एक लक्ष पैदल सेना लेकर पूर्व की ओर बढ़ा। इस स्थान पर आकर दोनों सेनाओं का युद्ध छिड़ गया। पश्चिमवालों की सेना परास्त हो गई, राजा बन्दी कर लिया गया और सब पदाधिकारी मार डाले गये: एक भी जीता न बचा। उस

युद्ध में जो भूमि पर रक्त की धारा प्रवाहित हुई थी उसका चिह्न अब तक वर्तमान है (अर्थात् भूमि ललाई लिये हुए काली है।)

युद्ध-स्थान से पूर्व को लगभग ३० ली चलकर हम 'पिमा' नगर में पहुँचे। यहाँ पर चन्दन की बनी हुई बुद्धदेव की एक खड़ी प्रतिमा है। इसकी उँचाई लगभग २० फ़ीट है। इसके चमत्कार अद्भुत हैं और बहुधा इसमें से प्रकाश निकला करता है। वे आदमी जिनको कुछ रोग होता है इस स्थान पर आकर मूर्ति के उस स्थान को, जिस स्थान पर उनके शरीर में व्याधि होती है, स्वर्णपत्रों से आच्छादित कर देते हैं। इस पुण्य के फल से वे अवश्य चङ्गे हो जाते हैं। जो लोग सच्ची भक्ति से मूर्ति के निकट आकर प्रार्थना करते हैं उनकी कामना पूरी होती है। यहाँ के निवासी कहते हैं कि इस मूर्ति को बुद्धदेव के समय में कौशाम्बी नरेश राजा उदयन ने बनवाया था। बुद्धदेव के निर्वाण प्राप्त करने पर मूर्ति स्वयं वायुगामिनी होकर इस राज्य के उत्तर में 'हो लो लोकिया' नगर में आई। इस नगर के निवासी सुखी और धन-सम्पन्न थे। विरोधियों का प्रभाव उन लोगों पर अधिक था इस कारण और किसी धर्म का मान वे नहीं करते थे। जिस समय से मूर्ति इस देश में आई अपने दैवी चमत्कार बराबर प्रदर्शित करती रही परन्तु लोगों पर कुछ प्रभाव न हुआ।

कुछ काल व्यतीत होने पर एक दिन एक अरहट ने आकर मूर्ति को दण्डवत् की। देशवासी उसके अद्भुत स्वरूप और वस्त्र को देख कर भयभीत हो गये और राजा से सब समाचार कहने दौड़े। राजा ने आज्ञा देकर नवागत

महात्मा को मिट्टी और धूल से ढकवा दिया। धूल से भरे हुए शरीरवाला वह भूख-प्यास के कष्ट से दुखित होने लगा। देश भर में केवल एक व्यक्ति ऐसा था जिसका चित्त उस महात्मा के दुख से द्रवित होगया। वह सदा से मूर्ति की उपासना-भक्ति भी करता था इसलिए अरहट को चुपचाप भोजन पहुँचाने लगा। मृत्यु का समय निकट आने पर अरहट ने उस आदमी से कहा, "अब इस स्थान पर सात दिन लगातार धूल और मिट्टी की वृष्टि होगी जिससे सम्पूर्ण नगर ढक जायगा और एक भी व्यक्ति जीता न बचेगा। तुमको मैं सूचना दिये देता हूँ, तुम अपने बचने का उपाय करो। लोगों ने मुझको मिट्टी से ढाँप दिया है उसका प्रतिफल इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।" यह कह कर वह अन्तर्धान होगया।

उस व्यक्ति ने शहर में जाकर यह समाचार अपने सम्बन्धियों से कहा परन्तु उसकी बात को सुनकर वे लोग हँसने लगे। दूसरे दिन गर्द गुब्बार से भरी हुई एक बड़ी भारी आँधी उठी परन्तु धूल के स्थान पर उससे बहुमूल्य रत्न आदि बरसने लगे। यह दशा देखकर लोग उस भविष्य-वक्ता को (जिसने उन्हें मिट्टी और धूल की वृष्टि होने का भय दिया था) बुरा भला कहने लगे।

परन्तु यह व्यक्ति अपने चित्त में भली भाँति जानता था कि वास्तव में क्या होनेवाला है इसलिए उसने एक सुरङ्ग अपने मकान से नगर के बाहर तक भूमि के भीतर ही भीतर बना ली थी और उसी में छिप रहा था। सातवें दिन ठीक शाम के समय धूल और मिट्टी बरसने लगी जिससे सारा

नगर भर गया[1]। वह व्यक्ति अपने सुरङ्ग के मार्ग से बचकर निकल गया और पूर्व में जाकर इस देश के 'पिमा' नामक स्थान में रहने लगा। उसके पहुँचते ही मूर्ति भी उसके निकट पहुँच गई। उसने उसी क्षण मूर्ति की पूजा की और उसी स्थान पर बस गया। प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि जब शाक्य-धर्म का नाश होगा तभी यह मूर्ति भी नागभवन में प्रवेश कर जायगी।"

होलो लोक्यिा नगर आज-कल एक बड़ा भारी रेतीला डीह है। निकटवर्ती देशों के नरेश और दूर दूर के प्रभावशाली पुरुष अनेक बार इस स्थान पर आकर और बालू को खोदकर बहुमूल्य वस्तुओं को, जो बालू के नीचे दबी हुई हैं, निकालने पर उद्यत हुए। परन्तु जैसे ही वे लोग इस स्थान पर पहुँचे कि अकस्मात् एक विकट आँधी उठ खड़ी हुई, काले काले बादल घिर आये और ऐसा बेढब आँधी पानी आया कि उनको भागना कठिन हो गया।

पिमा घाटी के पूर्व में हम एक रेतीले रेगिस्तान में पहुँचे जहाँ से लगभग २०० ली चलकर हम 'नीजङ्ग' नगर में पहुँचे। इस नगर का क्षेत्रफल लगभग ३ या ४ ली है। जिस भूमि पर यह नगर बसा हुआ है तराई है। तराई की भूमि नरम और गरम होती है इस कारण चलना कठिन है। यहाँ पर जङ्गल-झाड़ी और

---

[1] धूल से ढके हुए नगर, विशेषकर कटक के वृत्तान्त के लिए देखो वेलिड साहब की 'कश्मीर और कशगर' नामक पुस्तक पृ० १७०, १७१ और 'पिमा' के वृत्तान्त के लिए, जो कदाचित् केरिया के निकट था, देखो यूल साहब की Marco Pols Vol. II.

कुश आदि बहुत हैं; कोई उत्तम मार्ग नहीं है। केवल एक पगडंडी है जो नगर को गई है और जिस पर चलना कठिन है। इस कारण प्रत्येक यात्री को अवश्य नगर में होकर आना-जाना पड़ता है। यह नगर कुस्तन-नरेश की पूर्वी सीमा का रक्षक है।

यहाँ से पूर्व दिशा में जाकर हम एक और रेतीले मैदान में पहुँचे। यहाँ की बालू ऐसी है मानों आँधी ने ला ला कर भर दिया हो; कोसों बालू ही बालू दिखाई देती है। यात्रियों के लिए कोई चिह्न नहीं अगणित व्यक्ति मार्गभ्रष्ट होकर इधर-उधर अनारियों के समान भटकने लगते हैं। इस कारण यात्रियों ने हड्डियों को जमा करके मार्ग का चिह्न बना दिया है। यहाँ न तो जल का पता चलता है और न कोई वृक्ष ही दिखाई पड़ता है। गरम हवा सदा चला करती है। जिस समय आँधी उठती है और पशु जो उसमें पड़ जाते हैं घबड़ाकर मार्ग भूल जाते हैं तब ही तो रोगियों के समान निश्चल होकर गिर पड़ते हैं। सुख और कभी कभी दुख भरे हुए विलाप के शब्द सुन पड़ते हैं जिनको सुनकर बहुधा मनुष्यों की वही दशा होती है जो आँधी के समय होनी चाहिए। इन सब कारणों से इस मार्ग से गमन करनेवाले कितने ही यात्री यहीं पर समाप्त हो जाते हैं। यह सब यहाँ के भूत-प्रेतों की माया है।

लगभग ४०० ली चल कर हम प्राचीन राज्य 'तुहोलो' (तुख़ार) में पहुँचे। यह देश बहुत दिनों से उजाड़ और जनशून्य हो रहा है। सब नगर बर्बाद और निर्जन हैं।

यहाँ से लगभग ६०० ली पूर्व में चलकर हम प्राचीन राज्य 'चेमोट ओन' में पहुँचे। यह ठीक 'नियो' देश के समान

है। नगर की दीवारें अब भी ऊँची ऊँची खड़ी हैं। परन्तु निवासी तितर-बितर हो गये हैं।

यहाँ से उत्तर-पूर्व में लगभग १,००० ली चल कर हम 'नवय' नामक प्राचीन देश में पहुँचे जो ठीक 'लिउलन' के समान है। यहाँ के पहाड़, घाटियाँ और भूमि के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। लोग स्वभावतः जङ्गली और असभ्य हैं। यद्यपि इनका आचरण शुद्ध नहीं है तो भी यदि शसनीय नहीं, तो अधिक निन्दनीय भी सहज नहीं है। पर कितनी ही बातें ऐसी भी हैं जिनको सत्य प्रतीत करना कठिन है, तथा कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनका सत्य प्रतीत करना भी सहज नहीं है।"

यात्री ने यहाँ तक जो कुछ देखा, या सुना उसका वृत्तान्त लिखा है। उसकी सब बातें शिक्षाप्रद हैं, तथा और जिन लोगों से उसकी भेट हुई सबों ने उसकी प्रशंसा की है। बिना किसी सवारी और बिना किसी सहायक के लाखों ली की यात्रा करना हुएन सांग सरीखे धर्मिष्ठ व्यक्ति का ही काम था। धन्य हुएन सांग !

इति